वाल्लभवेदान्त निबन्ध संग्रह

प्रकाशक : श्रीवल्लभाचार्यट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

प्रकाशक :
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, कसारा बजार, माडवी,
जि कच्छ, गुजरात, ३७० ४६५
☎ (02834) 231463, 224306
Email gosharadad1@sancharnet in

Must Visit
http //www pushtimarg net/

लेखक :
गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजी(किशनगढ-पार्ला)

सम्पादक :
गोस्वामी शरद् (माडवी-कच्छ)

प्रथम सस्करण : वि स २०६३ प्रति : १०००

अमूल्य

मुद्रक :
श्रीवल्लभ बुक मेन्युफेक्चरिंग् क , अहमदाबाद, गुजरात

सेमिनार :

आयोजित :

१ शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा, गांधीनगर-गुजरात
२ कार्यकारणभावविचार, वडोदरा-गुजरात
३ अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी, पुणे
४ प्रत्यक्षप्रमाण सङ्गोष्ठी, पुणे
५ वार्तापरिचर्चा, हालोल-गुजरात
६ अधिकारपरिचर्चा, हालोल-गुजरात
७ पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाप्रणाली, मुम्बई
८ "कथाया वा" / गुणगान साधना, मुम्बई
९ World Philosophy Conference, Delhi (Cosponsored with Indian Philosophical Congress)
१० International Conference on World Peace, Ahmedabad (Cosponsored with Uni of Gujarat)
११ अन्धकारवाद विद्वत्परिचर्चा, पुणे
१२ शरणागति, मुम्बई
१३ सेवा-समर्पण, मुम्बई

आयोज्य : पुष्टिभक्तिसाधनामे प्रतिबन्ध

आचार्यवरार्जोकेलिये अध्ययनसत्र

१ तर्कामृतम् - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली २ वेदान्तसार

ग्रन्थप्रकाशन :

ग्रन्थ	प्रकाशनसहाय
१ प्रवेशिका (गुज)	१०
२ प्रवेशिका (अंग्रेजी)	नि शुल्क

३	प्रमेयरत्नसग्रह (गुज)	
४	शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा (सस्कृत-हिन्दी-अग्रेजी)	२००
५	अन्यख्यातिवादीय विद्वत्सङ्गोष्ठी (सस्कृत-हिन्दी-अग्रेजी)	१५०
६	तत्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारणसस्करण / राजसस्करण	५०/७०
७	तत्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका)साधारणसस्करण / राजसस्करण	८०/१००
८	वार्तापरिचर्चा	१५
९	पुष्टिविधानम्-१ (पाठावली, व्रजभाषा)	अप्राप्य
१०	पुष्टिविधानम्-१ (पाठावली, गुज)	२५
११	पुष्टिविधानम्-२ (व्याकरणम्)	१००
१२	पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषाविवृति)	५०
१३	अधिकारपरिचर्चा (गुज -हिन्दी-व्रज)	१००
१४	श्रीभागवत महापुराण (गुर्जरभाषानुवाद)	३००
१५	*Manual of the Devotional Path of Pushti*	*65*
१६	सेवा और व्रजलीला (व्रजभाषा)	अप्राप्य
१७	श्रीगोपीनाथप्रभुचरण(गुज -हिन्दी)	२५
१८	Computer CD, www pushtimarg net	50
१९	साधनाप्रणाली(गुज -हिन्दी-अग्रेजी)	५०
२०	पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुज -हिन्दी)	नि शुल्क
२१	रसदृष्टिनी तरफेणमा (गुज)	नि शुल्क
२२	कार्यकारणभावमीमासा विद्वत्सगोष्ठी(सस्कृत-हिन्दी अग्रेजी)	२००
२३	पुष्टिप्रवेश - १(गुजराती)	१०
२४	पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका	१०
२५	शरणागति विचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी	नि शुल्क
२६	Summary of Suddhādvaita Vāṅgmaya	15

२७	सेवा अने व्रजलीला (गुजराती)	नि शुल्क
२८	विवेकत्रयम् (सस्कृत)	१०
२९	पुष्टिभक्तिमे कथासाधना, सद्गोष्ठी	५०
३०	पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरानुवाद)	२०
३१	वाल्लभवेदान्त निबन्धसग्रह (हिन्दी)	नि शुल्क

सहयोग प्रकाशन

श्रीभागवतसुबोधिनी गुर्जरभावानुवाद

अनुवादक गो वा श्रीनानुलाल गाधी(ये पुस्तके सेट्मेही दी जायगी)

१	दशमस्कन्ध जन्म प्रकरण	
२	दशमस्कन्ध तामस प्रमाण प्रकरण	
३	दशमस्कन्ध तामस प्रमेय प्रकरण	
४	दशमस्कन्ध तामस साधन प्रकरण	
५	दशमस्कन्ध तामस फल प्रकरण	
६	दशमस्कन्ध राजस प्रमाण प्रकरण	
७	दशमस्कन्ध राजस प्रमेय प्रकरण	
८	दशमस्कन्ध राजस साधन प्रकरण	
९	दशमस्कन्ध राजस फल प्रकरण	
१०	दशमस्कन्ध सात्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण	
११	दशमस्कन्ध गुण प्रकरण	
१२	एकादशस्कन्ध	अनुपलब्ध
१३	तृतीयस्कन्ध अ १-८	अनुपलब्ध
१४	तृतीयस्कन्ध अ ९-१९	अनुपलब्ध
१५	तृतीयस्कन्ध अ २०-समाप्ति पर्यन्त	अनुपलब्ध
१६	द्वितीयस्कन्ध	अनुपलब्ध
१७	श्रीगुसाईजी विरचित दशमस्कन्ध टिप्पणी	

१८.	Śrīmad Vallabhācārya, His Philosopohy and Life, Prof J G Shah	100
१९	Śrīmad Vallabhācārya, His Philosopohy and Religion, Prof J G Shah	300
२०.	Śrī Vallabhācārya and His Teachings, Dr Chimanlal Vaidya	100
२१	Doctrines of Vallabhacharya, Ishverbhai S Amin	100

- गोशाला
- संस्कृत माध्यमसे अध्ययन करते विद्यार्थीओंकेलिये छात्रालय
  सचालन श्रीवल्लभाचार्य व्रजसस्कृति विकास ट्रस्ट समिति, गोकुल
- छात्रवृत्ति
- हस्तप्रतसग्रह – संरक्षण; पुस्तकालय
- यावत्प्राप्य साम्प्रदायिक श्लोकोंकी पादानुक्रमणिका
- Digitalization of the manuscripts
- Catalogus Catalogorum of the manuscripts of Śuddhādvaita Pustibhakti Sampradāya
- Encyclopedic CD ROM comprising of entire original Sanskrit writings of Acharyas along with Vraj, Hindi, Gujarati & English literature written on the base of such writings

प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ "वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह" गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) द्वारा लिखित धर्म-दर्शन विषयक कतिपय प्रमुख निबन्धोका सग्रह हे धर्म-दर्शनके सुविज्ञ एवं जिज्ञासु पाठकोकेलिये इस ग्रन्थको प्रकाशित करनेका सुअवसर श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट (मांडवा-कच्छ) को प्राप्त हुवा यह ट्रस्टका परम सोभाग्य है.

इस ग्रन्थकी भूमिका लिखनेका प्रस्ताव परमस्नेही विद्वद्वर्य समादरणीय श्रीपारसनाथ द्विवेदीजी (वाराणसी) के सामने रखने पर न केवल आपने उसे सहर्ष स्वीकार लिया अपितु अस्वस्थ होते हुवे भी विद्वज्जनोचित भूमिका लिखकर उसे शीघ्र उपलब्ध भी करवा दिया. एतदर्थ हम आपके हृदयसे आभारी है

पण्डितप्रवर श्रीपारसनाथजी बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न है केवलाद्वैत वेदान्त सम्प्रदायमे आपकी अनन्य निष्ठा और अधिकार है जो कि निबन्धलेखकके द्वारा तत्तन्निबन्धोमे प्रसङ्गोपात्त किये गये केवलाद्वैत मतके विमर्शके ग्रन्थकी भूमिकामे आपकेद्वारा किये गये समाधानके प्रयाससे प्रकट होता है एतद्वारा तत्त्वबोधार्थ आवश्यक वादकी "वादे-वादे जायते तत्त्वबोध" इस शास्त्रीय परम्पराका ही स्तुत्य अनुसरण निबन्धलेखकी ही तरह आपने भी किया है आस्तिक शाङ्करवेदान्तादि दर्शनोके अतिरिक्त जैन-बोद्ध आदि नास्तिक दर्शनोके भी आप आधिकारिक ज्ञाता हे यह श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा समायोजित विद्वत्सङ्गोष्ठिओमे आपकेद्वारा प्रस्तुत हुवे विभिन्न निबन्धोसे और उसमे गहन दार्शनिक विषयो पर हुई चर्चामे आपकी सक्रीय सहभागितासे ज्ञात होता हे. आप सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसीमे शास्त्राध्यापनरत है आप इसी तरह अपने ज्ञानका लाभ जिज्ञासु समाजको निरन्तर देते रहे

ऐसी शुभकामनाके साथ आपके प्रति हम पुन कृतज्ञता प्रकट करते है.

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा पूर्वप्रकाशित श्रीभागवत, पुष्टिविधानम् आदि अनेक ग्रन्थोके आवरण चित्रोकी ही तरह इस ग्रन्थका भी आवरणचित्र तैयार करनेवाले श्रीकिरण ठक्करका सहयोग भी यहा अवश्य स्मरणीय बनता है.

अन्तमे साम्प्रदायिक एव इतर भी धर्म-दर्शनके जिज्ञासु पाठक इस ग्रन्थसे अवश्य ही लाभान्वित होगे ऐसे विश्वासके साथ निबन्धलेखकके जन्मदिवस पर इस ग्रन्थपुष्पको आपके करकमलोमे समर्पित करते हुवे...

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा
शरद् गोस्वामी

आषाढ कृष्ण ६
वल्लभाब्द ५२८, वि.सं.२०६३

भूमिका

"वाक्य वक्तर्यधीन हि" इस महाभाष्य वचनके अनुसार कृति कृतिकारके अधीन होती है प्रमाणप्रमेय जात प्रमाताके अधीन होता है किसी भी कृतिमे कृतिकार लेखककी आत्मा सन्निहित रहती है उसका वैशिष्ट्य व्यक्तित्व उसमे व्यक्त रहता है अत निबन्ध रचनाकारके व्यक्तित्व वैशिष्ट्य वैदुष्य की चर्चा अत्यावश्यक है जैसा की गोष्ठियोमे उनके साथ साधारण वार्तालाप, शास्त्रीयगूढचर्चा आदिसे तथा उनकी उत्कृष्ट कृतियोंके अध्ययनसे प्रतीत हुआ है उसे मैं अवश्य व्यक्त करुगा, अन्यथा "गुणाधिके वस्तुनि मौनिता" रूप दोपका भागी बनूगा

श्रीगोस्वामीजी महाराज सत्य मृदु सरल शास्त्रानुप्राणित वचनके प्रवक्ता है उनमे साम्प्रदायिक अहकार प्रपञ्च आदि लेश मात्र भी नहीं है स्ववेदान्तविरोधिमतवादियोके निराकरण भापामे भी मैत्रीभाव झलकता रहता है सभी शास्त्रोके अवगाहनजन्य यथार्थज्ञान भण्डारको प्राप्त कर भी वे सहसा प्रकट नहीं होने देते है विद्या-विनय उनका भूपण है ये सभी गुणगण उनकी कृतिके अध्ययन एव उनके सकृत् समागमसे स्पष्ट हो जाता है

ये लेखन, भापण, चिन्तन, पाठन, व्याख्यान आदि सभी विद्याओमे अति कुशल है इनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा विलक्षण है इन्द्रियोकी अनुग्राहिका बुद्धि, शास्त्रमहाम्बुधिमे तलान्त प्रविष्ट है हिन्दी, अग्रेजी, सस्कृत, गुजराती भापामे आप लेखन, भापण आदिमे कौशल प्राप्त है इनका दिगन्त विश्रान्त यशोराशि अत्यन्त विमल है ये निष्कलङ्क पूर्ण चन्द्रकी तरह सदा प्रकाशित रहते हैं

विशेपत वाल्लभवेदान्तके प्रामाणिक अधिकारी, ज्ञाता, वक्ता, व्याख्याता है किसी विपयकी मीमासा एव विवेचन मे प्राचीन आर्पपद्धतिके साथ आधुनिक वैज्ञानिक मतरीतिको भी अपनाते है तथा समन्वय करते है

सर्वदर्शनविज्ञान पारगत होने पर भी वाल्लभवेदान्तमे महती निष्ठा है सर्वस्वरूप सर्वत्र व्याप्त आविर्भावतिरोभावशक्तिमत् परब्रह्म श्रीकृष्णमे अगाधभक्ति है ससारसे विरक्त स्वाध्यायप्रवचनमे, ग्रन्थप्रणयन आदिमे अहर्निश सलग्नचित्त है तथा करुणा मैत्री मुदिता उपेक्षा वृत्तिसे रहते है मै उनके चरणोमे शतश नमन करता हू उनके गुण अनन्त है यह तो स्वल्प निदर्शन मात्र है

कृतियां :

आपकी कृतिया अनेक है निबन्ध जिनका सग्रह प्रस्तुत है

१. सुबोधिनी : श्रीमद्भागवतत पर श्रीमदाचार्यकृत व्याख्याके अनेक भाग प्रकाशित है इन पर आपका महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक विषयस्फोरक सम्पादकीय लेख शतोत्तर पृष्ठमे प्रकाशित है

२. प्रस्थानरत्नाकर : गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित इस ग्रन्थ पर शतोत्तर पृष्ठमे सम्पादकीय लेख ग्रन्थसारसग्रहके रूपमे प्रकाशित है इसमे वाल्लभसिद्धान्तोको हिन्दीमे अवगत कराया गया है पाठभेद टिप्पणी हस्तलिखितच्छाया आदिसे विभूषित किया गया है

३. अवतारवादावली : गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित यह ग्रन्थ दो भागमे प्रकाशित है इस पर आपका पञ्चाशदुत्तर पृष्ठका सारसग्रह सम्पादकीय लेख प्रकाशित है

४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : श्रीवल्लभाचार्य विरचित इस ग्रन्थपर महत्त्वपूर्ण सम्पादक लेख प्रकाशित है

५ *श्रीबालकृष्णग्रन्थावली :* *लालूभट्टोपनाम श्रीबालकृष्णभट्ट* विरचित इस *ग्रन्थ* पर सम्पादकीय लेख, वल्लभवेदान्त सिद्धान्त, पाठभेद आदि महत्त्वपूर्ण विषयविभूषित आमुख प्रकाशित है

६. वेदान्ताधिकरणमाला भावप्रकाशिका सूत्रवृत्तिः गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित इस ग्रन्थ पर प्राक्कथनके रूपमे श्रीपुरुषोत्तम कृति वैशिष्ट्य एवं अणुभाष्यके अध्यायानुसार विषयसंग्राहक उत्कृष्ट आलेख प्रकाशित है.

७. प्रस्थानरत्नाकर शब्दखण्डीय विद्वत् चर्चाः इस ग्रन्थमे विद्वत् परिसंवादमे आपका उद्‌घाटन वक्तव्य देखने लायक है. इसी ग्रन्थमे डॉ. श्रीप्रदीप प्र. गोखलेके निबन्धकी चर्चा की गयी है पृ ५६७ से उस निबन्धमे शुद्धाद्वैत पर की गयी आपत्तियोका प्रमाणिक निराकरण आपने किया है. द्रष्टव्य है.

८. अन्यख्यातिवादीया विद्वत् गोष्ठीः जो प्रकाशित है मे आपका ख्यातिवाद चर्चामे महत्त्वपूर्ण विचारात्मक लेख प्रकाशित है जो अवश्यमेव पठनीय है. यह तत्सम्बद्धविषय प्रकाशक लगभग ३० पृष्ठका प्रबन्ध है तथा इसी परिसंवादमें आपका "पश्चिमी दर्शनमें भ्रान्तिविचारकी रूपरेखा" शीर्षक जो वाल्लभवेदान्तानुसारी विमर्शात्मक है, विस्तृत निबन्ध प्रकाशित है. इसमे पाश्चात्य विद्वानोके मतमे भ्रमज्ञान सम्बन्धी विचार किया गया है. यह विद्वज्जन द्रष्टव्य है.

९. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण विरचित इस ग्रन्थकी भूमिका, संस्कृत व्याख्या एवं उसका विस्तृत हिन्दी भावानुवाद आपने लिखा है. यह ग्रन्थ वल्लभ धर्म-दर्शनमे अतिमहत्त्वपूर्ण है. यह व्याख्या आपने संस्कृतमे लिखी है. इनका संस्कृत भाषामे लेख हिन्दी प्रबन्धोसे भी उत्कृष्ट होता है पूर्ण प्रौढ शास्त्रीय संस्कृतमे, उत्कृष्ट शैलीमे इस ग्रन्थकी व्याख्या की गयी है साथ ही वल्लभवेदान्तके सिद्धान्तोकी भी व्याख्या स्थान-स्थान पर की गयी है कही-कही केवलाद्वैत दर्शनमे अनुपपत्तिया भी प्रदर्शित की गयी है

१०. श्रीमद्भागवत् दशमस्कन्ध सुबोधिनी पञ्चम तामसफलप्रकरणम् ग्रन्थमे आचार्यश्रीका सम्पादकीय वाक्यके अतिरिक्त तामस फल प्रकरणीय लीलाओंको औपनिषदसन्दर्भ नामसे लगभग १७० पृष्ठका महत्त्वपूर्ण विद्वत्तापूर्ण भूमिका

७ विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम् एक भागमें

८ प्रस्थानरत्नाकर एक भागमे

९ विद्वन्मण्डनम् एक भागमें

१० श्रीबालकृष्णग्रन्थावली एक भागमें

११ अवतारवादावली द्वितीय खण्ड प्रकाशित

१२ श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार एक भागमें

१३ पुष्टिविधानम् गुजराती व्रज तथा संस्कृत संस्करण

१४ सव्याख्यश्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम्

—आदि ग्रन्थोंका सम्पादन-प्रकाशन इनके अलावा सस्कृत हिन्दी गुजराती अंग्रेज़ी मे प्रकाशित लघुनिबन्ध प्रवचन प्रश्नोत्तरी लेख आदि

१ शुद्धाद्वैतवाद और लीलावाद के सन्दर्भमें व्यक्तिस्वातन्त्रकी मीमासा :

प्रस्तुत प्रबन्धमे विद्वान् लेखकने शुद्धाद्वैतवाद पर स्वय पुरुषार्थहीनता अकर्मण्यता तथा ज्ञानेच्छाप्रयत्न पारतन्त्र्य आदि आक्षिप्त दोषोका निरास किया है शुद्धाद्वैत वादमे भगवच्छरणागति परमपुरुषार्थ है वह श्रीभगवदनुग्रहैकलभ्य है भगवदनुग्रहान्य साधनलभ्य नही है श्रीहरि ही समस्त ब्रह्माण्डके कर्ता कारयिता है यह सभी ब्रह्माण्ड भगवल्लीला है लीला क्रिडा-रमण है सत्य है श्रीहरि आविर्भाव-तिरोभावरूप स्वाभिन्न शक्तिद्वारा स्वयमेव विविध ब्रह्माण्डान्तर्गत जड-चेतन पदार्थोके रूपमे प्रकट होते है तथा स्वेच्छया तिरोहित होते है यह उनकी लीला है यह भगवल्लीला भक्तजनोकेलिए त्रिविध ताप मोचन हेतु है

श्रीगोस्वामीजीका आशय है—ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति चेतन ब्रह्मसे न मानकर किसी प्रधानादि जडसे मानी जाय तब भी व्यक्ति स्वातन्त्र्य नही हो सकता है जडवादमें अनवस्थादोप भी है कार्य कारणाधीन ही होता है स्वतन्त्र नहीं होता है व्यक्तिके ज्ञानेच्छाप्रयत्न कार्य है, तो वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता जडाधीन कार्य होने पर अनेक दोष है तथा कार्यका स्वातन्त्र्य भी नहीं हो सकता है श्रुतिस्मृतीतिहास सिद्ध चेतन ब्रह्मकारणवाद निर्दोष

है, तदधीन व्यक्तिज्ञानेच्छा बोध है यही उचित है दो किनारोसे नियन्त्रित परतन्त्र नदी क्या स्वतन्त्र नहीं है भगवदीच्छाधीन *प्रवर्तित व्यक्ति* भी स्वतन्त्र ही है यदि व्यक्ति निरकुश स्वतन्त्र हो या जडाधीन हो तो अनिर्मोक्षापत्ति भी होगी

समस्त ब्रह्माण्ड स्वभावत कालत यदृच्छात प्रवृत्त नही है अबुद्धिपूर्वक भी प्रवृत्त नही हो सकता है श्वेताश्वतर उपनिषद्में

"ओ ब्रह्मवादिनो वदन्ति कि कारण ब्रह्म कुत स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा, अधिष्ठाता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्म विदो व्यवस्थाम् काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्या, सयोग एषा न त्वात्मभावादात्माप्यनिश सुखदु खहेतो ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्, य कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक" (१।१-३) "माया तु प्रकृति विद्यान् मायिन तु महेश्वरम्" (४।१०) "स कारण करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप" (८)

—इत्यादि शतश श्रुतिया ब्रह्माण्डके ब्रह्मप्रभवत्वमे प्रमाण है अपि च "जन्माद्यस्य यत" सूत्र पर सभी वेदान्तोके आचार्योका प्रपञ्च चेतनकर्तृकत्वमे ऐक्यमत्य है भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य स्पष्ट शब्दोमे कहते हैं "अस्य जगतो नामरूपाभ्या व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्ग यत सर्वज्ञात् सर्वशक्ते कारणात् भवति तद्ब्रह्मेति"

अत जडकारणवाद उपपत्ति विहीन है, सदोष है उसके मानने पर भी व्यक्तिस्वातन्त्र्य सम्भव नहीं है लेखकने कानूनी नैतिक, धार्मिक और भक्तिमार्गीय प्रकारके स्वातन्त्र्योका उल्लेख भी किया है व्यक्ति, सामाजिक-राजकीय कानून (विधि) परतन्त्र है स्वतन्त्र होने पर दण्डनीय है नीतित परतन्त्र है नीतित स्वतन्त्रव्यक्ति दोषी है, दण्डनीय है व्यक्ति धर्मत परतन्त्र है *अन्यथा दण्डार्ह है जब इन अवस्थाओमें परतन्त्र रहनेसे भी व्यक्तिमे*

अकर्मण्य एव पुरुषार्थहीनताका दोष नही है तो क्या परमेश्वराधीन स्वातन्त्र्य पक्षमे ही उक्त दोष होगा! तस्मात् परमेश्वराधीन व्यक्तिस्वातन्त्र्य ही सर्वपुरुषार्थ साधक है

भगवल्लीला :

लीलाके सन्दर्भमे श्रीगोस्वामीजीके विचार अनूठे है एकमेवाद्वितीय ब्रह्मकी लीला द्वैतरूपमे उनका प्राकट्य है यह "न प्रयोजनवत्वात् लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" (ब्र २।१।३२) इस सूत्र पर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने स्पष्ट प्रतिपादित किया है रमण एकाकी नही हो सकता रमणेच्छु परमात्मा स्वेच्छयैव द्वैतभावापन्न हुए उनकी क्रिडा ही लीला है उनकी क्रिडा ही शरणजिगमिषुकेलिए साधन है व्यक्ति तो भगवल्लीलाधीन है वह परम स्वतन्त्र कैसे हो सकता है। किञ्च जीवव्यक्ति तो परमात्माका धारण किया हुआ रूपान्तर ही है

इस तरह श्रीगोस्वामीजीने अपने इस निबन्धद्वारा आक्षेपका निरास करते हुए व्यक्ति स्वातन्त्र्यके स्वरूपका तथा उसकी उपयोगीता आदिका विस्तृत विचार प्रस्तुत किया है

शुद्धाद्वैत वादमे विधि-निषेधात्मक वर्णाश्रमानुसारी कर्मोका त्याग नही कहा गया है लेखकने स्पष्ट शब्दोमे कहा है "अत भगवल्लीलासे जैसे विरक्त नही हुआ जाता वैसे ही कर्मसे भी उदासीन हो नहीं सकता"

वस्तुत जीव, उसके कर्म, तत्साधन भी तो भगवल्लीलाके घटक है वह लीला भगवदिच्छाधीन है तो बुद्धीच्छा प्रयत्न कर्मादिसे युक्त जीव भी सर्वथा भगवदधीन है मेरी मति है कि यह भगवत् परतन्त्रता निरङ्कुशस्वतन्त्रतासे लाख गुनी श्रेयस्करी है

२ वाल्लभवेदान्तके अनुसार भाषाका स्वरूप और कार्यकलाप :

अपने इस महत्त्वपूर्ण निबन्धमे भाषा व्याकरण निरुक्तविद् विद्वान् श्रीगोस्वामीजीने

वैदुष्यपूर्ण प्रकारसे वाल्लभवेदान्तानुसार भाषाके स्वरूप एव उसके कार्यकलापकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है यह निबन्ध विद्वज्जन ग्राह्य है

उपक्रममे ही शुद्धाद्वैत मतको श्रीमदाचार्य महाप्रभुके तत्त्वार्थदीपनिबन्ध एव पत्रावलम्बनके आधार पर उन्हींके वाक्योद्वारा प्रदर्शित किया गया है साराश है कि—यह समस्त सृष्टि अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदश, चिदश या आनन्दाश की विविध अभिव्यक्तिया है अद्भुत कर्मा श्रीहरि स्वयमेव साधनान्तरानपेक्ष कदाचित् आनन्दात्मक नामरूपकर्म धारण कर प्रकट होते है कदाचित् आनन्दाशको तिरोहित कर अनेकविध नामरूपकर्मात्मक प्रपञ्चरूपमे आविर्भूत होते है कदाचित् स्वयमेव सदात्मना उपादानके बिना भी अधिष्ठानरूपेण अनेकविध नामरूपकर्मोको प्रकट करते है

सच्चिदानन्दरूप परमेश्वर श्रीहरि एकरस होने पर भी स्वेच्छया अनन्तमूर्त्ति बन जाते है जडवर्गोमे चिदानन्दाश तिरोहित हो जाता है जीव पदार्थोमे आनन्दाश तिरोहित रहता है आन्दाशसे अन्तर्यामी रूप प्रकट होते है अत व्यवहारमे जड-जीव-अन्तरात्मा इन तीनो रूपोमे लीला प्रकट करते है इत्यादि सन्दर्भ निबन्धसे ही अवगत करना चाहिए

इस लीला सृष्टिके अन्तर्गत नामरूप-सृष्टि है इन दोनोमे परस्पर प्रकाश-प्रकाश्य भाव है दोनो परस्पर विलक्षण है नामसृष्टि सूक्ष्म अनन्त है रूप सृष्टि स्थूल शात है नाम सृष्टि बोधरूपा तथा रूप सृष्टि जडरूप विकृतिरूपा होती है वाच्यभूत रूपसृष्टि तथा वाचकरूपा नामसृष्टि है इन सृष्टियोके कर्ता कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तु सर्वसमर्थ प्रभु है

नाम सृष्टि ही भाषाका मूल है यह पदादि रूपोमे प्रकट होती है भाषारूप वाणीका मूल नामसृष्टि है वह वाणी चतुर्धा विभक्त है परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इनमे "गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयति" अर्थात् परा, पश्यन्ती और मध्यमा तो गुहा–शरीरके भीतर ही रहती है

जो योगिजन वेद्य है चतुर्थ वाणी वैखरीको मनुष्य बोलते है

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा येमनीषिण , गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति" (ऋक् २।३।२२) उन तीन वाणियोमे परा वाणी स्वरूप ज्योति है "स्वरूपज्योतिरेवान्त परा वागनपायिनी, तस्या दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते" (महाभाष्य)

परा वाणी आत्मचैतन्यरूपा ही है सर्वगत होने पर भी प्राणियोके मूलाधारचक्रस्था है वही पर अभिव्यक्त होती है वैयाकरणमूर्धन्य श्रीनागेश भट्टने वैयाकरणसिद्धान्त मञ्जूषा ग्रन्थमे शक्त्याश्रयनिरूपण प्रकरणमे तन्त्रशास्त्रानुसार परा-पश्यन्ती आदि चार वाणियोका स्पष्ट विवेचन किया है

"एतत् सर्वगतमपि प्राणिना मूलाधारे सस्कृतपवनचलनेन अभिव्यज्यते ज्ञातमर्थविवक्षो पुस इच्छया जातेन प्रयत्नेन योगएव मूलाधारस्थ पवनसस्कार तदभिव्यक्त शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठया निष्पन्दम् (परावाक्) इति उच्यते"

अर्थात् यह परावाग् रूप चित्स्वरूप शब्दब्रह्म व्यापक होने पर भी प्राणियोके मूलाधारचक्रमे ही सस्कृत वायुसचारसे अभिव्यक्त होती है ज्ञातार्थ विवक्षु पुरुषकी इच्छा जन्य प्रयत्नका योग ही मूलाधारस्थ पवनसस्कार है "वह अभिव्यक्त परा वाणी स्वप्रतिष्ठ निष्पन्द ही रहती है" यह योगियोके द्वारा भी अगम्य है वैयाकरण इसी वाणीको 'शब्दब्रह्म' कहते है भर्तृहरिने कहा है "अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम्, विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत "

मूलाधार चक्र क्या है? मनुष्यका देह षण्णवति (९६) अङ्गुलका होता है इसमे सार्ध सप्तचत्वारिंशत् (४७॥) अङ्गुल उपर नीचे छोडकर एक अङ्गुल परिमित मध्यभाग 'मूलाधार' कहलाता है यह मूलाधार देहमध्य कहलाता है "पाय्वन्तात् द्व्यङ्गुलात् ऊर्ध्वं लिङ्गाच्च द्व्यङ्गुलात् अध, मध्यमेकाङ्गुल यच्च देहमध्य प्रचक्षते" यह मूलाधार मूल प्रकृतिस्वरूप कुण्डलिनी

है. यह महदादि तत्त्वोसे वेष्टित सर्पवत् सुप्त रहती है. इस मूलाधारसे उत्थित पवन ही नाडियोके द्वारा सर्वकार्य करता है. "गुदलिङ्गान्तरे चक्रम् आधाराख्यं चतुर्दलम्, अस्ति कुण्डलिनी ब्रह्मशक्तिराधारपङ्कजे" (सजी.रत्ना.१।२।१-४५) "देहेऽपि मूलाधारे तु समुदेति समीरणः" (प्रपञ्चसार तं.पट.१।९१). एवं परावाणी आत्मस्वरूपज्योति ही है.

इन्हीं अभिप्रायोसे पूज्य श्रीगोस्वामीवर्यने भी इस निबन्धमे लिखा है "इन चार प्रकारकी वाणियोमें प्रथम परा वाणी है. यह चराचर ब्रह्माण्डमे व्याप्त सर्वविध परिच्छेदोसे रहित सर्वसाक्षिभूत चेतना है. अतएव वाणीका यह आद्यचरण सकल स्व-पर वस्तुओके प्रकाशनमे समर्थ समष्टिरूपेण परमात्मा ही है. साथ ही साथ उसीके चिदंश होनेके कारण व्यष्टिरूपेण जीवचेतनाके रूपमे भी स्वीकारा गया है"

पश्यन्ती : "तदेव नाभिपर्यन्तम् आगच्छता तेन वायुना अभिव्यक्तं मनो विषयः '*पश्यन्ती*'ति उच्यते एतद्द्वय सूक्ष्मतम-सूक्ष्मतरम् ईश्वराथिदैवं योगिनां समाधौ निर्विकल्पकज्ञानविषय इति उच्यते" (मञ्जूषा पृ १४८). अर्थात् वही पराख्य शब्दब्रह्म, मूलाधारस्थ सस्कृत पवन जब नाभि पर्यन्त गमन करता है तो नाभिस्थलमे अभिव्यक्त होकर 'पश्यन्ती' नामसे जाना जाता है परा एव पश्यन्ती दोनों ब्रह्मरूप वाणियां योगिजन द्वारा निर्विकल्पक समाधिके विषय है

मध्यमा : "ततो हृदयदेशमागच्छता तेन वायुना हृदयदेशे अभिव्यक्तं तत्तदर्थविशेष-तत्तच्छब्दविशेषोल्लेखिन्या बुद्ध्यया विषयीकृता हि हिरण्यगर्भदेवत्या परश्रोत्राग्रहणेन सूक्ष्मा 'मध्यमा वाग्' इति उच्यते". अर्थात् वही सस्कृत पवन जब हृदयदेशमे आता है और हृदयदेशमे ही वही ब्रह्म अभिव्यक्त होकर 'मध्यमा वाक्' कहलाता है इस मध्यमा वाणीका देवता हिरण्यगर्भ है. तथा यह मध्यमा वाक् विशेष शब्दार्थको विषय करने वाली बुद्धिका विषय होती है. यह परश्रोत्रसे अग्राह्य होनेसे सूक्ष्म है.

वाणी की ये तीन अवस्थाए सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर एव सूक्ष्मरूप है इन्ही तीनोको "गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति" शब्दसे कहा गया है ये तीनों ही प्रणव रूप है

वैखरी **"सैव चास्यपर्यन्तम् आगच्छता तेन वायुना कण्ठदेश गत्वा मूर्धानम् आहत्य परावृत्य तत्तत्स्थानेषु अभिव्यक्ता पर श्रोत्रेणापि ग्रहणयोग्या विराडधिदेवत्या 'वैखरीवाग्' इति उच्यते"** (मञ्जूषा तत्रैव) अर्थात् जब वह वायु मुखदेशमे आता है तो सीधे मूर्धासे टकराता है पर मूर्धामे जानेका द्वार न मिलने पर वहासे मुखद्वारकी तरफ लौटता है तब तत्तत् कण्ठ-तात्वादि स्थानोमे वही वाणी अभिव्यक्त होकर 'वैखरी' कहलाती है यह विराट् देवतावाली है तथा परश्रवणगोचर होती है यह व्यक्तरूपसे अर्थकी प्रकाशिका होती है वह वाणीत्रयरूप प्रणव ही व्यानोदानरूप प्राणके साथ वैखरीरूप बन जाता है अतएव वाक्यपदीयकार श्रीभर्तृहरिने भी कहा है **"वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्या श्चैतदद्भुतम्, अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाच पर पदम्"** (वाक्यप १४४)

इस प्रकार चारो वाणियो का विभाग श्रीगोस्वामीजीके प्रकृत निबन्धमे स्पष्ट है इसी को वाल्लभमतमे 'नामसृष्टि'से अभिहित किया जाता है यह नामसृष्टि ब्रह्मात्मिका है यह नामसृष्टि श्रीहरिकी आविर्भावशक्तिका परिणामभूत है इसका न प्रागभाव है न ध्वस है अपितु अविकृतपरिणामी श्रीहरिमे लयकालमे तिरोहित एव सृष्टिकालमे आविर्भूत होती है

वर्ण-पद-वाक्य रूपसे त्रिधा विभक्त वाणी है वर्णमे पद एव वाक्य तिरोहित रहते है नामसृष्टिका विस्तार वर्ण-पद-वाक्य रूप शब्दत मात्राके ही अन्तर्गत है अत परिगणित पदार्थोसे अतिरिक्त पदार्थान्तर प्रसक्ति नहीं होती है

वर्ण वाचक है ऐसा मीमासक एव अद्वैतवेदान्ती कहते है पद वाचक

है यह नैयायिक कहते है वाक्य ही वाचक है, वर्ण-पद कल्पित है ऐसा वैयाकरण कहते है पर वाल्लभ मतमे तीनों ही वाचक है

श्रीगोस्वामिजीके वाक्योमे "सभी वर्ण एव पद भगवद्वाचक होनेसे मूलत सर्वार्थवाचक होते है, जैसा कि कह चुके है तदनुसार जितने भी वर्ण एव पद होते है वे मूलमे तो भगवद्वाचक होते है क्योकि सारे रूपधर भगवान् है अत सारे वर्ण और पद भगवान्द्वारा धरे गये है अनेकविध रूपोके वाचक है" (प्रकृत निबन्ध)

इस तरह यह निबन्ध "वाल्लभ वेदान्तके अनुसार भाषाका स्वरूप एव कार्य कलाप" बहुत ही विद्वत्तापूर्ण एव शोधपूर्ण है इसके अध्ययनसे विद्वानोको लाभ होगा तथा भाषाके स्वरूपनिर्धारणमे वाल्लभसम्मत नवीन पन्थाका प्रकाश होगा

३ चक्षुका चाक्षुष विषयदेशमे प्राप्यप्रकाशकारित्व :

यह महत्त्वपूर्ण निबन्ध विद्वद्ग्राह्य है इसमे इन्द्रियोके प्राप्यकारित्व अप्राप्यकारित्व का विमर्श किया गया है विशेषत चक्षुरिन्द्रियके सम्बन्धमे विचार प्रस्तुत है बौद्ध एव जैन को छोडकर प्राय सभी दार्शनिक इन्द्रियोका प्राप्यकारित्व (विषयको प्राप्त कर ज्ञान कराना) स्वीकारते है यह युक्ति सगत है इन्द्रिया सम्बद्धका ही ग्रहण करती है असम्बद्धग्रहणमे अतिप्रसक्ति है बौद्धोने चक्षुके अप्राप्यकारित्वमे तर्क-युक्तियोका प्रदर्शन किया है विद्वान् लेखक श्रीगोस्वामीजीने बौद्ध, जैन, साख्य, अद्वैतवेदान्त, वाल्लभ, न्याय आदि मतोके शास्त्रीय वचनोका उद्धरण देकर विस्तारसे इस विषयमे विवेचनाकी है यह निबन्ध विद्वानोके द्वारा अवश्य द्रष्टव्य है

प्राप्यकारित्व पक्षमे दो बाते सामने आती है क्या इन्द्रिया दूर-समीपवर्ती विषयदेशमे गति कर उसे प्राप्त कर ज्ञान कराती है, या विषय ही किसी प्रकार इन्द्रियदेशमे आता है तथा उसे प्राप्त कर इन्द्रिया तत्तद्विषयक ज्ञान कराती है

इसमे न्यायादि सभी दार्शनिकोके मतमे तैजस चक्षुरिन्द्रिय स्वकिरणोके द्वारा दूरस्थ विषयोको व्याप्त कर रूपादिका ज्ञान कराती है. श्रोत्रके विषयमे विवाद है. अद्वैत वेदान्त श्रोत्रको आकाश सत्त्वांशसे जन्य मानता है तथा शब्ददेश तक गमन मानता है. अन्यथा भेरी-मृदंग शब्ददेशमे यदि श्रोत्र गमन न करे अपितु स्वदेशमे समागत शब्दोका ही ग्रहण करे तो "भेरी-मृदङ्ग शब्दो मया श्रुत·" यह बुद्धि नही होनी चाहिए यह बुद्धि अबाधित होनेसे प्रमा है. कर्ण प्रदेशमे तो शब्दज शब्दन्यायसे शब्दान्तर है. यह कहना भी युक्ति संगत नही लगता है कि वायुके द्वारा शब्द कर्ण प्रदेश तक लाया गया, क्योकि शब्दगुण वायुके द्वारा गुणिको छोड कर अन्यत्र नही लाया जा सकता है. गुणमे गति नही मानी जाती है. गन्ध, वायुके द्वारा घ्राण प्रदेशमे आता है किन्तु केवल गन्धगुणका, आश्रय छोडकर, अन्यत्र गमन न्याय विरुद्ध है गुण यदि गुणीको छोडकर अन्यत्र गमन करे तो वह स्वगत गुणत्वको छोड देगा अतः वहां पार्थिवांशके साथ ही गन्ध, वायुके द्वारा उपनीत होता है. अदृष्टवशात् पुष्पादिमे पुष्पांश रूप पार्थिवांशकी पूर्ति होती रहती है जिससे पुष्पका नाश नही होता है. शब्दके विषयमें ऐसा नही कहा जा सकता है. निरवयव व्यापक आकाशका शब्दके साथ गमन युक्तिसगत नही है. अत. शब्दग्रहणकेलिए श्रोत्रेन्द्रियका गमन युक्त है

चक्षुरिन्द्रिय तो किरणद्वारा दूरस्थ विषयको व्याप्त करती है पर कर्णको तो किरण नही है यह कैसे दूरप्रदेशोद्भूतशब्दको प्राप्त करेगा? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि मध्यमपरिमाण इन्द्रियोकी परिणाम रूप वृत्ति है वह वृत्तिके द्वारा विषयको व्याप्त करती है. रसनादि इन्द्रियोंमे तो निर्विवाद है कि इन्द्रियदेशमें प्राप्त विषयको ग्रहण कराती है. किन्तु चक्षु एव श्रोत्र मे विवाद है.

वाल्लभ मतमें भी श्रीपुरुषोत्तमचरणके प्रकृत उद्धरणसे स्पष्ट है कि तैजस चक्षु किरण दूरस्थ विषयको व्याप्त कर विषयग्रहण कराती है. विषय-इन्द्रियका

कौन सम्बन्ध है इसमे विशेषत. विवाद है. इन्द्रिया भौतिक एव आहकारिक है यह दो मत है दोनों मतोके अनुसार स्वसिद्धान्तसम्मत सम्बन्धकी कल्पना की जाती है. असम्बद्धका ग्रहण सम्भव नहीं है भौतिक हो या आहकारिक हो चक्षुरिन्द्रिय तैजस है, उसमे प्रकाशत्व सम्भव है किरण न भी माना जाय तब भी मध्यमपरिणाम पक्षमे उसकी विषयव्याप्तिरूप परिणाम या वृत्ति मानना अनिवार्य है. न्यायमतमे भी मनके परमाणुरूप होने पर भी इन्द्रियोकी परमाणुरूपता नही है इन्द्रिया अणु है अणुका अर्थ सूक्ष्म होता है वह द्व्यणुकादिरूप हो सकती है

प्रकृत निबन्धमे श्रीपुरुषोत्तमचरणके उद्धरण पर विद्वान् श्रीगोस्वामीजीने कुछ अनाग्रहपूर्वक आक्षेप किया है लेखकका अभिप्राय है कि श्रीपुरुषोत्तमजीने "केपाञ्चित् प्रक्रिया" कह कर जिस मतका उल्लेख किया है वही वाल्लभमतमे उपयुक्त न्याय, प्रभाकरादि मतका स्वमतमे अनुसरण करना उचित नही है

श्रीपुरुषोत्तमचरणने "केपाञ्चित् प्रक्रिया" कह कर जिस मतका उल्लेख किया है वह यह है "या पुनः आलोकेन मायाकार्य तमो जननप्रतिबन्धे कृते ज्योतिरूप सूर्यदेवतया अववात्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहितदेशस्थपृथुबुध्नोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते सत्त्वप्रधानबुद्धे अन्तरेव तदाकारता सम्पत्ती अणुरूप जीव प्रति ज्ञानाश्रिताध्यात्मिकघटाभिव्यक्तिरेव चाक्षुष, दूरस्थगन्धशब्दायस्तु वायुना घ्राणश्रोत्रसमीपप्रापणे अन्त.सत्त्वात्मकबुद्धेः तदाकारता सम्पत्तौ ज्ञानाश्रिताध्यात्मिक-गन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव घ्राणज श्रावण च प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयोरभेदात् न बाह्यपदार्थग्रहणनिबन्धनो दोषः इति केपाञ्चिद् प्रक्रिया" इस प्रक्रियाका खण्डन भी श्रीपुरुषोत्तमचरणने अग्रिम पक्तियोसे किया है

इस पर लेखक श्रीगोस्वामीजीने आदरपूर्वक आक्षेप किया है श्रीगोस्वामीजीका आक्षेप युक्तिसगत है विद्वान् लोग विचार करेगे किन्तु चक्षुर्देशमे प्रापित विषयका प्रत्यक्ष आध्यात्मिक ही होगा, अधिभौतिक नही यद्यपि दोनोमे अभेद है फिर भी स्फुटावभास आध्यात्मिकमे नही है विषय देशमे प्रापित

तैजस चक्षु प्रत्यक्षमे विषयका पुखानुपुख स्फुटावभास सम्भव है अस्तु इस विषयमें गोस्वामीजीका चिन्तन तथा उसमे प्रदत्त युक्तिया भी प्रमाण्यस्पर्शी है यह विचार आधुनिक वैज्ञानिक मतके समीप है

श्रीगोस्वामीजीका तात्पर्य है कि विषय पर्यन्त चक्षुवृत्ति या चाक्षुष किरणो के गमनमे शास्त्रीय प्रमाण स्पष्ट नही है "दिवीव चक्षुराततम्" इत्यादि (ऋक्स १।५।२२।२०) वचनमे यथा "चक्षुर्दिवि आतत पश्यति" तथा "सूरयो विष्णो पद सदा पश्यन्ति" इत्यादि वचन भी आकाश एव तद्वर्ती विषयोमे चक्षुव्याप्तिमे प्रमाण नही है क्योकि 'दिवि' सप्तमीका अर्थ औपश्लेषिक, व्यापक एव वैषयिक आधार तीनो पक्षोमे आकाश चक्षुके साथ उपपन्न नही होता है

मेरे विचारसे चक्षुरश्मिया या उसकी वृत्ति के विषयोके साथ औपश्लेषिक सम्बन्धमे कोई बाधा नहीं है औपश्लेषिक अव्याप्यवृत्ति ही माना जाता है "दधिमे घृत है" ऐसे स्थलोपर अभिव्यापक सप्तमी है अत अनन्दाकाशके साथ नायन रश्मियोका अव्याप्यवृत्ति सयोगादिमे कोई बाधा नहीं है यदि 'दिवि'का 'चक्षु'के साथ सम्बन्ध न कर 'आतत'के साथ ही सम्बन्ध करते है और 'आतत'पदसे नक्षत्रादि ग्रहण करे तब भी "चक्षु यथा दिवि आतत नक्षत्रादि पश्यति तथा सूरय" ऐसा अर्थ करने पर भी चक्षुका विषय पर्यन्त गमनाभाव नही सिद्ध हो पाता है वहा इस अर्थका अवकाश मिलता है कि चक्षुवृत्ति द्वारा या किरणो द्वारा दिवि आतत नक्षत्रादिको सयुक्त करती है चक्षुमे करणमे कर्तृत्व विवक्षा सम्भव है हा, इस अर्थमे गोस्वामीजीके सम्मत अर्थका भी अवकाश मिल जाता है अलोक किरणा द्वारा चक्षुर्देशमे विषय प्राप्ति हो सकती है पर उक्त वाक्यके द्वारा कोई एक पक्षको प्रमाणित नही किया जा सकता है विषयदेशमे चक्षुर्गमन युक्तिसिद्ध भी है

पूज्य लेखक श्रीगोस्वामीजीने दूसरी बात उठायी है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने चक्षुरिन्द्रियकी तरह रूपतन्मात्राको भी तैजस माना है ऐसी दशामे क्या

विनिगमना है कि चक्षु विषयपर्यन्त गमन करे रूप तन्मात्रा चक्षुर्देश पर्यन्त गमन करे, तैजसत्व तो उभयत्र है।

इस पर कहा जा सकता है कि वस्तुओका स्वभाव विशेष होता है रूपतन्मात्रा तैजस होने पर भी गमन नही करती चक्षुरिन्द्रिय गमन करती है यह स्वभावादेव है चक्षुरिन्द्रिय रश्मिवाली है रूपतन्मात्रा रश्मिमान् नही है रश्मिवाला मानने पर भी चक्षुरिन्द्रियका प्रेरक मन है, मन का प्रेरक अन्तर्यामी है वहा वैसा नहीं है यदि कहे कि अन्तर्यामी तो विषय मध्य रहकर अन्तर्यमन करता है रूपतन्मात्राको भी अन्तर्यामी बाह्य प्रकाशके माध्यमसे चक्षुर्देश पर्यन्त प्रेषण कर सकता है इस पर तर्क है कि रूपतन्मात्राए यदि धर्मीको छोडकर विषयदेशमे प्राप्त होने लगे तो रूपी वस्तु नीरूप हो जायेगा चक्षुर्गमन पक्षमे यह दोष नही है चाक्षुष किरणे दण्डायमान होकर विषय व्याप्त करती हैं अर्थात् सूर्यरश्मियोकी तरह सूर्यसे पृथक् होकर ही रश्मिया विषयको व्याप्त करती है वैसे चक्षुकी वृत्ति या रश्मि चक्षुसे सम्बद्ध होकर ही विषयव्याप्ति करती है रूपतन्मात्रा गमनके पक्षमे यह सम्भव नही है यदि सम्भव हो तब भी दूरत्व-समीपत्वकी प्रतीति नही होगी क्योकि चाक्षुषवृत्तिके साथ मन-बुद्धि सम्बन्ध है, चक्षुर्देश पर्यन्त आगमनके पूर्व रूपतन्मात्राके दण्डायमान रश्मियोके साथ नही अत रूपतन्मात्रा बाह्य लोकके द्वारा चक्षुदेशागमन पक्ष क्लिष्ट प्रतीत होता है

इस पक्षमे "दृशे विश्वाय सूर्यम्" ऋग्का प्रमाण भी दृग्के उपकारकत्व अर्थमे प्रमाण हो सकता है सूर्यकी रश्मिया विषय सस्कारक एव चक्षुरिन्द्रिय उभय सस्कारक है अतएव वाक्यपदीयकार भर्तृहरिने ब्रह्मकाण्डमे ८० वे श्लोकमे कहा है "चक्षुष प्राप्यकारित्वे तेजसातु द्वयोरपि, विषयेन्द्रिययोरिष्ट सस्कार स क्रमोध्वने" (वाक्यप १।८०)

इन्द्रिय सस्कारमात्रे तम स्थ घटकी भी चक्षुषत्वापत्ति होगी विषय सस्कारमात्र पक्षमे सभीको आलोकस्थ घटका चाक्षुषत्व होने लगेगा

यदि "अतपत्ये तायवो यथा नक्षत्रा. यन्ति अक्तुभि सूराय विश्व चक्षसे" इस ऋग् वाक्यके अनुसार सूर्य रश्मियोसे अल्प रश्मिवाले सभीका तिरोभाव कहे तो रूपतन्मात्रा भी तेजस है, उसका भी सूर्य प्रकाशमे विलोप प्रसग होगा तब उभय पक्ष पराहत होगा यह सम्भव नही है कि तैजस चाक्षुष रश्मि तिरोहित हो, तैजस रूपतन्मात्रा रश्मि या प्रकाश तिरोहित न हो अत वस्तुस्वभावानुसार ही कल्पना युक्ति सगत प्रतीत होती है इस तरह विचार करने पर विषय देशमे चक्षुर्गमन पक्ष भी सूपपन्न प्रतीत होता है अस्तु मान्य विद्वत् शिरोमणि श्रीगोस्वामीजीका तर्क स्तुत्य है विद्वज्जन इस पर विचार करे इसीलिए उन्होने इस पक्षको उठाया है

४ तमस्के विभिन्न स्वरूप और उनकी अनुभूतियों के बारेमें कुछ पुर स्फुर्तिक विचार:

तमस्के सम्बन्धमे प्राय सभी शास्त्रोमे विचार आया है पिछली विचारगोष्ठीमे इस विषय पर तत्तद्दर्शनानुसार विद्वानोका विचार सम्पन्न हुआ था शास्त्रोमे तथा विद्वद्गोष्ठियोमे तमस्के भौतिक रूपका विचार प्रसिद्ध है तमस्को कोई भाव, कोई अभाव, कोई रूपमात्र, कोई कृष्णज्ञान मात्र आदि मानता है ये सभी पक्ष प्रस्तुत हुए है पर तमस्के अधिदैव, अध्यात्म आदि रूपोपर शास्त्रमे विचार नही है है भी तो स्वल्पमात्रामे श्रीगोस्वामीजीने प्रस्तुत निबन्धमे तमस्के प्रत्यक्ष जन्य मानसशास्त्रीय परा भौतिक, आध्यात्मिक, अधिदैविक आदि स्वरूपोका पाण्डित्य पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है अत इस प्रबन्धका महत्त्व विशेषरूपसे बढ जाता है तमस् सम्बन्धी उक्त प्रकारके वाल्लभ सम्मत विचार प्रस्तुत कर तदनुसार ही सिद्धान्त निश्चित किया गया है आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिसे तमस्के स्वरूपका विश्लेषण कर उसे वाल्लभ सिद्धान्तानुसार सिद्ध किया गया है साथ ही तमस्की अद्वैतसम्मत अनिर्वचनीयताका भी खण्डन श्रुतियुक्तिसे किया गया है तमस्की सत्यता और ब्रह्मरूपता सिद्ध की गयी है यहा अतिसक्षिप्त निबन्धसार प्रस्तुत किया जाता है

तमस्का आधिदैविक रूप "न असद् आसीद् नो सद् तदानीम् "

(ऋ स १०।१२।१२९/१।२) का उद्धरण देकर लेखकने शाङ्करवेदान्ताभिमत 'तमस्'शब्दार्थ अविद्या जो मिथ्या अनिवर्चनीय है का वाल्लभ युक्तियोसे खण्डन किया है तथा तमस्का आधिदैविक रूप निर्विकल्पक समाधि अवस्थाकी तरह योगनिद्रा माना गया है 'योगनिद्रा' शब्दका प्रयोग दुर्गासप्तशतीमे श्रीविष्णुसुषुप्ति रूपमे आया है "योगनिद्रा यदा विष्णु र्जगदेकार्णवी कृते, आस्तीर्य शेषमभजत् कल्पान्ते भगवान् प्रभु" इसीको गीतामे 'योगमाया' शब्दसे भी कहा है "नाह प्रकाश सर्वस्य योगमाया समावृत" यह निर्विकल्प समाधिवत् योगनिद्रा भावरूप है यह तमस्का आधिदैविक रूप ब्रह्म ही है महाप्रभुने स्पष्ट कहा है "तम आसीदिति तमोऽपि ब्रह्मैव सुप्तत्वेन साम्यात्" (भाग सुबो २।९।३२)

सृष्टिके आदिमें 'तम आसीत्' इस वचनकी व्याख्या सुबोधिनीके अनुसार 'तमस्' शब्दसे ब्रह्म ही वाच्य है प्रलयोत्तर कालमे भी "अव्यक्तम् अक्षरे तमसि, तम परे देवे एकी भवति" इस वचनके अनुसार अव्यक्त अक्षरमे (काल - कर्म - स्वभाव - प्रकृति पुरुष मे) तथा अक्षर तममे, तम पर देवमे एकीभूत होता है यह 'तमस्' शब्दसे भी उक्त पञ्चविध अक्षरब्रह्मकी अवस्थाविशेष ही है जिसका परब्रह्मसे एकीभाव बताया गया है अत तमस्का आधिदैविक रूप योगनिद्रा है वह ब्रह्म रूप ही है

यद्यपि प्रकृत निबन्धमे 'तमस्' शब्द वाच्य मायाका एव उसकी अनिर्वचनीयत्व एव मिथ्यात्व का खण्डन वल्लभ मतानुसार किया गया है तथापि शाङ्कर मतमे समाधान एव मिथ्यात्वानिवर्चनीयत्व की रक्षा करते हुए उद्धृत श्रुति-स्मृतियोका व्याख्यान सर्वथा सम्भव हो सकता है किन्तु इस भूमिकामे उसकी चर्चा करना अप्रासङ्गिक है पूज्य गोस्वामीजी न केवल वाल्लभमतविशेषज्ञ है अपितु शाङ्करमतके भी विशेषज्ञ है स्वय इस निबन्धमे शङ्करोक्तिको स्वानुकूलार्थमे उद्धृत किया है मिथ्यात्वके ज्ञाननिवर्त्यत्वादि लक्षणोको स्वमतमे अनुकूल बताया है वस्तुत यह निबन्ध विद्वानोके सामने अभूतपूर्व प्रस्तुति है

प्रमाण प्रदर्शनानन्तर निबन्धकार स्वयमेव कहते है "एतावता सिद्ध

होता है कि तमस्का कोई एक आधिदैविक या अलौकिक स्वरूप भी है जिसे भगवान्की योगनिद्रा माना गया है" इत्यादि "तथा निष्कर्षतया अनेकविध नामरूपकर्मों पृथक् प्रविभाजन या प्रकाशन अथवा उसमे रमण जैसे सच्चिदानन्द ब्रह्ममें सृष्ट होता है, वैसे उनके अप्रकाशन या विभागविलोपन द्वारा सच्चिदानन्दब्रह्मका पुन आत्मीकरण अनुभवातीत आधिदैविक तमस् माना गया है"

तमस्का आध्यात्मिक रूप

विद्वान् श्रीगोस्वामीजीने श्रुति-स्मृति-युक्तियोंसे भगवान्की द्वादश शक्तियोंके अन्तर्गत व्यामोहिका माया शक्ति या अविद्या को तमस्का आध्यात्मिक स्वरूप माना है इसका विस्तृत विवेचन निबन्धमे द्रष्टव्य है

तमस्का आधिभौतिक स्वरूप ·

अनेक श्रुतियोंके उदाहरण देकर श्रीगोस्वामीजीने यह सिद्ध किया है कि तमस्का आधिभौतिक स्वरूप भी है वह भगवान्की ही प्रकाशवत् सृष्टि है अन्तर्यामि ब्राह्मणके अनुसार अन्तर्यामी परमेश्वर तमस्-प्रकाश दोनोंसे अविदित, दोनोंके भीतर रहकर दोनोका अन्तर्यमन करता है अतएव तमस् अभावरूप नहीं है वह प्रभुकी भाव सृष्टि है तो क्या प्रकाशमे अन्धकार और अन्धकारमे प्रकाश रह सकता है? हा "नासतो विद्यतेऽभाव" के भावपदार्थका अभाव नही सर्वत्र सर्वसम्भव है इस वाल्लभ मतानुसार प्रकाशमे अन्धकारका तिरोभाव एव अन्धकारमे प्रकाशका तिरोभाव उचित है "आत्मतएव आविर्भाव-तिरोभावौ आत्मतएवेद सर्वम्" (छान्दो उप ६।२६।१) के अनुसार भगवान्की बहुभवनेच्छाका ही अनुभावरूप भौतिक तमस् है

इसके अनन्तर आधुनिक विज्ञान शास्त्रविज्ञ श्रीगोस्वामीजीने आधुनिक विज्ञानके अनुसार तमस्के स्वरूपका विश्लेषण किया है जो सभी दार्शनिकोंके द्वारा पठनीय एव ग्राह्य है

श्रीगोस्वामीजीने आधुनिक वैज्ञानिक मतोकी तुलनात्मक समीक्षा उपनिषद्

श्रौतवाक्योसे की है आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिमे श्रौतवाक्योकी यह तुलनात्मक प्रामाणिक समीक्षा आचार्यका इस दिशामे सर्वथा नवीन महत्त्वपूर्ण सफल प्रयास है इस तरहके शोध कार्यकेलिये प्राच्य-प्रतीच्योभयविद् आचार्य श्रीगोस्वामीजीको विद्वत्समाज भूरि-भूरि सम्मान देता है तथा आश रखता है कि इस दिशामे वे विद्वत् समाजकेलिये अग्रसर रहे

५ ख्यातिवादकी चर्चामें कुछ पुर स्फुर्तिक विचारविन्दु:

प्रस्तुत प्रबन्धमे श्रीगोस्वामीजीने ख्याति सम्बन्धी वैज्ञानिक विचार किया है, भ्रान्तिज्ञानका वास्तविक स्वरूप क्या है तथा उसके विषयका वास्तविक स्वरूप क्या है इसका विश्लेषण किया है भ्रान्तिज्ञानका विषय, सद् असद् सदसद् त्रिकोटिविलक्षण अनिर्वचनीय या चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य हो सकता है, इसका मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है

वाल्लभवेदान्तके अनुसार भ्रान्तिज्ञानको अन्यख्यातिके रूपमे समझा जाता है वाल्लभ मतमे "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत" इस गीतोक्त वचनके अनुसार चतुर्विध अभावोको नही माना जाता है लोकमे अभावानुभूतियोको आविर्भाव-तिरोभावके आधार पर समझा जाता है अत भ्रान्तिज्ञानका विषय असत् कैसे कहा जा सकता है? इसी तरह अख्यातिको छोडकर अन्यख्यातियोको भी अस्वीकार किया गया है श्रीराजानुजमतसिद्ध अख्यातिको आशिक रूपसे स्वीकृत किया गया है, न कि सर्वत्र तात्पर्य यह है कि पूर्ण ज्ञानी—पूर्ण योगी केलिए अख्याति है, क्योकि उनका ज्ञान यथार्थ है, पर लौकिक दृष्टिसे प्रतिभासमान रजतको शुक्ति नही कहा जा सकता है अत वहा पुरोवर्ति शुक्तिमे अन्य रजतकी ही ख्याति मान्य है इन सभी विषयोका विस्तृत विवेचन प्रमाणपुर सर प्रकृत निबन्धमे श्रीगोस्वामीजीने किया है

भ्रम दो प्रकारका होता है १ निरुपाधिक जैसे शुक्ति-रजतादि २ सोपाधिक जैसे "पीत शख" इत्यादि इन दोनोमे वाल्लभ मतमे प्रथमको तो अन्यख्यातिके रूपमे स्वीकार किया गया है द्वितीय सोपाधिक भ्रमको भ्रम न मानकर

अन्यथाज्ञानके रूपमे माना गया है यह ज्ञान भ्रम-प्रमा दोनोसे विलक्षण है वाल्लभ वेदान्तमे ही सोपाधिक ज्ञानको भी भ्रमके अन्तर्गत कही-कही माना गया है अन्यथा भ्रम-प्रमासे अतिरिक्त अन्य कौनसा ज्ञान होगा स्मृति तो उसको कह नही सकते भ्रम-प्रमा मिश्रित, स्मृति भिन्न किसी ज्ञानमे प्रमाण नही है सोपाधिक भ्रमके विषयमे विद्वान् लेखक श्रीगोस्वामीजीने सुबोधिनीको उद्धृत करते हुए बहुत कुछ विचार उपस्थित किये है निष्कर्ष उन्हींके शब्दोमे "निष्कर्षत वाल्लभ वेदान्तके अनुसार अज्ञान और अन्यथाज्ञान अन्यख्यातिरूप भ्रान्तिके व्यामुग्ध पुरुषगत हेतु द्वय है न कि भ्रान्तिके लक्षणोपम स्वरूप"

विद्वान् लेखकने ख्याति सम्बन्धी प्राचीन विचारोसे अतिरिक्त आधुनिक भौतिक विज्ञान एव मनोविज्ञान के अनुसार वैज्ञानिको एव मनोवैज्ञानिको के विचारोका उल्लेख करते हुए महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है इनके इस विवेचनको अवगत कर दार्शनिकोको भी अपने सिद्धान्तो पर पुनर्विचार करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है जिज्ञासुओ द्वारा प्रकृत निबन्ध अवश्य ही अनुशीलनीय है

६ श्रीस्वामिनारायणमतीय वेदान्तसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसन प्रक्रिया — १-२

ये दोनो निबन्ध पूज्य श्रीगोस्वामीजीके महत्त्वपूर्ण है जिसमे प्रथम निबन्धमे श्रीस्वामीनारायण सम्प्रदायसिद्ध वेदान्तसिद्धान्तकी समीक्षा की गयी है तथा द्वितीय निबन्धमे उक्त समीक्षामे उठाये गये कुछ आक्षेपबिन्दुओ पर श्रीश्रुतिप्रकाशदासजीके द्वारा दिये गये समाधानोकी विद्वतापूर्ण समीक्षा एव निराकृति प्रस्तुत की गयी है

उक्त निबन्धोंके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि स्वसिद्धान्तसम्प्रदायमे अटूट श्रद्धाविश्वास रखनेवाले श्रीगोस्वामीजीने उन स्वामिनारायणसम्प्रदायगत विद्वानोकी आलोचना की है जो स्वसम्प्रदायके मूल ग्रन्थ शिक्षापत्रीके विरुद्ध मतके पोषक है

अधुना कुछ स्वामिनारायण सम्प्रदायवालोंने अपने मतको श्रीरामानुजीय विशिष्टाद्वैतसे पृथक्रूपमे सिद्ध करनेका असफल प्रयास किया है. उनका कथन है कि 'वचनामृत'के अध्ययनसे यह मत रामानुजीय मतसे पृथक् प्रतीत होता है. वचनामृत श्रीस्वामिनारायणजीके ही उपदेश वचनोका संग्रह है. श्रीगोस्वामीजीका तात्पर्य है कि शिक्षापत्रीमे स्पष्ट है कि श्रीस्वामिनारायण मतमे श्रीरामानुजीय विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त ही माना जायेगा. श्रीभाष्य ही तत्सम्मत भाष्य है. तब श्रीरामानुजीय विशिष्टाद्वैतसे भिन्नताका प्रसङ्ग ही नहीं आता. ऐसी स्थितिमे भक्त्यादि उपदेश प्रयोजनक 'वचनामृत' वचनोंका भी शिक्षापत्रीके अनुसार ही व्याख्यान युक्त है अन्यथा स्वसिद्धान्त मूलपुरुष वचन निर्मूल होकर अप्रामाणिक हो जायेगा सभी सम्प्रदायोमे ऐसा ही देखा जाता है कि कोई भी असाधारण विद्वत्तासम्पन्न विद्वान् व्याख्याकार अपने सम्प्रदायके मूलपुरुषके वचनोको प्रमाणत्वेन ध्यानमे रखकर ही तदविरोधि युक्तियोसे, तर्कोसे व्याख्या उपस्थित करता है कहीं विपरीत पडने पर भी उसका समन्वय या तात्पर्य वर्णन करता है न कि मूलपुरुषसे विपरीत व्याख्या करता है.

इन सभी वाक्योंके साथ श्रीस्वामिनारायण सम्प्रदाय सिद्ध सिद्धान्तोका वर्णन प्रकृत निबन्धोमे किया गया है

श्रीश्रुतिप्रकाशदासजीके समाधानोका भी उत्तर उन्हींके सिद्धान्तानुसार श्रीगोस्वामीजीने प्रस्तुत किया है. ये दोनो निबन्ध अतीव महत्त्वपूर्ण है. शोधार्थियो, जिज्ञासुओ केलिए सर्वथा उपादेय है

८. धर्मोंकी विविधता और विश्वमें शान्ति :

धार्मिक एव विद्वान् लेखक श्रीगोस्वामीजीने प्रस्तुत निबन्ध द्वारा विश्वशान्तिका अनुपम सर्वधर्मग्राह्य उपाय प्रस्तुत किया है. विश्वशान्तिकेलिए कोई एक धर्म मान्य करना अशक्य है. शान्ति तो तभी सम्भव है जब सभी धर्मानुगामी परधर्मसहिष्णु बने. परधर्मसहिष्णुताका अर्थ स्वधर्मत्यागपूर्वक परधर्म परिग्रह नही है अपितु स्वधर्मकी तरह हृदयेन स्वीकार ही है. गीता भी कहती

है "स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत संसिद्धि लभते नर, स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह" यद्यपि यह गीतावाक्य वर्णाश्रमधर्मके प्रति कहा गया है तथापि प्रचलित समस्त धर्मोंमें भी इस वाक्यका संचार किया जा सकता है

लेखकका कथन शतप्रतिशत सत्य है कि विश्वकलहका कारण कोई धर्म या उसकी विविधता नहीं है अपितु एकाधिकारिताका अहभाव ही कलहका बीज है अर्थात् मेरा ही धर्म सही है अन्य धर्म शैतानप्रभव है उसको मिटा देना चाहिए यह भाव विश्वकलहका बीज है

गोस्वामीजीने हिन्दु, बौद्ध, जैन, ईसाइ, मुसलिम आदि धर्मोंके मूल ग्रन्थोंसे उद्धरण देकर सिद्ध किया है कि सभी धर्मोंमें एकेश्वर वाद, उसकी आज्ञा पालनका विधान एव दूसरोंको दु ख न देना, अपितु परदु खप्रहाणेच्छा, परधर्मसहिष्णुता आदि भरे पड़े हैं, किन्तु मोहजन्य अह श्रेष्ठके भावसे कलह होता है धर्मोंके त्यागसे विश्वशान्ति नहीं है अपितु परधर्मसहिष्णुता पूर्वक स्वधर्ममें सत्यनिष्ठा ही विश्वशान्तिका मूल है अनीश्वरवादी बौद्धादि ग्रन्थोंमें भी सर्व शून्यताके उपदेशसे सभी भेदभावोंका निषेध स्वत सिद्ध होता है यह निबन्ध विश्वके प्रत्येक जनकेलिए उपादेय है इसका प्रचार होना चाहिए

मनुष्य बौद्धिक प्राणी है तथा मनुष्य धार्मिक प्राणी है ये दोनो बातें है पर विश्वशान्ति तो मनुष्यकी बौद्धिकता एव धार्मिकता के सामञ्जस्यसे ही सम्भव है उस सामञ्जस्यका स्वरूप स्वधर्मनिष्ठापूर्वक परधर्मसहिष्णुता ही है श्रीगोस्वामीजीने उद्यान आदिका दृष्टान्त देकर बडे ही सुन्दर ढगसे विश्वमें धर्मविविधता विश्वके सौन्दर्यपरिपूर्णताका ही हेतु है यह समझाया है अनेक पुष्पवृक्षोंसे उद्यान जैसे शोभा पाता है, अनेक भक्ष्य, पेय, लेह्य, चोष्य वस्तुओं से जैसे अन्नभण्डार शोभा पाता है वैसे सभी धर्मोंसे विश्व सुन्दर है उनका रहना परमावश्यक है यही ईश्वरीय विधान है पर दम्भाहकार, मोह, आत्ममानिता सभी कलहका बीज है यत्न पूर्वक

इसका परित्याग अपेक्षित है. इस प्रबन्धसे विश्वमें शान्तिका उपदेश दिया गया है.

१. ब्रह्म या ब्रह्माण्ड और मनुष्यके अस्तित्वकी खोज(एक वाल्लभदृष्टि):

मनुष्यमें चिरन्तन कालसे ही "अनन्त ब्रह्माण्डके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? मै कौन हुं? तथा यह विश्व ब्रह्माण्ड कहांसे प्रवृत्त हुआ है? इसका क्या प्रयोजन? इसका कर्ता कौन है?" इस प्रकारकी जिज्ञासा स्वभावत. देखी जाती रही है. लेखकने प्रथम जिज्ञासाको व्यष्टि पक्ष मानकर आत्मजिज्ञासा शब्दसे कहा है. ब्रह्माण्डके साथ व्यष्टिका सम्बन्ध दूसरा समष्टि पक्ष है. जिसको 'परमात्मजिज्ञासा' शब्दसे कहा जाता है. "किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आसीद् यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः, मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन्" (ऋग्वेद१०।८१।४) अर्थात् वह कौन सा वन था? वह कौन सा वृक्ष था? जिसको काट छाट कर ये आकाश पृथिवी लोक बनाये गये. कभी अपने आपसे पूछकर तो देखो कि इन भुवनोको धारण करने वाला कहां खडा है? उसका आधार क्या है?" इस तरह प्रश्नोपस्थापक यह मन्त्र है

"ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन्" अर्थात् वह वन ब्रह्म था वह वृक्ष भी ब्रह्म था जिसे काट-छाट कर ये आकाश और पृथिवी लोक बनाए गये है विद्वानो अपने सच्चे मनसे एक रहस्य तुम्हे कहता हू, इन भुवनोको धारण करने वाला ब्रह्मपर खडा है. ब्रह्म ही उसका आधार है इसी तरह श्वेताश्वतरोपनिषद्का वाक्य है "ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति, किं कारण ब्रह्म कुत स्म जाता, जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा, अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्म विदो व्यवस्थाम्. काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्या, सयोग एषा न त्वात्मभावादात्माऽप्यनीशा सुखदु ख हेतो ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्, य कारणानि निखलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक" (श्वेता.उप.३)

विद्वान लेखकने उक्त प्रसङ्गमे पुरातन यूरोपीय विचारोसे लेकर आज तक वाल्लभ वेदान्त सम्बन्धी अवधारणाओंकी तर्कसगत व्याख्या प्रस्तुत की है मनुष्य ही आत्मवान् प्राणी है क्योकि वह बुद्धिमान् विचारशील प्राणी है मनुष्येतर प्राणियोमे आत्मा नही होती है, वे यन्त्रवद् व्यवहार करते है यूनानी विचारकोने माना है कि ब्रह्माण्डमे मनुष्य ही अकेला तर्क-विचारशील प्राणी है भारतीय चिन्तक मनुष्यतामे धार्मिकताको प्रधान मानता है "धर्मेण हीना पशुभि समाना" बाइबिलके अनुसार सृष्टिमे मनुष्यका निर्माण सृष्टिप्रक्रियाका चरम बिन्दु है समग्र सृष्टि मनुष्यकेलिए है इतर प्राणी भी मनुष्यकेलिए है इन समग्र तथ्योकी ऐतिहासिक मीमासा प्रकृत निबन्धमे की गयी है "मनुष्य एक विचारशील प्राणी है" कि जगह यह धारण होती गयी कि "मनुष्य एक पापशील प्राणी है" एक शायर की उक्ति है *"जिन्दगी क्या है गुनाहे आदम जिन्दगी है तो गुनहगार हू मै"* सभी तथ्योका क्रमश ऐतिहासिक विचारके बाद लेखकने सबका समाधान शुद्धाद्वैतमे किया है लेखकके शब्दोमे "पुरी सृष्टिमे कही कोई पाप - माया शैतान की कारस्तानी नही है, कही कोई ग्लानि नही है सारी सृष्टि एक सहज लीला है प्रयोजन रहित है एकका अनेक रूपोंमे परिणत होना है स्वयका स्वयके साथ एक आख-मिचौनीका खेल है " इत्यादि पठनीय है

वाल्लभवेदान्त इस सन्दर्भमे दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तसूत्र प्रदान करता है १ ज्ञानदृष्टिसे देखने पर ब्रह्म ही स्वय जगद्रूपसे हुआ है प्रेमदृष्टिसे देखना हो तो एकाग्र दृष्टि अपेक्षित है अतिशय स्नेह दृष्टिसे केवल ब्रह्म ही द्रष्टव्य है अन्य नही २ अगणित आनन्द ब्रह्म है उसकी प्राप्तिकेलिए चित्तमें भगवत्प्रेम सम्पादित करना पडेगा प्रेम सवलित चित्तमे भगवान् अतिरोहित है उसे खोजनेकी आवश्यकता नही पडेगी इस तरह यह महत्त्वपूर्ण निबन्ध इस वाल्लभ सिद्धान्तपर पर्यवसित होता है कि ब्रह्माण्ड ब्रह्म परिणाम है वह भगवल्लीला है उसमे सर्वत्र ब्रह्म अनुगत है मनुष्यार्थ ब्रह्माण्ड नही है समस्त जड वर्ग भगवान्‌की आशिक अभिव्यक्ति है सभी जीव भगवदश है सारा प्राणी जगत् परमेश्वरके चैतन्याशसे प्रकाशित हो रहा है उसीके

आनन्दाशसे जीवित है उसीकी आनन्दाशकी अनुभूति करता है "को ह्येन्यात् कः प्राण्यात् यदेष आनन्दो न स्यात्"

१०. सत्यके कतिपय अनूठे आयाम :

प्रकृत निबन्धमे विद्वान लेखक श्रीगोस्वामीजीने सत्य पदार्थगत मतभेदोकी वैदुष्यपूर्ण समीक्षा की है सत्य देशकालादि परिच्छेद शून्य पदार्थ है अथवा तत्परिच्छेद सहित? सत्यके साथ अनुभूयमान देशकालादि परिच्छेदक क्या सत्यद्वारा सत्यमे ही परिकल्पित होनेसे सत्य है? अथवा स्वय चेतनमे तदतिरिक्त अन्य सत्य वस्तुका अभाव है? इस तरह सत्यके अर्थमे वैविध्य है इसी तरह सत्य, भाव, सत्त्व ऋत् सम्यग् इत्यादि पदोसे बोध्य अर्थमे एकता है, या विभिन्नता है? इन सभी तथ्योका शास्त्रीय प्रामाणिक विचार इस प्रबन्धमे किया गया है

अमरकोषमे "सत्य तथ्य ऋत सम्यक्" ऐसा 'सत्य' शब्दका पर्याय दिया गया है उसकी रामाश्रयी व्याख्यामे इन पदोकी व्युत्पत्ति दी गयी है "सति साधु=सत्यम् तथा (सत्ये) साधु तथ्यम् अर्यते स्म ऋ गतौ क्त ऋतम् समञ्जति सगच्छते अञ्चुगतौ क्विन्=सम्यक्" इससे य सिद्ध होता है कि ये चारो शब्द पर्याय है पर अर्थमे किञ्चिद् भेद अवश्य है

वैदिक भाषामे यास्कने "वषट् श्रत् सत्रा इत्था ऋत" ये सत्यके पर्याय गिनाये है "सत्यनामानि उत्तराणि षट्" (निरुक्त ३।३।१०) इन पर्यायोमे भी किञ्चिद् भेद अवश्य है प्रकृत निबन्धमे लेखकने 'सत्य' प्रयोगभेदोको दिखाकर सत्य एव प्रज्ञा का स्वरूप एव परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है 'सत्य' शब्दार्थ ब्रह्म है "सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म" (तैत्ति उप २।१) सत्य ज्ञानरूप अपरिच्छिन्न होता है वह ब्रह्म स्वेच्छयैव स्वसृष्ट पदार्थो मूतामूर्तोमे प्रविष्ट होकर मूर्त एव अमूर्त हो गया अत यह जो कुछ है सत्य है "सोऽकामयत सत्यमित्याचक्षते" (तैत्ति उप २।६)

लेखकके अनुसार ब्रह्म एव तदभिन्न निमित्तोपादनक जगत् जो अहिकुण्डलवद् है, सत्य है उन मूर्तामूर्त रूपोका "अथात आदेशो नेति नेति" के द्वारा निराकरण नही है "नेति नेति"के द्वारा ब्रह्मकी प्रकृत एतावत्ताका निषेध है तस्मात्, ब्रह्म एव तत्परिणामभूत् जगत् सत्य है दोनोकी सत्यता एक है

अद्वैत मतके अनुसार सत्यता त्रिधा है १ पारमार्थिकी २ व्यावहरिकी ३ प्रातिभासिकी त्रिकालाबाध्यत्वरूप पहली, ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वरूप दूसरी, प्रतिभासशरीरमात्रा तीसरी है सत्यता केवल चिन्मात्र ब्रह्मनिष्ठा ही है मूर्तामूर्त जड वर्गोमे चिन्मात्रब्रह्मनिष्ठ सत्यता ही भासित होती है उसे ही व्यवहारापेक्षया व्यावहारिकी कहते है प्रातिभासिकी सत्ता भी शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य सत्ता ही है, अतिरिक्त नही है एक ही सत्तारूप सत्य-ब्रह्ममे व्यावहारिक-प्रतिभासिक उपाधिवशात् सत्यतामे भेद माना जाता है सक्षेपशारीरककारने भी स्पष्ट किया है "आकाशादी सत्यता तावदेका प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या" (सक्षेपशा १।१७८) अद्वैतवादमे अहिकुण्डलवद् भेदाभेदवाद सम्मत नही है यहा अविकृत परिणामवाद नही है अविकृत भी हो, परिणत भी हो यह बाधित है सुवर्णकुण्डलमे भी कुण्डलात्मना अवस्थान्तर प्राप्तिरूप विकार है ही रूपान्तरापत्ति ही विकार है, अवस्थान्तरापत्ति नही इसमे प्रमाण नही है "अथात आदेशो नेति-नेति"के द्वारा प्रकृत एतावत्त्व मूर्तामूर्तका ही प्रतिषेध है "अतएव ब्रवीति च भूय"मे सैन्धवघन दृष्टान्तद्वारा चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप निरूपित है वदतोव्याघात दोषका लेश भी नहीं है श्रुति ही निषेध करती है तो अद्वैती क्या करे विरुद्धधर्माधिकरणत्व ब्रह्ममे माननेवाले वाल्लभोको अद्वैतमें व्याघात कैसे दीख जाता है।

अस्तु यहा अद्वैत प्रतिपादनमे कोई आग्रह या तात्पर्य नही है अहिकुण्डलवत् दृष्टान्तपर स्मृत बातोंकी उपेक्षा न कर हमने कह दिया अविकृतपरिणामवादमे भी ब्रह्म ही सत्य है अद्वैतमे भी ब्रह्म ही सत्य है दोनोको ब्रह्मकी सत्यतामे लेश मात्र भी सन्देह या विवाद नही है अब रही जगत् सत्यताकी बात जगत् श्रीहरिका स्वरूप है स्वयमेव श्रीहरि जगत्रूपसे परिणत हुए

इस सिद्धान्तमे जगत् पारमार्थिक सत्य है. इसमे अद्वैतको कहां विरोध है. जब अद्वैतके अनुसार जगत् भगवत्परिणाम नही अपितु विवर्त है, भगवदारोपित मायाका परिणाम है तब तो जगत्की ब्रह्मातिरिक्त सत्यता मानना तथा ब्रह्मवत् पारमार्थिक सत्यता मानना न्यायसगत नही है. पर प्रतीयमान जगत्की सत्यता क्या है इसपर अद्वैतमत कहता है कि वह ब्रह्मसत्यता ही है. जगद्गतत्वेन प्रतिभासित है. इस विवेचनसे तो यही सिद्ध होता है कि जगत्की सत्यता ब्रह्मसत्यता ही है अतिरिक्त सत्यता नहीं है जगद्गतत्वेन प्रतिभासित है. यह वाल्लभ एव अद्वैत दोनो पक्षोमे अनिराकृत है. जगत् परमेश्वरसे अतिरिक्त नही यह वाल्लभ-अद्वैती दोनो कहेगे पर जगत् ब्रह्मरूप है ऐसा वाल्लभ कह सकता है पर अद्वैती नही कह सकता है. वह कहेगा, जगत्का ब्रह्मसे भेद नही है अर्थात् परमात्मसतातिरिक्तसत्ताकत्व जगत्मे नही है. "भेद व्यासेधामो न च अभेद ब्रूम" भला जड जगत्से अभेद कैसा? आखिर जड जगत् एव तदभिन्ननिमित्तोपादान ब्रह्ममे अभेद मानने वालेको भी अहिकुण्डलवद् भेद भी कहना होगा, या तो यह कहना होगा कि जड जगत्मे भगवान्के सदशके अतिरिक्त होने पर भी चिदश आनन्दाश तिरोहित हैं इस तरह स्वस्वसम्प्रदायकी मान्यता अनुसार स्वस्वमतवादोका अभ्युपगम है

प्रसङ्गान्तर होता जा रहा है विद्वान् लेखक श्रीगोस्वामीजी सकल वेदान्तके धुरधर पण्डित है उनको सभी तथ्य विदित हैं ब्रह्ममे जगत् अध्यारोप नहीं माना जाता है "तदैक्षत एकोऽह बहुस्यामिति" श्रुतिके अनुसार जगत् अविकृत श्रीहरिका परिणाम है ऐसा स्वसिद्धान्तके अनुसार सत्य पदार्थका निर्णय किया है उनके इस स्तुत्य प्रयासकी जितनी प्रशसा की जाय अल्प है

११. नेचर एण्ड फन्क्शन ऑफ माइन्ड (वल्लभवेदान्तके अनुसार)

यह निबन्ध परिसवाद गोष्ठीमे पठित है यह शास्त्रीय निबन्ध विद्वद्हृदयावर्जक है वाल्लभ मतमे माइण्डकी प्रकृति एव विस्तार एव स्वरूप क्या है इस पर विस्तृत विचार किया गया है 'माइण्ड' अग्रेजी शब्द है विभिन्न

अर्थमे हिन्दीमे भी इसका प्रयोग चलता है 'माइण्ड' दिमागका वाचक है "दिमाग फेल है" "दिमागसे काम लो" "दिल-दिमाग काम कर रहा है" "माइण्ड ठीक नहीं है" "हार्ट ठीकसे काम कर रहा है" ये सभी प्रयोग हिन्दीमे चलते है 'हर्ट' दिलका पर्याय एव 'माइण्ड' दिमागका वाचक है सस्कृतमे या वाल्लभ वेदान्तमे 'माइण्ड' अन्त करणको कहते है "स्वान्त दृन्मानस मन"के अनुसार हृदय मन है "मन अन्त करण-मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्धा लक्ष्यते" (सुबे ३।२६।१४) अत 'माइण्ड' पदसे अन्त करणका ग्रहण है हृदय (मन) अन्त करणका एक भाग है

वाल्लभ मतमे नामरूपकर्मात्मक समस्त प्रपञ्च, एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मके "एकोऽह बहुस्याम्" इति बहुभवनसकल्प सामर्थ्यसे तत्परिणामरूप माना जाता है यह अविकृतपरिणाम कहा जाता है जैसे कटक-कुण्डलादिरूपसे परिणाममान् सुवर्ण सुवर्णत्वेन अविकृत रहता है, आकृत्या च विभिन्न रूपमे परिदृश्यमान रहता है वह आकृति सुवर्णसे वास्तविक तादात्म्यापन्न है वाल्लभवेदान्तके तलान्त पाण्डित्य विभूषित श्रीगोस्वामीजीने बहुत ही स्पष्ट शब्दोमे वाल्लभ सिद्धान्तोको व्यक्त किया है

सच्चिदानन्द ब्रह्मकी स्वरूप, कारण एव कार्य रूप तीन कोटिया है १ सर्वमूल स्वरूप कोटिके अन्तर्गत प्रथम ज्ञान-क्रियारूप धर्मद्वय विशिष्ट एक धर्मी परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण है

२ दूसरी कोटि उसी परब्रह्मकी सत्ता-चेतना और अनन्तता रूप धर्म एव धर्मी भूत 'अक्षरब्रह्म' नामक है अक्षर ब्रह्मकी तीन अवान्तर कोटि स्वीकृत है काल, कर्म और स्वभाव कारणकोटिके अन्तर्गत अठ्ठाईस तत्त्व माने गये है सत्त्वादिगुणत्रयसाम्यावस्था प्रकृति, पुरुष, महत् अहकार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, दशेन्द्रिय एव मन

३ कार्यकोटिके अन्तर्गत जडवर्ग एव जीववर्ग आते है जड समष्टि-व्यष्टिरूपेण

द्विविध है जीववर्ग भी समष्टि-व्यष्टि रूपेण द्विविध है

इन तीनो कोटियोंके परिप्रेक्ष्यमे अन्त करण (माइण्ड)की क्या स्थिति है श्रीगोस्वामीजीने स्पष्ट किया है कि 'अन्त करण' पदवाच्य तत्व, कारणकोटि प्रविष्ट पुरुषकी अशभावापन्न व्यष्टि चेतनाके सघातरूपसे एक विशिष्ट चिदचिद्ग्रन्थिरूप पदार्थ है

तात्पर्य है कि प्राणीके समस्त क्रियाकलापोको निष्पन्न करनेवाला अन्त करण तत्त्व है वह पुरुषव्यष्टि चैतन्य तथा महदहकार मनके व्यष्टिभावापन्न कार्यका सघात रूप है इसलिए उसको चिदचिद्ग्रन्थिरूप कहा जाता है पाञ्चभौतिक शरीरमे यह अन्त करण महत्वपूर्ण तत्त्व है तिरोहित चिदानन्दाश अतिरोहित सदश ब्रह्म, मन पर्यन्त उपादान परिणामभावको प्राप्त होता है पुरुषके सान्निध्य होने पर उस जडरूपान्त करणमे ब्रह्मके चिदशरूप चैतन्य सक्रान्तिसे वह चेतनवत् व्यवहारोपपादक बनता है प्रकृत निबन्धमे अन्त करणके स्वरूपके अनन्तर उसके सभी क्रिया कलापोकी वाल्लभमतानुसार तात्त्विक मीमासाकी गयी है प्रकृत निबन्धसे श्रीगोस्वामीजीके प्रगाढ पाण्डित्यका उत्कर्ष प्रकट होता है

कार्यकारणभावमीमासा (वाल्लभवेदान्त तथा बारूक स्पिनोजा मतका तुलनात्मक विमर्श):

"कार्यकारणभाव (विद्वत्परिचर्चा)" यह ग्रन्थ श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, माण्डवी-कच्छसे प्रकाशित हुआ है परिसवादगोष्ठीमे विद्वानोंके द्वारा विविध दर्शनानुसार लिखित एव पठित निबन्धोका सग्रह एव उनके उपर हुए गोष्ठी गत परिसवादोका सग्रह है इसमे पूज्य गोस्वामीजीका उपर्युक्त शीर्षकवाला निबन्ध प्रकाशित है साथ ही गोस्वामीजीका वाल्लभमतोपस्थान पूर्वक तत्सिद्धान्त तत्वदर्शनात्मक प्रारम्भिक वक्तव्य भी प्रकाशित हुआ है

इस परिसवाद गोष्ठीमे मै भी उपस्थित था सौभाग्यसे पूज्य श्रीगोस्वामीजीका वक्तव्य सुननेका अवसर मिला था आपके प्रारम्भिक वक्तव्य एव वाल्लभवेदान्त

तथा स्पिनोजा मतका तुलनात्मक विमर्श इन दोनो प्रबन्धोका अतिशय महत्त्व है

श्रीगोस्वामीजीके अनुसार दर्शनकी मुख्य प्रवृत्ति या सोपान त्रिधा प्रकट होते हैं १ अनुभूति २ व्याख्या और ३ उत्प्रेक्षा

१ अनुभूति लौकिक-अलौकिक उभय विवक्षित है २ व्याख्या भी दो तरहकी होती है पदव्याख्या तथा पदार्थव्याख्या ३ उत्प्रेक्षा प्रमाणमूलिका ही ग्राह्य है यह सभी दर्शनोमे स्वसिद्धान्तानुसार श्रौतानुग्राहक तर्कद्वारा सम्भव होती है

कार्यकारण मीमासामे श्रीगोस्वामीजीकी महत्त्वपूर्ण बात है कि श्रीमद्भागवतके अनुसार "मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणा श्रेयो विधित्सया, ज्ञान कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योस्ति कर्हिचित्" तीन साधन है ज्ञान, कर्म और भक्ति इनमे श्रीमद्भागवतके अनुसार ही "निर्विण्णाना ज्ञानयोग कर्मयोगस्तु कामिना, न निर्विण्णो नाति सक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धद" विरक्तचेता ज्ञानके, कामासक्त कर्मके तथा जो न विरक्त है न कामासक्त है वे भक्तियोगके अधिकारी है इसमे ज्ञानयोग ब्रह्मका स्वरूपानुविधायी है कर्मयोग ब्रह्मकी केवल लीलाका अनुविधायी है भक्तियोग लीला एव स्वरूप उभयानुविधायी है वाल्लभ सम्मत कार्यकारण व्यवस्थाको भक्तिमार्गके दृष्टिकोणसे देखना चाहिये

"विषयो भगवान् विषयता माया अन्येति न तत्र आसक्ति कर्तव्या" "ब्रह्मरूप जगद्ज्ञातव्य ब्रह्म जगतोऽतिरिच्यतेति न तत्रासक्ति कर्तव्या" इस महाप्रभुके वचनानुसार विषय भगवान् है, पर विषयमे आसक्ति नही करना चाहिए अपितु भगवान्मे ही आसक्ति ठीक है इसका क्या तात्पर्य है कि विषयोमे भगवद्रूप तथा भगवद्बुद्धि करनेसे तथा विषयोमेसे विषयत्वभावके त्यागनेसे विषयविषयक आसक्ति भी भगवदासक्ति ही हो जाती है अर्थात् सभी जगद्विषयको भी भगवद् तादात्म्यपन्न तत्सामर्थ्यसे वितत भगवल्लीलारूपमे देखना ही भक्ति है दूसरी भाषामे कहे तो जगद्मे भगवल्लीलात्वानुभूति हि भक्ति है इसीको पुष्टि' कहते है

इस निबन्धमे अविकृतपरिणामवादके उपर विस्तारसे विवेचन किया गया है आरम्भवादादिकी आलोचनापूर्वक सत्कार्यवादकी व्यापक समीक्षा तथा आविर्भाव-तिरोभावका वास्तविक स्वरूप प्रकट किया गया है

गोस्वामीजीकी शैली है कि वाल्लभवेदान्तके सिद्धान्तोकी मीमासा करते हुए केवलाद्वैत मतकी अग्राह्यता, अनुपपन्नता तथा अप्रामाण्यको भी प्रदर्शित करते चलते है इससे अद्वैतियोको थोडा कष्ट भले ही हो सकता है पर यह किसी व्याख्याकारका स्वभाव एव धर्म है कि वह सम्बन्धित सभी पहलुओपर विचार प्रस्तुत करे इसमे रागद्वेषकी बात नही रहती है प्रकृत वक्तव्यमे "मृत्तिका इत्येव सत्य" तथा "ऐतदात्म्यमिद सर्वम्" इन श्रौत वचनोकी अद्भुत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है "मृत्तिका इत्येव सत्य" का अर्थ है कि कौन नाम सत्य है, घटका मृद्विकार 'घट-शरावादि' नाम सत्य है अथवा 'मृत्तिका' नाम सत्य है मृत्तिका नाम ही सत्य है, शेष वाचारम्भण है यह अर्थ वाल्लभ मतमे किया गया है

श्रीगोस्वामीजीके अनुसार कार्य मिथ्या या सत्य है इसका विचार ही इस श्रुतिमे नही है 'वाचारम्भण'का अर्थ है वाग्व्यवहार भला वाग्व्यवहार मात्रसे मिथ्यात्व कैसे सिद्ध होगा। श्रीगोस्वामीजीके अनुसार श्रीभगवद्पादशङ्कराचार्यने 'मात्र'पदका अध्याहार कर 'वागालम्भनमात्रम्' मिथ्यात्वकी उपपत्ति की है पर वहा 'मात्र' पदका अध्याहार अनावश्यक प्रतीत होता है

इसी तरह "ऐतदात्म्यमिद सर्व तत् सत्यम् स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इस वाक्यमे 'तत्' पद आत्मवाची नही है अपितु ऐतदात्म्य वाची है आत्मा त्वमसि नहीं है, अपितु ऐतदात्य त्वमसि है "ऐतदात्म्य तुम हो" कहने पर यहा अशाशिका तादात्म्य कहा जा रहा है इस तरह श्रीगोस्वामीजीने स्वसिद्धान्तमे उक्त श्रुतियोका अर्थ किया है

यहा भूमिकामे इन शास्त्रीय विषयोपर शास्त्रार्थका कोई प्रसङ्ग नही

है न तो श्रीगोस्वामीजी, जो सभी मतोसे सद्भाव रखने वाले है; तथा सभी मतोकी अच्छाइयोंके पारखी है, उनका किसी मत या व्याख्या पर आक्षेपमे तात्पर्य है. उपर्युक्त व्याख्या भी उक्त श्रुतियोंकी सगत है. किन्तु उपर्युक्त व्याख्या सुनकर मुझे कुछ विवक्षा अवश्य होती है जिसको मै प्रकट करना चाहता हू. श्रुतिवाक्य कल्पतरुकी तरह है. सभी वेदान्त उन्ही श्रुतिवचनोको प्रमाणमानकर अपना सिद्धान्त स्थिर करता है.

"वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादि वचनोका व्याख्यान प्रकृत उपनिषद् शाङ्करभाष्य एव आरम्भणाधिकरण शाङ्करभाष्य मे स्पष्टशब्दोमे किया गया है 'वागालम्भनमात्रम्' यह वाक्य उपनिषद्भाष्यमे है यहा 'मात्र'पद तो स्वभावतो देय है, अध्याहारलभ्य नही है. "मृत्तिकेत्येव सत्य" वाक्यमे 'एव'कार अवधाराणार्थक है. अवधारण इतरनिवृत्तिपूर्वक होता है. अन्ययोग व्यवच्छेदकार्थक एवकार है यथा "पार्थ एव धनुर्धर" यह पार्थातिरिक्तमे धनुर्धरत्वका व्यवच्छेदक वाक्य है उसी तरह "मृत्तिका इत्येव सत्य" घटशरावादि विकारमे सत्यत्वका व्यवच्छेदक वाक्य है. 'इति' पद घटशरावादि विकारोमे अनुगत मृत्तिकाका उपस्थापक है. अर्थात् घट-शरावादिमे मृत्तिकाका अनुगमक है "घटो मृत्" "शरावो मृत्" इत्यादि रूपेण. स्वतात्पर्य निकालनेकेलिए 'मात्र'पद अध्याहृत नही है

वाल्लभ मत मे भी "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" (२।१।७) सूत्रकी भावप्रकाशिकाब्रह्मसूत्रवृत्तिमे

"अतो यो विकारस्तद्वाचारम्भण यदारभ्यते तदारम्भण कृत्यल्युटो बहुलमिति बाहुलकात् कर्मणि ल्युट् कारणस्यैव नामधेयम् कारणमेव हि तत्तदर्थक्रियासिद्ध्यर्थ तेन-तेन नाम्ना व्यवह्रियते इति कारणादभिन्न कार्यम्, नतु स्वेन रूपेण कारणाद् भिन्नम् कारणरूपेणैव सत्य न तु रूपान्तरेण"

इस सन्दर्भ मे भी "कारणरूपेणैव सत्य न तु रूपान्तरेण" इसमे रूपान्तरमे सत्यत्वका वारण अवगत होता है रूपान्तर घट शरावादिमे सत्यत्व

नही है यह अर्थ होता है यह एवकारसे ही सम्भव है

वाल्लभमतमे कार्यका मिथ्यात्व अभिप्रेत नहीं है कार्यकारणमे अभेद = तादात्म्य अभिप्रेत है कार्यकारणमे सर्वथा अभेद = ऐक्य मानने पर कार्यकारणभावानुपपत्ति होगी 'अनन्यत्व' शब्दसे भेदका निषेध ही अवगत होता है, अभेद बोध नही अन्यथा तदभेद यही कहा गया होता शाङ्कर मतमे भेदका निषेध है, अभेद अभिप्रेत नही है मिथ्यात्वावगम तो तत्त्वबोधात् प्राक् किसको है? शङ्करभाष्यमे ही प्रकृत सूत्रमे लिखा है "सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मता विज्ञानात् सत्यत्वोपपत्ते, स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात्"

इसी तरह "ऐतदात्म्यमिद सर्व तत् सत्य स आत्मा" वाक्यमे भी 'तत्'पद ऐतदात्म्यका बोधक है, वही सत्य है, वही आत्मा है "वही तुम हो" यह अर्थ भी सगत नही लगता है 'एतत्'पदसे प्रकृत सत् गृहीत है, एतत् सद् आत्मा यस्य तत् एतदात्म सत्यभाव ऐतदात्म्य सदात्मकता इत्यर्थ सर्वमिद प्रपञ्च जात सद्ब्रह्मात्मकम् 'तत्' पदसे भी वही प्रकृत सद् विवक्षित है वही सत्य है वही सद् एकमेवाद्वितीय आत्मा है वही तुम हो यही अर्थ सगत लगता है अन्यथा सत्तादात्म्य आत्मा होगा सम्बन्ध कैसे आत्मा हो सकता है क्या श्वेतकेतु सदात्मा न होकर सत्तादात्म्य है? अशाशिभाव मानने पर भी अश आत्मा है न कि अशाशिभाव आत्मा है 'तत्' पद प्रकृत बुद्धिस्थका परामर्शक माना जाता है प्रकृत बुद्धिस्थ तो वाक्यारम्भमे सद् है न कि ऐतदात्म्य है अस्तु स्व-स्व सम्प्रदायानुसार ही दार्शनिक समुदाय श्रुत्यर्थ करता है स्वमत स्थापनसे इतरमतके आक्षेपसे तात्पर्य न होने पर भी उसका आलोचन हो ही जाता है

इसी तरह तत्त्वमसिका भी अर्थ श्रीगोस्वामीजीने "तदात्मकोऽसि ब्रह्मात्मकोऽसि" किया है यहा 'तत्' पदका तदात्मक अर्थ लक्षणा के बिना सम्पन्न नही हो सकता है अत 'तत्'पद उसी प्रकृत सत्का जो सत्य है, आत्मा है, बोधक है

इसी वक्तव्यमे आगे आपने श्रीवल्लभाचार्यका वचन "अखण्डाद्वैतभाने तु सर्वं ब्रह्मैव नान्यथा, ज्ञानाद् विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपत" की व्याख्या की है "ब्रह्मात्म्यैक्यके ज्ञानसे विकल्पबुद्धिका बाध होता है, विकल्पबुद्धिगोचर वस्तुका बाध नही होता है सुवर्ण ग्राहकको ककण, कर्णाभरण आदि आभूषणोकी विकल्पबुद्धि नही रह जाती है, केवल सुवर्णग्राहिका बुद्धि ही रहती है परन्तु जिसको सुवर्ण चाहिए उसकेलिए आभूषण बाधित हो ऐसा वल्लभवेदान्त नहीं मानता है"

यहा थोडा सा विवेचनीय अवश्य लगता है विकल्प बुद्धि क्या है "शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्योविकल्प" इस योगसूत्रके अनुसार विकल्पाख्या वृत्ति शब्दज्ञानानुपातिनी तथा वस्तुविषयसे शून्य होती है "राहो शिर" आदि विकल्पबुद्धि है राहु ही शिर है यहा जो षष्ठ्यर्थ भेदबुद्धि है वह "राहो शिर"वाक्य घटक ङस् विभक्तिरूप शब्दज्ञानानुपातिनी है तथा विषयवस्तुभेदसे शून्य है इसी तरह "पुरुषस्य चैतन्यम्" इत्यादि बुद्धिया विकल्पबुद्धि कहलाती है ऐसी दशामे विकल्पबुद्धिका विषय नही रहता है विषयशून्यबुद्धि ही विकल्पबुद्धि है "राहो शिर"मे राहु एव शिर के ऐक्यज्ञानसे विकल्पबुद्धि बाधित हुई तो उसका कौनसा विषय शेष रह गया जिसका बाध नही हुआ विषयशून्यतामे ही तो विकल्पबुद्धि हुई थी
।

प्रकृतमे ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे किस विकल्पबुद्धिका बाध हुआ? ब्रह्म और आत्माके भेदबुद्धिका यदि विकल्पबुद्धि मात्रका बाध हो तो दोनोका भेद तो रह ही गया दोनोका भेद सत्य ही रहता तो भेदविषयक बुद्धि विकल्पबुद्धि कैसे होती?

सुवर्ण और ककण मे भी सुवर्णसे ककणादिविकार भिन्न है ऐसी विकल्पबुद्धि है कार्यकारणाभेद बुद्धिसे भेदबुद्धि मात्रकी निवृत्ति हो गयी तो कार्यकारणका भेद तो रह ही गया ऐसी स्थितिमे कार्यकारणका सत्यभेद मानना होगा जो वाल्लभमतमे भी नहीं माना जाना चाहिए तस्मात् मेरे

मतसे विकल्पबुद्धि मात्रके बाघसे ही तद्विषयक बाध अवश्य हो जात है क्योकि तद् बुद्धिमात्रसे विषय प्रतीत होता है वह बुद्धि तो विषयशून्य ही है वह बुद्धि तो शब्दज्ञानानुपातिनी थी अत विकारबुद्धि यदि विकल्पबुद्धि है, सुवर्णैक्य बुद्धिसे उसका बाध होता है तो विषयकी स्थिति कहासे होगी

आगे वाल्लभवेदान्त मर्मज्ञ श्रीस्वामीजीने कितना अनूठा एव हृदयग्राही तथ्य प्रकट किया है कि—लीलानुभूति ही मोक्ष है लीलामे प्रकट विषयोकी अनुभूति मोक्ष नहीं है प्रकट विषयोमे भगवल्लीला अनुभूति मोक्ष ही नही अपितु मोक्षादपि अधिक है'' ये सभी सन्दर्भ विद्वद्ग्राह्य है इस वक्तव्य प्रबन्धमे श्रीगोस्वामीजीका विचारवैशारद्य, एव विचारगभीरताका अतिशय प्रकट होता है

इसी तरह ''वाल्लभमतसे स्पिनोजाके मतके तुलनात्मक विमर्श'' नामक निबन्धके अध्ययनसे भी अधिक नवीन ज्ञान राशि प्रकटित होती है यह निबन्ध कार्यकारणभाव विद्वत्परिचर्चा ग्रथमे प्रकाशित हुआ है यही नही उनके पूर्वोक्त वक्तव्यो पर एव इस निबन्ध पर भी हुए विद्वानोके परिसवाद (आक्षेप समाधान) भी प्रकाशित है अपने वक्तव्यो एव निबन्ध पर किये गये विद्वानोके आक्षेपोका पूज्य गोस्वामीजीने प्रमाणसहित उत्तर दिया है यह सभी परिसवाद विद्वानोद्वारा द्रष्टव्य है उक्त निबन्धमे वाल्लभवेदान्त सम्मत ब्रह्मवाद, विरुद्धधर्माश्रयतावाद, अभिन्ननिमित्तोपादनतावाद, अविकृतपरिणाम-वाद, सत्कारणतावाद, सत्कार्यवाद, कार्यकारणतादात्म्यवाद, अशाशितादात्म्यवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, लीलार्थसृष्टिवाद आदि सभी तत्त्वोका औपनिषद्वाक्योद्वारा प्रतिपादन कर उनका स्पिनोजाके सिद्धातोसे समन्वय किया है श्रीगोस्वामीजीका भाव है कि स्पिनोजाका सिद्धान्त वाल्लभवेदान्तानुसारी है

यह निबन्ध प्राच्य-प्रतीच्योभयविध दार्शनिको द्वारा ध्येय है यही क्यो श्रीगोस्वामीजीके सभी निबन्ध एव उनके सम्पादकीय लेख ये सभी दर्शनके भण्डारकेलिए अनुपम रत्न है

धर्म दर्शन विज्ञान और कला में रसदृष्टिका पक्ष :

यह आलेख बृहत्काय सारगर्भित है "रसो वै स रस ह्येवाय लब्धा आनन्दी भवति" इस श्रौतवचनसे परमात्मा रसरूप है रस्यते आस्वाद्यते इति रस आस्वाद भोग है, भोग साक्षात्कार है अर्थात् आनन्दरूप परमात्माका साक्षात्कार आस्वाद है विद्वान् लेखक श्रीगोस्वामीजीने धर्मादिमे रसदृष्टिका पक्ष प्रकृत प्रबन्धमे प्रतिपादित किया है

सर्वप्रथम सहज भाषामे धर्मादिकी परिभाषा की गयी है १ स्थूलके भीतर रहने वाले सूक्ष्मको जाननेकेलिए मानवबुद्धिमे चलते मन्थन (विचार) 'दर्शन' या 'तत्त्वज्ञान' कहलाता है २ सूक्ष्मज्ञानान्तर सूक्ष्मबुद्धिसाचेमे स्थूलको ढालनेका मन्थन (विचार) 'विज्ञान' कहलाता है ३ स्थूलान्तर्वर्ती सूक्ष्मकी अनुभूति प्राप्तिकेलिए हृदयकी चहल-पहल धर्म है ४ सूक्ष्मानुभूतिजन्य अव्यक्त आनन्दको व्यक्त करनेकेलिए हृदयावर्जक साचेमे स्थूलको ढालनेका व्यापार कला है इस तरह इन चारोकी परिभाषाए की गयी हैं

तथा, दर्शन सूक्ष्मद्रष्टा प्रकट करना चाहता है धर्म सूक्ष्मान्तर्गत आनन्द ग्रहीता द्रष्टा प्रकट करना चाहता है विज्ञान सूक्ष्म बुद्धिके साचेमे स्थूलको गढने वाला स्रष्टा प्रकट करना चाहता है कला हृदय साचेमे स्थूलको गढनेवाला स्रष्टा प्रकट करना चाहती है इस तरह विद्वान् लेखकने चारोका विभेद प्रतिपादित किया है यह विभेद एव परिभाषाए लेखककी लोकोत्तर प्रतिभाका परिचायक है

यह स्थूल सूक्ष्म क्या है इस जिज्ञासा पर श्रीगोस्वामीजीने "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च मर्त्यञ्चामर्त्यञ्च स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च" (बृहदा उप २।३।१) मूर्तत्वामूर्तत्वरूप स्थूलसूक्ष्मत्वादि विरोधिधर्मोका अधिकरण ब्रह्म ही है उसीमे सर्वविरोधिधर्म प्रकट हुए है

तो क्या दोनो ही सत्य है या इनमेसे एक मिथ्या है इस पर

गोस्वामीजीने "अथात आदेशो नेति-नेति" श्रौतवाक्यका सचार कर लिखा है कि उक्त दोनो विरोधी धर्ममेसे किसीका भी निषेध अभिप्रेत नहीं है "न इति, न इति" इसके द्वारा केवल मूर्त ब्रह्म है या केवल अमूर्त ब्रह्म है इन दोनो बातोका निषेध होता है सत् व्यक्त एव त्यत् अव्यक्त है इन दोनोको मिलाकर सत्य प्रकट होता है सत् + त्यत् = सत्य

इस तरह हम देखते है कि मूर्तामूर्त अमृतमर्त्यादि विरोधिधर्मोको एक-दूसरेमे जान लेनेकेलिए विचार ही समग्र सत्यताकी खोज है उसीको धर्म दर्शन कला एव विज्ञान विभिन्न रूपसे प्रदर्शित करते है एव विध मूर्तत्वामूर्तविरोधिधर्माधिकरण सत्य ब्रह्मकी अवगतिके विना अर्थात् मूर्तामूर्तरूप समग्र ब्रह्मकी अनुभूतिके विना दर्शन विज्ञान धर्म और कला मे रस प्रकट नही होता है इसका तात्पर्य है कि वह ब्रह्म ही रस है उसीको प्राप्त कर आनन्दवान् हुआ जा सकता है एसके ज्ञानके विना दर्शन कला आदि फीके है रसरूप परमात्माका अनुभव न तो केवल अद्वैतमे न तो केवल द्वैतमे सम्भव है, अपितु ब्रह्मकी मूर्तामूर्त समग्र रूपसे अनुभूतिमे सम्भव है यह समग्रताकी अनुभूति वाल्लभमतमे सम्भव हो सकती है

धर्ममें रस दृष्टिः

"यतोऽभ्युदय-नि श्रेयससिद्धि स धर्म" यह धर्मका लक्षण है लोकसौख्य तत्साधन प्राप्ति अभ्युदय है परमार्थभगवत्त्वप्राप्ति नि श्रेयस है "एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनो अन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति" (निघ नि ७।१।४) इस यास्क वचनके अनुसार नामरूपात्मक द्वैतके भीतर एक सर्वनामा सर्वरूप सर्वकर्मा परमात्माके अद्वैतको मान्य करना ही धर्ममे रसदृष्टि है रसदृष्टिका अर्थ समग्र परमात्मदृष्टि है न केवल ऐकान्तिक द्वैत न तो केवल ऐकान्तिक अद्वैत मे परमात्माका समग्र रूप सम्भव है

परमात्माके ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, आनन्द, अनुग्रह आदि सूक्ष्मरूपेण प्रत्येक स्थूलमे विद्यमान है यह तथ्य शास्त्रोके समीचीन अध्ययनसे अतिरोहित है

दर्शनमे रसदृष्टि :

उपनिषदोका दर्शन, द्वैत, अद्वैत दोनोको पारमार्थिक मानकर प्रवृत्त है आज वैसा नही है हमारा तत्त्वचिन्तन एकाङ्गी हो गया है सकल द्वैतको मिथ्या मानना भयकर है वेदप्रतिपादित विधिनिषेध साधन सामग्री आदिसे पलायनवादका आरम्भ होने लगता है अत अति अद्वैतवादकी निष्ठा विश्वस्तरपर विफल है यह वाद धर्म, आराध्यदेव, साधनाप्रणाली आदिमे निष्ठाका घातक है ऐसी अद्वैतवादमे तो रसदृष्टि क्या हो सकती है उसी तरह केवल द्वैतवाद भी विवादका मूल है उपनिषदोका चिन्तन द्वैतको मिथ्या मानकर अद्वैतको पुरस्कृत करनेका नही था सर्वानुगत एक तत्त्व अद्वैतको छोडकर द्वैतमात्रकी अवधारणा भी औपनिषद नही थी केवल द्वैत या अद्वैत अर्धसत्य है

उपनिषदोकी दृढभावना यह है कि एक ही ब्रह्मे अनेकविध विरोधाभासी गुण रहते है "अजायमानो बहुधा विजायते" "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इत्यादि वचन उदाहरण है अत अपरिसख्येय विविध विरोधाभासी रूपोका विशिष्ट सयोजन ब्रह्म है तद्दृष्टि ही रसदृष्टि है सरस रामलीला, कृष्णलीला आदिका द्रष्टा यदि केवलाद्वैतवादी है, जो लीलाको मिथ्या कहता है उसे उसमे रसानुभूति नही होगी केवल रसाभास होगा वहा वह लीलाराम न बनकर आत्माराम बनना चाहता है परिणाम यह होता है कि न वह आत्माराम बन सकता है न तो लीलाराम ही क्योकि लीला मिथ्या ही है और आत्मामे एकाकी रमण हो ही नही सकता है

तथ्य तो यह है कि स्वय अद्वैतस्वरूप परमात्माने अद्वैत निजानन्दसिन्धुमे नामरूपात्मक द्वैतकी अनेक अनन्त परमानन्दरूप लहरे प्रकट की है वही उसकी लीला है इस उद्भुत लीलामे द्रष्टा जब तादात्म्यभावस्थापित करता है तो वास्तविक रसानुभूति होती है उपनिषदोने जड एव चेतन रूप सृष्टि और आनन्दरूप परमात्मामे अबाधित घनिष्ठ तादात्म्य दिखाया है— "ऐतदात्म्यमिद सर्व तत् सत्य स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छान्दो उप ६।८।६)

अर्थात् यह सब कुछ एतदात्मक है वह आत्मा है और तुम भी वही एतदात्मक हो "अहं ब्रह्मास्मि" इस साधनावाक्यका भी तात्पर्य अहंकारात्मक जीवात्माके अद्वैतमे न होकर जीवात्मा परमात्माके बीच तादात्म्य परक ही है तादात्म्य भेदाभेद घटित है

विज्ञानमें रसदृष्टि.

श्रीगोस्वामीजीका प्रकृत प्रबन्ध विशाल है यह अपने आपमे एक सुसम्बद्ध ग्रन्थ है इसका आशय निकाल पाना हमारे जैसे अल्पमतिसे अशक्य है फिर भी विस्तृत गगनमे पक्षी स्वपक्षबलभर उड़ान भरता ही है मै कुछ वैसा ही प्रयास करता हू

विज्ञान अर्थविशिष्ट ज्ञान है ज्ञानसामान्य ज्ञानका वाचक है ज्ञानमे जब 'वि' उपसर्गका योग होता है तो वह विशिष्ट ज्ञान कहलाता है विशिष्ट ज्ञानका अर्थ है कि निश्चित रीतिसे किये गये परीक्षण या निरीक्षण के बाद विशिष्ट निष्कर्ष उसको सत्य है या मिथ्या इससे तटस्थ होना चाहिए सत्यासत्यका निष्कर्ष निकालना दर्शनका काम है पर दर्शनको भी परीक्षण द्वारा निकाले गये वैज्ञानिक निष्कर्षोका ध्यान अवश्य होना चाहिए

वैज्ञानिक परीक्षण वस्तुओकी सश्लेषण-विश्लेषणकी प्रक्रिया है उसके बिना वस्तुओंके गुणधर्मका ज्ञान अशक्य है उदाहरणार्थ शरीरकी रचनाके ज्ञानके बिना चीरफाड नहीं हो सकती है पर उस ज्ञानका उपयोग प्राणीके उपकारमे करना उपयुक्त है न कि क्रूर हिंसामे

रसनिष्पत्तिमे साधारणीकरणकी महत्ता अधिक है साधारणीकरणका तात्पर्य आत्मतुल्य बुद्धि है सम्प्रति विज्ञान इस साधारणीकरणबुद्धिको दबाता सा प्रकट होता है

भारतीय दर्शन तो रसदृष्टिको विकसित करनेकेलिए जगतके कण-कणमे

साधारणीकरणका उपदेश देता है "सर्वं खलु इद ब्रह्म" (छान्दो उप ३।१४।१) सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि आत्मबुद्धि रखने पर हिंसाका कोई स्थान नहीं है अपने धर्मने भी सर्वत्र हिंसाके निवारक साधारणीकरण या सर्वत्र आत्मदृष्टि केलिए पूजनीय देवी-देवताओके वाहनके रूपमे विविध पशुओको निर्धारित किया है यहा तक कि निष्प्रयोजन पत्र-पुष्पादिको तोडने पर भी सुबोधिनीकार महाप्रभु वल्लभाचार्यने अल्पीयसी हिसा मानी है "अल्पीयसी हिंसा" (सु ३।१९।१५)

दर्शन तो सभी प्राणियोमे आत्मास्तित्वको बताता है पर आधुनिक सर्जनको शरीरकी चीरफाड करने पर आत्मा उपलब्ध नही होती है अत वह अनात्मवादी बनना चाहता है इसी तरह आधुनिक ब्रह्माण्डविज्ञान भी ब्रह्माण्डमे कही भी ईश्वरकी उपलब्धि न होनेसे अनीश्वरवादी बनना चाहता है

तो क्या ऐसे वैज्ञानिक विश्लेषणसे किसी शास्त्रको असत्य माना जा सकता है जिसमे आत्मा और ईश्वर की सत्ता सर्वत्र बतायी गयी है?

ब्रह्माण्डविज्ञानकी सूक्ष्म समष्टिको भगवद्गीता एव भागवतपुराण मे 'अक्षरब्रह्म' कहा गया है एक अक्षरब्रह्मे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड माने गये है जिनका विश्लेषण आधुनिक ब्रह्माण्डमे अभी नहीं हो सका है श्रौत शास्त्रोमे जो "मूर्तञ्चामूर्तञ्च"से रसदृष्टि प्रतिपादित है उस दृष्टिकी आज विज्ञानको अत्यन्त अपेक्षा है उसके विना विज्ञानमे रसानुभूति असम्भव है

कलामें रसदृष्टि

हृदयके सुन्दर साचेमे सूक्ष्म या स्थूल को ढालने वाले स्रष्टाको कलाकार कहते है यह गोस्वामीजीकी कलाकारकी परिभाषा वस्तुत कलात्मक है जगतका प्रभाव एक कलाकारके सवेदनशील हृदयमे जैसा होता है वैसा सवेदनशून्य मानवके हृदयमे नही पडता है साहित्य शास्त्रके अनुसार कलानन्दानुभूति सहृदय हृदयको ही होती है अन्यको नहीं अन्य तो नाट्याभिनयशालामे

खम्भे-दिवारकी तरह सवेदना शून्य होते हैं

चित्र, मूर्त्ति, काव्य, नृत्य, अभिनय, वाद्य आदि कलाए है कम् = आनन्द सद्य लाति प्रापयति इति कला जो आनन्दको सद्य प्राप्त कराये वह कला है

कला सोद्देश्य है कि निरुद्देश्य है? इस प्रश्नके उत्तरमे श्रीगोस्वामीजीका सुन्दर उत्तर है"—वेदान्तके अनुसार यह सृष्टि एक परमेश्वरकी कला है उसको सोद्देश्य या निरूद्देश्य नही कहा जा सकता है वह तो आनन्दरूप परमात्माकी लीला है यह सृष्टिकाव्यको कविपरमेश्वरने लीलाके रूपमे प्रकट किया है "पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीर्यति"

कला केवल अनुकृति नही है अपितु नूतन सृजन् है कवि भारतीके विषयमे जगत् प्रसिद्ध रसशास्त्र एव ध्वनिशास्त्र के मर्मज्ञ श्रीमम्मटने काव्यप्रकाश ग्रन्थके मङ्गलाचरणमे अद्भुत बात कही है ब्रह्माकी सृष्टिसे कवि भारती विलक्षण है ब्रह्म सृष्टि नियतिकृत नियमसे रहित है, नियति प्रकृति है उसका नियम पूर्व-पूर्वकल्पानुसारि स्वरूप, देश, काल, फल आश्रय से नियन्त्रित है किन्तु कविकृति इससे रहित स्वतन्त्र है करूणादि रस यद्यपि शोकादिस्थायिभाव है, पर काव्यमे वर्णित विभावादिसे वे भी आनन्ददायक होते है इसको मम्मटाचार्यने स्वग्रन्थमें स्पष्ट किया है श्रीगोस्वामीजीने भी प्रकृत निबन्धमे विस्तारसे इसका वर्णन किया है ब्रह्माकी सृष्टिमे मधुरादि षड् ही रस है, वे भी रुचिर ही है, ऐसा नही है पर कवि भारती शृङ्गारादि नव रसोसे रुचिर ही है इस प्रकार व्यङ्ग्यभूत व्यतिरेकालङ्कारसे श्रीमम्मटने कविभारतीकी महत्ता तथा उसके सर्वोत्कर्षका वर्णन किया है पूज्य श्रीगोस्वामीजीने नवरसोंके रुचिरत्वका विस्तारसे व्याख्यान किया है

रस क्या है? इसका शास्त्रीय विवेचन, भरत नाट्यशास्त्रके "विभावानुभावसचारिसयोगाद् रसनिष्पत्ति" इस पक्तिको उद्धृत करते हुए

श्रीगोस्वामीजीने सुन्दर ढगसे किया है विभाव आलम्बन और उद्दीपन को कहते हैं "विभावयन्ति रत्यादीन् स्थायिभावान् आस्वादयोग्यतोन्मुखताम् आपादयन्तीति विभावा" अर्थात् सहृदयमनुष्यके अन्त करणमे आनन्दके अङ्कुरस्वरूप रति-हासादि स्थायिभाव विद्यमान रहते है विभाव (आलम्बन एव उद्दीपन) उसे आस्वादकी योग्यताकी और उन्मुख करते है

आलम्बन नायक-नायिका है उद्दीपन नदी, समुद्र उद्यानादिका वर्णन है

"अनुभावयन्ति रत्यादीन् स्थायिभावान् आस्वादयोग्यतामाधिक्येन आपादयन्ति ये ते अनुभावा" वे शुद्धसात्विकभाव शब्दसे भी कहे जाते है स्वेद, रोमाञ्च, वैवर्ण्य, वेपथु आदि आठ अनुभाव गिनाये गये हैं

"सञ्चारयन्ति रत्यादीन् स्थायिभावान् सामाजिकेषु सहृदयेषु पूर्णतया आस्वादयन्ति ये ते सञ्चारिभावा" श्रम, मद, जडता आदि तैतिस सचारी भाव गिनाये गये है काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थोमे इसका वर्णन विस्तारसे स्पष्टतया किया गया है श्रीगोस्वामीजीने भी प्रकृत निबन्धमे इसकी विस्तारसे चर्चाकी है यह निबन्ध सहृदयोंकेलिए अवश्य ही पठनीय है

'विभावेनानुभावेन व्यक्त सञ्चारिणा तथा, रसतामेति रत्यादिस्थायीभाव सचेतसाम" भारत नाट्यसूत्रमे विभावानुभावसयोगाद् रसनिष्पत्तिमे सयोगके कई विद्वानोने अनेक अर्थ किये है पर आचार्य अभिनवगुप्तमतानुयायी आचार्य श्रीमम्मटने सयोगका व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव अर्थ किया है अर्थात् विभावादि व्यञ्जक है सहृदय सामाजिकोके अन्त करण (मन)मे अवस्थित रत्यादि स्थायिभाव रसरूपेणाभिव्यङ्ग्य है स्थायिभाव जब व्यक्त होता है तो रसता (आस्वाद्यता)को प्राप्त होता है केवल रत्यादि आस्वादयोग्य नही है साधारणीकृत विभावादिसे वह आस्वादयोग्य होता है आस्वाद भोगको कहते है भोग साक्षात्कार है

लोकमे प्रसिद्ध कारण-कार्य जब काव्यकलामे वर्णित होते है तो उन्हे विभाव और अनुभाव कहा जाता है रस भी अलौकिक आनन्द नही है अपितु काव्यगत विभावादिके द्वारा शब्दके माध्यमसे अभिव्यक्त आनन्द विशेषको ही रस कहते है इस प्रसङ्गको विद्वान् लेखक श्रीगोस्वामीजीने अपनी यशस्वी लेखनीद्वारा अद्भुत् ढगसे व्यक्त किया है

लेखकका यह भी विचार है कि जैसे उपनिषद्मे रसरूप ब्रह्मके विषयमे विरुद्धधर्माश्रयता वर्णित है वैसे ही रसशास्त्रमे भी रसनिष्पत्तिमे भी विरुद्धधर्म विभावादि धर्माश्रयता वर्णित है अभिनय (प्रकृतानुसार) चार प्रकारके वर्णित है कायिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य

नाटकमे रामादिके रूपमे मञ्चस्थ कुशल नटको देखकर कौनसी बुद्धि होती है, जिससे लज्जादिके परिहारपूर्वक सहृदय सामाजिकको रससाक्षात्कार होता है, इस पर विद्वान् लेखकने काव्य प्रकाशकारकी पक्तिका उद्धरण दिया है ''रामएवायम्, अयमेव राम. इति, 'न रामोऽयम्' इत्यौत्तरकालिके बाधे 'रामोऽयम्' इति, रामः स्याद् वा न वाऽयम्'' इति, 'रामसदृशोऽयम्' इति च सम्यङ्मिथ्यासशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन 'रामोऽयमि'ति प्रतिपत्त्या'' अर्थात् ''यह राम ही है'' इस प्रमात्मक बुद्धिसे विलक्षण, ''न रामोऽयम्'' इस प्रकारकी बुद्धिके उत्तर कालमे बाधित होने पर ''अयमेव राम'' इस विपर्यय (भ्रम) बुद्धिसे भी विलक्षण, ''राम स्याद् वा न वा'' इस प्रकारकी एकधर्मिक विरुद्धनानाकोटिकज्ञानरूप सशयसे भी विलक्षण, ''रामसदृशोऽयम्'' इत्याकारक सादृश्यबुद्धिसे भी विलक्षण ''रामोऽयम्'' इत्याकारक प्रतीति होती है यह प्रतीति उक्त सभी बुद्धियोकी कोटिमे नही है चित्रलिखित अश्वको देखने पर जैसी बुद्धि होती है वैसी ही प्रतीति यहा अपेक्षित है

इस काव्यप्रकाशकी पक्ति पर विद्वान् टीकाकारोने बहुत विवेचन किया है यहा विस्तारसे वर्णन अनावश्यक प्रतीत होता है

विद्वान् लेखकने रसराज भगवान् शब्दके स्वरूपमे नवरसोकी अभिव्यक्तिका सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है तथा नटवर श्रीकृष्णके कससभाभवनमे उपस्थित होने पर कैसे नवरसोंकी अभिव्यक्ति होती है इसका भी मार्मिक वर्णन किया है यह सब सहृदय विद्वानोंके द्वारा हृदयेन संग्राह्य है.

नाट्योमे शृङ्गारादि आठ रस उपयुक्त है. श्रव्य काव्योमे शांतको मिलाकर नवरस होते है. श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्यने भक्तिको भी रसरूपमे वर्णित किया है उसका विस्तारसे वर्णन प्रकृत प्रबन्ध लेखक श्रीगोस्वामीजीने किया है.

पूज्य श्रीकरपात्रीजी महाराजने भी भक्तिको रस माना है. 'भक्तिरसार्णव' नामक स्वग्रन्थमे उन्होने इसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है प्रकृत निबन्धमे 'भक्तिरसत्ववाद' ग्रन्थकी पक्तिका उद्धरण देकर भक्तिरसको भी सिद्ध किया गया है काव्यप्रकाशादि ग्रन्थोमे "देवादिविषयारतिर्भाव:" के अनुसार देवादिविषयक रतिको 'भाव' शब्दसे कहा गया है. भक्तिको रस रूपमे मान्यता नही है अथवा शृङ्गार रसमे ही भक्तिका अन्तर्भाव हो सकता है. पर यह युक्तिसगत एव अनुभव गम्य नही प्रतीत होता है अत. भक्तिरस भी एक शृङ्गारादि रसोसे पृथक् है

"उपनिषद् ब्रह्मको रस कहता है "रसो वै स." अत. भक्ति एक ऐसी कला है जिससे ब्रह्म रसरूपेण आविर्भूत होता है" यह पूज्य गोस्वामीजीकी पक्ति है इसका साथ ही मै पूज्यचरण सर्वशास्त्रपारङ्गत विद्वान्, विशेषत वाल्लभवेदान्ततत्वनिष्ठ, परमभक्त, कृपालु मैत्री मुदिता करूणोपेक्षा वृत्तिसे रहते हुए, रागद्वेषादि वृत्तियोको परित्याग करने वाले समस्त जगतमे श्रीहरिलीलानुभावक श्रीगोस्वामी श्याममनोहरजीके चरणकमलोमे शतश नमन करता हू.

विद्वत् समाज उनके प्रबन्धोसे लाभान्वित एव गौरवान्वित है विद्वत् समाजको उनकी इस तरहकी उत्कृष्ट कृतियोकी महती अपेक्षा है यह निबन्ध सग्रह लोकोपकारी एव विद्वत् समाजका कल्याणकारी होगा ऐसी

मैं कामना करते हुए मै पूज्य श्रीगोस्वामी श्याममनोहरजीके चरणो कमलोमे वाक्यपुष्पाञ्जलि समर्पित करता हू

विद्वच्चक्रशिरोमणि श्रुतिवचोव्याख्यानदक्ष सदा
शुद्धाद्वैतमति विशुद्धहृदय लोकोपकारे रतम्।
गोस्वामिप्रमुख प्रसन्नवदन ब्राह्मश्रिया सम्भृतम्।
वन्दे श्यामनोहर बुधवर श्रीकृष्णपादानुगम् ॥१॥

ज्ञात्वा शास्त्रमत निजप्रतिभया प्राच्यप्रतीच्योभयम्।
येनालोच्य भृश प्रमाणपटुना गोस्वामिवर्येण तम्
श्रौत वाल्लभदर्शन शिवतर नान्यत् पर निश्चितम्।
वन्दे वल्लभवशभूषणमह श्रीश्यामनिष्ठापरम् ॥२॥

न द्वैत न च शाङ्कर श्रुतिमताद्वैत न बौद्धादिकम्।
शुद्ध ब्रह्म हरि सम जगदिद तत् सत्यलीला स्वयम्।
लीलात्वप्रतिपत्तिरत्र यदि सा प्रेष्ठा च मोक्षादपि
पुष्टि साधनमुत्तम ह्यभिमत यस्यानत त सदा ॥३॥

शुद्धाद्वैतहरि स्वय परिणत लीलापटु स्वेच्छया
नानारूपतया तथाप्यविकृत शक्तिश्रिया सयुत
धर्माणा स विरोधिना च जगतामाधारभूत पर
प्रेष्ठो यस्य तदीय पुण्यचरणौ वन्द्यौ समस्तै जनै ॥४॥

धृततिलकललाट शुभ्रवस्त्रोपवीत
स्मितमुखसुविशालप्रासरद्ब्राह्मतेजा ।
वरतिलक इवासौ शारदाभाललग्न ।
जयति जगति विद्यामूर्ति गोस्वामिवर्य ॥५॥

वैज्ञानिके साम्प्रतिके मतेऽपि
समन्वय वाल्लभदर्शनस्य
युक्त्या प्रकुर्वन् श्रुतिवाक्यजातै ।
आचार्यवर्यो भगवत् प्रतिष्ठ ॥६॥

पदे प्रमाणे गहने हि वाक्ये
समेऽपि शास्त्रेऽप्रतिरुद्धबुद्धि ।
तत्त्व विचिन्वन् सुतलप्रतिष्ठ ।
जयत्यय श्रीप्रतिभाविशेष ॥७॥

श्रीशरद् गोस्वामीजीके चरणकमलोमे शतश प्रणाम है जिन्होने मुझे इस पुण्यमय ज्ञानमय कार्य करनेका अवसर प्रदान किया आप सकृत् दर्शनसे ही चिरपरिचित लगते है अपने सद्व्यवहार एव मधुरवाणीसे सर्वजनचित्तावर्जक हैं इनकी आचार्य गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजीमे महती श्रद्धा, आस्था, विश्वास एव आदरका भाव रहता है इन दोनो विभूतियोंके योगसे वाल्लभवेदान्तशास्त्रका व्याख्यानसे, गोष्ठीसे, ग्रन्थप्रणयनसे, ग्रन्थप्रकाशनसे, ग्रन्थोके पाठसशोधन टिप्पणी हिन्दी भाषानुवादादिसे बहुत उत्कर्ष हुआ है, होता है तथा होता रहेगा मैने उनकी गोष्ठियोमे भाग लेकर यह सब प्रत्यक्ष किया है गोस्वामीश्याममनोहरजीके सम्पादित मूलत लिखित अनूदित व्याख्यात वेदान्तग्रन्थोका तथा स्वतन्त्र स्वोपज्ञ रचित निबन्धोका सग्रह तो मेरे पास भी विद्यमान है मैने उनके अध्ययनसे बहुत कुछ सीखा है अत यह सब अर्थवाद नही है अपितु स्वभावोक्ति है मैं पुन अपनेको भाग्यशाली एव प्रभुकृपाका भाजन समझता हू कि पूज्य श्रीगोस्वामीने मुझे कुछ लिखनेका अवसर दिया

श्रीमद्वाल्लभवाङ्मयमहाम्भोधौ नदीष्ण स्वयम्।
विद्यावशसमुन्नतौ धृतमतिर्विद्वत्प्रिय प्रीतिमान्।
श्रीकृष्णाङ्घ्रि सरोरुहामृतरसास्वादैकचित्त सुधी ।
श्रीगोस्वामिशरद् सदा विजयते श्रीशारदैर्वैभवै ॥१॥

तरुणतरणि कल्प ध्वान्तराशेर्विभेत्ता
कविबुधसहित सद्वृन्दकञ्जप्रभासी
उदयमुपगतोऽसौ वाल्लभाना प्रदीप
इह जयति शरद्गोस्वामिवर्य प्रपन्न ॥२॥

पारसनाथ द्विवेदी
(वाराणसी)

अनुक्रमणिका

भारतीय दर्शनके विकासमें प्रस्तावित विभिन्न योजनाबद्धताओंकी रूपरेखा

(इन चौखटोंमें वाल्लभ दर्शनका स्थान)

उपक्रम :

विभिन्न विचारधाराओकी विकासरेखाको मापनेका मानदण्ड केवल कालिक पौर्वापर्य ही नही होता इसी तरह सभी तरहकी विचारधाराओके द्वारा प्रस्तावित प्रत्ययोकी विकासरेखाको हेगेलिअन वाद विसवाद और सवाद की क्रमिकतामे भी माप लेना सर्वदा सम्भव नहीं हो पाता तत्तद् विचारकोके आध्यात्मिक धार्मिक आर्थिक सामाजिक या राजनैतिक आदि परिवेशोके प्रभावो और आवश्यकताओ की अनेकविधता विभिन्न दार्शनिक प्रत्ययोके विकासकी रेखाको पर्याप्त जटिल बना देती है पूर्वकालीन प्रत्ययोके कारणीभूत कार्यीभूत अगीभूत अगभूत निरास्यभूत अथवा निरासकीभूत अपरकालीन प्रत्ययोके विचारार्थ ये प्रभाव और आवश्यकता तत्तद् विचारकोको उकसाते हुए पाये जाते है

इन दार्शनिक प्रत्ययोंके परस्पर जन्यजनकादिभाव भी सर्वत्र पदार्थशास्त्रीय या ज्ञानशास्त्रीय क्रमिकताका अनुसरण करते ही हो ऐसा अनिवार्य नही होता ज्ञानमीमासकीय प्रत्ययोको पदार्थमीमासकीय प्रत्ययोके बोधक-हेतुतया स्वीकारना आवश्यक होना चाहिये था दर्शनेतिहास, परन्तु, इसकी गवाही सार्वदिक तथ्यके रूपमे नहीं देता उदाहरणतया जगत्कर्ता ईश्वरका प्रत्यय भारतीय दर्शनोमे पहलेसे विद्यमान या स्वीकृत रहा ही होगा, परन्तु, यह सहज सम्भव लगता है कि ऐसे ईश्वरके शब्दैकगम्य होनेकी अथवा अनुमितिगम्य भी होनेकी धारणा, चार्वाक बौद्ध या जैन सदृश अनीश्वरवादी दर्शनोके द्वारा की गई आलोचनाओके प्रत्याख्यानार्थ

ही प्रकट हुई होगी अत सिद्ध होता है कि जगत्कर्ता ईश्वरका पदार्थमीमासकीय प्रत्यय पूर्वसिद्ध हो सकता है और इस ऐसे प्रत्ययका शब्दैकसिद्ध या अनुमितिसिद्ध होना "मेयार्थैव मानसिद्धि" हो कर उत्तरकालिक प्रत्यय भी हो सकता है यो "मानाधीना मेयसिद्धि"के मानदण्डकी ऐतिहासिक अवहेलनाद्वारा ही यह शक्य हुवा होना चाहिये

तत्तन्मतोमे स्वीकृत प्रमाकरणोंके प्रामाण्यका प्रत्यय एक अगीरूप प्रत्यय होता है, और, प्रमाणोंका प्रामाण्य स्वत होता है या परत यह तो प्रामाण्यागभूत प्रत्यय होता है पुन दर्शनेतिहास ही इसकी सच्ची गवाही दे पायेगा कि अगीभूत तत्तत् प्रमाणोंके प्रामाण्यके प्रत्यय क्या पूर्वकालिक नही थे? क्या प्रामाण्यघटक तदगभूत स्वतस्त्व या परतस्त्व के प्रत्यय उत्तरकालिक विकास नही थे? अर्थात् अगीभूत प्रामाण्यप्रत्यय पहलेसे सिद्धवत्तया स्वीकृत था और तद्घटक अगभूत प्रत्यय बादमे विचारी गई उपपत्ति थी! स्पष्ट है कि घटक अगोके पूर्ववर्ती होनेके नियमकी अवहेलनाद्वारा ही यह सम्भव हो पाया

अत मानवीय चिन्तनप्रणालीमे रहे इस लचीलेपनको कि यहा तार्किक क्रमोका अनुसरण, राजाज्ञा अथवा किन्ही अकाट्य तर्कोके नियमोके बन्धनमे बध कर नही किया जाता है, ऐसा एक बार स्वीकार लेनेपर अनुभवत तर्कत या कालत व्यौत्क्रमिक विकास भी सम्भव हो ही सकता है, यह तथ्य प्रकट हो जाता है इस सन्दर्भमें सर्वथा अविस्मरणीय तथ्य यही है कि भारतीय दर्शनका विकास चाहे योजनाबद्ध रीतिसे हुवा हो या न हुवा हो परन्तु उसके विकासकी प्रक्रियामे अनेकविध योजनाबद्धता कथञ्चित् प्रकट तो हुयी ही है, इस तथ्यको भुलाया नहीं जाना चाहिए. सक्षेपमे बस इतना ही हमारे इस निबन्धका प्रतिपाद्यसार है

इस सक्षिप्त प्राथमिक स्पष्टीकरणके साथ पूर्वकालमे भी जो भारतप्रभव

विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओको योजनाबद्ध करनेके प्रयास हुवे, उनपर भी थोडा-बहुत ध्यानाकर्षण उचित ही होगा.

प्रथमदृष्टि :

विक्रमके पाचवे शतकके अन्तमे षड्दर्शनसमुच्चयकार श्रीहरिभद्रसूरीकी "दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभि . बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा जैमिनीयञ्च नामानि दर्शनानाम् अमूनि अहो"[१], जैसी उक्तिके वशाद् एक अनालोचित केवल परिगणनैकमूल अन्यथा निर्मूल धारणा बहुप्रचारित हो गयी कि भारतीय दर्शनोके छह प्रकार होते है! इन मतभेदोकी परिगणनामे चार्वाक तथा वेदान्त दर्शनोके जेसी महत्वपूर्ण विचारधाराओका अन्तर्भाव किसमे स्वीकारना यह ज्ञात न हो पानेके कारण न जाने कब एक दूसरी धारणा बहुप्रचारित हो गयी कि इस देशमे छह आस्तिक, अर्थात् वेदप्रामाण्यवादी दर्शन हुवे हे, ओर, छह ही नास्तिक, अर्थात् वेदाप्रामाण्यवादी दर्शन हुवे हे[२]. ऐसी धारणा, परन्तु, न तो सुस्पष्ट लगती है और न उपपन्न ही. क्योकि बोद्धागमीय ब्रह्मजालसुत्तान्तर्गत मिच्छादिट्ठिठानानि प्रकरणमे जिन बासठ तथाकथित मिथ्यादृष्टिओका निरूपण किया गया है[३], उनका इन बारह तरहकी दार्शनिक विचारधाराओमे अन्तर्भाव या समावेश कहा-कैसे शक्य हो सकता है इस बारेमे यह वर्गीकरण मोन है अत न तो यह योजना सर्वग्राहिणी लगती है और न सुस्पष्ट ही

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

फिरभी इस योजनाकी चोखटमे वाल्लभ दर्शन छह आस्तिक दर्शनान्तर्गत वेदान्तदर्शनकी एक शाखा है इस अन्तर्भावको जान लेना एक अच्छी ही बात होगी

द्वितीयदृष्टि :

इसके बजाय तो उक्त ब्रह्मजालसुत्तमे वर्णित धारणाओमेसे केवल

मतपरिगणनार्थ प्रयुक्त सख्याओकी उपेक्षा भी कर दे तो भी कुछ स्थूल वर्गीकृत धारणाओको इस तरह सोचा जा सकता है —

१ शाश्वतवाद / अशाश्वतवाद / अशत शाश्वतवाद
२ अनन्तवाद / अन्तवाद / अन्तानन्तवाद या अशतो अनन्तवाद
३ उत्तरानर्हप्रश्न(-अमराविक्षेप)वाद / उत्तरार्हप्रश्नवाद / अशतो उत्तरानर्हप्रश्नवाद
४ निर्हेतुकोत्पत्ति(-स्वभावोत्पत्ति)वाद / सहेतुकोत्पत्तिवाद/ अशतो निर्हेतुकोत्पत्तिवाद
५ मरणोत्तरसञ्ज्ञीवाद / मरणोत्तरासञ्ज्ञीवाद / मरणोत्तर नैव-सञ्ज्ञी-नासञ्ज्ञीवाद
६ दैहिकात्मोच्छेदवाद / विदेहमुक्तिवाद / जीवन्मुक्तिवाद [४]

इस तरह वर्गीकृत धारणाओके अवलोकन करनेपर यह सुस्पष्ट होता है कि ढाई हजार वर्षपूर्व भी, भगवान् बुद्धके अनुसार उनके कालमे जो मिथ्यादृष्टिया थी, उनकी परिगणनामे भगवान्ने किसी तरहकी योजनाबद्धताको खोजनेका एक नितान्त मननीय प्रयास किया था

वाल्लभ दर्शनका स्थान

इस चौखटमे वाल्लभ दर्शनके जिज्ञास्य स्थानतया हम प्रथमत्रयीके अन्तर्गत देख सकते है कि (१)ब्रह्मके स्वरूपके विचारसे यह दर्शन शाश्वतवादी होनेपर भी भगवल्लीलाके विचारसे जागतिक नामरूपकर्मोकी अशत अशाश्वतता अर्थात् अशिभूत-सच्चिदानन्द-ब्रह्मदृष्ट्या शाश्वतता तथा सदशभूतनामरूपकर्मदृष्ट्या अशाश्वतता स्वीकारी गयी है (२)यही द्वितीयत्रयीके बारेमे भी स्पष्ट है इसी तरह तृतीयत्रयीके बारेमे भी कहा जा सकता है कि (३)ब्रह्मस्वरूप इदमित्थतया उत्तरानर्ह होनेपर भी सर्वथा उत्तरानर्ह नहीं होता चतुर्थत्रयीके बारेमे भी प्राय वही

तथ्य दृष्टिगत होता है कि (४)ब्रह्मकी जडजीवान्तर्यामितया प्रकट होनेकी लीला निर्हेतुक होनेपर भी लीलामे जो कुछ प्रकट होता है वह सहेतुक ही होता हे पञ्चमत्रयीके बारेमे ज्ञातव्य है कि (५)वहा चतुर्थ विकल्पाश्रयणके बजाय वाल्लभ दर्शन तृतीय विकल्पको ही आश्रयणीय मानेगा कि मरणोत्तर जीवात्मा अशत सज्ञी और अशतो असज्ञी होती है षष्ठत्रयीमे वाल्लभ दर्शन (६)दैहिकात्मोच्छेदको देहात्मसघातोच्छेदके रूपमे स्वीकारनेके बावजूद विदेहमुक्तिवादमे भी तथा जीवन्मुक्तिवादमे भी अपनी सहमति दरसाता है ही

तृतीयदृष्टि :

इसके अलावा स्वय बोद्धोके जो दार्शनिक प्रस्थानभेद विभिन्न सगतिओके कारण भगवान् बुद्धके पाचसौ-छहसो वर्षमे प्रकट हुवे, यथा —

१ सर्वास्तित्ववाद
२ बाह्यार्थानुमेयवाद
३ बाह्यार्थशून्यवाद अर्थात् विज्ञप्तिमात्रास्तित्ववाद
४ बाह्याभ्यन्तरशून्यवाद

ये अवान्तर प्रभेद भी स्वय दर्शनशास्त्रीय दृष्टिओंको योजनाबद्धतया एक चिन्तनप्रणालीके रूपमे विकसानेकी रीतिकी एक अनजानी पर गहरी सूझबूझ लगती है इसमे भी पुन हीनयानी चिन्तनको विनेयाधिकारक उपदेश और महायानी चिन्तनको विनीताधिकारक उपदेश माननेकी कल्पना भी किसी योजनाबद्धताका ही सुस्पष्ट सकेत करती सी लगती है

इन्हे यथाव्याख्यात रूपोमे न ले कर एक सामान्य योजनाके रूपमे निहारनेपर इन प्रभेदोमे बौद्धेतर वेचारिक दृष्टिओका भी समावेश या अन्तर्भाव सहज सम्भव बन जाता है यथा सर्वास्तित्ववादके अन्तर्गत जैन न्याय-वैशेषिक साख्य-योग जैमिनिदर्शन के अलावा बादरायणीय

प्रस्थानोके अन्तर्गत भी कई सारे वेदान्तसम्प्रदायो का अन्तर्भाव सोचा जा सकता है इसी तरह बाह्यार्थशून्यवादके अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा शाकर वेदान्त का अन्तर्भाव सहज ही समझमे आ सके ऐसा तथ्य लगता है शून्यवाद वैसे बौद्धोका ही अपना चिन्तन माना जाता है परन्तु शून्यवादके निरूपणमें स्वमतनिरूपण तथा परमतनिराकरण मे प्रकट होते शैलीभेदपर लक्ष्य करनेपर कुछ और भी चित्र उभरता है क्योकि स्वमतनिरूपणमे शून्यवादिओके "अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चै अप्रपञ्चितं निर्विकल्पम् अनानार्थम् एतत् तत्त्वस्य लक्षणम्" -"न सन्नासन्न सदसन्नचाप्यनुभयात्मक चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्वं माध्यमिका विदु"(५) उद्गारोके अनुसार शून्यका जो स्वरूप सामने आता है तदनुरूप ही केवलाद्वैतवादिओका स्वयप्रकाश अवाच्य निर्गुण-निर्धर्मक-निर्विशेष द्वैतविवर्जित ब्रह्मको भी सुखेन सोचा जा सकता है क्योकि—

अस्ति नास्त्यस्तिनास्तीति नास्ति-नास्तीति वा पुन ।
चलस्थिरोभयाभावैर् आवृणोत्येव बालिश ॥
कोट्यस् चतस्र एतास्तु ग्रहैर् यासां सदावृत ।
भगवानाभिर् अस्पृष्टो येन दृष्ट स सर्वदृक्॥

स भगवान् आभि 'अस्ति'-'नास्ती'त्यादिकोटिभि चतसृभिरपि अस्पृष्टो 'अस्ती'त्यादिकल्पनाविवर्जित, इत्येतद् येन मुनिना दृष्टो ज्ञातो वेदान्तेषु औपनिषद पुरुष स सर्वदृक् परमार्थपण्डित इति अर्थ (६)

इस तरह शून्य तथा निर्विशेष ब्रह्म के बीच बौद्धागमगम्य अथवा वेदैकगम्य होनेके अलावा और कोई स्पष्ट अन्तर सामने नही आ पाता अत चतुर्थ दृष्टिमे केवलाद्वैतवादका अन्तर्भाव सोचा जा सकता है

जहा तक परमतके निराकरणका प्रश्न है तो दोनो ही शून्यवादी

तथा केवलाद्वैतवादी व्यावहारिक प्रत्ययोकी भी अनिर्वचनीयतापर भार तो देते ही है केवलाद्वैतवादी वेदान्तमे खण्डनखण्डखाद्य ओर तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी ने केवल "सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीयता" के सयमको निभानेके बजाय प्राचीन न्यायाभिमत पोड़श पदार्थोके बारेमे "स्वरूपतो लक्षणानिर्वचनीयत्ता" पर्यन्त जो पार्ष्णिग्राहिता[७] प्रकट की है वह प्रासगिकोका ही अनुसरण है क्योंकि इन और ऐसे अन्य ग्रन्थोमे भी व्यवहारको अनिरुक्त ही रख कर निभानेका आग्रह "अस्तीति वदतो ब्रूमो नास्ति सर्वं विचारतो, नास्तीति वदतो ब्रूम सर्वमस्त्यविचारतो, यथा-यथा समारोपा जायन्ते तत्त्वयोगिन तथा-तथा समारोपा हन्यन्ते तत्त्वयोगिना"[८] कहनेवाले माध्यमिकोका अनुसरण ही लगता है इस सन्दर्भमे चन्द्रकीर्तिके "अतो वयमपि आरोपतो व्यवहारसत्ये स्थित्वा व्यवहारार्थं विनेयजनानुरोधेन 'शून्यम्' इत्यपि ब्रूमो 'अशून्यम्' इत्यपि, 'नैव शून्य नाशून्यम्' इत्यपि ब्रूम "[९] उद्गारको भगवत्पाद श्रीशकराचार्यके "न शून्य नच अशून्यम् अद्वैतकत्वात् कथ सर्ववेदान्तसिद्धि ब्रवीमि"[१०] वचनोसे तुलना करनेपर यह बात उभर कर सामने आ ही जाती है अत केवलाद्वैतवेदान्तका अन्तर्भाव शून्यवादमे सोचनेपर कोई आपत्तिजनक बात प्रतीत नही होती निष्कर्षत केवल बाह्यार्थानुमेयवाद केवल ऐसी धारणा मानी जा सकती है जो केवल बौद्धोकी अपनी ही सिद्ध हो पाती है क्योकि प्रत्यक्षके अन्तर्गत निर्विकल्प और सविकल्प के प्रभेदके बावजूद विकल्पोको भ्रम या प्रमा रूपी प्रत्यक्षसे गम्य ही अन्योने स्वीकारा हे एतावता यह सिद्ध होता है कि परवर्ती बोद्ध दर्शनके विभिन्न प्रस्थानोके विकासको लक्ष्यगत करनेपर बोद्धेतर दर्शनोके भी विकासकी योजना प्रारूपतया प्रस्तावित हो रही थी

<u>वाल्लभ दर्शनका स्थान</u>

वाल्लभ दर्शनका इस योजनामे स्थान कहा पहचानना चाहिये प्रश्न उठता है तो इसके बारेमे ज्ञातव्य है कि इस योजनामे चारमेसे अन्तिम बाह्याभ्यन्तरशून्यताका अनुभव योगिजनोको निर्विकल्प समाधिमे

वाल्लभ दर्शन शक्य मानता होनेपर भी केवल उसी शून्यानुभूतिको प्रमा तथा अन्य अयोगिजनोको होती बाह्याभ्यन्तर वस्त्वनुभूतियोको अप्रमा मानने कथमपि उद्यत नही है अतएव तृतीय कल्पको भी अखण्डविज्ञानैकरस ब्रह्मकी दृष्टिसे स्वीकार्य माननेपर भी लौकिक ज्ञानदृष्ट्या ज्ञेयार्थकी बाह्य असत्ता वाल्लभ दर्शनको स्वीकार्य नही द्वितीयदृष्टिके अन्तर्गत प्रत्यक्षानुभूतिके निर्विकल्प तथा सविकल्पक प्रभेदको मान्य रखनेके कारण निर्विकल्पकानुभूति सन्मात्रविषयिणी होती यह स्वीकारनेके बावजूद द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-सम्बन्ध-अभाव-सञ्ज्ञादिके विकल्प निर्विकल्पानुभूतिगोचर सन्मात्रवस्तुसे सर्वथा भिन्न ही होते है यह स्वीकारने वाल्लभ दर्शन उद्यत न होनेसे विकल्पोको प्रथमानुभूतिमे प्रत्यक्षग्राह्य न माननेपर भी धारावाहिज्ञानोपम द्वितीयानुभूतिमे प्रत्यक्षग्राह्य भी स्वीकारता ही है, यथार्थवादी चिन्तन होनेके कारण अत बौद्धोके द्वारा परिभाषित रूपमे सर्वास्तित्ववादी न होनेपर वाल्लभ दर्शन सर्वास्तित्ववादकी ही एक अपरविधा मानी जा सकती है

चतुर्थदृष्टि :

स्वय जैन दार्शनिकोने नय-प्रमाण-भेदभिन्न अनेकान्तवादको जब सप्तभगिमाओके साथ मडित किया तब शून्यवादनिरसनीय इन चतुष्कोटिओको अर्थनयरूपा अग्रिम चार [१]नैगमनय [२]सग्रहनय [३]व्यवहारनय और [४]ऋजुसूत्रनय कोटिओमे अन्तर्भावित या समायोजित कर लिया यहा नैयायिक-वैशेपिकोका अन्तर्भाव प्रथम नैगमनयमे स्वीकारा गया है वेदान्ताभिमत अद्वैत(शाकर)वादके सारे प्रकारोका अन्तर्भाव सग्रहनयके भीतर सोचा गया है चार्वाकोको व्यवहारनयानुगामी माना गया है और बौद्धोको 'ऋजुसूत्राकूतप्रवृत्तबुद्धि' माना गया है[१२] शब्दनयकी अवशिष्ट तीन [५]शब्दनय [६]समभिरूढनय और [७]एवभूतनय कोटिया और इनके साथ जोडी दी गयी स्याद्वादमञ्जरीकार श्रीमल्लिषेणसूरी कहते है "कोई भी चिन्तक अपना अभिप्राय या तो वाच्यभूत अर्थद्वारा या वाचक शब्दद्वारा प्रकट करता है अत प्रमाताओंके अभिप्रायवश अर्थनिरूपणमें परायण अर्थनयान्तर्भूत चिन्तक

होते हैं शब्दविचारमें प्रवृत्त होनेवाले चिन्तक शब्दादि तीन नयोंमे अन्तर्भूत होते हैं"(१२) सुस्पष्ट है कि यह भी भारतीय दर्शनको किसी एक योजनाबद्धतया देखनेकी वैचारिक रीति नही थी तो ओर क्या थी? यहा उल्लेखनीय केवल यही है कि नैयायिकोका अन्तर्भाव जो नैगमनयके अन्तर्गत ओर अद्वयवादिओका अन्तर्भाव जो सग्रहनयके अन्तर्गत किया उसके औचित्यसे सभीका सहमत होना आवश्यक नही लगता इसके अलावा 'शून्य'पदके वाच्यार्थतया किसी तरहकी पञ्चमकोटीका पदार्थ तो स्वय माध्यमिकोको ही अभिप्रेत न होनेसे अर्थनयके अन्तर्गत तो नहीं परन्तु शब्दनयके अन्तर्गत पाचवी कोटीमे शून्यताका भी कोई स्थान होना चाहिये था वह अवशिष्ट तीन कोटिओमे भी सगृहीत नही हो पाया हे तथा स्वय आर्हतोके अलावा अवशिष्ट तीन कोटिओमेसे कमसे कम दो धारणाओको स्वीकारनेवाले कोई चिन्तक हुवे हो ऐसा खयालमे आता नहीं है अत अवशिष्ट तीन धारणाओमे कमसे कम दो तो रिक्तवर्ग अर्थात् केवल गणनाकीय सम्भावनाओपर ही आश्रित प्रतीत होती है यथा —

१ स्यादस्ति=अस्तिदर्शन
२ स्यान्नास्ति=नास्तिदर्शन
३ स्यादस्ति च नास्ति=अस्तिनास्तिदर्शन
४ स्यादवक्तव्य=उभयतोऽनिर्वचनीयदर्शन
५ स्यादस्ति चावक्तव्य च=ज्ञेयवस्तु-अनिर्वचनीयदर्शन
६ स्यान्नास्ति चावक्तव्य च=(   )
७ स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य च=(   )

यहा यह उल्लेखनीय हो जाता हे कि इन सप्त भगिमाओको "अस्ति/नास्ति/अस्ति-नास्ति/नास्ति-ननास्ति" के ही केवल विकल्पोमे सीमित न रखा जाये और एक वैचारिक मॉडलीट के रूपमे निहारा जाये और विभिन्न दार्शनिक धारणाओके बीच प्रचलित अन्यान्य विवादोमे

इन्हे लागू किया जाये तो सहज ही इस योजनाकी व्यापकताका पक्ष उभर कर सामने आ जाता है उदाहरणतया : देहातिरिक्त आत्मास्तित्व, रूपादिगुणधर्मानुभूत्यतिरिक्त चेतनास्तित्व, कृतकर्मनाशोत्तर पुण्यपापास्तित्व, गुणसंघातिरिक्त द्रव्यास्तित्व, द्रव्यातिरिक्त सामान्यास्तित्व, उपादानकारणातिरिक्त कार्यास्तित्व, अवयवातिरिक्त अवयव्यस्तित्व, निर्विकल्पज्ञानातिरिक्त विकल्पावगाहिप्रमास्तित्व, वाचकव्यापारातिरिक्त वाच्यवस्त्वस्तित्व आदि अनेकानेक विवादास्पद विषयोंके बारेमे चारो या सातों प्रकारके नयोंके सापेक्ष स्वीकारकी अनेकान्तदृष्टिका अनुमोदन करनेपर इस योजनाकी व्यापकता सहज ही प्रकट हो जाती है. यह इदमित्थतया स्वय आर्हतोको मान्य ही हो ऐसे अभिप्रायवश किया गया विधान नहीं है परन्तु एक सम्भावित योजनाकी रूपरेखाका केवल निदर्शनमात्र हे

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

इस योजनाकी प्रयोगान्वितिकी व्यापकताका विचार करते हुवे तथा विस्तारभीतिवश भी केवल दिशानिर्देशके रूपमे इतना सा निरूपण यहा उचित लगता है कि वाल्लभ दर्शन पदार्थमीमासाके स्तरपर यद्यपि सद्वादी चिन्तन है परन्तु अद्वितीय सद्वस्तुके लीलार्थ प्रकट नाम-रूप-कर्मोके बीच परस्पर द्वैत/अद्वैत/द्वैताद्वैत/अ(वक्तव्य)-द्वैताद्वैतके चातुर्विध्यमे चतुर्थकोटीरूप तादात्म्यका पक्षपाती बन जाता है

पञ्चमदृष्टि :

इसके बाद सर्वदर्शनसग्रहकारने जिस तरहसे अपने ग्रन्थमे भारतप्रभव अन्यान्य दार्शनिक मान्यताओको समायोजित किया है उसमे स्पष्टतया केवलाद्वैत वेदान्तकी दृष्टिसे उन्हे योजनाबद्ध करनेकी एक विलक्षण रूपरेखा खोजी जा सकती है इसका, सर्वदर्शनसग्रहकी अपनी भूमिकामे श्रीवासुदेव शास्त्री अभ्यकरने, सुविशदतया निरूपण किया है यह प्रतिपादन भी सर्वदर्शनसग्रह ग्रन्थके प्रत्येक अध्येताके लिये अवश्य अध्येतव्य

लगता है उसका साराश देना ही, अत , इस प्रसगमे उपकारक हो पायेगा उन्होंने दो तरहसे इस क्रमका प्रतिपादन करना चाहा है यथा —

१ भारतीय दार्शनिक विचारधाराओके सर्वप्रथम नास्तिक आस्तिक दो मूलभेद होते है—

नास्तिक :

तदन्तर्गत नास्तिक विचारधाराके आध्यक्षिक ओर तार्किक ऐसे दो प्रभेद होते हे इनमे (१)चार्वाक दर्शन आध्यक्षिक दर्शन है तार्किक-नास्तिकोंके पुन दो और प्रकार होते है (२)क्षणिकवादी बौद्ध ओर (३)स्याद्वादी जैन

आस्तिक :

आस्तिक विचारधाराके भी मूलमे दो प्रभेद होते हे यथा सगुणात्मवादी और निर्गुणात्मवादी इनमे सगुणात्मवादिओके पुन तार्किक और श्रौत यो दो उपभेद होते है

इनमे तार्किकोंके पुन दो अवान्तर प्रभेद प्रच्छन्नतार्किक और स्पष्टतार्किक होते है प्रच्छन्नतार्किकोके दो उपभेद प्रच्छन्नद्वैतवादी और स्पष्टद्वेतवादी होते है

इनमे (४)रामानुज दर्शन सगुणात्मवादी ⊃ प्रच्छन्नतार्किक ⊃ प्रच्छन्नद्वैतवादी है (५)माध्व दर्शन सगुणात्मवादी ⊃ प्रच्छन्नतार्किक⊃ स्पष्टद्वैतवादी है

स्पष्टतार्किकोके अवान्तर प्रभेद भोगसाधनादृष्टवादी और उत्पत्तिसाधनादृष्टवादी होते हे इन भोगसाधनादृष्टवादिओके भी दो अवान्तर भेद विदेहमुक्तिवादी और जीवन्मुक्तिवादी रूपी होते है इनमे विदेहमुक्तिवादिओके पुन आत्मभेदवादी और आत्म्यैक्यवादी ऐसे दो उपभेद होते है आत्मभेदवादिओमे

भी पुन कर्मानपेक्ष-ईश्वरवादी और कर्मसापेक्ष-ईश्वरवादी ऐसे दो उपभेद होते है

स्पष्टतार्किकोमे भोगसाधनादृष्टवादी ⊃ विदेहमुक्तिवादी ⊃ आत्मभेदवादी ⊃ कर्मानपेक्ष-ईश्वरवादी (६)नकुलीशपाशुपत होते है जबकि स्पष्टतार्किकोमे भोगसाधनादृष्टवादी ⊃ विदेहमुक्तिवादी ⊃ आत्मभेदवादी ⊃ कर्मसापेक्षवादी (७)शैव होते है भोगसाधनादृष्टवादी ⊃ विदेहमुक्तिवादी ⊃ आत्म्यैक्यवादी (८)प्रत्यभिज्ञावादी होते है भोगसाधनादृष्टवादी ⊃ जीवन्मुक्तिवादी ⊃ (९)रसेश्वरवादी होते है

सगुणात्मवादी ⊃ तार्किक ⊃ स्पष्टतार्किक ⊃ उत्पत्तिसाधनादृष्टवादिओके पुन दो उपभेद होते है शब्दको प्रमाणान्तरतया अस्वीकार करनेवाले (१०)वैशेषिक तथा उसे प्रमाणान्तरतया स्वीकारनेवाले (११)नैयायिक

आस्तिक ⊃ सगुणतावादी ⊃ श्रौतोंके दो उपभेद वाक्यार्थवेदी (१२)मीमासक होते है और (१३)पदार्थवेदी वैयाकरण होते है

इसी तरह आस्तिक ⊃ निर्गुणात्मवादिओमे भी तार्किक और श्रौत ऐसे दो उपभेदोके अन्तर्गत तार्किकोमे पुन निरीश्वरवादी (१४)साख्य होते है जबकि सेश्वरवादी (१५)पातञ्जल होते है आस्तिक ⊃ श्रौत ⊃ निर्गुणात्मवादी (१६)शाकर होते है इस तरह कुल सोलह मतोंकी योजनाबद्धता प्रकट होती है(१७)

२ भारतीय दार्शनिक विचारधाराओको एक-दूसरे प्रकारसे भी वर्गीकृत किया जा सकता है—

इस विकासरेखाका आरम्भबिन्दु चार्वाक दर्शन है और चरम विकास केवलाद्वैतवाद पर्यन्त सोचा जा सकता है इस चरमविकासके सोपानपर भगवत्पाद श्रीशकराचार्यने क्षेत्रज्ञात्माका

स्वरूप देहसे भिन्न अक्षणिक कूटस्थनित्य निर्विकार विभु प्रत्यक्ष बोधरूप अजड शब्दातीत 'ईश्वरा'दिपदवाच्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित असग निर्विशेष स्वीकारा हे अत देहात्मवादी चार्वाक दर्शनकी तुलनामे बौद्ध दर्शन देहातिरिक्त अनित्य क्षणिक आत्मवादकी स्वीकृतिके वश करीब पडता है आर्हत दर्शन आत्माको परिणामिनित्य माननेके कारण बौद्धोकी तुलनामे ओर करीब आता है रामानुज दर्शन आत्माको कूटस्थ नित्य मानता होनेके कारण और करीब पडता है फिरभी रामानुजोके मतमे आत्माको शरीरद्वारा विकारी भी माना गया जबकि माध्व वैसा नही मानते होनेके कारण कुछ और करीब आते हे माध्व मतमे आत्माको अणुपरिमाण माना गया है अत उनकी तुलनामे माहेश्वर मत, जो उसे विभु मानते है निकटतर माने गये है ये माहेश्वरवादी आत्माको दृग्रूप एव क्रियारूप मानते है अत इनकी तुलनामे केवल दृग्रूपतया आत्माको स्वीकारनेवाले वेशेषिक कुछ और करीब पडते हे परन्तु वेशेषिक आत्माको अनुमित्येकगम्य मानते है अत इनकी तुलनामे नैयायिक इतप्रमाणगम्य भी मानते होनेके कारण निकटतर होते है नैयायिक आत्माको स्वरूपेण जड मान कर चैतन्यको आत्माके गुणरूपतया स्वीकारना चाहते होनेके कारण आत्माको बोधरूपतया स्वीकारनेवाले मीमासकोकी तुलनामे कुछ दूर पडते है अशभेदवशात् किन्तु आत्माको जडतया स्वीकारनेके कारण इन मीमासकोंकी तुलनामे पाणिनीयोका मत आत्माको समग्रतया शब्दात्मक-चैतन्यात्मक स्वीकारता होनेके कारण केवलाद्वैतवादके समीपतर होता हे इनकी भी तुलनामे साख्योका मत आत्माको केवल ज्ञानस्वरूपतया स्वीकारनेके कारण और भी अधिक निकट माना जाता है साख्य परन्तु ईश्वरको नही स्वीकारते अत साख्योकी तुलनामे ईश्वरास्तित्व स्वीकारनेवाले पातञ्जल केवलाद्वैतवादके निकटतर है(१४)

इस तरह हम देख सकते है कि सर्वदर्शनसग्रह मे जो एक विशिष्ट आनुपूर्वीसे ग्रन्थकारने विभिन्न मतोको सकलित-योजित किया है उसमे ग्रन्थसम्पादक-भूमिकाकार श्रीवासुदेव शास्त्रीजीने एक योजनाबद्धता देखनी चाही है उल्लेखनीय इसमे यह अवश्य है कि रामानुज-माध्वोको श्रौत दर्शन न मान कर प्रच्छन्नतार्किक मतके रूपमे प्रस्तुत करना केवल केवलाद्वैतवादी दृष्टिकोण ही लगता है क्योंकि श्रुतिवचनोमे तर्कविरोधवश लाक्षणिक/गौण अर्थोंकी कल्पना करनेके कारण यदि प्रच्छन्नतार्किकता आती हो तो "यश्चोभयो समो दोष परिहारश्च ययो समो न तत्रैकोऽनुयोज्य स्याद् तादृगर्थविचारणे" न्याय अनुसन्धेय होता है इसके अलावा सगुणात्मवादिओके अन्तर्गत भी श्रौत वर्ग जो "सगुणात्मवादिनो द्विविधा तार्किका श्रौता च" विधानद्वारा स्वय भूमिकाकारद्वारा उद्भावित है उसमे रामानुज-माध्वोका अपरिगणन विस्मयजनक लगता है। इसके अलावा स्वय मूलकारद्वारा ही उपेक्षित होनेके कारण ब्रह्मनन्दी ब्रह्मदत्त भर्तृप्रपञ्च या भास्कराचार्य सदृश अन्यान्य शकरपूर्व या समकालिक वेदान्तोका स्थान इनमेसे किस वर्गमे अन्तर्हित मानना यह पता न चलनेके कारण उपेक्षाका आरोप तो अप्रासगिक ही होगा

वाल्लभ दर्शनका स्थान·

जहा तक वाल्लभ दर्शनका इसमे स्थान कहा हो सकता है ऐसी जिज्ञासाका प्रश्न है तो स्वय योजनाकार श्रीअभ्यकर शास्त्रीके अनुसार तो जब रामानुज-माध्वोका अन्तर्भाव प्रच्छन्नतार्किकोमे हुवा है तो वाल्लभोंको उससे बेहतर स्थानकी अपेक्षा रखनी नही चाहिये परन्तु उल्लिखित सभी मतोमे वेदान्तान्तर्गत रामानुज अन्यथा काश्मीरप्रत्यभिज्ञा दर्शन भी वाल्लभ चिन्तनको अपने साथ प्रत्यासन्नतर लगते है ब्रह्मनन्दी ब्रह्मदत्त भर्तृप्रपञ्च भास्कराचार्य अथवा श्रीपतिभगवत्पादाचार्य के स्थान यहा कही निर्दिष्ट होते तो वाल्लभ दर्शनको अपना स्थान खोज लेनेमे अधिक सुविधा होती

षष्ठदृष्टि :

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश और वेदान्तकल्पलतिका ग्रन्थोमे अन्यान्य मतोको प्रत्याख्यानार्थ ही केवल सकलित करके प्रस्तुत किया है इन दोनो ग्रन्थोमे यद्यपि किसी भी प्रकारका वर्गीकरण तो शब्दश निरूपणार्थ अभिप्रेत नही है तथापि क्रमश शाकरवेदान्ताभिमत ईश्वरास्तित्व और शाकरवेदान्ताभिमत मोक्ष के बारेमे साम्प्रदायिक जो दृष्टिकोण हो सकता है ऐसे मतविभाग या योजना को कुछ इस तरह प्रकट किया गया है

> ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाशमे वेदोपनिषदोका प्रमाणतया अस्वीकार करनेवाले और स्वीकारनेवाले यो नास्तिक दर्शन और आस्तिक दर्शन के रूपमे दो प्रभेद दिखलाये है इनमे नास्तिक दर्शनोमे चार्वाकको अनात्मवादी तथा अनीश्वरवादी माना गया है बौद्ध दर्शनमे क्षणिक सर्वज्ञविज्ञानसन्तानरूप आत्मा या ईश्वर माने ही गये है ऐसा दिखलाया गया दिगम्बरोके मतमे देहादिव्यतिरिक्त देहमात्रपरिमाण अविनाशी आत्मारूप अर्हत्को ही परमेश्वरतया स्वीकारा जाना निरूपित हुवा है जबकि आस्तिक दर्शनोके अन्तर्गत तो सभी चिन्तन वेदोको प्रमाणतया स्वीकारते हे और देहातिरिक्त आत्माको नित्य-विभु (सभी वैष्णव और कई शैव वेदान्ती जीवात्माको अणुपरिमाण स्वीकारते है इस तथ्यकी उपेक्षा विस्मयजनक प्रतीत होती है!) परन्तु, परमेश्वरको कुछ आस्तिक स्वीकारते है और कुछ नही, ऐसा प्रतिपादन किया गया है इन आस्तिक दर्शनोमे पातञ्जलोको आत्मवादी तथा ईश्वरवादी माना गया है इसी तरह नैयायिक-वैशेषिकोको भी ईश्वरवादिओमे पाशुपत पाञ्चरात्र एव हैरण्यगर्भ क्रमश शिव विष्णु और हिरण्यगर्भ को परमेश्वरतया स्वीकारते है, ऐसा निरूपित किया गया है साख्योको आत्मवादी + अनीश्वरवादी स्वीकारा गया है (पूर्वमीमासकोका उल्लेख करना क्यो भूल गये यह पता नही चलता!) ब्रह्मवादी

अर्थात् वेदान्तिओके मतमे उपनिषद्वेद्य सर्वज्ञ सर्वशक्ति अभिन्ननिमित्तोपादनरूप परमेश्वरके साकार / निराकारतया दो भेद दिखला कर इनमे साकारके चार अवान्तरभेद पुरुष ब्रह्मा विष्णु महेश्वर प्रतिपादित किये है शैव तन्त्रके अनुसार ईश्वरके अन्तर्गत ब्रह्मा विष्णु महादेव को साकार और सदाशिवको निराकार स्वीकारा गया है ऐसा प्रतिपादन किया हे विधान्तरतया नृसिहतापनीयके अनुसार ओत अनुज्ञाता अनुज्ञ और अविकल्प रूपी ईश्वरभेदोमे, क्रमश, पञ्चीकृतमहाभूताभिमानी विराट्का अन्तर्यामी परमात्मा 'ओत' या 'अनिरुद्ध' कहलाता है अपञ्चीकृतमहाभूताभिमानी जीव 'हिरण्यगर्भ' और उसका अन्तर्यामी 'अनुज्ञाता' कहलाता हे, इसे ही 'प्रद्युम्न' नाम्ना भी जाना जाता है इसी तरह सत्त्वादि गुणत्रयीकी मायारूप उपाधिसे उपहित सर्वबीजरूपको 'सकर्षण' कहा जाता हे इसी सकर्षणकी त्रिगुणात्मिका मायाके एक-एक गुणोसे अवच्छिन्न ब्रह्मा विष्णु और शिव होते है अन्तमे सर्वोपाधिविनिर्मुक्त अविकल्प वासुदेव परमात्मा मोक्षका अवलम्बन होता है और इसीकी जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय यों चार अवस्था होती है, ऐसा प्रतिपादन किया है[२५]

वेदान्तकल्पलतिकामे मोक्षके प्रकारभेदोकी विवेचनामे चार्वाक विज्ञानवादी माध्यमिक आर्हत काणाद नैयायिक प्राभाकर भाट्ट साख्य पातञ्जल त्रिदण्डी 'केचित्'नामा (भास्कराचार्य तथा भर्तृप्रपञ्च) पाशुपत वैष्णव तथा हैरण्यगर्भ यों इन मतोका अनौपनिषद मतोके रूपमे एक वर्ग दिखलाया गया है, और, दूसरेमे स्वय केवलाद्वैतवादी वेदान्त सम्प्रदायको औपनिषद दर्शनके रूपमे प्रस्तुत किया गया है[२६]

स्पष्ट है कि यह विभाजन अतीव स्थूल और केवल स्वसम्प्रदायोत्कर्ष

प्रतिपादनार्थ ही हे क्योकि उपनिषत्तात्पर्यविवेचन भगवद्गीतातात्पर्यविवेचन और ब्रह्मसूत्रतात्पर्यविवेचन के बावजूद, स्वसम्प्रदायाभिप्रेतार्थसे विपरीत होनेके कारण ही केवल वेष्णव और शैव वेदान्त अनोपनिषदिक मत हो जाते हो तो, केवलाद्वैत वेदान्त भी शेव-वेष्णव वेदान्तसे विपरीत होनेके कारण अनोपनिषदिक मत बन जायेगा इनके अलावा भास्करवेदान्त और भैक्षववेदान्त के बारेमे मौनधारण प्रस्तुत योजनाकी असर्वग्राहिताका ही प्रकट प्रमाण है अस्तु

वाल्लभ दर्शनका स्थान:

इस योजनामे निम्बार्क-भास्कर-रामानुज-माध्व-श्रीपतिभगत्पादाचार्य आदि अनेक वेदान्तविचारधाराओकी उपेक्षा की गयी होनेसे वाल्लभ वेदान्तके लिये कोई प्रदानार्ह स्थान योजनाकारके अनुसार होना अभिलषित नहीं लगता फिरभी साकारेश्वरवादान्तर्गत परमेश्वरको अभिन्ननिमित्तोपादान वाल्लभ वेदान्त स्वीकारता ही है मुक्तिके बारेमे तो अनोपनिषदिक वर्गमे ही अकारण ही योजनाकारके अनुसार वाल्लभ वेदान्तको सोचना पडेगा !

सप्तमदृष्टि:

जयपुरस्थ विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदन शर्माने अपने सदसद्वादो ब्रह्मविज्ञानम् नामक ग्रन्थमे [क]सद्वाद [ख]असद्वाद और [ग]सदसद्वाद मौलिक रूपोमे कृष्णयजुर्वेद सामवेद तथा शुक्लयजुर्वेद के विभिन्न वचनोमे ही उपलब्ध हो जाते है, ऐसा दिखला कर [१]प्रत्यय [२]प्रकृति [३]तादात्म्य [४]अभिकार्य [५]गुण [६]सामञ्जस्य और [७]अक्षर यो सात मूल वर्ग और इन सातो ही वर्गोके पुन उल्लिखित सद्-असद्-सदसद् रूपी त्रिविध अवान्तर विकल्पोद्वारा कुल इक्कीस प्रभेदोवाली एक योजना समझायी है(१७)

इनके अन्तर्गत अवान्तर प्रभेद इस तरह प्रस्तुत किये गये है [१/क]नित्यविज्ञानाद्वैतवादी ब्राह्मणमत [१/ख]अनित्यविज्ञानाद्वैतवादी श्रमणमत

[१/ग]आनन्दविज्ञानाद्वैतवादी मध्यस्थमत, [२/क]ब्रह्माद्वैतवादी अविनाशिमत [२/ख]कर्माद्वैतवादी वैनाशिकमत [२/ग]द्वैताद्वैतवादी वैनाशिकवदविनाशिमत, [३/क]धर्मिप्राधान्यवादी ब्राह्मणमत [३/ख]धर्मप्राधान्यवादी श्रमणमत [३/ग]धर्मधर्म्यभेदवादी मध्यस्थमत, [४/क]सत्कार्यवादी साङ्ख्यमत [४/ख]असत्कार्यवादी वैशेषिक [४/ग]मिथ्याकार्यवादी केवलाद्वैतवेदान्ती, [५/क]सन्मूलसृष्टिवादी सामवेदीया दृष्टि [५/ख]असन्मूलसृष्टिवादी कृष्णयजुर्वेदीया दृष्टि [५/ग]सदसन्मूलसृष्टिवादी शुक्लयजुर्वेदीया दृष्टि, [६/क]उत्पत्तिनाशशीलप्रकृतिकारणतावादी साङ्ख्य [६/ख]प्रागभावकारणतावादी नैयायिक [६/ग]विद्याविद्याप्रकृतिवादी वेदान्ती, [७/क]गुणत्रयाव्यक्तबीजत्ववादी साङ्ख्यमत [७/ख]बलै(कर्मे)काव्यक्तबीजत्ववादी वैनाशिकमत [७/ग]अक्षरैकाव्यक्तबीजत्ववादी बादरायणमत (इन्हे यथानिर्दिष्ट क्रमके अनुसार देनेके बजाय प्रस्तुत लेखकने सरल क्रमिकताके अनुसार यहा उद्धृत किया है)

वैसे योजना यह काफी रोचक प्रतीत होती है परन्तु इनमे प्रथम और द्वितीय [१ २/क ख ग]विभागोंमे क्योकि ज्ञानसन्तती या कर्मसन्तती के प्रवाहमे प्रवाहान्त पाती कर्म या विज्ञान व्यक्तिओका श्रमणमतमे तो अद्वैत माना ही नही गया है अत यह विचारणीय वर्गीकरण बन जाता है क्योकि बौद्धोके सभी सम्प्रदायोमे व्यक्तिओमे निष्ठ सामान्य धर्मका अद्वैत तो भ्रान्तिविषय ही माना गया है इसी तरह प्रवाहकी द्रव्यता अनभिमत होनेसे प्रवाहके स्वरूपका अद्वैत भी वास्तविक सिद्ध नहीं हो पाता योगाचार तथा माध्यमिक बौद्धोके मतोमे अवश्य ही विज्ञानाद्वैत और शून्याद्वैत की चर्चा है किन्तु वह तत्तदतिरिक्त द्वैतके निरसनार्थ ही है नकि विज्ञानैकत्व या शून्यैकत्व के प्रतिपादनार्थ अत श्रमणोको या वैनाशिकोको अनित्यविज्ञानाद्वैतवादी या कर्माद्वैतवादी मानना कहा तक उपपन्न हो सकता है यह विचारणीय लगता है रही बात [४/ग]विभागमे केवलाद्वैतवादिओकी तो, वे तो कार्यको सदसद्विलक्षण मानते है अत ऐसी स्थितिमे उन्हे 'सदसद्वादी' कहना कहा तक उचित माना जा सकता है? इसके अलावा इस योजनामे नास्तिकमतोमे चार्वाक-जैनोके मतोका अनुल्लेख, ईश्वरवादी मतोमे अन्यान्य शैव वैष्णव

दर्शनोका अनुल्लेख, तथा, वेदान्तमे केवल केवलाद्वैतवेदान्तका ही परिग्रह इस योजनाकी असर्वग्राहिताको प्रकट करता है अत इस योजनाके विस्तृत विमर्शार्थ अग्रसर हुवे बिना इसे यही उपसहृत कर देना उपयुक्त होगा वैसे इस प्रसगमे यह स्पष्ट कर देनेके लोभका हम सवरण नही कर पाते कि इन श्रीमधुसूदन शर्माजीका वेदान्तचिन्तन वाल्लभ वेदान्तके स्थूलरूपमे साथ अत्यधिक सालक्षण्य प्रकट करता है, अनेक सूक्ष्म प्रक्रियाओमे दोनो मतोके बीच रही विभिन्नताके बावजूद

<u>अष्टमदृष्टि</u>:

भारतीय दर्शनकी विकासरेखामे झलकती योजनाबद्धताको खोजनेके जितने भी प्रयास हुवे उनमे १९२५ सालमे प्रकाशित श्रीलक्ष्मीपुर श्रीनिवासाचार्य प्रणीत प्रमेय-प्रमाण-प्रयोजनरूप काण्डत्रयात्मक मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक, मेरी जानकारीमे, इस दिशामे सर्वाधिक महत्त्वशाली प्रतीत होता है ग्रन्थके प्रमेयकाण्डान्तर्गत प्रथम परिच्छेदके चतुर्थ 'सिद्धान्तविचार' नामक प्रकरणमे ग्रन्थकारने इस विषयपर अपने विचार प्रदर्शित किये हे ग्रन्थकार कहते है—

> प्रामाणिकतया ज्ञात अर्थको 'सिद्धान्त' कहा जाता है यदि कोई कहे कि सभी सिद्धान्त परस्पर विरोधी तथा तत्तद्व्यक्तिओके हठाग्रहके अनुरूप प्रस्तुत या प्रस्तावित होते है अत प्रामाणिकतया ज्ञात किसी पदार्थका स्वीकार ही शक्य नहीं लगता, तो यह बात ठीक नही है, क्योकि स्वय इस विधानसे सिद्ध की जाती धारणाको प्रामाणिकतया ज्ञात या प्रामाणिकतया अज्ञात मानना? दोनो ही स्थितिमे कुछ धारणाओका सिद्धान्त होना सिद्ध हो जाता है ऐसे सिद्धान्तोके विविध प्रकारोमे सर्वप्रथम सख्यैकान्तवाद और सख्यानेकान्तवादके भेदवश दो प्रकार सामने आते है इनमे एकसे लेकर छत्तीस या अधिक भी सख्यैकान्तवाद दिखलायी

देते हे.

उदाहरणतया : १.सब कुछ शून्य है ऐसा शून्याद्वैतवाद, सब कुछ विज्ञानमात्र है ऐसा विज्ञानाद्वैतवाद, सब कुछ सत् है ऐसा सदद्वैतवाद, सब कुछ केवल शब्दरूप होता है ऐसा शब्दाद्वैतवाद इत्यादि एकत्वसंख्यैकान्तवादके उदाहरण माने जा सकते है. २.इसी तरह द्वित्वसंख्यैकान्तवादके उदाहरण सब कुछ नित्य/अनित्य या जड/चेतन रूप होता है, ऐसी धारणा बनती हैं. ३.सब कुछ ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयान्यतमात्मना त्रिविध होता है, ऐसे मानना त्रित्वसंख्यैकान्तवाद है. ४.मातृ-मान-मिति-मेयात्मना चतु संख्यैकान्तवादी भी हो सकते हैं. ५.बौद्ध पञ्चस्कन्धैकान्तवादी होते है. ६.जैन भी षड्द्रव्यैकान्तवादी होते है. ७.वैशेषिक-नैयायिक सप्त या षोडश पदार्थैकान्तवादी होते है. इत्यादि-इत्यादि.

इसी तरह स्वस्वाभिमत तत्त्वोकी कोई निश्चित सख्या स्वीकारनेके बावजूद कोई चिन्तक सिद्धान्ततया सख्यानेकान्तवादी भी हो सकता है, जिसे अनुभूतिगोचर जगत्को किसी निश्चित सख्यामे इदमित्थतया बाधना स्वय अनुभूतिविरुद्ध कथा लगती है.

केवल सख्याको मानदण्डतया स्वीकारनेके बजाय अन्य भी मानदण्डोंके आधारपर दर्शनोकी समीक्षा करनेपर लौकायतिक जैसे बाह्यार्थमात्रसत्तावादी होते है, ऐसे ही योगाचार-बौद्ध आन्तरमात्रसत्तावादी होते है कापिल बाह्याभ्यन्तर उभयसत्तावादी होते हैं.

कुछ चिन्तक शरीरान्त स्थित पुरुषोमे अन्यतम पुरुष ईश्वरको शरीरान्त स्थित पुरुषोसे पृथक् पदार्थ माननेवाले होते है, तो

दूसरे उसे पृथकूतया स्वीकार नही करते (अर्थात् कुछ उसे कथञ्चित् पृथक् तो कथञ्चिद् अपृथक् भी स्वीकारते ही है)*.

कुछ चिन्तक द्रव्यपदार्थवादी होते है तो कुछ चिन्तक महासामान्यरूप सदेकपदार्थतामे मानते है

कुछ वस्तुमात्रको गुणसंघाततया माननेवाले केवल गुणैकपदार्थवादी होते है. तो अन्य कुछ गुण और द्रव्यो के भेदको स्वीकार कर गुण-द्रव्यरूप पदार्थद्वैतवादी होते है. तीसरे कुछ द्रव्य-गुण-कर्मरूप पदार्थत्रयवादी भी होते है

इसी तरह कुछ विशेषवादी तो कुछ सामान्यवादी, कुछ इन दोनोंके बीच भेद स्वीकारनेवाले तो कुछ इनके बीच ऐक्य स्वीकारनेवाले होते है तो तीसरे इन दोनोंके बीच तादात्म्य अर्थात् भेदाभेद (तो अन्य भेदाभेदवैलक्षण्य। भी)* स्वीकारनेवाले होते है

इसी तरह कुछ चिन्तक अनात्मवादी होते है, तो अन्य कुछ आत्मवादी, इनमे भी कुछ द्वैतवादी तो कुछ अद्वैतवादी होते है

कुछ जीवैक्यवादी होते है तो कुछ ब्रह्मैक्यवादी होते हे कुछ ब्रह्म-जीवके बीच भेदवादी होते है तो अन्य कुछ अभेदवादी तो अन्य कुछ तादात्म्यवादी भी होते है

इसी तरह भावाभाव कार्यकारण नित्यानित्य मानमेय द्रव्याद्रव्य के बीच भेद/अभेद/भेदाभेद/उभयवैलक्षण्य के आधारपर अनेक प्रकार दर्शनोंके बनते है

* कोष्ठान्तर्गत अश प्रस्तुत लेखकीय ससूचन है

इसी तरह तत्तत् पदार्थोके बारेमे सद् असद् सदसद् सदसद्वैलक्षण्य मेसे कोई एक स्वरूप उपपन्न होता है या नही इस विकल्पके कारण सदेकान्त असदेकान्त सदसदेकान्त और उभयवैलक्षण्य के चतुर्धा विकल्प बनते है इनमे नय-प्रमाणके तारतम्यस्वीकारके साथ सभी विकल्पोको पक्षपातरहित हो कर एक साथ स्वीकारनेवाले अनेकान्तवादी जैन होते है सभी पक्षोमे से किसी भी पक्षको न स्वीकारनेवाले गोडपाद जैसे वेदान्तीके अलावा उन सभी विकल्पोका प्रत्याख्यान करनेवाले माध्यमिक बौद्ध भी होते है[१८]

मेरे हिसाबसे मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिककारने उक्तानुक्तदुरुक्तके चिन्तनरूप अपने उत्तरदायित्वका भलीभाति निर्वाह करते हुवे अतीव व्यापक तथा प्रमाणिक अनेकविध योजनाओकी खोज इस तरह करनेका एक व्यवस्थित प्रयास किया है यह और बात है कि इतने सारे प्रकारोको प्रस्तावित करना "कृतमप्यकृतमिव भवति" जैसी बात लगती है इसे परन्तु "स्थितस्य गति चिन्तनीया"की मनोवृत्ति रख कर निहारनेपर उतनी असमञ्जस बात नही लगेगी जितनी कि भारतीय दार्शनिक चिन्तनके विकासको सर्वथा अयोजनाबद्ध ही मान बैठना उदाहरणतया 'अच्'प्रत्यहारमे 'एच्'प्रत्याहारके अन्तर्भूत होनेके बावजूद गुणसन्धि और वृद्धिसन्धि के सूत्र पाणिनिको पृथक्-पृथक् बनाने पडे। वह बोलनेकी प्रक्रियामे सस्कृतभाषामे प्रकट होती अनेकरूपताके वश करना ही पडा, ऐसी ही कुछ बात यहा भी स्वीकार लेनी चाहिये

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

स्पष्ट है कि मानमेयरहस्यवार्तिककारके अनुसार सब कुछ सत् है ऐसा सदद्वैतवादी वाल्लभ वेदान्त है ही साथ उस सद्रूप ब्रह्मके अद्वैतमे स्वय उसके सर्वविध नामरूपकर्मात्मना प्रकट होनेके सकल्प एव सामर्थ्य के कारण द्वित्व प्रकट तो होता है परन्तु यह द्वित्व

एकान्तिक नहीं होता अत द्वित्वसख्यैकान्तवादके उदाहरण सब कुछ नित्य/अनित्य या जड/चेतन रूप होता हे, ऐसी धारणा बनती है यहा अशत स्वीकार ही सिद्धान्ताभिमत हे अतएव इस ऐच्छिक द्वैतके विचारवश भगवल्लीलामे सब कुछ मातृ-मान-मिति-मेयात्मना चतु सख्याक होता है परन्तु ब्रह्म ही इन सभी रूपोमे प्रकट हुवा मान्य होनेसे वाल्लभ दर्शन चतु सख्यैकान्तवादी नहीं है अतएव योजनाकारके इस विधान "इसी तरह स्वस्वाभिमत तत्त्वोंकी कोई निश्चित संख्या स्वीकारनेके बावजूद कोई चिन्तक सिद्धान्ततया संख्यानेकान्तवादी भी हो सकता है, जिसे अनुभूतिगोचर जगत्को किसी निश्चित संख्यामे इदमित्थतया बांधना स्वयं अनुभूतिविरुद्ध कथा लगती है" इस सन्दर्भमे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके प्रस्तुत उद्गार मननीय लगते है "अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगु मायिकं सगुण कार्य स्वतन्त्र चेति नैकधा तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुते मतम्"-"सर्वैव यथा निरूप्यते तथा भगवान् भवति इति तत्र उपपत्तिम् आह 'वाच्यवाचकशक्तये' इति 'वाच्यो' अर्थ 'वाचक' शब्द उभयत्रापि शक्तयो यस्य यथैव अर्थ वक्तुम् इच्छति तथैव अर्थो भवति त प्रति" (सि मु ४-५, सुबो १०।१३।४६) अतएव ब्रह्मबाह्य कुछ भी स्वीकार्य न होनेपर भी लौकिक ज्ञानके सन्दर्भमे ज्ञेयार्थ ज्ञानबाह्य हो सकता है इसी तरह शरीरान्त स्थित पुरुषस्वरूपके जिज्ञास्य होनेपर वाल्लभ दर्शन प्रत्येक शरीरमे ब्रह्मके अक्षरस्वरूपके चिदशतया जीवात्माकी उपस्थिति स्वीकारता हे वेसे ही ब्रह्माण्डमूर्ति नारायणके आनन्दाशरूप अन्तर्यामीकी उपस्थिति स्वीकारता ही है इन दोनोके बीच भेदाभेदविलक्षण तादात्म्य ही वाल्लभ दर्शन स्वीकारता है इसी तरह अन्य भी विधाओके अन्तर्गत वाल्लभ दर्शनका स्थान यहा इस योजनामे सरलतया निर्धारित हो पाता है

<u>नवमदृष्टि</u>:

इन सभी पूर्वप्रयासोको दृष्टिगत करनेपर तथा पाश्चात्य दर्शनाके

भी कुछ वैचारिक उपादानोको लक्ष्यगत रखनेपर भारतीय दर्शनोके विकासकी रेखाके कुछ तुलनात्मक पहलु जो सामने आते है, उनकी पूर्वभूमिका मै कुछ इस तरह बाधना चाहता हू :

भारतीय दर्शनमे जिसे 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष', 'सविकल्पक प्रत्यक्ष / विकल्पाध्यवसाय' और परोक्षापरोक्ष वस्तुविपयक 'प्रत्यय / विकल्पना' कहा जाता है, इनके अनुरूप त्रिविध प्रमाणलक्षणोके मतभेद भी प्रकट हुवे है, लक्षणश, १ "यथार्थानुभव प्रमाणं", २."अविसंवादिफलप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं प्रमाणं", ३ "अनधिगताबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमाणं" इन्ही मतभेदोके समानान्तर पाश्चात्य दर्शनमे भी sensation, perception और conception यो ज्ञानके त्रिविध प्रकार स्वीकारे गये है एतद्नुरूप ही sensedata, percept ओर concept यो ज्ञानके विपयोके भी तीन प्रकार बनते है साथ ही साथ प्रामाण्यमीमासामे प्रामाण्यके बारेमे भी त्रिविध लक्षणोके अनुरूप जो तीन सिद्धान्त या वाद प्रवृत्त हुवे है वे नामश यो है 1 Theory of Correspondence, 2 Theory of Utility और 3 Theory of Coherence स्पष्ट है कि ये भी क्रमश भारतीय त्रिविध प्रमाणलक्षणोंके अनुरूप या समानान्तर ही है

इस सन्दर्भमे यह नितान्त अवधारणीय है कि ज्ञानके इन तीनो स्तरोको वस्तुप्रमाण वस्तुव्यवहार और वस्तुलक्षणबोध के हेतु अपरिहार्यतया स्वीकारना ही चाहिये अन्यथा ज्ञानमीमासा अधूरी रह जाती है साथ ही साथ इस दृष्टिसे इन तीनोको निहारनेपर

Sensedata को सत् (Being) न माननेपर वह सचेतन व्यक्तिमे Sensation जननरूपा अर्थक्रियाके कारकहेतुतया भी सिद्ध नहीं हो पायेगा

ऐसी स्थितिमे Sensesation को Sensedata का ज्ञापकहेतु भी मानना सम्भव नहीं रह जायेगा और स्पष्ट है कि यह तो वदतोव्याघात और/अथवा व्यवहरतोव्याघात के बिना शक्य ही नही।

जहा तक सविकल्पकप्रत्यक्ष या विकल्पाध्यवसाय प्रश्न है तो वहा पूर्वोक्त सत्के रूपतया अथवा विकल्पतया कुछ गृहीत तो होता ही है परन्तु ज्ञानके इसी दूसरे स्तरके अनेकविध अवान्तर प्रकारभेद, नामश, विकल्पाध्यवसाय विकल्पानध्यवसाय विकल्पसशय विकल्पभ्रान्ति आदि होते है और अतएव वे रूप या विकल्प (Percept) गृह्यमाण देश-कालमे बाह्यार्थतया विद्यमान (Existing) होते है या नही, यह विभिन्न दर्शनोके बीच भीषण विवादभूमि बन गयी है लोकव्यवहार, परन्तु, सर्वथा एतन्मूलक ही होता है और उसे प्रामाणिक मानना या नहीं यह तो विभिन्न दर्शनोके अपने-अपने सिद्धान्तोकी कथा है अर्थात् क्या बाह्यार्थ सत्के जो विकल्प गृहीत होते है वे विकल्पाध्यवसायके कारकहेतु होते है या नहीं? अथवा क्या विकल्पाध्यवसाय स्वगृह्यमाण विकल्पोका ज्ञापकहेतु न हो कर केवल विकल्पकल्पना मात्र है?

इसी तरह ज्ञानके तीसरे स्तर परोक्षापरोक्ष वस्तुविषयक प्रत्यय, नाम या विकल्पना अर्थात् Conception और Concept आते है इसे अन्यान्यविध उपलक्षण उपाधि आगन्तुक या स्वाभाविक विशेषण रूप अन्यसाधारण धर्मोके साथ-साथ अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवदोषोसे रहित लक्षणरूप धर्मोके भी ग्रहण अथवा निरूपण के रूपमे भी स्वीकारना चाहिये ये अनितरसाधारणधर्म लोकव्यवहारमे अतीव उपयोगी नही होते क्योकि, उदाहरणतया, लोकव्यवहारमे 'पक्षी' पदका अर्थ पक्षवान् प्राणीके रूपमे ही सोचा-विचारा जायेगा ये पक्ष, परन्तु, ऐसे प्राणिओके अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भव दोषोसे रहित धर्म नही हो पाते मशक-मक्षिका आदिमे अतिव्याप्त होनेके कारण जबकि 'चञ्चुमत्ता' ऐसा धर्म हो सकता है परन्तु इसपर लोकव्यवहार सहसा निर्भर नही

हो पाता है अत प्रश्न यहा भी अपना सुरसासदृश विकराल मुह बाये सामने खडा ही रहता है कि क्या इन conception और Concept के बीच परस्पर ज्ञापकहेतु और कारकहेतु होनेका सम्बन्ध रहता हे या नही? क्या इस तरहके प्रत्यय वस्तुत कहीं वस्तुतादात्म्येन अथवा वस्तुसमवेततया समाश्रित (Subsisting) होते है या नही? अथवा वस्तुद्रष्टाकी ये कल्पनामात्र होते है?

इन प्रश्नोके उत्तर मतभेदवशात् भिन्न-भिन्न ही मिलेगे हर स्थितिमे बाह्यार्थ वस्तुजनित निर्विकल्प प्रत्यक्ष ओर चेतनाद्वारा उसे किस प्रत्ययके रूपमे अनूदित वर्गीकृत सगृहीत तथा व्याख्यायित किया जाता है, यो इन उभयविध ज्ञानके स्तरोके पारस्परिक सहयोगके बिना सविकल्पप्रत्यक्ष या विकल्पाध्यवसाय रूप ज्ञानका द्वितीय स्तर प्रकट हो नहीं सकता, इतना तो निश्चयेन कहा जा सकता है

इनमे निर्विकल्पप्रत्यक्ष और तद्विषयीभूत अर्थके बीच प्रामाण्यके अवधारणार्थ याथार्थ्य, अर्थात्, अनुभूतिका अर्थानतिवर्तित्व होना अर्थात् Theory of Correspondence को अपरिहार्य मानना चाहिये क्योकि बाह्यार्थ निर्विकल्पका कारकहेतु (ratio ascendie) होता है और निर्विकल्पकप्रत्यक्ष बाह्यार्थका ज्ञापकहेतु (ratio cogniscendie) होता है स्पष्ट है कि ऐसी स्थितिमे प्रामाण्यका निकष याथार्थ्य=अर्थानतिवर्तित्व ही हो सकता है

जहा तक सविकल्पकप्रत्यक्ष अर्थात् विकल्पाध्यवसाय का प्रश्न उठता है तो ऐसे प्रत्यक्षमे यदि फलाविसमनादिप्रवर्तिजनकता अर्थात् Theory of Utility मान्य न हो तो ऐसे सविकल्पप्रत्यक्षको प्रामाणिक मानने सहसा कोई उद्यत नही हो पायेगा

इसी तरह ज्ञानके तीसरे स्तरपर अर्थात् परोक्षापरोक्ष वस्तुविषयक

ज्ञान या वस्तुप्रत्यय के बारेमे "अनधिगत-अबाधितार्थविषयक ज्ञान प्रमाण" लक्षणको कारगर मानना चाहिये अर्थात् तद्नुरूप पाश्चात्य दर्शनमे Theory of Coherence यहा कारगर सिद्ध हो पायेगी क्योकि ऐसी स्थितिमे दो प्रत्ययोके बीच परस्पर अबाधितता/अबाध्यता और प्रत्ययार्थ वस्तुकी अन्यथा अनधिगतता ही प्रत्ययको प्रमाणपदवीपर आरूढ होनेका अधिकारी बनाती है

इस प्राथमिक स्पष्टीकरणके बाद अब यह सुखेन समझा जा सकता हे कि ज्ञानके इन तीनो स्तरोके बारेम जो अनेकविध वैकल्पिक दृष्टिया चिन्तकोने अपनायी है उनके पाश्चात्य तर्कशास्त्रीय A E I O ओर U Propositins की तरह पाच प्रकार हो सकते है यथा —

A = सभी दृष्टिया प्रामाणिक हैं
E = कोई भी दृष्टि प्रामाणिक नहीं होती
I = कुछ दृष्टिया प्रामाणिक होती हैं
O = कुछ दृष्टिया प्रामाणिक नहीं होती
U =कोई एक ही दृष्टि प्रामाणिक होती है

इनमे A विधामे सर्वदृष्टिओपर अनुग्रह प्रकट होता है E विधामे सर्वदृष्टिप्रहाण हे I / O विधाओमे कतिपय दृष्टिओपर अनुग्रह या कतिपय दृष्टिओका प्रहाण है अन्तिम U विधामे किसी एक दृष्टिपर अनुग्रह अथवा किसी एक दृष्टिका प्रहाण प्रकट हो सकता हे

सर्वप्रथम U विधाके मूलमे जो अनुग्रह या प्रहाण रूप दो भेद होते है, उनमे प्रहाणके पुन दो अवान्तर भेद यो सोचे जा सकते है कि प्रहाण केवल स्वार्थ या परार्थ भी हो सकता है उदारणतया गीतोपदिष्ट स्वपरधर्मद्वैतवादके अगीकारमे परधर्मका स्वार्थ प्रहाण

अभिप्रेत होनेपर भी परार्थ प्रहाण अभिप्रेत नही होता केवल अपने धर्मको सच्चा माननेवालोंके मतमे जबकि परधर्मका परार्थ भी प्रहाण अभिप्रेत होता है जैसे कि किसी एक किताबके अलावा अन्य किसी भी किताबका अनुसरण किसीको काफिर बना देता होनेसे परार्थ भी प्रहाण अभिप्रेत माना जा सकता है यहा यह अवधेय है कि पाश्चात्य तर्कशास्त्राभिमत विकल्पके जैसे मृदु और कठोर दो प्रभेद स्वीकारे गये है इन प्रभेदोके बीच कठोरविकल्पतया [स्वदृष्टि / स्वीयेतरदृष्टि] *रूप स्वीयेतरदृष्टिप्रहाण अभिप्रेत होता है यहा स्वदृष्टि* और स्वीयेतरदृष्टि यो दोनो दृष्टिया एक साथ सत्य नहीं हो सकती इसके विपरीत स्वीयेतर दृष्टिपर अनुग्रहके भी इसी तरह दो उपभेद हो सकते है उदाहरणतया प्राय एकदेशिमतको अस्वमत मान कर भी वैकल्पिकतया अनिरसनीय मान लिया जाता है अथवा कभी ऐसा भी होता है कि अन्यमतका अपने मतमे अन्तर्भाव दिखला दिया जाता है इस तरहके इन दो उपभेदोको यो समझा सकता है [1]वैकल्पिकताके अगीकारवश अनुग्रह [स्वदृष्टि v स्वीयेतरदृष्टि] यहा द्वितीय मृदुविकल्पतया स्वदृष्टि और स्वीयेतरदृष्टि दोनो ही स्वार्थ-परार्थभेदवश सत्य हो सकती है उदाहरणतया शिवोपासकार्थ शिवका परदेवत्ववाद विष्णूपासकार्थ विष्णुका परदेवत्ववाद यो दोनो ही प्रामाणिक माने जा सकते है [2]एकदेशिताके अगीकारवश अनुग्रह[स्वदृष्टि = A ⊃ I = स्वीयेतरदृष्टि] यहा स्वमतमे परमतका अन्तर्भाव जैसे सप्तपदार्थवादिओने षोडशपदार्थवादिओंके पदार्थोका सप्त पदार्थोमे अन्तर्भाव प्रतिपादित कर दिया यह लगभग वैसी ही स्थिति है जो गौतमसूत्र(१।१।२६)मे प्रतिपादित तन्त्रसिद्धान्त और अधिकरणसिद्धान्त के बीच स्वीकारी गयी है

I और O propositions तो इतरेतरनिषेधमुखतया इतरेतर-अर्थापत्तिमे पर्यवसित होते होनेसे, एक ही बातके केवल विधिमुख या निषेधमुख कहनेके विधागत भेद ही हे अत इस प्रकारकी विवेचनाके

विस्तारमे जाना बहुत आवश्यक नही लगता

A ओर E विधाओमे क्रमश सर्वदृष्ट्यनुग्रह ओर सर्वदृष्टिप्रहाण निरूपित होता है इनमे सर्वदृष्टिप्रहाणके जैसे तीन अवान्तर प्रभेद होते है वैसे ही तीन ही अवान्तर प्रभेद सर्वदृष्ट्यनुग्रहवे हात है यो कुल छह प्रभेद होते हे [1]तत्वाज्ञेयतागीकृतिमूलक प्रहाण [2]तत्वाज्ञाततागीकृतिमूलक प्रहाण [3]तत्वसन्दिग्धतागीकृतिमूलक प्रहाण [4]परमार्थापरमार्थभेदागीकृतिमूलक अनुग्रह [5]प्रमाण-नयभेदागीकृतिमूलक अनुग्रह [6]सर्वात्मतागीकृतिमूलक अनुग्रह

अब इन्हे सविवरण इस तरह समझा जा सकता है

[1]वैसे तो माध्यमिकोके भी अनेक भेदोपभेद है परन्तु शून्यता या तथता चतुष्कोट्यतीत पञ्चमी कोटी है या केवल चतुष्कोटिविर्निर्मोक अर्थात् चारो कोटियोका केवल अपोहन या निरसन? इस विषयमे भगवान् बुद्धके अभिप्रायोका अनुसरण करना हो तो स्वीकारना ही पडेगा कि-शून्यता पाचवी कोई पदार्थकोटि न हो कर केवल चार कोटिओंका शाब्दिक निषेधमात्र है, अर्थात् वह सर्वविध वाच्योका अपोहन केवल है जैनोने जैसे पाचवी छठ्ठी और सातवी कोटिया भी इस विवादमे प्रस्तावित की उनमेसे कोई एक कोटी आग्रहिलतया भगवान् बुद्धके समक्ष प्रस्तुत की जाये तो उसका भी निरसन ही भगवान् बुद्धको अभिप्रेत होगा इसे परवर्ती योगाचार तथा माध्यमिक दोनोके पूर्वोद्धृत तथा अन्य भी कुछ शून्यतासम्बन्धी उद्गारोके अवलोकन करनेपर सरलतया समझा जा सकता हे ''अस्तीति वदतो ब्रूमो नास्ति सर्व विचारतो, नास्तीति वदतो ब्रूम सर्वम् अस्त्यविचारत यथा-यथा समारोपा जायन्ते तत्त्वयोगिन तथा-तथा समारोपा हन्यन्ते तत्त्वयोगिना ''(१९) ''व्यावृत्ति सर्वदृष्टीना कल्प्यकल्पनवर्जिता''(२०) ''यद्यशून्य भवेत् किञ्चित् स्याच्छून्यमिति किञ्चन, न किञ्चिदस्त्यशून्य च कुत शून्य भविष्यति?

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता नि.सरणं जिनै. येषान्तु शून्यतादृष्टिः असाध्यान् तान् बभाषिरे.''(२१) एतावता यह सिद्ध होता है कि निर्बीज असम्प्रज्ञातसमाधि जैसी ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहणविवर्जित चित्तकी सभी विकल्पोसे शून्यावस्था ही विज्ञानवादी तथा माध्यमिको के मतमे भी शून्यतया अभिप्रेत है नकि चित्तेतर किसी तत्त्वकी किसी भी प्रकारके विकल्पके साथ ज्ञेयता. फिरभी दोनोके बीच जो मतभेद है वह केवल इतनेसे अशमे है कि विज्ञानवादी विज्ञानको परमार्थ सत्य मानते है जबकि माध्यमिक उसके बारेमे भी शून्यताकी ही दृष्टिका उपदेश देते है अत यूरोपमे ईमान्युएल कान्टने Thing as it is unknowable और Thing as it appeares is knowable का जैसा तारतम्य प्रतिपादित किया था, वैसा ही कुछ यहा भी मान कर चलना चाहिए अतएव (क)''द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना लोके संवृतिसत्यं च सत्यञ्च परमार्थत.'' (ख)''संवृति. परमार्थ च सत्यद्वयमिदं स्थितं बुद्धे अगोचर तत्त्वं बुद्धि· संवृतिरुच्यते'' (ग)''प्रतीत्यसमुत्पन्नं वस्तुरूपं 'संवृति.' उच्यते. तदेव 'लोकसंवृतिसत्यम्' इति अभिधीयते, लोकस्यैव संवृत्या तत् सत्यमिति कृत्वा. सर्वस्य हि प्रतीत्यसमुत्पन्नस्य पदार्थस्य नि·स्वभावता पारमार्थिकं रूपम्''(२२) उद्गारोके आधारपर परमार्थत अज्ञेयता और व्यवहारत रूप-विज्ञान-वेदना-सस्कार-सज्ञारूप पञ्चस्कन्धोमे प्रतीत होती प्रतीत्यसमुत्पादता रूपी ज्ञेयताके रूपमे 'तत्त्वाज्ञेयतागीकृतिमूलक सर्वदृष्टिप्रहाण' इसे कहा जा सकता है

[१]इससे भिन्नतया किसी बाह्य या आभ्यन्तर तत्त्वको ज्ञेयतया स्वीकारनेके बावजूद इदमित्थतया वाणीके बिना कुछ भी निरूपित नहीं हो पाता है और वाणीसे तो वही निरूपित होता है कि बोलनेकी क्रीडाके हेतु हमने जैसे/जिन वाड्नियमोको घडा होता है यो ज्ञेयतया कुछ स्वीकार लेनेके बावजूद वस्तुतत्त्वको अवाच्य-अपरिभाष्य अर्थात् लक्षणानर्ह स्वीकारनेवाली विट्गॅन्स्टीनके जैसी दृष्टि अर्थात् लक्षणार्हत्वेन तत्त्वाज्ञाततागीकृतिमूलक भी एक सर्वदृष्टिप्रहाण हो सकता है

इसे विज्ञानवादी योगाचारमतके सद्धर्मलंकावतारसूत्र के "बुद्ध्या विवेच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते तस्मादनभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिता"(२३) इस प्रसिद्ध वचनके आधारपर भलीभांति समझा जा सकता है ऐसी दृष्टि तत्त्वोपप्लव वाक्यपदीय खण्डनखण्डखाद्य चित्सुखी आदि ग्रन्थोमे उपलब्ध होती निरुक्तिविरहताके प्रतिपादनसे सुसंगत लगती है इसे जैनोके "स्याद् अस्ति च अवक्तव्य च" शब्दनयान्तर्गत पांचवी कोटीके समान स्वीकारा जा सकता हे

[३]सर्वदृष्टिप्रहाणार्थ यूरोपीय चिन्तनमे ह्यूम जेसोके द्वारा सन्देहवादी विचारधाराका विकास जेसा-जितना हुवा वैसी विचारधारा परन्तु यहा भारतमे कोई प्रकट हुयी हो ऐसा कमसे कम मुझे तो ज्ञात नहीं है अत इसे रिक्तवर्गतया ही प्रस्तावित करना पडता है

[४]चतुर्थ सर्वदृष्टिप्रहाणको निषेधमुखशैलीमे बोलनेके बजाय विधिमुखशैलीमे बोल कर सर्वदृष्ट्यनुग्रह भी शक्य हो पाता हे अर्थात् परमार्थत कुछ भी प्रामाणिक नहीं होनेपर भी व्यवहारमे सभी कुछ सम्भव होता है अत केवल परमार्थदृष्ट्या सर्वदृष्टिओको निराकरणीय माननेपर भी व्यवहारदृष्ट्या उन्हे मान्य रखनेकी चिन्तनप्रणाली भी केवलाद्वैतवादिओकी भी दिखलायी देती है उदाहरणतया विविध देवताओके परतत्त्वताके विवादमे अथवा स्वय केवलाद्वैतिओके अनेकविध भामती विवरण या वार्तिक आदि प्रस्थानोमे व्यावहारिक स्तरपर परस्पर विरुद्ध मतभेदोमे सभीको मान्य रखना, इस प्रतिपादनशेलीकी विशेषता है परवर्ती केवलाद्वैती ग्रन्थकारोकी ऐसी विचारशेली दिखलायी देती है गौडपादकारिकाके ये उद्गार "स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढ परस्पर विरुद्ध्यन्ते तैरय न विरुद्ध्यते"(२४) मे सभी दृष्टिओके परमार्थदृष्ट्या निराकरणके साथ-साथ वाचनिक सर्वदृष्ट्यनुग्रह भी प्रकट किया गया है ऐसा स्वीकारा जा सकता है

⁵जैसा कि पहले ही इसका निरूपण कर चुके तदनुसार जैनोंने दुर्नयदृष्टि नयदृष्टि और प्रमाणदृष्टि के तारतम्यद्वारा अन्यान्य मतोको, स्वमतीय अनेकान्तवादसे बाह्यदृष्टितया मिथ्यादृष्टि होनेके कारण अमान्य रखनेके बावजूद उन्ही मिथ्यादृष्टिओंको पुन, 'स्यात्' निपातोपन्यासपूर्वक अनेकान्तवादागतया प्रामाणिकतया भी मान्य रखा है अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाकार श्रीहेमचन्द्र कहते हे "सदेव सत् स्यात्सद् इति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणै "(२५) अत [अनेकान्तवाद = A⊃I= सप्तविधनय] ऐसी भी एक शेली सर्वदृष्ट्यनुग्रहकी हो ही सकती है

⁶इस ऐसे अनेकान्तवादकी तुलनामे उपनिषदोमे उपलब्ध होती ब्राह्मिकी सर्वात्मतादृष्टि या सर्वरूपतादृष्टि के अन्तरका वेलक्षण्य भलीभाति समझ लेना अत्यावश्यक है

(क)पुरुषए- इद सर्व ᵞ भूत यत् च
भव्य सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीर नामानि
कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते
(ख)यत् च किञ्चिद् जगत् सर्व दृश्यते श्रूयतेऽपि
वा अन्तर्वहिश्च तत् सर्व व्याप्य नारायण स्थित
(ग)यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव अनुपश्यति,
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते, यस्मिन्
सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानत, तत्र
को मोह क शोक एकत्वम् अनुपश्यत
(घ)एषहि देव प्रदिशोऽनुसर्वा, पूर्वोहि जात
सउ गर्भे अन्त, स विजायमान स जनिष्यमाण
प्रत्यङ्मुखा तिष्ठति विश्वतोमुख यद् एकम्
अव्यक्तम अनन्तरूप विश्व पुराण तदेव अग्नि
तद् वायु तत् सूर्य तदु चन्द्रमा तदेव शुक्रम्

अमृतं तद् आपः स प्रजापतिः.

(ङ)ब्रह्मवा इदमग्र आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद अहं ब्रह्मास्मि इति तस्मात् सर्वम् अभवत्. इदं सर्व यद् अयम् आत्मा.

(च)एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च.

(छ)स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि.

(ज)पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते.[२६]

इन औपनिषद वचनोंके आधारपर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण ऐसा निष्कर्ष निकालते है कि मूलतः औपनिषद ब्रह्म सजातीय विजातीय स्वगत भेदोसे रहित एकमेवाद्वितीय होनेके कारण अज्ञेय-अवाच्य होनेपर भी सर्वरूपोमे ज्ञेयात्मना एवं वाच्यात्मना स्वतः ही प्रकट हुवा है[२७] अतः पूर्णसे पूर्णका प्राकट्य अपनी पूर्णताको अखण्डतया निभानेवाला होता होनेके कारण ब्रह्म सर्वविध वादोसे अतीत भी है और सर्वविध वादोंके अनुरूप भी होता है[२८] ब्रह्मके स्वरूपको नानावादानुरोधि दिखलाते हुवे महाप्रभुका कहना है कि वैदिकदृष्टिसे जो मान्य सिद्धान्त हो अथवा वैदिकदृष्टिसे जो सिद्धान्ताभास हो अथवा वैदिकदृष्टिसे जो मान्यता पाषण्डितापूर्ण हो उन ऐसी सभी धारणाओंके अनुसार भगवान् रूप धारण कर सकते हे तथा करते होते है अतः स्वय भगवान्‌के स्वतः सर्वरूप होनेसे सभी कुछ उपपन्न हो सकता है अतः जो उसका जैसे निरूपण करना चाहता है उसके प्रति भगवान्‌का वैसा ही स्वरूप वस्तुतः प्रकट हो जाता है. क्योकि भगवान्‌मे सर्वविध वाच्यरूपो और वाचकशब्दो के रूपोमे प्रकट होनेकी सहज शक्ति/सामर्थ्य होती है[२९] इस "सर्ववादानवसरत्वे सति नानावादानुरोधिता"[३०]की व्याख्या करते हुवे महाप्रभुने यह भी कहा है कि सृष्टिके उत्पत्ति-स्थिति-नाशके अनेकविध निरूपणोद्वारा शास्त्र भी यही समझाना चाहते है कि मूलतत्व

एकमेवाद्वितीय अव्यक्त भी है और अनन्तरूप भी. वह विश्वरूप भी है और विश्वातीत भी. उसके ऐसे स्वरूपकी उपपत्ति दो तरहसे सोची जा सकती है. एक तो उसके सर्वभवनसामर्थ्यका विचार करके — दूसरे उसके विरुद्धधर्माश्रय होनेका विचार करके. क्योंकि अनेकविध वादोंको प्रस्तावित करनेवाले विविध चिन्तक ब्रह्मके ऐसे इन दो पहलुओंको आधारभूत मान कर अपनी-अपनी बात नहीं कहते और वे अपनी ही आंशिक धारणाके अनुसार मूलरूपको परिच्छिन्न बनाना चाहते है; अतः, वादिओंकी ऐसी धारणाके सन्दर्भमें ब्रह्मको 'सर्ववादानवसर' कहा जाता है नकि उनके वादोंके सन्दर्भमें. ब्रह्मके किसी एक असकल विशेष पहलुका निरूपण सकलताके दावेके साथ किया जाय तो बात बिगड जाती है. अन्यथा वाणीमे दोषान्वेषण अनावश्यक होता है. दूसरे शब्दोंमे इसे यो कहा जा सकता है कि जैनमतमें तो अनेकान्तवादांगभूत 'स्यात्' निपातार्थवती प्रमाणदृष्टिसे रहित अस्तीत्यादि एकान्तदृष्टियां दुर्नयदृष्टितया परार्थ भी हापनीय बन जाती है जबकि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार सर्ववादानवसर ब्रह्म ही सर्ववादानुरोधि बन जाता है और बन सकता होनेसे (जैनोकी परिभाषाके अनुसार विकलादेश भी) केवल स्वार्थ ही प्रहापनीय होता है अर्थात् परार्थ वह प्रहापनीय नहीं होता. जैनोके अनुसार स्याद्वादरूपा प्रमाणदृष्टि सकलादेशरूपा होने स्वपरोभयार्थ अनुग्राह्य होती है जबकि उससे बहिर्भूत दुर्नयदृष्टि स्वपरोभयार्थ प्रहापनीय होती है वाल्लभ मतमे परन्तु अब्राह्मिकी दृष्टि स्वार्थ प्रहापनीय होनेपर भी परार्थ प्रहापनीया नही होती अतएव जैनोकी तरह महाप्रभुके मतमे भी ब्रह्मवाद सकलादेश है और अन्य सारे वाद विकलादेश, स्वय उन्हींके शब्दोमे कहना हो तो "एकैको वादो ब्रह्मणः एकैकधर्मप्रतिपादकवाक्यशेषइति भगवान् तान् सर्वानेव अनुसरति."(३१) अर्थात् विकलादेशका भी ब्रह्मदृष्टचा प्रामाण्य सम्भव है — ब्रह्मकी प्रतिपादिका श्रुतिओंके व्याख्यानतया चाहे न भी सम्भव हो।

उदाहरणतया " 'असख्यता' का अर्थ — सख्याओकी इयत्ताका अनिर्धार है" इस विधानके अनुसार परन्तु कितनी सख्याके बाद सख्याकी इयत्ताकी

अनिर्धारितता वक्ता-श्रोताके बुद्धिमे आरूढ होती है? इसे कह पाना मुश्किल बात है भारतमे गणनाकी अवधि पर या परार्ध पर्यन्त हुयी है अब trillion सख्या उससे भी दसगुनी अधिक हो तो परार्धके प्रत्ययसे अतीतता और ट्रिलिअनके प्रत्ययसे अतीतता दोनो ही असख्यताके प्रत्ययके उपलक्षण बनेगे उपलक्षणोके भिन्न-भिन्न होनेपर भी उपलक्षित असख्यताके दोनो ही प्रत्यय 'सकल-प्रत्यय' कहे जायेगे अत बात दोनोकी प्रामाणिक ही माननी पडेगी फिरभी परार्धातीत-सख्याऽनिर्धारवादी, परन्तु, ट्रिलिअनातीतसख्याऽनिर्धारवादीको अप्रमाणिक मानता हो तो ऐसी धारणाके सन्दर्भमे वह प्रत्यय सत्य नही रह जायेगा फिरभी वाक्यार्थसन्दर्भमे उसे मिथ्या नहीं माना जा सकता इसी तरह सभी वाद, धारणाओंके सन्दर्भोमे परिच्छिन्न या विकल होते हो या न होते हो, वाक्यार्थसन्दर्भमे तो प्रामाणिक हो सकते है इस अर्थमे ब्रह्मको 'नानावादानुरोधि' भी माना गया है महाप्रभुके अनुसार एक-एक वाद ब्रह्मके एक-एक धर्मका प्रतिपादक हो सकता है अत ब्रह्मविचारवश सभी वाद प्रामाणिक हो सकते है क्योकि ब्रह्मके सर्वभवनसमर्थ और विरुद्धधर्माश्रय होनेके सन्दर्भमे सभी वाक्य प्रमाणरूप हो सकते है "तस्मात् सर्वमेव वाक्य प्रमाण यत सा सरस्वती सर्वतोमुखा"(३२) महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार ब्रह्मकी इस स्वाभाविकी सर्वभवनसामर्थ्यको प्रमाणविचार प्रमेयविचार साधनविचार और फलविचार के पहलुओसे देखनेपर इसका स्वरूप सर्वथा सुस्पष्ट हो जाता है अत तदर्थ उसकी चर्चाके बिना इस निरूपणका उपसहार अनुचित होगा

प्रमाणविचारवश सर्ववाच्य-सर्ववाचकरूपा शक्तिया जब भगवान्मे सहज-स्वाभाविकी हो तो, वाचकशब्दोसे अननुविद्ध ज्ञान तो प्रमाण हो नही सकता, अत सर्वविध ज्ञानोमे अनुगत शब्दानुवेध सर्वविध ज्ञानोंको ब्राह्मिक सन्दर्भमे प्रामाण्यवाहक बना देता है

प्रमेयविचारवश भी "स सर्वं भवति"(३३) "ऐतदात्म्यमिद सर्व तत् सत्यम्"(३४) "भोक्ता भोग्य प्रेरितार मत्वा सर्वं प्रोक्त त्रिविध

ब्रह्ममेतत्''(३५) आदि उपनिषद्वचनोके आधारपर जब सब कुछ वही बना है तो किसी भी दर्शनाभिमत प्रमेयको सर्वथा बाधितार्थ माना नही जा सकता क्योकि भागवतमे आता है कि "भगवान् सर्वभूतेषु लक्षित स्वात्मना हरि दृश्यै बुद्ध्यादिभि द्रष्टा लक्षणै अनुमापकै"(३६) इसकी व्याख्या करते हुवे महाप्रभु कहते हे कि नैयायिकोंने कर्ताके रूपमे, मीमासकोंने क्रियाके रूपमे, वेदान्तिओंने आत्माके रूपमे, साख्योंने करण होनेके रूपमे, अन्योंने ज्ञान होनेके रूपमे, किसीने ज्ञाताके रूपमे, यों सभीने भगवान्के एकेकदेशको अपने-अपने अनुभव ओर युक्तिओंके आधारपर सिद्ध करना चाहा है ये सभी रूप भगवान्के लक्षण हो सकते है और इनसे अशतो भगवज्ज्ञान पाया ही जा सकता है(३७)

इसी तरह साधन और फल के विचारके सन्दर्भमे महाप्रभुका प्रस्तुत वचन अनुसन्धेय है "'स वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते स द्वितीयम् ऐच्छत् स एतावान् आस' इन श्रुतिओंके आधारपर 'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति ' इस श्रुतिके भी आधारपर यह कहा जा सकता है कि भगवान् उन-उन साधनोको करा कर उन-उन फलोको देते हैं और यह सब कुछ भगवान् निज क्रीडार्थ ही जगत्के रूपमें आविर्भूत हो कर केवल क्रीडा ही कर रहे हैं, ऐसा वैदिकोंका निर्णय है यही बात वेदके दोनो काण्डोंमें प्रतिपादित हुयी है अन्यथा जीवात्माके साधनफलोंका निरूपण करनेवाली श्रुतिओंको ब्रह्मपर माननेके बजाय जीवपर स्वीकारना पडेगा तब तो श्रुतिप्रतिपाद्य कर्म और ब्रह्म को भी जीवशेषतया स्वीकारना पडेगा"(३८)

इससे यह सिद्ध होता है कि अनेकान्तवादी विधा और इस विधामे कुछ मौलिक अन्तर है वहा अनैकान्तिक प्रमाणदृष्टिके अन्तर्गत ऐकान्तिक नयदृष्टिओको अनुग्राह्य माना गया जबकि अनैकान्तिक प्रमाणदृष्टिसे बहिर्भूत ऐकान्तिक दुर्नयदृष्टिओको प्रहापनीय मिथ्यादृष्टि माना गया है इस विधामे, जबकि, ब्राह्मिक दृष्टि न होनेके अपराधवश किसी भी दृष्टिके अनुसार किया जाता तत्त्वनिरूपण अप्रामाणिक नही हो सकता

है, अर्थात् वह स्वय दुर्नय नही बन जाता एतावता सिद्ध होता है कि स्वीयेतर निरूपणको प्रमाणतया न स्वीकारना ही केवल मिथ्यादृष्टि है क्योकि वह ब्रह्मकी सर्वभवनसामर्थ्य ओर विरुद्धधर्माश्रयताका अनगीकार है यही सर्वात्मरूप ब्रह्मके पूर्णताको स्वीकारनेवाली पूर्ण ब्राह्मिकी दृष्टि है अतएव वाल्लभ वेदान्तमे परपक्षनिराकरण केवल वेदतात्पर्यविषयीभूत या तदविषयीभूत पदार्थमीमासाके रूपमे अनुष्ठेय होता है यह महाप्रभुके "वेदा श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाण तच्चतुष्टयम् उत्तर पूर्वसन्देहवारक परिकीर्तितम् अविरुद्धन्तु यत्त्वस्य प्रमाण तच्च नान्यथा एतद्विरुद्ध यत्सर्वं न तन्मान कथञ्चन, अथवा सर्वरूपत्वान्नामलीलाविभेदत विरुद्धाशपरित्यागात् प्रमाण सर्वमेव हि"(१२) उद्गारोका प्रमुख रहस्य है अर्थात् वेदैकवेद्य ब्रह्मकी सर्वात्मकता / सर्वरूपता ही ब्रह्मकी तरह वाल्लभ चिन्तनको भी विरुद्धधर्माश्रयी बनाती है कि कई सारी दृष्टिया वेदाभिप्रायतया मिथ्या होनेपर भी वेदैकवेद्य ब्रह्मस्वरूपके सन्दर्भमे प्रामाणिक हो सकती है*

उद्धरणसकेत

१ षड्दर्शनसमुच्चय २-३
२ द्रष्टव्य उक्त षड्दर्शनसमुच्चयकी भूमिकामे श्रीदामोदरलाल गोस्वामी
३ सुत्तपिटकान्तर्गत दीघनिकायके ब्रह्मजालसुत्तमे तृतीय प्रकरण
४ तत्रैव
५ मध्यमकशास्त्र १८।९-अद्वयवज्रसग्रह पृष्ठ१९
६ माण्डुक्यकारिकाशाकरभाष्य ४।८३-८४
७ द्रष्टव्य खण्डनखण्डखाद्य १।८ "सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा विनिवृत्ताद्वयाम्नायै पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते"
८ श्रीमदद्वयवज्रपादकृत अद्वयवज्रसग्रह पृष्ठ ६२
९ प्रसन्नपदा २२।११
१० दशश्लोकी १०/११?
११ स्याद्वादमञ्जरी २८
१२ तत्रैव

१३ सर्वदर्शनसंग्रहोपोद्घातपृष्ठ ८४-८५

१४ सर्वदर्शनसंग्रहोपाद्घातपृष्ठ ९०-९१

१५ ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाशपृष्ठ १-१०

१६ वेदान्तकल्पलतिकापृष्ठ १-६

१७ सदसद्वादो ब्रह्मविज्ञानपृष्ठ ०-३

१८ द्रष्टव्य मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिकके प्रमेयकाण्डमे प्रथमपरिच्छेदान्तर्गत चतुर्थप्रकरण

१९ श्रीमदद्वयवज्रपादकृत अद्वयवज्रसंग्रह पृष्ठ ६२

२० सद्धर्मलङ्कावतारसूत्र १०।४८३-८४

२१ मध्यमकशास्त्र १३।७-८

२२ (क)मध्यमकशास्त्र २४।८ (ख)बोधिचर्यावतार ९।२ (ग)तत्रत्यैव पञ्जिका

२३ सद्धर्मलकावतारसूत्र २।१७५

२४ माण्डूक्योपनिषत्कारिका ३।१७

२५ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका २८

२६ (क)पुरुषसूक्त १,७ (ख)नारायणसूक्त १ (ग)ईशावास्योपनिषद् ६-७ (घ)महानाराणोपानिषद् १।१।५-७ (ङ)बृहदारण्यकोपनिद् १।४।१०,४।५।७ (च)कठोनिषद् २।२।९ (छ)छान्दोग्योपनिद् ६।८।७ (ज)बृहदारण्यकोपनिषद् शान्तिपाठ

२७ पन्नावलम्बन कारि १

२८ तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।७०

२९ सुबोधिनी १०।१३।४३

३० तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।७०

३१ तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश १।७०

३२ तत्रैव २।१७३

३३ बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।६

३४ छान्दोग्योपनिषद् ६।८।५

३५ श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१२

३६.भागवतपुराण : २।२।३५.
३७ सुबोधिनी : २।२।३५.
३८.ब्रह्मसूत्राणुभाष्य : १।१।११.
३९.तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।८-९.



*प्रस्तुत निबन्धमे प्रतिपाद्य विचारबिन्दु, एड्वास् स्टडी इन सस्कृत, पूणे-विश्वविद्यालयके समाननीय श्री वी एन् झाजीकी प्रेरणावश उनके केन्द्रमे "नेचर् एड् फक्शन् ऑफ माइड्" पर आयोजित सेमिनारमे मोखिक चर्चाके रूपमे मैने प्रस्तुत किये थे श्रीझाजीके आग्रहपर पश्चात् पुन यथोचित सशोधन-परिवर्धनके साथ उक्त केन्द्रको लिखित प्रबन्धके रूपमे भी भेजा दिया था सो "ह्युमन् माइड् एड् मशीन्" ग्रन्थमे श्रीसद्गुरु पब्लीकेशन्स् दिल्लीद्वारा सन् २००३ वर्षमे प्रकाशित भी हुवा हे यहा पुन उसी प्रबन्धमे कुछ अपेक्षित थोडे-बहोत परिवर्धनके साथ प्रकाशनार्थ उनकी सहमतिपर स्वकृतज्ञतापूर्वक पुन प्रकाशित किया जा रहा है।

गोस्वामी श्याम मनोहर.

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार
मायाका स्वरूप और कार्यकलाप

[उस प्राणकी तात वाणी होती है नाम सारेके सारे उस प्राणके रस्सीकी तरह होते है प्राणकी इन तात और रस्सी से सब कुछ बधा हुवा है यहा सभी कुछ वाणीका विषय होता है (ऐत उप २।१।५) इस वाणीके पुष्प-फलकी तरह सत्य(=सत्+त्यत्=प्रकट+अप्रकट) होता है अत सत्यके निरूपणमे वाणीके पुष्प और फल प्रकट हो जाते है इसके अलावा वाणीसे अनृत बोलना वाणीकी अपनी जडोको उघाड देनेकी तरह होता है वृक्षोकी जडोको उघाड देनेपर वृक्ष सूख कर स्वयमेव उखड जाता है (ऐत उप २।३।६)]

'अ'कारोऽस्मीत्येव ह्यवददिह गीतासु भगवान्
भवेत्को वास्यार्थस्तदुदितमतः नैवमविदम्।
''अकारो वाक् सर्वा'' श्रुतिवचनमालक्ष्य कथया-
प्यवाच्यं वा वन्दे सकलपदवाच्य तमथवा॥
वचन वाचक वाच्य भिदाश्रित यदितु निर्वचनं नहि सार्थकम्।
भवति शून्यमिद निखिलं तदा नमनमेव मदुक्तमपार्थकम्॥
करुणया वरण हि मुधा न चेत् कथमु जीवकृत नमनं मुधा?।
समभवत्स हि सर्वमिद खलु स्वयमतो हि नमस्करवाणि तम्॥[1]

(१) उपक्रम :

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार यह समग्र सृष्टि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके सदश चिदश या आनन्दाश की विविध अभिव्यक्तिया है. इस स्पष्ट करनेको उनके 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध' एव 'पत्रावलम्बन' नामक

ग्रन्थोमे प्रतिपादित अशोका सव्याख्योपपत्तिक भावार्थ प्रस्तुत करना चाहेगे

''परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण अद्‌भुतकर्मा है। वे तीन तरहकी क्रीड़ा करते है : कभी वे अनेकविध आनन्दात्मक नाम-रूप-कर्म धारण कर स्वय प्रकट होते हैं, कभी वे आनन्दाशके तिरोधानपूर्वक अनेकविध नाम-रूप-कर्मोको धारण कर जगदात्मना प्रकट होते हैं, और कभी स्वय सदात्मना उपादान हुए बिना भी केवल अधिष्ठानरूपेण अनेकविध नाम-रूप-कर्मोको प्रकट दरसाते है''

''वह एकमेव अद्वितीय सत्+चिद्+आनन्दरूप ब्रह्म स्वरूपत अविभक्त रहते हुवे भी लीलेच्छया अनेक नाम-रूप-कर्मोम अपने-आपको विभक्त करता है अत एकरस होनेपर भी वह केवल अपनी अविकुण्ठित इच्छाके अनुरूप अनन्तमूर्ति बन जाता है केवल इच्छामात्रके वश स्वय उसके भीतर अनेक ब्रह्मात्मिका अशरूपा चेतनाये सृष्टिके आदिमे प्रकट होती हैं अग्निमेंसे, जैसे, तिनके निकल कर ठडे पड जाते है, वैसे ही, ये चिदश ब्रह्मकी इच्छाके वश अपना आनन्दाकार खो देते हैं इसी तरह सदशसे सारे जडरूप भी प्रकट होते हैं और आनन्दाशमेंसे सभीके भीतर रहते सभीके नियामक अन्तर्यामी भी प्रकट होते है इनमे जड पदार्थोके भीतर चिदश-आनन्दाश तिरोहित हो जाते हैं और जीव पदार्थोके भीतर आनन्दाश तिरोहित हो जाता है अन्तर्यामिरूप आनन्दाशोंके भीतर, परन्तु, आनन्दाश अतिरोहित ही रहता हैं अत व्यवहारमे जड जीव और अन्तरात्मा यों तीन रूप लीलामे प्रकट होते हैं''

''प्रत्येक निर्वचनमें अनिवार्यतया उल्लेखनीय असाधारणधर्म जो ब्रह्मेतरका व्यावर्तक हो ऐसा धर्म सजातीय विजातीय

स्वगत द्वैतवर्जित ब्रह्मके अखण्डाद्वैत स्वरूपके सन्दर्भमें सोचा ही नहीं जा सकता. अतएव किसी प्रकारका निर्वचन भी शक्य नहीं. फिरभी वही ब्रह्म अपने सर्वभवनसामर्थ्य और प्रतिघातानर्ह सत्यसंकल्प के वश लीलया अनेक नाम-रूप-कर्मात्मना प्रकट भी हुवा हैं. अतएव प्रकट हुवे अनेकविध नाम-रूप-कर्मसम्बन्धी व्यवहारमें निर्वचन सुवच भी बन जाता है."[२]

इस लीलासृष्टिके अन्तर्गत रूपसृष्टि और नामसृष्टि के परस्पर पार्थक्य और द्योत्यद्योतकभाव को समझाते हुवे महाप्रभु कहते है कि रूपसृष्टि और नामसृष्टि परस्पर विलक्षण होती है : रूपसृष्टि नामसृष्टिकी अपेक्षया अन्तवती होती हे जबकि रूपसृष्टिकी अपेक्षया नामसृष्टि अन्तहीन होती हे रूपसृष्टि स्थूल जबकि नामसृष्टि सूक्ष्म होती है. रूपसृष्टि अपने विकारी उपादान या प्रकृति से प्रकट होनेवाली विकृतिरूपा होती हे जबकि नामसृष्टि अविकृता होती है. रूपसृष्टि जडरूपा होती है जबकि नामसृष्टि बोधरूपा होती है रूप और नाम के इन परस्पर अतीव विरोधी ध्रुवोका सामञ्जस्य केसे बैठ पाता है, इस बारेमे महाप्रभुका कहना है कि ब्रह्म स्वय नाना वादोके अनुरोधवश अनेकविध वाच्यभूत रूपसृष्टि तथा वाचकभूत नामसृष्टि को प्रकट करने, न करने, अथवा अन्यथा प्रकट करनेको सर्वसमर्थ होता हे इसलिये जो बात जिस तरह हमे कहनी अभिप्रेत हो तदनुसार तथ्यका स्वरूप भी अवभासित होने लगता है.

यहा 'नामसृष्टि' पदद्वारा अभिहित होते अर्थका, अग्रेजी भाषामे पर्याय कहना हो तो 'मेंटल् इमेज्' (mental image) कहा जा सकता हे यह आन्तर प्रत्यय ही सभी भाषाओका मूलरूप होता है यूरोपीय तार्किक-भाववाद (Logical positivism) के साथ सहमत न होनेवाले जन्मानुगतप्रामाण्यशास्त्रके मीमांसक ज्या पिआजे (Jean

Piaget) ने भाषाव्यवहार न कर पानेवाले शिशुओके साथ किये वैज्ञानिक प्रयोगोमे यह पाया कि वर्तुल चतुष्कोण या त्रिकोण आकृतिके प्रभेदोको, उनसे सम्बन्धित शब्दोके प्रयोग कर पानेकी सामर्थ्यके विकसित होनेसे पूर्व भी, मानवशिशु भलीभाति पहचान पाते हे, आन्तरिक प्रत्ययोके द्वारा वे कहते हे "According to Chomsky, logic is not derived from language, but language is based on kernel of reason I agree that the structures that are availble to a child at the age of fuorteen or sixteen months are the the intellectul basis of upon which language can develop, but I deny that these structures are innate "[1] वैसे तो यह भी कथा अब पुरानी हो गयी है। क्योकि इसके बाद वैज्ञानिकोने अपने परीक्षणके अन्तर्गत यह भी पाया कि मानवशिशुके परिवेशका सस्थान (structures) ही नही अपितु विकसनकी प्रक्रियामे प्रकट होनेवाली आनुवंशिकताके कारण भी स्वय मानवशिशुके मस्तिष्कमे ऐसे दर्पणोपग नाडीकण (Mirror neurons) होने आवश्यक है, जो उसे मानवेतर योनिके पशुओमे भी विद्यमान नाडीकणोकी तुलनामे अधिक चतुर अधिक लचीले ओर अधिक श्रेष्ठतया विकसित होते हे हिन्दुस्तान टाइम्स्मे "न्यू योर्क टाइम्स्"मेसे उद्धृत विज्ञानविद् रीज्जोल्टीके कथनके अनुसार "The human brain has multiple mirror neuron systems that specialise in carrying out and understanding not just the actions of others but their intentions, the social meaning of their behaviour and their emotions Mirror neurons allwo us to grasp the minds of others not through conceptual reasoning but direct stimulation By feeling, not by thinking "[२] हिन्दुस्तान टाइम्स्के दिनाक २६।१।०६ के सस्करणमे प्रकाशित एक दूसरे विज्ञानपरीक्षणके वृत्तके अनुसार दक्षिणअमरीकामे ब्राजील देशकी अँमेजॉन् नदीके तटपर निवास करते मुन्दुरुकू आदिवासिओमे किये गये सर्वेक्षणके अनुसार

वाणीसे बोले जाते पदोके अभावमे भी भूमितिके आकारोको ये आदिवासी आबालवृद्ध न केवल पृथक् वर्गीकृत रूपमे पहचान पाते अपितु कथंचित् दूसरोको बता-समझा भी पाते हे एतावता वाल्लभ दृष्टिकोणको अभिमत व्यक्त पदात्मिका वाणीके मूलमे विद्यमान नामसृष्टिकी धारणाकी उपपत्ति इन वेज्ञानिक परीक्षणोंके आधारपर भी सोची जा सकती हे

(२)प्रस्तूयमान धारणाका श्रौत सन्दर्भ :

प्रस्तूयमान वाल्लभ वेदान्तके भाषा या वाणी के आधारभूत श्रौत सन्दर्भतया सविशेषतया तीन श्रुतिवचन अवधारणीय है

१ "सत्य ज्ञानम् अनन्त ब्रह्म, यो वेद निहित गुहाया परमे व्योमन्, सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (तत्ति उप २।१)

२ "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदु ब्राह्मणा ये मनीषिण गुहा त्रीणि निहिता पदानि नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति" (ऋक्सहि,२।३।२२)

३ "पुरुषएव इद सर्व यद् भूत यच्च भव्य एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायाश्च पुरूष पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपाद् अस्य अमृत दिवि त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत् पुरुष पादो अस्य इह अभवत् पुन ततो विश्व व्यक्रामत् साशनानशने अभि" (ऋक्सहि,१०।७।९०)

अर्थात् १ ब्रह्म देशत कालत या स्वरूपत परिच्छिन्न न होनेवाली सत्ता एव चेतना रूप होता है अतएव जो उसे अपनी हृदयगुहाके भीतर समाहिततया जान पाता है, वह अपनी सारी कामनाओंको सर्वज्ञानरूप ब्रह्मके साथ पूर्ण कर पाता है २ वाणीके चार चरण होते है जिनमे तीन चरण तो गुहानिहित रहते होनेसे प्रकट नहीं हो पाते, उन्हे तो अपने मनको वशम लानेवाले ओर ब्रह्म(वेद)को जाननेवाले ही

जान पाते हे परन्तु वाणीका चतुर्थ चरण वह हे जो सभी मनुष्य बोल पाते ह इन चार प्रकारकी वाणिओमे प्रथम 'परा वाणी' हे यह चराचर ब्रह्माण्डमे व्याप्त सर्वविध परिच्छेदोसे रहित सर्वसाक्षिभूत चेतना है अतएव वाणीका यह आद्य चरण सकल स्वपर वस्तुओके प्रकाशनमे समर्थ समष्टिरूपेण परमात्मा ही ह साथ ही साथ उसीके चिदश होनेके कारण व्यष्टिरूपेण जीवात्मचेतनाके रूपमे भी स्वीकारा गया हे वही व्यष्टिरूप जीवचेतना जब वस्तुविशेषके प्रकाशकतया अपना परिच्छिन्न स्वभाव हमारे भीतर प्रकट करने लगे तब उसे अन्त प्रकाशनरूप 'पश्यन्ती' नामक वाणीका द्वितीय चरणके रूपमे स्वीकारना चाहिये यह अन्त प्रकाशन जब बाह्यप्रकाशनके रूपम उद्यत विवक्षाका रूप धारण कर बाहर अभिव्यक्त होने जाता हे, तब ऐसे तृतीय चरणको 'मध्यमा' कहा जाता हे चतुर्थ चरण 'वैखरी नाम्ना अभिहित हुवा हे इस स्तरपर जो अर्थप्रकाशन आभ्यन्तर था वही अब वक्ताके मुखसे बाहर आ कर श्रोताके लिये श्रवणगोचरार्ह ध्वनिओ या शब्दो के समूहका रूप धारण कर लेता हे ३ भूत वर्तमान ओर भावी सकल चेतनाचेतन रूपसृष्टिकी अभिव्यक्ति भी इस चतुष्पात् पुरुषके एकपाद मात्रमे परिमिततया प्रकट होती हे अवशिष्ट तीन पाद लोकमे प्रकट अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयके सघातम प्रकट नही होते हे

(३)वाणी या भाषा का मूलस्वरूप एव मूलकार्यकलाप

एतावता सिद्ध होता है कि जडतया प्रतीत होते इस ब्रह्माण्डमे देश-काल-स्वरूपत अपरिच्छिन्न एक स्वपरप्रकाशरूपा चेतना व्याप्त हे ओर वही हमारी वाणी या भाषा का परममूलरूप शब्दात्मक ब्रह्म हे क्योकि स्वेतर अर्थके अवभासनमे असमर्थ नाद या ध्वनि, वाणीके रूपमे मान्य नही हो पाते अत वाणी या भाषा अपन मूलस्वरूपमे तो अपनेसे इतर वस्तुका अनुभव ही हे इसी तरह वाणीका मूल या प्रथम कार्यकलाप तो अपनेसे इतर अर्थको अभिव्यक्त करना या अनुभाव प्रकट करना ही है यह अनुभाव चेतनाशील प्राणीमे प्रकट

होते बोध भाव या व्यवहार अथवा अबोध अभाव या अव्यवहार रूपी असामर्थ्यका भी अनुभाव हो सकता है अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्में किस और कैसे प्रकाशके आधारपर देहादि सघातोपेत प्राणी अपने विविध कर्मोको निभा पाते है, ऐसी महाराजा जनककी जिज्ञासाके समाधानार्थ महर्षि याज्ञवल्क्यने जिन पञ्चविध स्वपरप्रकाशक तत्त्वोका निरूपण किया उनमे क्रमश सूर्य चन्द्र अग्निके बाद आत्मचेतनासे पहले वाणीकी भी गणना मिलती है

> "अस्तमिते आदित्ये चन्द्रमसि शान्ते अग्नौ किञ्ज्योतिरेव अय पुरुष इति वागेव अस्य ज्योति भवति वाचैव अय ज्योतिषा आस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति इति तस्माद् वै यत्र स्व पाणि न विनिर्ज्ञायते अथ यत्र वाग् उच्चरति उपैव तत्र न्येति इति एवम् एतद्"
>
> (बृह उप ४।३।५)

कुछ ऋषिओके श्रौत चिन्तनमे, किन्तु, वाणी या भाषा को केवल चेतनाशील मनुष्य प्राणीका एकाधिकार नही माना गया है क्योकि कुछ वाणी मनुष्य प्राणीको अवगत हो पाती है तो कुछ अन्य वाणी अवगत नही भी हो पाती है न केवल सभी चेतनाशील अपितु तथाकथित अचेतन पदार्थोमे भी वाक् तत्त्वका स्वीकार इस आर्षदृष्टिकी विशेषता है

> "सर्पाणा वाक्, वयसा, क्षुद्रस्य सरीसृपस्य, चतुर्थी व्यावहारिकी इति एके पशुषु तृणवेषु मृगेषु आत्मनि च इति आत्मप्रवादा अथा(? त्रा')पि ब्राह्मण भवति : 'सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवद् एष्वेव लोकेषु त्रीणि, पशुषु तुरीयम् या पृथिव्या सा अग्नौ सा रथन्तरे या अन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदव्ये या दिवि सा आदित्य सा बृहति सा स्तनयित्नौ

अथ पशुषु या वाग् अतिरिच्यत ता ब्राह्मणे दधु तस्माद् ब्राह्मणा उभर्यी वाच वदन्ति या च देवाना या च मनुष्याणाम्' इति (मंत्रा सहि । ।)" (निरु १३।१।८)

एतावता सिद्ध होता हे कि मूलमे कुछ देवताओकी वाणी है जिसे मनुष्य भलीभाति समझ नही पाता दूसरी स्वय अन्यान्य सचेतनप्राणिओकी वाणीके जैसी मनुष्योकी भी वाणी होती है इसे मनुष्य सुन या समझ पाता ह इस प्रभेदको सरलतया बुद्धिगत करना हो तो व्यष्टिचेतना-व्यष्टिप्राणका आधार लेकर प्रकट होनेवाली वाणी एक और दूसरी व्यष्टिचेतना-व्यष्टिप्राणके माध्यमके विना भी प्रकट होती वाणी होती हे ऐसा कहनेपर देववाणीके दो उपभेद होगे 'मनुष्यवाणीसदृश वेदवाणी इसे वेददृष्टा ऋषिओने स्वय सुन कर हमे सुनायी और 'पृथ्वी आप् अग्नि वायु विद्युत् अन्तरिक्ष आदित्य एव द्युलोक आदिके माध्यमसे प्रकट होती देववाणी

यहा एक ऐसी शका उठ सकती है कि ऐतरयोपनिषद्‌की एक श्रुतिमे मानवपशु ओर मानवेतरपशुआके बीच यह तारतम्य जो माना गया कि मानवपशु स्वयको विज्ञात वस्तुका विज्ञाततया प्रत्यभिज्ञान ओर शाब्दिक अभिवदन कर पाता है जबकि मानवेतरपशु कर नहीं पाते "पुरुषत्वेन आविस्तर आत्मा सहि प्रविज्ञानेन सम्पन्नो विज्ञात वदति विज्ञात पश्यति इतरेषा पशूनाम् अशनापिपासेएव अभिविज्ञान न विज्ञात वदन्ति न विज्ञात पश्यन्ति" (ऐत उप ३।१।१) इस तरह दोनो श्रुतिआम परस्पर विरोध प्रकट हो रहा हे इसका समाधान मानवेतर पशुओमे विज्ञातको पहचान या कह पानेके निषेधके बजाय मानवेतर पशुओंमे अपनी भूख प्यास आदिके देहिक व्यापारोसे जुडे अपने चारो ओरके परिवेशका अभिविज्ञान मानवपशुसे उत्तम कोटिका होनेपर भी प्रकृष्ट ज्ञानके आधार पर पहचान पाने या वाणीद्वारा प्रकट कर पाने के निषेधमे ही स्वीकारना चाहिये अर्थात् *'प्रविज्ञानेन विज्ञात*

न वदन्ति / प्रविज्ञानेन विज्ञात न पश्यन्ति" अन्यथा अप्रसक्तप्रतिषेध और प्रत्यक्षविरुद्धता आदि दोष व्याख्यामे प्रकट होगे

मुझे स्पष्टभाषिता बरतनी चाहिये कि यद्यपि ऐसी कण्ठोक्त स्वीकृति वाल्लभ वेदान्तके किसी भी मूल या व्याख्यारूप ग्रन्थमे कही दृष्टिगोचर नही हुयी फिरभी महाप्रभुद्वारा अभ्युपगत प्रामाण्यके अनुरोधवश इस उपरि उद्धृत वचनोक्त पक्षको वाल्लभ वेदान्तमे सिद्धान्ततया स्वीकारना अतीव आवश्यक लगता है तदनुसार जिन या जैसी ध्वनिओको अर्थवाहिका ध्वनिके रूपमे मानवबुद्धि गृहीत नही कर पाती, उन ध्वनिओको भी अमानवीय वाणीके रूपमे सिद्धान्तत मान्य रखना आवश्यक है इसे टैलिग्राफिक् मॉर्स् कोड् (Morse Code) के उदाहरणद्वारा भी उपपन्न किया जा सकता है क्योकि बिन्दु-रेखाओ (····—— = ४ चार) के सदृश विविध ध्वनिविन्यासोकी शक्ति, वर्णमाला या अकमाला के जिन अक्षरोंके साथ वाच्य-वाचकभाव सम्बन्धसे जुडी होती है, वे जिसे अवगत न हो उसके प्रति ध्वनि अर्थवाहिका हो नही पाती फिरभी जो उनके जानकार होते , उनके प्रति तो ये ध्वनिया भी पुरुपसम्भाष्य वाणीकी तरह ही अर्थवाहिका बनती देखी ही जाती है अतएव आधुनिक पशुविज्ञान पक्षिविज्ञान जलचरविज्ञान एव सरीसृपकीटविज्ञान की शाखाओने इस बारेमे पर्याप्त गवेपणाके बाद यह पाया कि ये प्राणी भी विविध ध्वनिओको प्रकट करके परस्पर सूचनाओका तथा मनोभावोका आदान-प्रदान करते है निरुक्तोक्त प्रकारसे उपनिषद् तो सर्वात्मवादकी प्राधारणाके अवलम्बनद्वारा सर्वत्र आत्मास्तित्वको अगीकार करते होनेसे पृथ्वी-जल-तेज-वायु-अन्तरीक्ष या आदित्य आदिकी भी भाषा स्वीकारते ही है ये साधारण मनुष्यको समझमे न आती हो तो कहना पडगा कि "नहि एष स्थाणो अपराधो यद् एनम् अन्धो न पश्यति।" कहा जाता है कि अंग्रेजीका 'बार्बेरिअन्' पद मूलमे यूनानी वाच्यार्थध्वनि-अनुकरणात्मक (onomatopoeic) 'बार्बरॉस्' पदका तद्भवरूप है इसका यूनानी लोगोने गैर-यूनानी लोगोके लिये

प्रयोग इसीलिये किया, क्योंकि गेरयूनानियोकी भाषा यूनानी लोगोको समझमे नही आती थी अत उन्हे केवल 'बर्-बर्' ध्वनि ही सुनाई पडती थी। अस्तु

(४)दार्शनिक सन्दर्भ :

जेसाकि पाश्चात्य दर्शनोके विविध प्रस्थानोमे कुछ चिन्तकोने प्रत्यक्षानुभूतिगोचर सभी अर्थों (Percepts) को अविश्वसनीय या मिथ्या मान कर बोद्धिक प्रत्ययो (Concepts) को ही विश्वसनीय या पारमार्थिक माना, तो अन्योने बोद्धिक प्रत्ययोको प्रत्यक्षानुभूतिका केवल सघात (Consruction) होनेसे अन्त स्फूर्त चेतना तकको मिथ्या मान कर प्रत्यक्षानुभूतिगोचर बाह्यार्थको ही केवल पारमार्थिक माना अथवा जेसेकि भारतीय दर्शनोके अन्तर्गत भी कुछ चिन्तकोने शब्दाभिव्यग्य होनेके केवल अपराधवश सविकल्प प्रत्यक्षको अप्रमाण मान लिया तो अन्य महायानी चिन्तकोने निर्विकल्प-सविकल्प उभयविध प्रत्यक्षोको भी बाह्यार्थमवाद बिना स्वप्नोपम ही मान लिया[५] यद्यपि यहा भारतवर्षमे ऐसा चिन्तन अन्य अनेक दर्शनप्रस्थानोने मान्य नही रखा, क्योकि "मानाधीना मेयसिद्धि" का आदर्श मानवीय बुद्धिमे आत्यन्तिक निरूढ प्राग्धारणाके रूपमे निहारा जाता रहा अत इसके विपरीत सोचनेपर बोद्धिक आत्मघातकी भीति हमे सताती रही होगी। अस्तु जो कोई हेतु हो वह प्रस्तुत विचार्यपरिधिसे बहिर्भूत होनेसे यहा उसका विचार अप्रस्तुत ही होगा

वाल्लभ वेदान्त, परन्तु, रूप ओर नाम दोनोके प्रकट होनेमे एकमात्र सर्वभवनसमर्थ ब्रह्मको कारण मानता होनेसे दोनोके बीच 'वदति'-'अनुवदति की तरह 'भवति' ओर 'अनुभवति' का सवाद मान्य रखता है परिच्छिन्नज्ञानवान् जीवकी दृष्टिसे *"यद् भवति तद् अनुभवति"* क्रम ही इस सन्दभमे मान्य रखा गया है अन्यथा ब्रह्मकी दृष्टिसे तो *"यदा यथा यद् इच्छति तदा तथा तद् भवति"* क्रम ही मूलसिद्धान्तकथा

है [६] यह भगवान्‌के सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसकल्पशालिता रूप असाधारण ब्रह्मधर्मके कारण उपपन्न होता है जो "वही यह सब कुछ बना है" "उस एकमेव अद्वितीय ने चाहा कि वह अनेक बन जाये और वह सब कुछ बन गया"[९] जैसे श्रुतिवाक्योके आधारपर सिद्ध होता है

<u>(५)भाषाका मूल नामसृष्टि :</u>

अतएव भागवतपुराणमे भी यह प्रतिपादित किया गया है कि देहान्तर्विवरमे प्रकाशरूप वह ब्रह्म ही [क]जीवभावापन्न हो कर हृदयगुहामे [ख]प्राणरूप घोषके साथ प्रविष्ट हो कर पहले [ग]मनोमय सूक्ष्मरूप प्राप्त करता है बादमे [घ]स्थूल मात्रा स्वर वर्ण आदि रूप धारण कर बाहर प्रकट होता है[१०]

<u>(६)भाषाके बारेमें महाप्रभुका मत :</u>

इस तरह वाल्लभ वेदान्तकी भाषासम्बन्धी प्राग्धारणाओका दृष्टिगत कर लेनेपर इस बारेमे उनके विचारोको स्वय उनके तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत 'सर्वनिर्णय' प्रकरणगत कारिकाप्रकाश (१५०-१८१) मे मिलते प्रतिपादनकी कहीं-कही अपेक्षित कुछ व्याख्या और कुछ उपपत्ति के साथ सारानुवाद या भावानुवाद सकलित करना चाहेगे

<u>(क)भाषा प्रमाण-प्रमेय उभयरूप होती है</u> : भाषा कभी प्रत्यक्ष-अनुमिति आदि प्रमाणगोचर विषयिका अनुभूतिकी अनुवादरूपा होती है कभी किन्तु उनमे अगोचर विषयके अवबोधनार्थ प्रमाणरूपा भी होती है इसके अलावा प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे अवधारणीय एक प्रमेयविशेष भी होती है वेदवाणी भी इसी तरह ब्रह्मके अवबोधार्थ प्रमाणरूपा होती है और ब्रह्मका रूपविशेष होनेके कारण प्रमेयरूपा भी होती है यही तो भगवान्‌की नामात्मिका सृष्टि है

<u>(ख)भाषाकी कारणमीमासा</u> : रूपप्रपञ्चका निर्माण भगवान् अपने

इन पाच रूपोद्वारा करते है [1]काल [2]कर्म [3]स्वभाव [4]प्रकृति(=माया) ओर [5]पुरुष(=भगवदवतारविशेष) नामप्रपञ्चमे, किन्तु, ये रूप प्रयोगमे लाये नही जाते क्योकि केवल आसन्यरूप सूत्रात्माको ही प्रयोगमे लाया जाता हे क्योकि प्राणवायुकी शक्तिके साथ वही जीवचेतना (द्रष्ट''जाव प्राधारण' भ्वदिगा ६००) जब सुपुम्णानाडीद्वारा हमारे शरीरके बाहर प्रकट होती हे, तब शव्दब्रह्मतया वह प्रकाशित हो जाती हे इस शव्दब्रह्मके अश भी "पूर्णम् अद पूर्णम् इद पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णमेव अवशिष्यते" (ईशा उप मग) श्रुतिमे प्रतिपादित प्रकारके अनुसार अपनी अशरूपतामे भी पूर्णता खो नही देते प्रत्युत उसे आत्मनिगूढ रखते है वैसे तो रूपसृष्टिको भी ब्रह्मका अविकृत-परिणाम ही माना गया हे, पर वह मूल उपादानकारण या समवायिकारण की दृष्टिसे कार्य-कारणभावकी व्यवस्था हे अवान्तर कार्यकारणभावोमे विकृतपरिणामवाद, आरम्भवाद, सघातवाद, एव विवर्तवाद के अनुरोधी प्रकारोंके अनुसार भी कार्योत्पत्ति यथायथ शक्य मानी ही गयी हे कारण पदार्थके किसी भी प्रकारसे उत्पन्न होनेवाले कार्य, समवेतपदार्थ या आरोप के उपादान, समवायी या अधिष्ठान रूपी कारणको प्रागभावानुयोगी नही माना गया हे न ही किसी भी तरहके कार्यका आत्यन्तिक अभाव या अन्योन्याभाव कारणम स्वीकारा जाता हे वहा कथञ्चित् विद्यमानका केवल तिरोभाव ही स्वीकारा गया है" यह तो हम निरूपित कर ही चुके है कि नामसृष्टि अविकृता होती है अत उपर्युदाहृत श्रुतिसे अधिक सुस्पष्ट शव्दोमे अविकृतपरिणामवादके श्रौत अगीकारका निदर्शन दुर्लभ हे नामसृष्टिमे वही अभ्युपगत है अस्तु

(ग)भाषाके घटक वर्ण पदार्थकी मीमासा - एक शव्दब्रह्म अनेक रूपोमे यथा 'अ'कारसे 'अ'कार पर्यन्त षोडश स्वर, 'क'कारसे 'म'कार पर्यन्त पच्चीस स्पर्शरूप व्यञ्जन तथा 'य'कारसे 'ह'कार पर्यन्त अन्त स्थ ओर ऊष्मा रूप व्यञ्जन, ओर, 'क्ष कार-'ज्ञ कार आदिको भी ले लेनेपर ५० से अधिक रूप धारण कर लेता है वसे इनके अवान्तरभेद

तो अनेक हो सकते है अतएव कही ५२, ६३ या ६४ यो अनेक प्रकार शक्य है उदाहरणतया ह्रस्व 'ए'कार ह्रस्व 'ओ'कार तेलगुभाषामे स्वीकारे गये है, बगालीमें 'ऑ'कार, राजस्थानीमे 'अ॑'कार, दाक्षिणत्य भाषाओमे 'ळ'कार की तरह हिन्दीमे 'ड'कार 'ढ'कार, मराठीमे 'च्ज'कार, तामिळ-मलायलीमे 'ष्ळ'कार ध्वनिया आधुनिक भारतीय भाषाओमे प्राचीन मान्य ध्वनियोसे सर्वथा भिन्न और अधिक है इसी तरह आधुनिक आग्ल जर्मन फ्रेच अरबी फारसी आदि भाषाओके शब्दकोशोमे भी हमारी भाषाओमे सर्वथा अश्रुत अनेक अतिरिक्त स्वर और व्यञ्जन भी मिलते है ही यहा तो हमारी मातृकाविद्यामे सकलित स्वर-व्यञ्जनध्वनिओको ही गिनाया गया है ये वर्ण सर्वदेश तथा सर्वकाल मे व्याप्त रहते है अर्थात् जहा-जब ये प्रकटतया श्रुतिगोचर न होते हो वहा-तब भी विद्यमान तो रहते ही है ये स्वय भगवान्की तरह ही बहुरूप भी होते है जैसे केवल अकारके ही उच्चारणके अठ्ठारह प्रकार पाणिनीय व्याकरणमे गिनाये गये है अत अनेकरूपवत् वस्तुकी दृष्टिसे तो भगवान्के जैसे होते ही है

<u>(घ)भाषामूल नामसृष्टिके साथ रूपसृष्टिका तुलनात्मक स्वरूप</u> : ब्रह्मके सच्चिदानन्द स्वरूपमेसे प्रकट होते रूपप्रपञ्चमे जैसे सदशभूत जडपदार्थमे चिदश और आनन्दाश तिरोहित रहते है, और, चिदशभूत जीवात्माओमे आनन्दाश तिरोहित रहता है, वैसे ही नामसृष्टिमे भी वर्णोमे पद-वाक्य तिरोहित रहते है, और, पदमे वाक्य तिरोहित रहता है रूपसृष्टिके अन्तर्गत जड पदार्थ आपेक्षिक अनित्यता लिये हुवे और जीव-ईश्वर पदार्थ आपेक्षिक नित्यता लिये हुवे होते है उसके अनुरूप नामसृष्टिमे वर्ण और पद आपेक्षिक नित्यता लिये हुवे तथा वाक्य आपेक्षिक अनित्यता लिये होते है

<u>(ङ)वर्णों एव पदों को नित्य माननेपर सिद्धान्तपरिगणित तत्त्वोंमें आधिक्यापत्तिका परिहार</u> : सूक्ष्मभूतरूप शब्द-तन्मात्रा रूपी ध्वनि ही

नामसृष्टिगत वर्णतया मान्य की गयी हे अत परिगणित तत्त्वोसे अधिक कोई पदार्थ प्रसक्त नही होता. एक प्रश्न यह भी उभरता है कि प्रकृति ओर प्रत्यय से निष्पन्न होनेवाले पदोकी नित्यता केसे उपपन्न हो पायेगी ? इस विषयमे समाधान यह हे कि पदमे यह प्रकृति-प्रत्ययोका विभाग ज्ञानार्थ परिकल्पित है स्वाभाविक नही

(घ)वैदिक भाषा और लौकिक भाषा का स्वरूपपार्थक्य - यहा यह अवधारणीय है कि यह निरूपण लोकिक वर्ण-पद-वाक्योके स्वरूपके अभिप्रायवश हे निखिल वेदिक शब्दोंकी समष्टिराशिके प्रतिपाद्य अर्थ सर्वरूप भगवान् होते हे इसी तरह वैदिक तत्तद् व्यष्टिभूत वर्ण-पद-वाक्योके अर्थ भी अनेक तत्तद् रूप धारण करनेवाले भगवान् ही होते हे अत ये तीनों नित्य ही होते है अतएव ब्रह्मवाचक होनेसे सभी वर्ण ओर पद मूलरूपमे तो सभी/किसीभी लोकिक अर्थके वाचक हो ही सकते हे व्यवहारमे, फिरभी, शक्तिसकोचवश तत्तद् अर्थोमे वे परिसीमित हो जाते है यह, किन्तु, तत्त्वकथा न रह कर व्यवहारकथा बन जाती हे इसे बादमे विचारेगे

(छ)वर्ण पद एव वाक्य के अन्तर्गत अर्थवत्ता और/अथवा अर्थहीनता का विवेक . कुछ चिन्तकोका मानना हे कि पद ही अर्थवान् होते है वर्ण-वाक्य नही अन्योका कहना हे कि वाक्य भी अर्थवान् होते हे पर वाल्लभ मत तो यही है कि वर्ण पद और वाक्य तीनो ही अर्थवान् होते है

(ज)सभी वर्ण एव पद भगवद्वाचक होनेसे मूलत सर्वार्थवाचक होते हे : जेसाकि कह चुके तदनुसार जितने भी वर्ण और पद होते है वे मूलमे तो भगवद्वाचक ही होते है अतएव सारे वर्ण और पद सभी अर्थोके वाचक होते है, सारे रूप भगवान्ने धारण किये होनेसे अत सारे वर्ण और पद भगवान्द्वारा धरे गये अनेकविध

रूपोके वाचक होते है अतएव श्रुति कहती है "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते" (महानारा उप ३) 'पत्रावलम्बन' नामक ग्रन्थमे महाप्रभुने एक विलक्षण प्रतिपादन यह भी किया है कि प्रत्येक 'घट'-'पट'-'गज'-'वृषभ' आदि पद मूलम तो तत्तद् नाम-रूप-कर्मविशिष्ट भावाद्वैतके वाचक ही होते है यथा——

"'घट'-'पटा'दिशब्दा धर्मवाचकाएव भवितुम् अर्हन्ति, घटत्वादिविशिष्टवाचका हि एते इति लोकप्रसिद्धि 'घटत्वम्' इति घटगतो धर्म कश्चिद् यत्तद्भावाद् 'घट'पदवाच्यता धर्मिण "तस्य भाव त्वतलौ" (पा सू ५।१।११९) इति त्वो भावप्रत्यय 'भाव' इति 'भू'धातो घञि रूपम् 'भू'धातु सत्ताया व्याप्तौ वा उभयथापि व्यापकस्य सतो वा धर्मस्य (= व्यापकवस्तुवृत्तिघटत्वरूपपदार्थस्य सदुपादानकघटसत्तारूपस्य वा) वाचको भवति 'घञ्'च स्वार्थे, अन्यथा अनवस्था स्यात् तथाच घटत्व नाम सत व्यापकस्य वा धर्म इति उक्त भवति एव पटत्वादिष्वपि तथाच प्रकृत्यर्थ सन् व्यापको वा यदा भवति तदैव प्रत्ययार्थेन सह एकवाक्यता भवति ततश्च सर्वेषाम् एकार्थता स्यात् अत आकृतिविशेषव्यङ्ग्या धर्मा ते भिन्नाएव, शक्तिसकोचेन व्यवहारसिद्ध्यर्थम् अङ्गीकर्तव्या"

(पत्राव ३०/गद्याशे)

एतावता सिद्ध होता हे कि होता है कि प्रस्थानरत्नाकरकारने जो व्यक्ति या व्यक्तिके अविच्छिन्नप्रवाहम शक्तिपक्षको उपपन्न माना है वह भी तत्तद् नाम-रूप-कर्मात्मना व्यक्तिभावापन्न ब्रह्मके सदशके अभिप्रायवश ही समझना चाहिये

<u>(झ)लोकव्यवहारमें वर्णों और पदों में तत्तद् अर्थोके वाचक</u>

होनेरूप शक्तिसंकोच : सारे रूप ब्रह्मके रूप होनेपर भी तत्तद्रूपके तत्तन्नाम ओर तत्तत्कर्म अर्थात् गुणधर्म एव अर्थक्रिया का सकोच व्यवहारमे लीलार्थ प्रकट हुवा है वैसे ही तत्तन्नामोमे तत्तद्रूपोंके वाचक होनेका वृत्तिसकोच भी प्रकट हुवा होनेसे व्यवहार निर्व्यूढ रहता है 'वृत्तिसकोच' पदद्वारा अभिप्रेत यह है कि *"देश-कालके भेदवश यह पद इसी अर्थका वाचक माना जायेगा अन्यथा नही"* ऐसा नियमविधान इसमे सर्वप्रथम तो व्यवहार ही नियामक बनता है, बादमे तत्तद् देशमे भाषाके भेदवश व्यवहारानुरोधी कोश और व्याकरण भी व्यवस्थापक बन जाते हे यह रूपसृष्टिमे भी सारे रूप ओर कर्म मूलत ब्रह्ममेसे प्रकट होनेवाले ब्रह्मात्मक रूप ओर कर्म होनेसे परस्पर इतरेतरात्मक तादात्म्यभावापन्न ही होते हे फिरभी देशिक कालिक ओर स्वरूपगत ऐच्छिक भेदवशात् सकुचितभावापन्न बन हो जाते है

(ञ)भाषाघटक वर्ण-पद-वाक्योंकी गौणमुख्यभावपर अवलम्बित अर्थबोधकता : ब्रह्मके अनेकविध देवरूपोमे, कर्मभेदवश या भक्तिभेदवश, गोण-मुख्यभाव परिवर्तित होता रहता है वेसे ही वर्ण पद ओर वाक्यो मे भी परस्पर गौणमुख्यभाव उनके अनन्तमूर्ति होनेके कारण परिवर्तित होता रहता है केवल वर्णोके अर्थ भी एकाक्षरकोश निघण्टु ओर व्यवहार द्वारा जाने तो जाते ही है फिरभी जैसे वाक्यार्थकी मुख्यताके अपेक्षावश पदार्थ गौण बन जाता है वैसे ही पदार्थकी मुख्यताके अपेक्षावश वर्णार्थ गोण बन जाता है अतएव ये परस्पर एक-दूसरेके अर्थसम्प्रेषणरूप व्यापारमे व्यवधानकारी नही बन पाते क्योंकि वाक्यार्थबोधजननके व्यापार या प्रसग मे पद निज अर्थके स्मारकतया या अनुवादकतया द्योतक रहनेपर भी प्रमाणतया वाचक नहीं रह जाते इसी तरह पदार्थबोधजननके व्यापार या प्रसग मे वर्ण निज अर्थके स्मारकतया या अनुवादकतया द्योतक रहनेपर भी प्रमाणतया अवाचक बन जाते हे अतएव यहा "अवाचक हो जाते है" इस विधानका

यह अर्थ नही कि वे अपने-अपने अर्थके स्मारक भी नही रह पाते हो वे स्मारक तो रहते ही हे अतएव जहा पदार्थ वर्णार्थसमुदायरूप न हो, उदाहरणतया 'घट' पदका अर्थ 'घ'कारार्थ घण्टा और 'ट'कारार्थ वामन के समुदायार्थ="घण्टावाला वामन" या "घण्टा और वामन के युगल" का वाचक न हो कर मृदादिनिर्मित जलादिधारणयोग्य पात्रविशेषका वहा वाचक होता है अत स्वतन्त्रपदके स्वतन्त्र अर्थतया ही वह वाच्य होता है यह कथा तो भिन्न है जहा, परन्तु, वह 'भा(भारतीय)ज(जनता)पा(पार्टी)' सदृश वर्णार्थसमुदायरूप होता है वहा यदि पदघटक वर्णोकि द्वारा सकेतित अर्थकी जानकारी न हो तो समुदित पदार्थका ज्ञान कैसे होगा? इसी तरह पदोद्वारा सकेतित अर्थोकि ज्ञानके अभावमे पदसमुदायार्थरूप वाक्यका अर्थ भी कैसे अवगत हो पायेगा? अत केवल वाक्यके ही अर्थवान् होनेके दुराग्रहवश निघण्टु एकाक्षरकोश और व्यवहार मे भी उपलब्ध होते वर्णार्थ या पदार्थ का अपलाप तो शक्य नही इसी तरह वर्ण या पद द्वारा बोधित होते अर्थोके समुदायके अलावा पदार्थ या वाक्यार्थ यदि भिन्न हो तो वे अशाब्द हो जायेगे अथवा वर्ण या पद के अर्थोसे पूर्वबोधितार्थ होनेके कारण पद या वाक्य अवाचक ही सिद्ध होगे, ऐसी आशका व्यर्थ है क्योकि वाल्लभ मतमे वर्णजन्या वर्णार्थोपस्थिति या पदजन्या पदार्थोपस्थिति पूर्वानुभूतिकी अनुवादरूपा स्मृति जैसे हो सकती है, वैसे ही पदान्त श्लिष्ट वर्णोसे या वाक्यान्त श्लिष्ट पदोसे पूर्वमे अनधिगतार्थके अवगमकतया प्रमाणरूपा भी हो सकती है पूर्वाधिगतार्थके वाचक वर्ण या पद, जब पद या वाक्य के अगतया योजित होते हे, तब अगी पद या अगी वाक्य ही अपूर्वार्थके वाचक हो जाते होनेसे उनके द्वारा प्रमापित अर्थमे अवयवार्थ व्यवधान उत्पन्न नहीं करते वे केवल स्मारक या अनुवादकमात्र रह जाते है अत अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद के अतिवादी दो ध्रुवोंके बीच अर्धजरतीय न्याय ही अधिक उपयुक्त होना चाहिये इसे अग्रिम विचारबिन्दु बना कर प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा

(ट)वर्ण या पद सर्वथा अबोधक नहीं बन जाते क्योंकि वाचक न रहनेपर भी स्मारक तो रहते ही हैं : अतएव "वर्ण या पद अपने-अपने अर्थोका बोध उत्पन्न करके कृतकृत्य हो जानेके कारण पदार्थ या वाक्यार्थ बोधमे अकिञ्चित्कर बन जायेगे", ऐसी आशका भी व्यर्थ है क्योकि पद-वाक्य और वर्ण-पद के बीच जो अवयवावयविभाव झलकता हे उसका अपलाप नहीं हो सकता क्योंकि सभी अवयव (इसे पाश्चात्य अस्तित्ववादी दर्शनकी मुद्रामे कहना हो तो pour sua कह सकते है) अपने अवयवी (इसे पाश्चात्य अस्तित्ववादी दर्शनकी मुद्रामे en sua कह सकते है) के शेषरूप होनेसे शेषीके लिये होते है अत वे अपने-अपने अवयवरूप अर्थोके स्मारक बन कर अपने शेषी/अवयवी पद या वाक्य के अर्थोके अगीभूत अर्थोके बोधनव्यापारमे गौण बन जाते है अवयवरूप वर्णोंको या पदोको, अपने-अपने अवयवी पद-पदार्थ अथवा वाक्य-वाक्यार्थ के सघातसे या प्रागभावप्रतियोगिरूप कार्यसे अथवा अवयवीसे, आत्यन्तिकतया भिन्न अथवा प्रागभावानुयोगी आरम्भक तो माना नही गया है अत पद-पदार्थ एव वाक्य-वाक्यार्थ की आविर्भावरूपा अपूर्वता (पूर्वमे विद्यमान होनेपर भी अनाविर्भूत वस्तुकी आविर्भावरूपा) तो अवश्य अगीकरणीय होती है अत इस निरूपणमे कुछ भी अनुपपत्ति दिखलायी नही देती यह यहा विशेषतया अवधेय है कि वर्ण पद एव वाक्य के बीच न तो आत्यन्तिक भेद होता है और न आत्यन्तिक अभेद ही तीनोके बीच परस्पर भेदसहिष्णु-अभेदरूप तादात्म्य होनेके कारण कहीं-कभी अभेदेन तत्तदर्थबोधनानुकूल क्रियाकारिता प्रकट होती है तो कहीं-कभी भेदेन तत्तदर्थबोधनानुकूल क्रियाकारिता प्रकट होती है इसमे सर्वसाधारण वाग्व्यवहार और वक्ताकी असाधारण विवक्षा ही नियामक बनते है अतएव विविधवर्णसयोजन या विविधपदसयोजन द्वारा वर्ण-पदोमे तिरोहिततया विद्यमानके आविर्भावकी अपेक्षासे अपूर्व पद-पदार्थ या अपूर्व वाक्य-वाक्यार्थ प्रकट होता है यही व्यवस्था अवान्तर वाक्य और महावाक्य के बीच भी परस्पर समझ लेनी चाहिये क्योकि अवान्तर वाक्य भी महावाक्यके अवयवतया अवगत होनेपर निज वाक्यार्थके

वाचक होनेका मुख्यभाव खो कर स्मारक होनेका गौणभाव अंगीकार कर लेते है.

(ठ)अनित्यवाणीके रूपमें अभिमत लौकिक वाक्योंका भी बहुकालावस्थान : वैदिक वर्ण पद या वाक्य तीनों ही नित्य होते है, भगवान्के धर्मभूत ज्ञानस्वरूप होनेसे. वैदिक वर्ण हो या पद हो या वाक्य हो तीनोंके वाच्यार्थ तो एकमात्र ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीहरि ही होते है. यही वैदिकोंकी धारणा है : "वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशय." (अनवगत स्रोतसे बहुधा उदाहृत वचन) तथा "वेदै. च सर्वै: अहमेव वेद्य "(भग गीता.१५।१५) "मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते हि अहम् एतावान् सर्ववेदार्थो शब्द आस्थाय मां भिदां मायामात्रम् अनूद्य अन्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति (भाग.पुरा ११।२१।४३). रूपसृष्टिके अन्तर्गत वस्तुका कालमे अवस्थान क्रियामूलक होता है. इसके विपरीत नामसृष्टिके अन्तर्गत वस्तुका कालमे अवस्थान ज्ञानमूलक होता है. अत वाक्य या वाक्यार्थ जब सर्वसाधारणतया अप्रतीतिगोचर हो जाते है, तब उपलब्ध न हो पानेसे उनके 'नाश' या 'ध्वंस' का अवभास होने लगता है अन्यथा नामसृष्टि तो आपेक्षिकतया अविकृत होनेसे केवल प्रकट या अप्रकट ही होती है, उत्पन्न या नष्ट नहीं जहा तक लौकिक वाक्योका प्रश्न है ओर उनके बारेमे जो "बुद्धिपूर्वक शब्दोको जोड कर वाक्यका उच्चारण किया जाता है" ऐसा प्रयोग होता है, वह बुद्धिसे ही उनके प्राकट्यका सूचक हे अतएव बुद्धिमे अवस्थानकी अवधि पर्यन्त वाक्य या वाक्यार्थ का उच्चारणोत्तर नष्ट हो जाना माना नही जा सकता

(ड)ब्राह्मिक सनातनताके बावजूद लौकिक वाक्योकी लोकव्यवहार-सापेक्ष अनित्यताके सन्दर्भमें उनके अप्रामाण्यकी मीमांसा : सर्वप्रथम तो वाक्यार्थप्रामाण्यके आधायक ब्रह्मके ज्ञानके अभावमे बुद्धि ज्ञाताकी सीमाओके

अनुरूप ज्ञेयके गुणधर्मोका प्रकाशन करनेवाली राजस विकल्पोकी अवगाहिनी बन जाती है अत ऐसे ज्ञानवश प्रकट होनेवाले लौकिक वाक्योका याथार्थ्यरूप प्रामाण्य केवल व्यावहारिक ही हो सकता है पारमार्थिक नही यहा व्यवहार और परमार्थ का प्रभेद मिथ्या और सत्य के सन्दर्भमे नही किन्तु पूर्णसत्य और अर्धसत्य के सन्दर्भमे ही विवक्षित है इसके अलावा लौकिक वक्ताओमे भ्रम विप्रलिप्सा प्रमाद करणापाटव आदि सम्भावित दोषोके कारण वाक्यार्थप्राकट्यकारी ज्ञान ही यदि भ्रान्तिरूप या सन्दिग्ध हो तो तन्मूलक प्रकट होते वाक्यजनित अर्थबोधको भी भ्रान्ति या सन्देहग्रस्त ही मानना पडेगा अर्थात् कभी श्रोताको वक्ताके यथार्थबोधके बारेमे सशयके वश वचनप्रामाण्य भी सन्देहग्रस्त हो जाता है अत लौकिक वाक्योका बाधानर्ह प्रामाण्य माना नही गया है फिरभी वक्ताके सत्यभाषी होनेका श्रोताको, उचित या अनुचित, विश्वास हो तो व्यावहारिक या प्रातिभासिक प्रामाण्यके आधारपर लोकव्यवहार तो निर्व्यूढतया उपपन्न हो ही सकता है अतएव वाल्लभ मतमे लौकिक वाक्य वेदादिशास्त्रके साथ अविसवादी होनेपर ही परमार्थत प्रमाण माने जा सकते है, अन्यथा नही

लौकिक और वैदिक वाक्योके बारेमे प्रामाण्यसन्देह और उसके निराकरणार्थ उपपत्तिओके समान या असमान कुछ भी होनेपर भी वेदान्तदर्शन लौकिक वाक्योके द्वारा बोधित होते अर्थके विश्लेषणार्थ व्याख्यानार्थ या मीमासार्थ प्रवृत्त चिन्तन न हो कर वेदादिशास्त्रोके वाक्योद्वारा प्रतिपादित होते अर्थके विश्लेषण व्याख्यान या मीमासा के लिये प्रवृत्त चिन्तन होनेसे ऐसी धारणापर पक्षपात या अन्धश्रद्धा का आक्षेप लगाया नही जा सकता उदाहरणतया प्रत्यक्षानुभूति अनुमिति लौकिक वाक्यप्रयोग के विश्लेषण या व्याख्यानार्थ चिन्तनमे यदि प्रत्यक्ष अनुमिति या लौकिक वाक्यप्रयोग का प्रामाण्य निःसन्दिग्ध नही मानते तो उनके विश्लेषणार्थ या व्याख्यानार्थ प्रवृत्ति भी व्यर्थकालक्षेप ही मानी जायेगी सगीतके स्वरराग-ताललयके विवेचनार्थ प्रवृत्त आलोचक

श्रावण प्रत्यक्षको सन्दिग्ध या अप्रमाण मान कर प्रवृत्त नहीं हो सकता नही भारतके सविधानको अमान्य करनेवाला सवैधानिक अधिकारकी माग कर सकता है

(ढ)अनित्य लौकिक वाक्योके लयका प्रकार : वाक्य अथवा वाक्यार्थ के ज्ञानके तिरोधानके बाद सस्कारके भी तिरोहित होनेपर, वाक्यार्थका व्यवहारार्थ 'लय' कहो या 'तिरोधान' कहो, घटित हो जाता है इसे अत्यन्ताभावरूप नाश मान लेनेकी धाधल नही करनी चाहिये हमारी बुद्धिमे वाक्य या वाक्यार्थ के भानके तिरोधानके बाद भी वेदादि शास्त्रोमे उपलब्ध होते भगवद्वाक्योका तिरोधान कदापि नही होता, क्योकि देशत कालत अवस्थात स्वत या परत भगवान्की बोधरूपताका कभी विप्लव नही होता" ऋषिओंके सस्कार भी शास्त्रोमे महाप्रलय पर्यन्त चिरस्थायी माने जाते है अतएव उल्लेखनीय हो जाता है कि यह सारा निरूपण व्यवहारदृष्टिसे ही किया गया है अन्यथा ब्रह्मदृष्टिसे तो निहारनेपर वस्तुमात्र देश-काल-स्वरूपत अपरिच्छिन्न ही होती है, विविध नाम-रूप-कर्मोमे ब्रह्मका ही विलास होनेसे अत लौकिक वाक्य भी भगवद्रूप होनेकी दृष्टिसे देश-काल-स्वरूपके त्रिविध परिच्छेदसे रहित ही होते है

(ण)वाक्यार्थबोधमे आकाक्षा योग्यता और आसक्ति उपकारक अग बनती है तब यह आशका उठ सकती है कि "किसी वाक्यकी युक्तायुक्तताका नियामक सिद्ध न हो पानेके कारण तो समूचे वाग्व्यवहारमे अव्यवस्था फैल जायेगी" यह परन्तु मौलिक ब्रह्माद्वैतसे जुडा प्रश्न न हो कर लीलार्थ प्रकट ऐच्छिक द्वैतके सन्दर्भमे ही पूछा और समझाया जा सकता है क्योकि ब्रह्मके स्वरूपगत अद्वैतमे कोई अवस्था विशेष अवस्था नही होती तो व्यवस्थाके ही अप्रसक्त होनेसे अव्यवस्थाकी आपत्ति भी अप्रसक्त रहेगी लीलार्थ अपने सामर्थ्य और सकल्प से प्रकट होनेवाली विविधतामे लीलात्मिका व्यवस्था भी प्रकट हुयी है

अत नामलीलामे प्रत्येक अवयवी वाक्यको अपने योग्य अवयवरूप पदोकी परस्पर आकाक्षापूरकता अन्वययोग्यता और चाक्षुप या श्रावण आसत्ति की लीलात्मिका अपेक्षा रहती हे रूपसृष्टिकी तरह ही नामसृष्टिमे भी यह नियम लागू होता ही है कि योग्य अवयवोसे अवयवीके घटित होनेपर किसी वस्तुका स्वरूप परिनिष्पन्न हो पाता है जैसे मिट्टी या काठ का घोडा बनाना हो तब भी उसपर सीग नही लगाये जाते, ऐसे ही अपनी परिच्छिन्न विवक्षाको भलीभाति प्रकट करनेमे समर्थ योग्य आकाक्षित आसन्न अवयवरूप पदोके योजनपूर्वक वाक्योच्चारण करनेपर ही वाक्य अर्थवाहक हो पाता है अर्थात् वाक्यसे अर्थोपस्थितिमे पदजन्य पदार्थोपस्थिति द्वार बनती है और पदोको आकाक्षित योग्य और आसन्न पदोका स्मरण होनेसे आकाक्षा आदि अर्थधर्म होनेपर भी श्रोता-वक्ताद्वारा पदधर्मतया मान लिये जाते है

(त)अर्थधर्म आकाक्षा आदि पदधर्मतया कल्पित होनेके कारण केवल व्यावहारिक ही होते है : सारे वर्ण पद वाक्य परब्रह्मके शब्दब्रह्मात्मक रूप होनेसे तथा क्योकि आत्मरमणशील[12] होनेके कारण परब्रह्म न तो अपने अलावा दूसरे किसी पदार्थकी आकाक्षा रखता है और न कुछ देश-काल-माया आदि कुछ उसके योग्य होनेके कारण उससे अन्वित ही हो सकते है यहा तो सभी कुछ उसके भासित होनेसे अनुभासित होता होता[13] हे इसी तरह उसके स्वरूपके निर्वाहार्थ भी कोई पदार्थ योग्य हो नही सकता स्वरूपत उसके एकमेवाद्वितीय होनेके[14] कारण कोई भी अन्य पदार्थ उसके प्रत्यासन्न हो नही सकता लीलार्थ परन्तु वह स्वय अनेक नाम-रूप-कर्ममे विभक्त हुवा है, अत , लीलौपयिक व्यवहारमे तत्तद् रूपोमे एव तत्तत् कर्मोको अपने अलावा अन्य अपने योग्य रूप एव योग्य कर्मो की आकाक्षा एव आसत्ति की अपेक्षा रहती है अतएव लीलान्त पाती पदोमे भी उस आकाक्षा योग्यता एव आसत्ति की अपेक्षा उठ खडी होती है, विशेषत वृत्तिसकोचवश प्रकट होती परिसीमित अर्थबोधकताके वश भी ऐसा

हो जाता है. अर्थात् परब्रह्मके स्वरूप या परमार्थ के विचारसे अनपेक्षित होनेपर भी शब्दब्रह्मके लीलात्मक व्यवहारमें ये अपेक्षित हो जाते है. अतएव परमार्थदृष्ट्या तो ब्रह्मज्ञानीके लिये *"जरद्गव कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि"* सदृश निरपेक्षपदोंके समूहरूप वाक्य भी ब्रह्मके इन पदार्थभूत रूपवाले कारक एवं क्रियाओंके समूहावलम्बी बोधके जनक हो सकते है. प्रत्यक्षत: ही यदि कोई बूढा बैल किसी द्वारपर पादुका ओर कम्बलपर खडा किसी गायनोपम मधुर लगनेवाली ध्वनिके साथ रंभाता ओर उसके बारेमें किसीको मद्रदेशमें गाये जाते गीतोंके समान बैलका रंभाना लगता हो तो ऐसा वाक्य भी सार्थक क्यो नही हो सकता? इस अनाकांक्षित अयोग्य या आसत्ति से रहित पदोके समूहको वाक्य माननेपर प्रतारक पुरुषके वचनोंको भी प्रमाण मानना पडेगा ऐसी आशकाका निरसन करने महाप्रभु कहते हैं "'दश दाडिमानि' इत्यपि पदार्थनिरूपकत्वाद् वाक्यं प्रमाणम्. 'वह्निना सिञ्चति' इत्यपि 'उष्णजलेन सिञ्चति' इति अर्थो भवति; यथा, 'गङ्गायां घोषः'. प्रतारकवाक्यमेव आसत्त्यादियुक्तमपि बाधितत्वाद् अवाक्यम्. तस्मात् सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं यत सा सरस्वती सर्वतोमुखी." (त.दी.नि प्र.२।९७३). अर्थात् प्रतारक पुरुषके वचन तो आकाक्षा योग्यता एवं आसत्ति की कसौटीपर खरे उतरनेके बावजूद अप्रमाण इसलिये बन जाते हे क्योकि वक्ता स्वय ज्ञान उत्पन्न करनेके बजाय श्रोतामें भ्रान्ति उत्पन्न करना चाहता है. अत व्याख्याकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तम कहते है कि "अबाधित अर्थके बोधक पदोंका समूह होना ही वाक्यको प्रमावचन बनता है" (तत्रैव).

<u>(थ)शब्दकी विभिन्न वृत्तियां</u> : शक्ति तात्पर्य और गौणी ये तीन वृत्तिया वाल्लभ वेदान्तको मान्य है. अन्य वृत्तियोका यथायथ इनमे अन्तर्भाव ही मान्य किया गया है इसकी विस्तृत चर्चा 'प्रस्थानरत्नाकर' नामक ग्रन्थमे महाप्रभुके ग्रन्थोके प्रमुख व्याख्याकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणने की है

(द)शब्दोका प्रवर्तक होना वाल्लभ वेदान्तमे मान्य नहीं : विधिवाक्यको सुननेके बाद श्रोतामे प्रकट होती प्रवृत्तिके कारणतया [क]शब्दोका स्वरूप [ख]अभिप्रायज्ञान [ग]भावना [घ]अभिधा [ङ]आज्ञा या [च]इष्टसाधनताज्ञान यो छह पक्ष विभिन्न चिन्तकोंद्वारा प्रस्तुत किये गये है वाल्लभ वेदान्तको, परन्तु, इनमेसे एक भी पक्ष मान्य नही, क्योकि 'काकतालीय'न्यायके अनुसार ये पूर्वभावी होनेपर भी अव्यभिचारी हेतु नहीं होते उदाहरणतया इष्टसाधनताज्ञान आदि तथाकथित हेतुओमे यदि वस्तुत प्रवर्तकता होती तो कोई इनके श्रवणके बाद किसी पदार्थ या क्रिया को अनिष्टहेतुतया जान लेनेपर कोई अनिष्ट पदार्थ या कर्म मे प्रवृत्त होना ही नहीं चाहिये। परन्तु अनिष्टसाधनताके ज्ञात होनेपर भी विषभक्षणार्थ, युद्धार्थ या पेड-पहाडसे छलागा लगा कर आत्मघात करने व्यक्ति उद्यत हो जाते हे अत मानना पडता है कि भगवान् अन्तर्यामी होनेके रूपमे हमारे भीतर बिराज कर जब जिसे जहा जेसी जिस फल प्रदान करनेवाली क्रियाके लिये प्रेरित करते है, तब वह वहा वैसी उस फलको प्रदान करनेवाली क्रियामे प्रवृत्त हो जाता है वेदादि शास्त्र भी इष्टानिष्टसाधनोका स्वरूप ही केवल प्रतिपादित करते है वेदवचन यदि स्वत ही प्रवर्तक हो पाते तो जगत्मे कोई अवेदिक होना ही नही चाहिये था यहा एक आशका यह उठ सकती हे कि शुभ या इष्ट फलके प्रति हमे प्रेरणा प्रदान करनेवाले परमात्माको तो शुभशक्ति माना जा सकता है परन्तु अशुभ फलके लिये प्रेरित करनेवालेको शुभशक्ति कैसे मानना? यहा पुनश्च यह प्रश्न ब्रह्मके स्वरूपदृष्टिसे तो प्रसक्त ही नही होता क्योकि इस सृष्टिमे अनुभूत होते ज्ञानाज्ञान सुन्दरासुन्दर शुभाशुभ सुकृत-दुष्कृत साध्वसाधु सदसत् सुख-दुख शोक-मोह या स्वर्ग-नर्क आदिके अनेक द्वन्द्व उसके लीलार्थ परिगृहीत रूप हे

"सो अकामयत बहु स्या प्रजायेय स तप तप्त्वा
इद सर्वम् असृजत सच्च त्यच्च निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च

विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवद्'' (तैत्ति.उप.२।६).

''एष ह्येव एनं साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्य. उन्निनीषते. एष ह्येव एनम् असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते'' (कौषी.उप.३।८).

''द्वया ह प्रजापत्या: देवाश्च असुराश्च.'' ''आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्. आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति.'' (बृह.उप.१।३।१, तैत्ति.उप.३।६)

अतएव ब्रह्मदृष्टिसे तो जब ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई हे ही नही तो अशुभ कर्म करा कर दूसरेको अनिष्ट फल प्रदानकी बात उठ नही सकती. जहा तक स्वयके साथ ऐसी आत्मपीड़क क्रीडा करनेके प्रयोजनकी जिज्ञासा हो तो आनन्दके द्वारा आनन्दावस्थामें आनन्दार्थ ली जाती पीडा भी आनन्दात्मिका ही होती हे, अन्यथा नही. यह ज्ञातव्य है अत ब्रह्मके अशुभशक्ति होनेक न उठ ही नहीं सकता है.

(७)उपसंहार :

वेदान्तके सभी सम्प्रदाय मूलत श्रुति स्मृति सूत्र पुराण आदि शास्त्रोंद्वारा प्रतिपाद्य और तदेकगम्य ब्रह्मकी जिज्ञासाके वश उन ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्रोके तात्पर्यविवेचनार्थ प्रवृत्त चिन्तन हैं.[१५] वह ब्रह्म स्वप्रकाश और सर्वसाक्षी माना गया है[१६] और वाक् तत्व भी ब्रह्मके भीतरसे बाहर प्रकट हुवा ब्रह्मका ही एक अन्यतम रूप भागवतपुराणमे स्वीकारा गया है .

''वेदा ब्रह्मात्मविषया. त्रिकाण्डविषया ... शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् मया उपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणा अनन्तशक्तिना भूतेषु

घोषरूपेण विसेषु ऊर्णेव लक्ष्यते. यथा ऊर्णनाभिः हृदयाद् ऊर्णाम् उद्वमते मुखाद् आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा छन्दोमयो अमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः... विचित्रभाषाविततां... अनन्तपारां बृहतीं सृजति आक्षिपते स्वयम्''.

(भाग.पुरा.११।२१।३५-४०).

यह वाक् तत्त्व भी, अतएव, स्वयं ब्रह्मकी तरह न केवल स्वपरप्रकाशरूप माना गया हे अपितु समग्र सृष्टिगत रूप पदार्थ इसी नाम या वाक् तत्त्वके अनुकारितया प्रकट हुवे हे''[७].

यूरोपीय दार्शनिक रेने देकार्तेका "कोजीतो एर्गो सुम्" विधान अति प्रसिद्ध हे उसने सब कुछ सन्दिग्ध मान कर सन्देहकर्ता या विमर्शकर्ता की सत्ताको निःसन्दिग्ध माना है, क्योंकि सन्देहकी क्रियाको सम्पन्न करनेमात्रसे सन्देहकर्ताकी सत्ता सिद्ध हो जाती हे, ऐसी उसकी धारणा है. परन्तु अन्य चिन्तकोका आक्षेप हे कि इस युक्तिमे व्याकरणशास्त्रीय कर्ता ओर तत्त्वशास्त्रीय कर्ता का घालमेल हो गया है अब रेने देकार्तेकी इस युक्ति जैसी ही एक उक्ति उपनिषद्मे भी मिलती है : "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म. . असन्नेव स भवति 'असद् ब्रह्म' इति चेद् वेद'' (तैत्ति.उप.२।१-६). अर्थात् देशत कालत एव स्वरूपत अपरिच्छिन्न सत्ता और चेतना रूप ब्रह्मको जो नकारता है वह तो अपनी ही सत्ताको नकार देता है, उस समष्टिकी एक क्षुद्र व्यष्टि होनेके कारण

कहा या माना जा सकता है कि यहां भी व्याकरणशास्त्रीय अस्वीकारकर्ता, मानसशास्त्रीय अस्वीकारकर्ता ओर तत्त्वशास्त्रीय अस्वीकारकर्ता के बीच घालमेल उपनिषद्के विधानमे भी हे. इस विषयमें, किन्तु, पृथक्करणीय यह लगता है कि देकार्तेके सर्वग्रासी सन्देहकी अनुभूतिपर अवलम्बित आधारवचनसे सन्देहकर्ताकी सत्ताका विधान करनेवाले निष्कर्षमे

व्याकरणशास्त्रीय कर्ता अनिवार्य होनेपर भी तत्त्वशास्त्रीय कर्ताकी सत्ता अनिवार्य नहीं इसे *"नदी बहती है"* विधानके आधारपर देखा-समझा जा सकता है क्योंकि बहते जलको 'नदी' कहते है और जलके बहनेकी क्रियासे अतिरिक्त 'नदी' पदका और कोई कर्ता *"नदी बहती है"* वचनके आधारपर सिद्ध नहीं होता इस तरह, किन्तु, समष्टिरूप देश-कालापरिच्छिन्न सत्ता और चेतना का अस्वीकार देश-कालपरिच्छिन्न चेतनामे आत्म-अस्वीकृतिके वदतोव्याघात बिना क्या शक्य हो सकता? क्योंकि सर्वप्रथम तो जिसकी सत्ता ही स्वीकार्य न हो वह चेतना हो नही सकती अत अस्वीकृतिकी चेतनाका सत् होना और चेतना होना स्वत सिद्ध है, उसे भाषा या वाणी मे प्रकट करनेसे भी पूर्व अतएव चेतनाके पृष्ठलग्नतया सत्ता भी अर्थापत्तिलब्धा है

एतदर्थ इसमे निहित युक्तिमालापर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा

[१]ब्रह्म=अपरिच्छिन्न सत्ता-चेतनावद् वस्तु है

[२]अत यदि ब्रह्म असद् हो तो अपरिच्छिन्न सत्ता-चेतनावद् वस्तु असद् होगी

[३]ऐसी स्थितिमे ब्रह्मका अस्वीकार करनेवालेकी सत्ता और चेतना अपरिच्छिन्न नही हो सकती

[४]अत वह देशत कालत स्वरूपत परिच्छिन्न होगी

[५]अब ब्रह्मका अस्वीकार करनेवाली परिच्छिन्न चेतनाके परिच्छेदक देश काल या तो चेतनारूप होगे या चेतनासे भिन्न

[६]वे चेतनारूप तो हो नही सकते, परिच्छेदक होनेसे, अत भिन्न ही होगे

[७]अब वे यदि परिच्छेदक हो तो वे परिच्छिन्न भी

नही हो सकते

'इसी तरह स्वय असत् हो कर वे चेतनाके परिच्छेदक हो नही सकते अत उनकी सत्ता अपरिच्छिन्न सत्ता सिद्ध होती है

'अत अपरिच्छिन्न सत्ताको असत् मानना तर्कव्याहत है

''अप्रतिभासित सत्ता न तो परिच्छिन्न और न अपरिच्छिन्न ही हो सकती हे अत उसका चेतनरूप होना आवश्यक हे

''अत सत्ता और चेतना दोनो ही अपरिच्छिन्न होते है

''अत ब्रह्मका अस्वीकार करनेवाला चेतनावान् पुरुष तो स्वयकी ही देश-काल-स्वरूपत परिच्छिन्नता अर्थात् नैयायिकाभिमत चतुर्विध अभाव ही केवल स्वीकार रहा है

ब्रह्मकी अस्वीकृति अत उपनिषद्के अनुसार स्वसत्ताकी ही देश काल या स्वरूप के परिच्छेदोद्वारा प्रयुक्त स्वयके कालिक(प्रागभाव प्रध्वसाभाव) अभावोकी, देशिक (अत्यन्ताभाव)अभावकी और स्वरूपकृत (अन्योन्याभाव) अभावकी ही स्वीकृतिके जैसा वदतोव्याघात है स्पष्ट हे कि इनमे चेतनाके कालिक अभावका प्रतिभास चेतनाके आत्मप्रतिभासनका समकालिक प्रतिभास तो हो नही सकता

इसी तरह भाषा या वाणी की अवाचकता भी भाषा या वाणी के ही आधारपर सिद्ध करनेकी चेष्टा सफल होनेपर वह वाणीको अवाचक नही रहने देती और विफल होनेपर वाणी स्वत स्वपरवाचक तो होती ही है अत भाषा या वाणी की स्वपरप्रकाशकता ब्रह्मकी तरह स्वत सिद्ध होती है

यहा यह उल्लेख करना आवश्यक लगता है कि ''नेति-नेति'' (बृह उप २।३।६) सदृश वचनाके आधारपर केवलाद्वैतवाद सर्वविध वाच्योके

निषेधोके अधिष्ठानतया ब्रह्मको अवाच्य मानना चाहता है. इस विषयमें, परन्तु, शुद्धाद्वैतवाद दर्शनकी धारणा भिन्न है. ब्रह्मसूत्रद्वारा प्रदत्त "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय." (ब्र.सू.३।२।२२) निर्णयको वह पूर्वपक्षतया नहीं प्रत्युत सैद्धान्तिक निर्णयतया स्वीकारना चाहता है. क्योकि पूर्वोक्त विधानके उत्तरार्धरूप "नहि एतस्माद् इति 'न' इति अन्यत् परम् अस्ति. अथ नामधेयं 'सत्यस्य सत्यम्' इति प्राणाः वै सत्यं तेषाम् एष सत्यम्" (तत्रैव) के अनुरोधवशात् केवल मूर्त मर्त्य स्थित या यत् के रूपमे; अथवा, केवल अमूर्त अमृत यत् या त्यत् के रूपमें उसे परिच्छिन्न माननेका निषेध ही श्रुतिके अभिप्रायके साथ अधिक संगत लगता है. क्योंकि यदि ब्रह्म सर्वथा अवाच्य ही हो तो "नेति-नेति" कहनेके बाद "अन्यत् परम् अस्ति अथ नामधेय 'सत्यस्य सत्यम्'" कह कर "प्राणाः वै सत्यं तेषाम् एष सत्यम्" कहना सर्वथा वदतोव्याघात ही होगा.

लोजिकल् एटमिजमके पुरस्कर्ता बर्ट्रेन्ड रसेल्ने क्रेते द्वीपके एपिमेनाइड्के "*क्रेते द्वीपवासी सभी मिथ्याभाषी होते है*"की तर्जपर "*मैं मिथ्याभाषी हू*" विधानमे प्रकट होते स्वतोव्याघातके निराकरणार्थ एक उपायान्तर सोचा है वह कहते है कि भाषाके द्वारा भाषित होनेवाले अर्थको बोलनेवाली भाषा एक स्तर और दूसरा स्तर स्वयं भाषाके द्वारा भाषाके बारेमे किये गये विधान होते है ऐसे दो स्तर रसेल्ने प्रतिपादित किये है[१८] तदनुसार हम भी "*वाक् अवाचिका होती है*" अथवा "*पारमार्थिक वस्तु अवाच्य होती है*" सदृश विधानोमे उभरते स्वतोव्याघातोका निराकरण वाणीके दो स्तर प्रस्तुत मान कर करना चाहे तो भी वाणीकी निज वाच्यार्थाभिधायिका शक्तिका अपलाप शक्य नहीं, न वहा और न यहा. क्योकि अर्थप्रकाशिकाके स्थानपर भाषाको स्वप्रकाशिका तो मानना पडेगा, जो पुन सदसद्के विकल्पको सह नही पाता.

अन्तमे आळवन्दारस्तोत्रकार श्रीयामुनेयाचार्यके एक मनोरम पद्यमे

थोडी हेरफेरके साथ प्रस्तुत आलेखपत्रको उपसंहृत करना चाहूंगा :

नमोनमो वाङ्मनसातिभूमये नमोनमो वाङ्मनसैकभूमये।
नमोनमोऽनन्तमहाविभूतये नमोनमस्तेऽस्तु नमोनमस्ते॥

मूलवचन तथा सन्दर्भ :

१. अक्षराणाम् अकारो अस्मि (भग.गीता.१०।३३). अकारो वै सर्वा वाक् (ऐत.उप.२।३।६). यमेव एष वृणुते तेन लभ्य (कठोप.२।२३). ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् स आत्मानमेव अवेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति तस्मात् तत् सर्वम् अभवत् (बृह.उप.१।४।१०).

२. नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यत·.(त.दी.नि १।१). अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमद् बहु स्या प्रजायेय इति वीक्षा तस्य ह्यभूत् सती. तदिच्छामात्रत तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतना सृष्टयादौ निर्गता· सर्वे निराकारा तदिच्छया विस्फुलिंगाइव अग्नेस्तु सदंशेन जडाअपि आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिण·, सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयो अन्यलीनता अतएव निराकारा पूर्वौ आनन्दलोपत जडो जीवो अन्तरात्मा इति व्यवहार त्रिधा मत (त.दी.नि.१।२६-३०). ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचिद् वस्तुतो ब्रह्म सर्व हि व्यवहारस्तु लोकत (पत्रावलम्ब.१).

३. रूपसृष्टयपेक्षया नामसृष्टि विलक्षणा : अन्तवती रूपसृष्टि·, अनन्ता नामसृष्टि. स्थूला रूपसृष्टि सूक्ष्मा नामसृष्टि. विकृता रूपसृष्टि कूटस्था=अविकृता नामसृष्टि. जडरूपा रूपसृष्टिः बोधरूपा नामसृष्टि. ननु एवं नामसृष्टौ जगद्विलयप्रसंग तत्र आह नानावादानुरोधाय इति... सर्वैव यथा निरूप्यते तथा भगवान् भवतीति. तत्र उपपत्तिम् आह वाच्यवाचकशक्तये इति. वाच्यो अर्थो वाचक· शब्द, उभयत्रापि शक्तयो यस्य. यथैव अर्थं वक्तुम् इच्छति तथैव अर्थो भवति... (सुबो.१०।१३।४३). द्रष्टव्य : Genetic Epistemology Chapt.2,

pp 31 33 and ibd pp 47

४

५ ये धातुशब्दा यत्र अर्थे उपदेशे प्रकीर्तिता तथैव अर्थो वेदराशे कर्तव्यो न अन्यथा क्वचित् (पत्रावलम्बनम् ४)

६ तत्र प्रत्यक्ष कल्पनापोढम् अभ्रान्तम् अभिलापससर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीति कल्पना (धर्मकीर्तिकृत-न्यायविन्दु १।४-५)

७ प्रत्यक्षबुद्धि स्वप्नादौ यथा विनापि अर्थेन इति न सो अर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्व कथ मत? यदाच सा प्रत्यक्षबुद्धि भवति "इद मे प्रत्यक्षम्" इति तदा न सो अर्थो युज्यते, मनोविज्ञानेनेव परिच्छेदात् चक्षुर्विज्ञानस्य च तथा निरुद्धत्वादिति कथ तस्य प्रत्यक्षत्वम् इष्टम्? (वसुबन्धुकृत-विंशिका वृत्ति)

८ सएव इद सर्वं भवति (बृह उप १।४।१०) सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीय तद् ऐक्षत बहु स्या प्रजायेय इति (छान्दो उप ६।२।१-३)

९ सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीय तद् ऐक्षत बहु स्या प्रजायेय (छान्दो उप ६।२।१-३)), तद्धेद तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तत् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत 'असौनामा' अयम् 'इदरूप' इति तदिदमपि एतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते 'असौनामा' अयम् 'इदरूप' इति सएष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुर क्षुरधाने अवहित स्याद्, (बृह उप १।४।७)

१० सएष जीव विवरप्रसूति प्राणेन घोषेण गुहा प्रविष्ट मनोमय सूक्ष्मम् उपेत्य रूप मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठ (भाग पुरा ११।१२।१७)

.१ सहतै उपचितै अवयवै गुप्तो अवयवी प्रकटीक्रियते (सुबो २।१।२४) 'सत्'-शब्देन 'असत्'-शब्देन च ब्रह्मैव उच्यते अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्तीति, तस्यच भगवच्छक्तित्वात् शक्तिधर्मोणामपि तदा उद्गततत्वाभावेन कालस्यापि निरूपणसमयएव तथावचनात् प्रकृतितुल्यत्वेन भगवान् एकएव सिद्ध इति अविवादम् (सुबो २।१।३२)

१२ देशत कालतो यो असो अवस्थात स्वतो अन्यतो अविप्लुतावबोधात्मा युज्यते अजया कथम्? (भाग पुरा ३।७।५)

१३ आत्मरति आत्मक्रीड (छान्दो उप ७।२५।२)

१४ तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वम् (श्वेता उप ६।१४)

१५ एकमेव अद्वितीयम् (छान्दो उप.६।२।१)

१६ अधीहि भगवो ब्रह्म इति. तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म इति (तैत्ति उप ३।१), ब्रह्म ते ब्रवाणि इति (बृह उप २।१।१), ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् (छान्दो उप ३।११।५) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा जन्माद्यस्य यत शास्त्रयोनित्वात् (ब्रह्मसू १।१।१।२) कि तद् ब्रह्म किम् अध्यात्म कि कर्म पुरुषोत्तम अधिभूत च किय प्रोक्तम् अधिदैव किम् उच्यते? अक्षर ब्रह्म परम स्वभावो अध्यात्मम् उच्यते भूतभावोद्भवकरो विसर्ग कर्म सज्ञितो अधिभूत क्षरो भावो पुरुष च अधिदैवत अधियज्ञो अहमेव अत्र देहे देहभृता वर (भग गीता ८।१-४) वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणा वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रै उदाहृत्य विचार्यन्ते (ब्र सू शाक भा १।१।२) "आत्मा वा अरे दृष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इति सोऽयम् अनेन चतुर्विधेन विधिना ध्यानपर्यन्ते वेदार्थे नियुज्यते तत्प्रयुक्ता च इय ब्रह्मजिज्ञासा प्रस्तूयते (ब्र सू भास्क भा १।१।१) अध्ययनगृहीतस्य स्वाध्यायस्य स्वभावतएव प्रयोजनवदर्थावबोधित्वदर्शनाद् गृहीतात् स्वाध्यायाद् अवगम्यमानान् प्रयोजनवतो अर्थान् आपाततो दृष्ट्वा तत्स्वरूपप्रकारविशेषनिर्णयफलवेदवाक्यविचाररूपमीमासाश्रवणे अधीतवेद पुरुष स्वयमेव प्रवर्तते (ब्र सू रामा भा १।१।१) द्वापरे सर्वत्र ज्ञाने आकुलीभूते तन्निर्णयाय तदर्थनिर्णयाय ब्रह्मसूत्राणि चकार सूत्रेषु येषु सर्वेऽपि निर्णया समुदीरिता शब्दजातस्य सर्वस्य यत्प्रमाण च निर्णय एवविधानि सूत्राणि कृत्वा व्यासो महाशय (ब्र सू माध्वभा १।१।१) असदिग्धेऽपि वेदार्थे स्थूणाखननवद् मत मीमासानिर्णय तथाच निर्णये येन-केनचिद् वक्तव्ये हरि स्वय व्यासो विचार चिकीर्षु तत्कर्तव्यता बोधयति ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति

व्यासोक्तत्वादपि कर्तव्या (ब्र सू वाल्ल भा १।१।१)

१७ स्वप्रकाशे सर्वसाक्षिणि (नृसिहोत्त उप ९।६)

१८ वाग् वै ब्रह्म (बृह उप १।३।२१), वागेव इद सर्वम् नहि अशब्दमिव इह अस्ति (नृसिहो उप ८।२), वागेव एतत् सर्वं विज्ञापयति (छान्दो उप ७।२।१) सर्ववेदमयेन इदम् आत्मना आत्मयोनिना प्रजा सृज यथापूर्वं या च मयि अनुशेरते (भाग पुरा ३।९।४३) सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् वेदशब्देभ्यएव आदौ पृथक्सस्था च निर्ममे (मनुस्मृ १।२१)

१९ द्रष्ट "लॉजिक् एन्ड् नोलेज् एसेस् १९०१-१९५०" के अन्तर्गत 'द फिलोसोफी ऑफ् लाजिकल् एटमिज़म्' प्रकरण पृ २६२-२६४



चक्षुका चाक्षुषविषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व

(एक वाल्लभ दृष्टिकोण)

"चक्षुर्यत्र न गच्छति" श्रुतिरिति प्राह प्रमाणं परम्
श्रीकृष्ण स्वयमेत्य द्वापरयुगे चक्षु प्रकाश्योऽभवत्।
प्राप्याप्राप्य विकाशकत्वविषये वादस्तु यश्चाक्षिणि
मच्चक्षुर्हि वृणातु तत्र ॥ हरि सन्देहहारी पर ॥

उपक्रम :

इन्द्रियोंके बारेमे, नामत चक्षु और श्रोत्र के बारेमे, विभिन्न चिन्तनोमे पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है कि ये इन्द्रिया विषयदेशमे पहुच कर अपने विषयोको प्रकाशित करती है या विषयदेशमे पहुचे बिना ही

'प्राप्य-प्रकाशकारित्व' पदावलीमे 'प्राप्य' पद "'आप्लृ'=व्याप्तौ" स्वादिगणपठित धातुके साथ 'प्र'उपसर्गके साथ निष्पन्न होनेसे 'ल्यप्'प्रत्ययान्त प्रयोग है तदनुसार प्राप्यप्रकाशकारिताको स्वीकारनेपर चक्षुरादिद्वारा प्रकाश्य विषयके देश-कालमे इन इन्द्रियोका विद्यमान होना अपरिहार्य हो जाता है विषय और इन्द्रिय के देश और काल मे, परन्तु, मात्र सामानाधिकरण्यकी स्वीकृति जितनी छोटी सी कथा इस चर्चामे प्रमुख विवादास्पद मुद्दा नही है क्योकि उनके बीच परस्पर सयोगरूपा या अन्यादृशी किसी प्रत्यासत्तिके अभावमे ये इन्द्रिया समानदेशकालवर्ती होनेपर भी विषयप्रकाशनमे सक्षम नहीं हो पाती

यह प्राप्यप्रकाशकारिताकी चर्चा ऐसा लगता है कि न्यायसूत्रकार गौतम ऋषिने ही इदम्प्रथमतया छेडी होगी बादमे बाह्य चिन्तक

बोद्ध-जैनोंके द्वारा इसके प्रत्याख्यानवश यह चर्चा और अधिक जोरशोरसे बढती चली गयी' अतएव *श्लोकवार्तिक*कार श्रीकुमारिल भट्ट भी कहते है "सम्बद्ध वर्तमान च गृह्यते चक्षुरादिना सामान्य या विशेषो वा ग्राह्य नातोऽत्र कल्प्यते" (श्लो वा प्र सू ८४)

अत विषय और इन्द्रिय के बीच दो द्रव्योकी तरह सयोगरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा वर्णाकृति और दर्पणादि उपाधि की तरह बिम्बप्रतिबिम्बभावरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा सस्कार और स्मृति की तरह उद्दीपक-उद्दीप्यभावरूपा प्रत्यासति स्वीकारनी, अथवा त्वचा-नासिकादि इन्द्रिय और गन्धस्पर्शादि की तरह ग्राह्य-ग्राहकभावरूपा प्रत्यासत्ति, अथवा घट तथा प्रदीपादि की तरह प्रकाश्य-प्रकाशकभावरूपा अथवा आत्मचेतना और अहकार की तरह अधिष्ठान-आरोपरूपा इतरेतराध्यासरूपा प्रत्यासक्ति स्वीकारनी? ये सभी मौलिक मुद्दे है जो एतद्विषयक विवादको पर्याप्त जटिल बना देते है

साथ हि साथ इस चर्चामे एक दूसरा गम्भीर मुद्दा यह भी उलझा हुवा है कि इन्द्रियोका सयोग धर्मिभूत विषयके साथ आवश्यक मानना या उस विषयके धर्मभूत जात्याकृति-गुण-क्रिया आदिके साथ भी क्या इसे सयोग या तत्परम्पराप्रयुक्त बाह्य सम्बन्ध द्वारा शक्य मानना अथवा अन्य ही कोई आभ्यन्तर सम्बन्ध द्वारा शक्य मानना? अर्थात् धर्मी या धर्म के बीच क्या कोई एक ही वास्तविक होता है और अन्य या तो उस अनुभूत वस्तुभूतका ऐन्द्रियक या मानसिक सघात या सयोजन अथवा व्यवहारानुगुण हमारी केवल कल्पना होती है? या फिर दोनो ही वस्तुभूत होते है?

पूर्वयौक्तिक कोटिक्रम

*मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक*कार श्रीयुत लक्ष्मीपुर श्रीनिवासाचार्यने अपने इस ग्रन्थरत्नमे इस विवादका सकलन सविस्तर किया है वे कहते है—

"अप्राप्यकारिणी श्रोत्रचक्षुषी इति सौगता ।
चक्षुर्मात्र विदुर् जैना सर्वे अन्ये प्राप्तिवादिन ॥
एवम् इन्द्रियवृत्तान्ते विकल्पो अत्र निरूपित ।"
(मा मे र श्लो वा २६।९)

यह काश्मीरवैभाषिक मतके आचार्य वसुबन्धुके स्वोपज्ञभाष्योपेत *अभिधर्मकोश* मे उपलब्ध होते प्रस्तुत वचनके आधारपर भी स्फुट होता ही है—

" 'चक्षु श्रोत्र और मन अप्राप्त अर्थके प्रकाशक होते हैं जबकि अन्य तीन घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय प्राप्त वस्तुओंकी प्रकाशिका होती हैं' अब यदि चक्षुको अप्राप्त विषयका प्रकाशक माना जाये तो दूरवर्ती तथा किसी व्यवधानकी ओटमें रही भी सभी अप्राप्त वस्तुओंका प्रकाशन चक्षुद्वारा हो जाना चाहिये इस आपत्तिके निराकरणतया यह कहा जा सकता है कि लोहचुम्बक अप्राप्त लोहधातुका आकर्षक होनेपर भी सभी लोहधातुओंको तो अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर लेता

और वैसे तो प्राप्त विषयोके प्रकाशनका नियम स्वीकार कर चलें तब भी ऐसी आपत्ति तो उठायी ही जा सकती है कि सभी प्राप्त विषयोंका प्रकाशन कहा होता है? उदाहरणतया नेत्रगत अञ्जन या शलाका आदि कहा नयनगोचर होते है?

अत जैसे घ्राण आदि इन्द्रिया प्राप्त वस्तुओंका प्रकाशन करती होनेपर भी, उनके साथ रहती सभी गन्ध आदिकी प्रकाशिका नहीं हो पाती, इसी तरह चक्षु भी अप्राप्त वस्तुकी प्रकाशिका होनेपर भी सभी अप्राप्त वस्तुओंकी प्रकाशिका न होती हो तो क्या आपत्ति है।"[२]

इस उत्तरप्रत्युत्तरमे प्रतिज्ञात अर्थकी प्रक्रिया या उपपत्ति देनेके बजाय केवल प्रतिबन्दि उत्तर द्वारा आक्षेपनिरसनकी मनोवृत्ति झलकती है फिरभी बाह्य वस्तुओको द्रव्य न मान कर रूपगुणकर्मोका क्षणिक सघात मानना, अथवा उन्हे प्रत्यक्षग्राह्य न मान कर अनुमेय मानना, या उनका आन्तरीक ज्ञप्तिसे पृथक् अस्तित्व ही न स्वीकारना, अथवा उन्हे सद्-असत्-सदसद्-उभयविलक्षण यों चारो कोटिओसे विलक्षण सवृतिसन्मात्र मानना यो वैभाषिक सौत्रान्तिक या योगाचार अथवा माध्यमिक किसी भी दृष्टिकोणसे देखा जाये तो प्राप्य वस्तुके ही सिद्ध न होनेसे चक्षु श्रोत्र या मन की प्राप्यप्रकाशकारिता न होना बौद्ध सिद्धान्तसे सुसगत कथा तो है ही फिरभी बाह्यद्रव्यास्तित्ववादी नैयायिक-वैशेपिक-भाट्ट-प्राभाकरोने इस विवादमे चक्षुकी प्राप्यप्रकाशकारिताकी उपपत्ति खोजते हुवे कुछ विशेष प्रक्रियाका भी प्रतिपादन किया है वह ऐसे कि जो इन्द्रिय जिस द्रव्यसे निर्मित होती वह उस द्रव्यकी या उसके विशेषगुणकी ग्राहिका बन पाती है ऐसी प्रक्रियाके ऊहके साथ उसकी उपपत्तिके कुछ हेतु भी दिये गये है यथा (क)चक्षुका बाह्येन्द्रिय होना, (ख)प्रदीपप्रभाकी तरह व्यवहितार्थका अप्रकाशक होना, तथा, (ग)चक्षु इन्द्रियका तैजस होना

यह जैसा कि [1]नैयायिक [2]वैशेषिक [3]भाट्ट एव [4]प्राभाकरो द्वारा भी कहा गया है तदनुसार उसपर दृष्टिपात कर लेना चाहिये —

> [1]"चक्षु और श्रोत्र अपने विषयोंको पा लेनेके बाद उपलब्धिके हेतु बनते है, जनक होनेके साथ स्वविषयोंकी अप्राप्तिमे उपलब्धिके हेतु न बन पानेके कारण कुम्भकार और मृत्तिका की तरह"
>
> [2]"चक्षु प्राप्त अर्थकी प्रकाशिका होती है, व्यवहित अर्थकी अप्रकाशिका होनेसे प्रदीपकी तरह" — "चक्षु तैजस होती है, परकीय स्पर्शकी व्यञ्जिका न होनेपर भी परकीय रूपकी

व्यञ्जिका होनेसे. प्रदीपकी तरह. अथवा प्रभाकी तरह सोचनेपर स्पर्शके साथ 'परकीय' विशेषणके बिना भी काम चल सकता है."

[3]"बुद्धि इन्द्रियाधीन हो कर जब कोई ज्ञान उत्पन्न करती है तब उसे 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है. इस प्रक्रियाकी उपपत्तिके हेतु जो या जैसा प्रमाणफलभाव विचारा जाय उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, हर सूरतमें विद्यमान वस्तुका ही उपलम्भ होता होनेसे. उदाहरणतया चाहे इन्द्रियोंको प्रमाण मान कर उनकी अर्थके साथ संगति मानी जाय, अथवा मनकी इन्द्रियोंके साथ सङ्गतिको स्वीकारी जाय, अथवा केवल आत्मा ही से सब कुछ होता हुवा मान लिया जाय, सर्वथा ज्ञानको फल एवं किसी तरहके व्यापारको प्रमाणतया म .. ही पडता है. क्योंकि व्यापारके अभावमें फलरूप ज्ञान उत्पन्न नहीं होता. इन्द्रियोंके साथ सर्वात्मना ग्राह्यार्थका सम्बन्ध तो जुडता नहीं है जिससे कि प्राप्यकारी माननेके कारण सर्वार्थबोध क्यों नही होता ऐसा प्रश्न या आक्षेप उठाया जा सकता है. इन्द्रियोंका केवल प्राप्तिरूप सम्बन्ध ही थोडे स्वीकारा गया है जो ऐसी बात कही जा सके! अन्यथा प्रमाका करण इन्द्रिय होती हैं ऐसा कहने मात्रसे त्वगिन्द्रियसे रूपका ज्ञान भी हो जाना चाहिये था, क्योंकि त्वगिन्द्रियको 'करण' तो माना न. जैसे प्रमाणताकी निष्पत्ति इन्द्रिय और ग्राह्यार्थ की आपसी योग्यतापर निर्भर होती है. इसी तरह प्रमाणफलके बारेमें योग्यता आदि हेतु तो स्वीकारने ही पडेंगे. संयोग वैसे उभयनिष्ठ होता है फिरभी उसका अन्यतराश्रित व्यपदेश तो वाग्व्यवहारसिद्ध ही है."

[4]"यहां एक आशंका होती है कि जो वस्तु दूरदेशमें अवस्थित हो उसकी दूरी ऐसी स्थितिमें प्रतीत होनी नहीं चाहिये क्योंकि जब चक्षुकिरणें वस्तुदेशमें पहुंच ही गयी

हों तो दूरी कहां रह जायेगी? जैसे त्वगिन्द्रिय जब विषयदेशमें पहुंच कर वस्तुका अनुभव प्राप्त करती है, तब यह वस्तु दूरवर्तितया अनुभूत नहीं होनी चाहिये.

इसी तरह सभी संयोग गमनक्रियावश सम्पन्न होते हैं और यह तो समीपतम समीपतर समीप दूर दूरतर और दूरतम के पूर्वापरक्रमके अनुसार ही शक्य होता है अत समीप और दूर अवस्थित दो पदार्थोंका एककालमें ग्रहण शक्य नहीं रह पायेगा. इसके समाधानतया यह कहा जा सकता है कि द्रष्टाके कर्मादृष्टवश भोगायतनरूप शरीरकी अपेक्षासे विषयोंकी अनुभूतिरूप जैसा भोग नियत हो तदनुसार दूरदेश अन्तराल और समीप आदि अनेक विषयोंकी एककालिक अनुभूति शक्य है जहां तक क्रमानुसारिताके परिहारपूर्वक एककालमें होती अनुभूतिका प्रश्न है तो वहां कुछ बातें ज्ञातव्य हैं

यहा किसी मतके अनुसार बाह्य प्रकाशकिरणें जो सभी बाह्य विषयोंको एक साथ घेरे रहती हैं, उनके साथ चाक्षुष किरणें एकीभूत हो कर एककालमें सभी समीप-दूरवर्ती विषयोंका प्रकाशन कर पाती है ऐसा, परन्तु, होनेपर तो अतिदूरवर्ती व्यवहित विषयोंका भी प्रकाशन शक्य हो जाना चाहिये था

अत पूर्वोक्त समाधान कुछ मतोंको अग्राह्य लगता है परन्तु नयनकिरणोंकी अतिद्रुतगामिताके कारण पूर्वापरक्रम गृहीत नहीं हो पाता ऐसी अन्य कुछ मतोंकी धारणा है

इसे भी अन्य चिन्तक सन्निकृष्ट वस्तुओके ग्रहणमे शक्य माननेपर भी हजारों योजनकी दूरीपर अवस्थित विषयोंके बारेमें शक्य नहीं मानते हैं

इन सारी बातोंके समाधानतया हम तो यही कहना चाहेगे कि नयनकिरणोंसे एकीभूत बाह्य प्रकाशकी किरणें द्रष्टाके कर्मादृष्टवशात् जो दर्शन शक्य हो उसीका प्रकाशन करती

हैं, अन्योंका नहीं''[३].

इस तरह हमने देखा कि नैयायिक वैशेपिक भाट्ट तथा प्राभाकरो ने चक्षुर्ग्राह्य वस्तुका प्रकाशन विषयदेशमे चक्षुकी प्राप्तिके पूर्वक जो निर्धारित किया उसकी प्रक्रिया तथा उपपत्ति भी समझानेका भरसक प्रयास किया ही है.

आर्हत दर्शनके अनुसार, परन्तु, न्याय-वैशेपिकादिके मतोका नैगम अर्थात्, प्रस्तुत विचार्यविषय बाह्यार्थके सन्दर्भमे कहना हो तो, 'स्याद् अस्ति'' नयमे अन्तर्भाव स्वीकारा गया है[४] अत बाह्यार्थके केवल अस्तित्वकी धारणाका अवलम्बन करनेवाले नयको दुर्नय माना जाता होनेसे तन्मूलक धारणाओंके साथ आर्हतोका सहमत न हो पाना असहज नही माना जा सकता. अत *न्यायकुमुदचन्द्रोदय* कार श्रीप्रभाचन्द इन युक्तियोकी जो समीक्षा करते है उनका सारानुवाद भी यहा प्रस्तुत करना चाहेंगे :

[१]''यह 'बाह्येन्द्रिय' किसे कहा जा रहा है? क्या बाह्यार्थके ग्रहणार्थ जो अभिमुख हो उसे अथवा बाह्यदेशमें जो अवस्थित हो उसे?... यदि प्रथम कल्प स्वीकारते है तो मनको भी बाह्येन्द्रिय मानना पड़ेगा; क्योंकि वह भी अप्राप्तकारी होनेपर भी बाह्यार्थके ग्रहणार्थ अभिमुख तो होता ही है दूसरे कल्पको स्वीकारनेपर यह जिज्ञासितव्य हो जाता है कि नयनगोलक या नेत्ररश्मि मेंसे किसे बाह्य देशमें अवस्थित मानना? नयनरश्मिओंको बहिर्देशमें अवस्थित माननेपर क्या उन्हें बहिर्देशमें आश्रित मानना या बहिर्देशमें केवल प्रकाशनक्रियामें प्रवृत्त मानना? नयनरश्मिओंको बाह्य देशमें आश्रित तो स्वयं पूर्वपक्षीने भी माना नहीं है अत अपसिद्धान्त हो जाता है. दूसरे कल्प अर्थात् बहिर्देशमे प्रकाशनक्रियामें प्रवृत्त मानना इसलिये

ग्राह्य नहीं लगता क्योंकि स्वयं इस तरहकी नयनरश्मिओंका अस्तित्व ही सन्दिग्ध है. अतः उन रश्मिओंका विषयप्रकाशनार्थ बहिर्देशमें प्रवृत्त होना भी स्वयं असिद्ध हेतु बन जाता है. नयनगोलकोंका तो बहिर्देशमें अवस्थान प्रत्यक्षबाधित ही है. बाह्यार्थके देशसे असम्बद्ध, क्योंकि, शरीरप्रदेशमें ही नयनगोलक प्रत्यक्षतया प्रतीत होते हैं...

[२]इसके अलावा चक्षु अपने गोलक होनेके स्वभावमें या रश्मि होनेके रूपमें यहां धर्मित्वेन अभिप्रेत है? गोलक होनेके स्वभाववश स्वीकारा जाये तो वह प्रत्यक्षसे विरुद्ध ही है. प्रत्यक्ष प्रतीतिके बलपर चक्षु बाह्यार्थदेशसे असम्बद्ध शरीरके प्रदेशमें ही उपलब्ध होती होनेसे. अन्यथा चाक्षुष प्रत्यक्षके कालमें पलकोंके भीतर नयनगोलक गायब हो जाने चाहिये थे. यदि रश्मीरूपतया विवक्षित हो तो रश्मीरूप तो धर्मी ही सिद्ध नहीं; क्योंकि, रश्मीरूप चक्षु किसी भी प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं होती. क्योंकि नयनरश्मिओंके साधक प्रमाण प्रत्यक्ष या अनुमान तो हो सकते नहीं. प्रत्यक्ष तो हो ही नहीं सकता क्योंकि ऐसी नयनरश्मि कहीं बाह्यार्थतया प्रतीत होती नहीं. यदि ऐसी रश्मि प्रत्यक्षतः प्रतीत होती हो तो फिर विवादका कोई विषय भी नहीं रह जाना चाहिये था. नीला रंग नीले रंगके रूपमें दिखलायी देता हो तब किसे विप्रतिपत्ति हो सकती है?

[३]प्रत्यक्षानुभूति इन्द्रियार्थके सन्निकर्षसे जन्य मानी गयी है और बाह्यार्थदेशमें विद्यमान नयनरश्मिओंके साथ दूसरी इन्द्रियोंका सन्निकर्ष तो हो नहीं सकता है कि जिससे वहां उन रश्मिओंका प्रत्यक्ष पैदा हो पाये. अतः अन्ततः अनवस्थादोष भी यहां आ पड़ेगा. प्रत्यक्षदर्शनके अभावमें अनुमानद्वारा भी अतएव इन रश्मिओंकी सिद्धि शक्य नहीं... एतावता रश्मिओंकी सत्ता सिद्ध करनेको जो अनुमान प्रस्तुत किया गया कि 'चक्षु

रश्मिवाली होती हैं तैजस होनेके कारण' उसका भी निरसन हो जाता है... क्योंकि यह रश्मिवत्ता गोलकरूप चक्षुकी अभिप्रेत है या तद्व्यतिरिक्त किसी वस्तुकी? चक्षुर्गोलकसे व्यतिरिक्त किसी वस्तुका रश्मियुक्त होना तो न केवल असिद्ध ही है प्रत्युत ऐसा कहनेसे अपसिद्धान्तका प्रसंग भी आ पडता है. गोलकरूप चक्षुको रश्मियुक्त सिद्ध करना हो तो पक्ष ही प्रत्यक्षबाधित हो जाता है क्योंकि नयनगोलकोंमें चमकीली प्रभा कोई दिखलायी नहीं देती.

[४]अब उन रश्मिओंको अदृश्य मान कर चलें तो अनुद्भूतरूपस्पर्शवती होनेके कारण प्रत्यक्षबाधके प्रसंगसे बचा जा सकता था परन्तु ऐसी रश्मि तब रूपप्रकाशक कैसे सिद्ध हो पायेंगी? क्योंकि चक्षु रूपप्रकाशक हो नहीं सकती अनुद्भूतरूपवाली होनेके कारण जलसे संयुक्त अनलकी तरह. ऐसा कोई भी तेजोद्रव्य जिसमें न तो उद्भूत रूप हो और न उद्भूत स्पर्श हो कहीं दिखलायी नहीं देता... बिल्ली आदि जानवरोंकी आंखोंमें प्रत्यक्षतः रश्मियां प्रतीत होती हैं अतः कोई विरोध नहीं, ऐसा कहना हो तो कहो परन्तु जिन जानवरोंकी आंखोंमें रश्मियां दिखलायी न देती हों उनमें रश्मियां कैसे मानी जा सकती है?...

[५]इसके अलावा जो रश्मियुक्त पदार्थ होते हैं उन्हें बाह्यार्थके प्रकाशक होनेमें बाह्यालोककी अपेक्षा नहीं होती जैसे प्रदीपको... अतः जो हेतु एतदर्थ दिया गया कि चक्षु तैजस होनेके कारण रश्मियुक्त होती हैं वह भी सिद्ध नहीं हो पाता... अनुमानतः भी यह बाधित लगता है—जैसे कि चक्षु तैजस नहीं होती चमकीले रूप और स्पर्श से रहित होनेके कारण. जो इस तरह चमकीले रूप और स्पर्श से रहित होते हैं वे तैजस नहीं होते जैसे मृत्पिण्डादि...

[६]चक्षुके द्वारा अन्धकार भी गृहीत होता है अतः उसे

तैजस माना नहीं जा सकता आलोकसे अन्धकार गृहीत नहीं हो पाता ठीक वैसे ही अत तम प्रकाशक होनेके कारण चक्षुको तैजस् नहीं माना जा सकता

[७]चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर क्या विषय चक्षुके देश तक आता है या चक्षु विषयके देश पर्यन्त जाती है? प्रथम कल्प तो प्रत्यक्षसे बाधित है द्वितीय कल्पमें भी प्रत्यक्षविरोध दिखलायी देता है क्योंकि प्रत्यक्षतया विषयके प्रति चक्षुका गमन सिद्ध नहीं होता यहा विरोधी अनुमान भी दिया जा सकता है कि चक्षु स्वय जा कर बाह्यार्थके साथ सम्बद्ध नहीं होती, इन्द्रिय होनेके कारण त्वचाकी तरह ही

[८]अत दृष्टरीतिका अतिक्रमण करके चक्षुके साथ जुडी किसी वस्तुका विषयके साथ सम्बन्ध माननेके बजाय प्रतीतिके बलपर विषयसे असम्बद्ध चक्षु ही विषयकी प्रकाशक होती है ऐसे स्वीकारमें क्या आपत्ति है? व्यर्थ ही प्रतीतिका अपलाप करनेसे लाभ क्या।

[९]विषयदेशमें जा कर चक्षु अर्थको द्योतित करती हो तो काच मेघ पारदर्शी वस्त्र स्वच्छ जल स्फटिक आदिके द्वारा व्यवहित वस्तुओका या तो उपलम्भ नहीं होना चाहिये अथवा इन व्यवधानोंके बावजूद चक्षु उन व्यवहित वस्तुओंतक जाती हो तो व्यवधानरूप पदार्थोका भान नहीं होना चाहिये, क्योकि चक्षु वहासे आगे पहुच गयी होती है इन काच आदि अवयविओंके द्वारा प्रतिबन्ध क्यों नहीं होता? यदि इनके आरपार जानेके कारण चक्षुकी रश्मिया अर्थदेश तक जाती हों तो कमसे कम काच आदिसे व्यवहितार्थकी उपलब्धिके समय तो व्यवधायक काच आदि अनुपलम्भ अवश्य ही होना चाहिये

[१०]इससे यह सिद्ध हुवा कि कमलके शतपत्रोंके वेधमें जैसे क्रमिकता अनुभूत नहीं होती उसी तरह समीपस्थ वृक्षकी

शाखा और दूरस्थ चन्द्रमा के अनुभवमें भी वह दुर्लक्ष्य हो जाती है, यह समाधान भी निरस्त हो जाता है

"चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर चक्षुके विषयके बारेमें सशय या विपर्यास तो होने ही नहीं चाहियें, क्योंकि चक्षुसे गृह्यमाण वस्तुके सामान्य धर्मोंकी तरह विशेष धर्म भी दूर नहीं रह जाते होनेसे उनका सन्निकृष्ट वस्तुकी तरह ग्रहण हो जाना चाहिये सन्निकृष्ट होनेपर भी चक्षुके द्वारा सामान्य ही गृहीत होता है विशेष नहीं ऐसा तो कहा नहीं जा सकता"[५]

जैनोंके सप्तभगिमोपेत सिद्धान्तमे शाकरोका अन्तर्भाव, प्रस्तुत विचार्यविषय बाह्यार्थके सन्दर्भमे सोचना हो तो, स्याद् नास्ति" रूप सग्रहनयमे आर्हतोद्वारा स्वीकारा गया है इससे अलग हट कर बौद्धोका अन्तर्भाव ऋजुसूत्राकूत, अर्थात् प्रस्तुत बाह्यार्थके सन्दर्भमे सोचना हो तो, "स्याद् अवक्तव्यम्" नयमे स्वीकारा गया है[६] यह यद्यपि अन्तिम माध्यमिकोके मतके साथ सगत कथा नही लगती है फिरभी योगाचार मतकी दृष्टिसे बौद्धोका अन्तर्भाव "स्याद् नास्ति" कल्पके अन्तर्गत अधिक सुसगत लगता है वैसे "स्याद् अवक्तव्यम्" कल्पको कोटित्रयविनिर्मुक्त माननेके बजाय चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मान कर चला जाये तो उसमे माध्यमिक बौद्धोका अन्तर्भाव भी शक्य हो जायेगा शाकर वेदान्तमे मिथ्यात्व वैसे तो "सद्भिन्नत्वे सति असद्भिन्नत्वे सति सदसद्भिन्नत्वम्" (अद्वै सि मिथ्या निरु प्रक) कोटित्रयविनिर्मोकरूप ही माना गया है फिरभी शाकर वेदान्तका भी अन्तर्भाव चतुर्थ "स्याद् अवक्तव्यम्" कल्पमे ही अधिक युक्ततर माना जा सकता है क्योंकि ब्रह्मज्ञानजन्य बाधसे पहले बाह्यार्थग्राही प्रत्यक्षका व्यावहारिक प्राभाण्य माध्यमिक बौद्धोकी ही तरह शाकर वेदान्तको अभीष्ट है परन्तु बाधज्ञानके बाद तो स्वय *विवरणप्रमेयसग्रह* कार भी शून्यताके बारेमे किसी तरहकी विप्रतिपत्ति नहीं देखते है "बाधप्रतियोगित्वसिद्धये तत्प्रतीतिकाले सदसद्वैलक्षण्याङ्गीकारात् बाधाद् ऊर्ध्वन्तु भवत्येव शून्यत्व, विनष्टस्य

शून्यतायां कस्यापि अविवादाद्" (विव प्रमे सं.१७५/डी) अतएव हम देख सकते हे कि न केवल चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियोका प्रत्युत अन्त करणवृत्तिका भी बाह्य विषयदेशमे गमनपूर्वक व्यावहारिक प्राप्यकारित्व शांकर वेदान्तमे प्रतिपादित किया गया है. एतावता बाह्यार्थकी परमार्थदृष्ट्या शून्यता तथा व्यवहारदृष्ट्या संवृतिसत्योपम व्यावहारिकसत्ता या तदपरपर्यायरूप मिथ्यात्व भी अङ्गीकृत है. तदनुसार शांकर वेदान्तमे अविद्याकल्पित बाह्यार्थदेशमे आविद्यक बाह्यार्थाकाराकारिताको सम्पन्न करने नेत्रवृत्ति तथा अन्त करणवृत्ति दोनोंको प्राप्यप्रकाशकारी माना गया है. यह सुतरां ध्यातव्य है कि शांकर वेदान्ताभिमत प्रक्रियामे यहा चमत्कारपूर्ण वैलक्षण्य है. और अतएव बौद्ध मताभिप्रेत प्रक्रियासे यह सर्वथा विपरीत ही सिद्ध होती है. एतदर्थ विवरणप्रमेयसंग्रह तथा वेदान्तपरिभाषा के ये अंश अवलोकनीय है—

> "सर्वगत चिदात्माको आवृत कर के अवस्थित भावरूपा अविद्या ही जगत्के विविध आकारोंमें परिणत होती है. वहां शरीरके भीतर स्थित 'अन्त.करण'ख्य अविद्याका विवर्त धर्माधर्मसे प्रेरित हो कर नेत्रादिके द्वारा बाहर निकल कर यथोचित घट आदि विषयोंमें व्याप्त हो जानेपर घट आदि आकारोंमें आकारित हो जाता है. जैसे लोकमें तलावमें भरा हुवा जल उसकी भीतमें रहे छिद्रोंमेंसे बाहर बह कर नालिओंमें बहता हुवा क्यारिओं तक पहुंच कर उनमें भर जाता है. ये क्यारियां चतुष्कोण हों तो चतुष्कोण, त्रिकोण हों तो त्रिकोण; और वर्तुल हों तो वर्तुल आकार भी जल ग्रहण कर लेता है. यह तथ्य है कि बिलकुल तलावके जलकी ही तरह अन्त करण धीमे-धीमे नहीं बहता. वह ऐसी तरह नहीं बहता कि अतिदूरवर्ती चन्द्र नक्षत्र ध्रुव आदि तक पहुंच ही न पाये! वह तो सूर्यकी किरणोंकी तरह तैजस होनेके कारण शीघ्र ही दीर्घप्रभाके आकारमें परिणत हो जाता

है अतएव किरणोंकी ही तरह सहसा सकुचित भी हो पाता है सावयव होनेके कारण अन्त करण दूधकी तरह अन्यथाभावापन्न भी अर्थात् परिणत हो पाता है इस परिणतिके वश अन्त करण देहके भीतर और घट आदि विषयमें भी भलीभाति व्याप्त हो कर देह, घट; और, उन दोनोंके बीचमें रहे अन्तरालमें भी अविच्छिन्न दण्डायमान हो कर अवस्थित हो जाता है यहा देहावच्छिन्न अन्त करणके भागको 'अहकार' रूप 'कर्ता' कहा जाता है देह और विषय के बीच दण्डायमान अन्त करणके भागको 'वृत्तिज्ञान' भिधा 'क्रिया' कहा जाता है इसी तरह विषयके व्यापक अन्त करणके भागको बाह्यार्थके ज्ञानका कर्म(=विषय) बनानेवाला 'अभिव्यक्तियोग्य' कहा जाता है इस तरह तीन भागोंवाले अन्त करणके अतिशय स्वच्छ होनेके कारण उसमें चैतन्य अभिव्यक्त हो पाता है यह अभिव्यक्त चैतन्य एक होनेपर भी अपने अभिव्यञ्जक अन्त करणरूपी उपाधिके भेदवश तीन तरह निरूपित होता है कर्तावाले भागमे घिरा चिदश प्रमाता, क्रियावाले भागमें घिरा चिदश प्रमाण, विषयगत योग्यताधायक भागमें घिरा चिदश प्रमिति यों प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति में कोई साकर्य नहीं हो पाता''

''ज्ञानेन्द्रिया—घ्राण रसना चक्षु श्रोत्र और त्वचा यों—पञ्चसख्याक होती है ये सारी अपने-अपने विषयोंसे सयुक्त हो कर ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न करती हैं इनमें घ्राण रसना और त्वचा इन्द्रिया अपने-अपने स्थानोंपर ही रहती हुयी गन्ध रस स्पर्श के उपलम्भ उत्पन्न कर पाती हैं जबकि चक्षु और श्रोत्र तो स्वतएव विषयदेश पर्यन्त जा कर अपने अपने विषयोंको गृहीत करते है श्रवणेन्द्रिय भी चक्षुकी ही तरह परिच्छिन्न होनेके कारण भेरी आदिके देश तक पहुच कर उसके शब्द सुन लेती है''*

इस तरह हम देख सकते है कि शाकर वेदान्त न केवल चक्षुकी अपितु श्रोत्र और अन्त करण, जिसे बौद्ध दर्शनमे 'मन' कहा गया है, यो तीनोको ही प्राप्यप्रकाशकारी मानता है वह भी बाह्यार्थकी कल्पितता तथा बाह्यदेशमे व्यावहारिकी विद्यमानता यो परस्पर दोनो विरोधाभासी धारणाओके समन्वयार्थ कितनी विलक्षण प्रक्रियाके अवलम्बन द्वारा प्रस्तावित यह प्रतिपादन है।

माध्व वेदान्त, परन्तु, इस प्रक्रियाका प्रत्याख्यान करना चाहता है श्रीमद्वादिराजतीर्थ अपने *विवरणव्रणमें* उल्लिखित अन्त करणवृत्तिके बाह्य विषयदेशमे गमनकी आलोचना इन शब्दोंमे करते है—

> "विवरणकारका प्रतिपादन उचित माना जा सकता था यदि घट आदिका अधिष्ठानभूत चैतन्य घटादिज्ञानरूप होता तो, वह तो उपपन्न ही नहीं होता अत चैतन्य यदि घटादिज्ञानरूप हो तो यह बताना पडेगा कि अनुभवसे विपरीत ऐसी कल्पना करनेका औचित्य क्या है? यदि दृग् और दृश्य के बीच दूसरा कोई सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता होनेसे अध्यासरूप सम्बन्धको शक्य बनाने ऐसी धारणा प्रस्तुत अभीष्ट हो तो क्या घटाकारिका वृत्तिके अध्यास न होनेपर भी उसे घटज्ञान मानना या नहीं? अध्यास न होनेकी स्थितिमे तो पटाकारिका वृत्तिसे भी घटविषयक अज्ञानकी निवृत्ति स्वीकारमें भी कोई बाधा नहीं रह जायेगी प्रथम कल्पमें यह भी स्पष्ट करना चाहिये कि आध्यासिकी घटाकारिका वृत्तिकी घटज्ञानरूपता कैसी हो सकती है? यह तो कह नहीं सकते कि घटाकारिका होनेके कारण ही, क्योंकि तब तो आवश्यक होनेसे तत्तद्-विषयाकारिका वृत्तिओंको ही तत्तद्-विषयकज्ञान मान लेना पर्याप्त होनेसे विषयाधिष्ठानभूत चैतन्यको भी ज्ञान मानना निरर्थक ही सिद्ध होगा अन्यथा किसी एक घटको भी अपर घटका ज्ञान माननेमें भी कुछ आपत्तिजनक रह

नहीं जायेगा इसके अलावा किसी भी तरह विशेष आकारोंसे रहित ऐसे रूप सख्या सामान्य अभाव आदि विषयोंके ज्ञानको तो ज्ञान ही माना नहीं जा सकेगा परोक्षज्ञानद्वारा क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियरूप करणोंके सहकारके बिना ही बाह्यार्थसे असम्बद्ध अन्त करण बाह्यार्थका आकारग्रहणार्थ सक्षम न होनेसे ऐसे ज्ञानको ज्ञान मानना शक्य नहीं रह जायेगा जो अन्त करण स्वत ही निराकार हो वह तो तत्तत्-करणरूपा इन्द्रियोंद्वारा ही तत्तद् इन्द्रियोंसे गम्य विषयोका आकार किस या कैसी प्रणालीद्वारा ले पायेगा? तलावका जल नालीसे बह कर क्यारीमें पहुचनेपर क्यारिओंके आकारमें आकारित हो जाता है, उस तरह क्या अन्त करण आकारग्रहण कर पायेगा? तलावमें रही सीढ़ियोंके कारण भला कभी तलावका जल क्यारी तक पहुच सकता है क्या? वह तो नालीद्वारा ही पहुच पाता है एतावता सिद्ध हुवा कि क्यारिओंतक यदि जलको पहुचाना हो तो तलावके बाहर रही हुयी ही कोई प्रणाली अपरिहार्यतया अपनानी पडेगी अतएव तो अन्त करणसे बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियरूप पदार्थोंकी आवश्यकता स्वीकारनी ही पडती है और वह उचित भी है ही

एक दूसरी बात यह भी है कि घटाकारिका वृत्ति घटविषयक अज्ञानको तो दूर कर सकती है परन्तु घटसे भिन्न ऐसे चैतन्यके बारेमे जो अज्ञान हो उसे कैसे दूर कर पायेगी। अब यदि कहा जाये कि वही वृत्ति चैतन्यको भी अपना विषय बना लेगी तो यह वृत्ति अपनेमे अनध्यस्त निराकार चैतन्यको कैसे विषय बना पायेगी? उसके उल्लेखपुर सर बना पायेगी ऐसा कहते हो तो सर्वत्र उसीसे सारे ज्ञान उत्पन्न हो जायेगे फिर निरर्थक ही अननुभवसिद्ध आकाराध्यासकी कल्पना करनेसे लाभ क्या?

यहा यह भी प्रष्टव्य होता है कि नीरूप चैतन्यके

बारेमें चाक्षुष वृत्ति उत्पन्न कैसे हो सकती है? यदि कहा जाये कि उस घटाकारिका वृत्तिके विषयीभूत घटमे चैतन्यके अनुस्यूत होनेके कारण तो, तब तो उसमें आकाश और गुरुत्व भी अनुस्यूत होते ही है, सो उन्हे क्यो वह वृत्ति अपना विषय नहीं बना लेती? जैसे घट-पटके समूहावलम्बी ज्ञानके अनुव्यवसायमें घट और पट दोनो विषय बनते है, ठीक उसी तरह 'घट और उसके अधिष्ठानभूत चैतन्य को मै देख-जान रहा हू' ऐसा अनुव्यवसाय क्यों होता नहीं? "[6]

इस तरह हमने देखा कि *विवरणप्रण* कार कैसे अन्त करणवृत्तिकी प्राप्यकारिताकी समालोचना करते है वैसे तो न्यायकुमुदचन्द्रोदयकारकी युक्तियोका भी समाधान प्रस्तुत किये बिना चाक्षुप वृत्तिके बहिर्निष्क्रमणकी कल्पना भी सहसा हृदयारूढ नही हो पाती है

दुग्धराशिवत् पानिकगम्य माधुर्यसे भरपूर अपने *तत्वामुक्ताकलाप* और उसपर स्वोपज्ञ *सर्वार्थसिद्धि* व्याख्यामे श्रीमान् वेकटनाथ वेदान्तदेशिकने भी इस विषयपर बौद्ध युक्तियोंकी समालोचना प्रस्तुत की है जिनमे जैन युक्तियोका भी थोडा-बहुत समाधान तो झलकता ही है फिरभी उसे पूर्ण सन्तोपकारी तो माना नहीं जा सकता है हम देख चुके है कि चक्षुकी अप्राप्यकारिताके बारेमे जैन और बौद्ध दृष्टिकोण एक ही है श्रोत्र इन्द्रियको, परन्तु, जैन चिन्तक प्राप्यकारी मानते है और बौद्ध उसे भी मनकी तरह अप्राप्यकारी ही अत पूर्वोदाहत युक्तियोंके विरुद्ध श्रीवेदान्तदेशिककी प्रतियुक्तियोका विमर्श भी यहा अवधारणीय बन जाता है—

प्राप्यग्राहीन्द्रियत्वाद् विमतम् इतरवत् प्राप्तिरुक्तप्रकारा
वृत्तिं दृष्टेर् न रुन्धे विरलपटनयाद् अम्बुकाचादिरच्छ ।
नो चेद् गृह्येत योग्य सममिह निखिल निष्फले छादकादौ
स्थैर्ये तद्योग्यभावो नहि गलति समा सन्ततिस्त्वन्मतेऽपि ॥

इसकी स्वोपज्ञ *सर्वार्थसिद्धि* व्याख्यामे ग्रन्थकार कहते है कि बाह्य चिन्तको द्वारा यह जो युक्ति दी जाती है कि इन्द्रिया यदि देहके भीतर हो तो चक्षु ओर श्रोत्र द्वारा दूरस्थ विषयोका ग्रहण कैसे उपपन्न हो पायेगा? उसके समाधानतया यह ज्ञातव्य है कि वृत्तिद्वारा सम्बन्ध जुडता होनेसे यह शक्य है यह शका उठ सकती है कि देहके भीतर भरी रहनेवाली वृत्ति दूरस्थ विषयोका ग्रहण कैसे कर पायेगी, क्योकि धर्म कभी धर्मके बाहर तो विद्यमान रह नहीं सकता... यद्यपि हैतुकगतिसे हठात्कारके साथ अप्राप्यकारितापर भार देना ही हो तोभी 'दिवीव चक्षु आततम्' ऐसे आगमिक व्यवहारस्वारस्यमे कोई बाधा दिखलायी नही देती होनेसे वृत्तिद्वारा प्राप्ति कही जा सकती है. बाह्य चिन्तकोका यह कहना कि 'स्वग्राह्य विषयके प्रकाशनार्थ चक्षुवृत्तिका नयनगोलकसे बाहर प्रसरण माननेपर, वह या तो क्रमश एक-एक विषयका ग्रहण करते हुवे अग्रसर होगी या युगपत् सकल विषयोका ये दोनो ही कल्प, परन्तु, दूरस्थ विषयोकी प्राप्तिके हेतु उपपन्न नही हो पाते अत मनकी तरह रूपग्राहक चक्षु ओर शब्दग्राहक श्रोत्र भी अप्राप्यग्राही ही होते है' उनकी इस धारणाके विरोधमे यह प्रत्यनुमान दिया जा सकता है कि '*प्राप्याप्राप्यत्वके विवादका विषय चक्षु अपने विषयको प्राप्त करके ही रूप आदिकी ग्राहिका बन पाती है, इन्द्रिय होनेके कारण त्वगिन्द्रियकी तरह*' जो कुछ इन्द्रियद्वारा गृहीत होता है उस वस्तुका अपनेको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियके साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध तो अवश्य होना ही चाहिये अन्यथा असम्बद्धका ग्रहण मान लेनेपर तो अव्यवस्था हो जायेगी यह तो ठीक है कि सभी सम्बद्ध विषयोका ग्रहण भी इन्द्रिया नहीं करती. अत वैसी अव्यवस्था तो स्वसम्बद्धार्थग्राहितावादिओंके मतमे भी समानतया आपादित की जा सकती है परन्तु सूर्योदय होनेके साथ ही उसकी प्रभा जैसे सारी दिशाओमे व्याप्त हो जाती है, वैसे ही उतने ही वेगसे नयनकिरण भी यदि सर्वत्र व्याप्त हो जाती हो तो उसमे विस्मयकी कौन सी बात हो सकती है! कमलके

शतपत्रोंके वेधमे जैसे यौगपद्यका आभास होता है वैसे ही यहा भी शक्य हो सकता है कुछ लोग जो कहते है 'चक्षुसे निष्क्रमण होते ही चक्षुकिरणे चन्द्र-सूर्यके बहुदेशव्यापी बाह्य प्रकाशसे सवलित हो कर एक पृथु अवयवी बन जाती है और इसी सम्बन्धके कारण चक्षुके खुलते ही दूरस्थ विषयका ग्रहण और दूरस्थ तथा समीपस्थ दोनोका युगपद् ग्रहण भी उपपन्न हो जाता है' यह किन्तु युक्तियुक्त विधान नही है, चक्षुसे निष्क्रमणके बाद सौर आदि प्रकाशके साथ सवलनकी कल्पनामे गौरवदोष प्रकट होता है[१]

बौद्ध मतके तर्कोंके निरसनार्थ दिये गये इस समाधानमे *न्यायकुमुदचन्द्रोदय*की भी कतिपय युक्तियोका समाधान तो उपलब्ध होता है परन्तु फिरभी बहुत सारी युक्तिया अभी अप्रत्याख्यात ही अवशिष्ट हे अस्तु

इस विवादमे साख्यमतीय ईश्वरकृष्णकी कारिकाओपर उपलब्ध होती प्राचीनतर, सम्भवत धारानेश भोजराजविरचिता *युक्तिदीपिका* व्याख्यामे जो कुछ निरूपित हुवा उसे भी दृष्टिगत कर लेना उपकारक होगा, पूर्वकालिक कोटिक्रमोके अवधारणार्थ ही तदनुसार—

> "बुद्धिकी इन्द्रिया 'बुद्धीन्द्रिय' कहलाती है इनमें बुद्धीन्द्रिय होनेकी बात क्या है? कहा जाता है—शब्द आदि विषयोंकी प्रतिपत्तिमें ये इन्द्रिया द्वाररूप होती हैं क्योकि अन्त करणकी तो वहिर्वृत्ति हो नहीं सकती अत बाह्य शब्द आदि विषयोंके साक्षाद् ग्रहणार्थ वह तो सक्षम हो नहीं पाता इसलिये श्रोत्र आदि रूप साक्षाद् बाह्य विषयोंके प्रकाशनमें समर्थ कोई कारणान्तर अपेक्षित होता है अत ये इन्द्रिया ही एक प्रणाली बन कर अन्त करणको विषयग्रहण करवा देती हैं अत ठीक ही तो कहा

कि बुद्धिको बाह्य विषयोंकी प्रतिपत्तिमें ये इन्द्रियां द्वारभूत होती हैं अतः इन्हें 'बुद्धीन्द्रियां' कहना उचित है.

बुद्धिके इन करणोंकी किन अर्थोंमें वृत्ति मानी गयी है और उनके लक्षण क्या माने गये हैं? कहा जाता है... शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध जो परस्पर भिन्न-भिन्न पांच तरहके विषय होते हैं उनके बारेमें श्रोत्र त्वचा चक्षु जिह्वा और घ्राण इन्द्रियोंद्वारा श्रवण स्पर्शन दर्शन आस्वादन आघ्राण रूपी व्यापारोंको 'वृत्ति' कहा जाता है... यह जो पूछा गया कि उनके लक्षण क्या हैं, उसका उत्तर है : इन इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयोंका आलोचनमात्र अभीष्ट है. 'आलोचन' और 'ग्रहण' ये दोनों पर्यायवाचक पद हैं... अतः ठीक ही तो कहा कि इनकी ग्राहिका ये इन्द्रिय होती हैं. ये इन्द्रियां उन-उन विषयोंकी प्रदीपकी तरह प्रकाशिका नहीं होती. इन्द्रियवृत्ति केवल ग्राहिका होती हैं अर्थात् प्रत्ययरूप नहीं. परन्तु इन ग्रहण, प्रत्यय और प्रकाश में परस्पर प्रभेद क्या होता है? समधानरूपेण यह अवधेय है कि विषयके साथ सम्पर्क होनेपर उन-उन विषयोंके रूपोंको धारण कर पाना ही इन्द्रियवृत्तिओंका ग्रहणरूप व्यापार होता है. बादमें विषय और इन्द्रियवृति का अनुकारी जो निश्चय होता है कि 'यह गाय है, यह श्वेत वर्णकी है; और दौड रही है' इसे प्रत्यय समझना चाहिये. विषयके सात सम्पर्क छूट जानेपर श्रोत्र आदि वृत्तिओंमें जो विषयाकार निवृत्त होता है, वह तो वर्तमानकालता है. अतः ग्रहणके अनुभवसे जो संस्काराधान होता है और जिसके कारण त्रैकालिकी स्मृति बन पाती है उसे 'प्रत्यय' कहते हैं. यही इन दोनोंके बीच रही विशेषता है. अब बाह्य जो प्रकाश होता है वह विषयाकाराकारित नहीं होता.

घट आदि विषयोके सस्कारद्वारा तथा व्यवधायक पार्थिव छायारूप धर्मके अपहरणद्वारा भी प्रकाश व्यञ्जक हो कर चक्षुका उपकारी वन जाता है

अत यह उपपन्न होता है कि प्रदीप आदि प्रकाशक होते हैं, श्रोत्र आदि इन्द्रियां ग्राहिका होती है और अन्त करण व्यवसायक होता है"[१०]

यो वाचस्पति मिश्रसे भी पूर्वकालिक साख्यकारिकाके व्याख्याता *युक्तिदीपिका* कारने जो यह निरूपण चक्षु और चक्षुर्ग्राह्य विषय के बारेमे किया है, इसके आधारपर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इनके अनुसार इन्द्रिया केवल ग्राहिका ही होती है, प्रकाशिका नही प्रकाश्य-प्रकाशकभाव सम्बन्ध तो वर्णरूपाकृति, तद्वद् वस्तु और सौर आदि ज्योतिष्मान् वस्तुओंके बीच ही माना गया है अतएव सम्भवत इन्हीं धारानरेशकृत शैवसिद्धान्तप्रतिपादक *तत्त्वप्रकाश* ग्रन्थ, जिसपर श्रीकुमारस्वामिकृत *तात्पर्यदीपिका* व्याख्या भी उपलब्ध है, उसमे भी—

"मनका व्यापार इच्छारूप होता है अतएव मनके भीतर ही सङ्कल्प होता है बुद्धीन्द्रिया पाच होती हैं : श्रोत्र त्वचा दृष्टि जिह्वा और नासिका इनके ग्राह्य होते हैं : शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध इन इन्द्रियोंके व्यापार शब्द आदिके ग्रहणरूप होते हैं इन शब्दादिका ग्रहण शब्दादिके आकारोंको धारण कर लेना है और इसे ही 'इन्द्रियोंका व्यापार' कहा जाता है" [११]

एतावता देखा जा सकता है कि राजा भोजके अनुसार साख्य और शैव दोनों ही मतोंमे विषयेन्द्रियके बीच ज्ञानानुकूला प्रत्यासत्ति ग्राह्यग्राहकभावरूपा स्वीकारी गयी है इस प्रतिपादनशैलिमे विषयेन्द्रियके बीच विम्ब-प्रतिबिम्बभावरूपा प्रत्यासत्तिके विपरीत विषय वास्तविक

आकारघटक होता हे तथा वृत्ति विषयाकाराकारित हो जाती है, ऐसी प्रत्यासत्ति स्वीकारी गयी है. आंग्लभाषामे इसके लिये एक बहुत उपयुक्त पद plasticity उपलब्ध होता है कि जिसके अनुसार कुछ द्रव्योमे यथायथ अनेकाकारधारणकी क्षमता मानी जाती हे. सांख्य और शैव मतोंकी भोजराजकृत व्याख्याके अनुसार इन्द्रियोमें तैसी ही अनेकाकारधारणक्षमता होती है. अतएव इसीके कारण ही विषय और इन्द्रियों के बीच ग्राह्यग्राहकभावरूपा प्रत्यासत्तिकी कल्पना की गयी है. जहां तक बाह्य प्रकाश विषयाकाराकारित होता है या नहीं इस समस्याके समाधानकी बात है तो स्पष्ट है यह तो सर्वथा तथ्यविपरीत विधान ही है. क्योकि बाह्य आलोककी रश्मिया यदि विषयाकाराकारित न हो पाती हों तो दर्पणमे प्रतिबिम्ब कैसे प्रकट हो सकता है? क्योकि अन्धकारवाले प्रकोष्ठमे द्रष्टाके असम्मुखीन दर्पणमे भी दर्पणासम्मुख आलोकवाले प्रकोष्ठान्तरमे विद्यमान वस्तुओका प्रतिबिम्ब आलोकरश्मिओके द्वारा प्रकट होता ही है यह आलोकरश्मिओके विषयाकाराकारित हुवे बिना कथमपि शक्य नहीं इसी तरह आधुनिक उपकरण फिल्म-प्रॉजेक्टरमे भी तो पारदर्शी फिल्मके पृष्ठभागसे आलोकरश्मिओका प्रक्षेपण जब पर्देपर किया जाता है तब अर्थात् सफेद पर्दे तक रंग तथा आकृति को प्रकाशकिरणे अपने साथ ले जाती है और परावृत्त हो कर उन्हे पुन चक्षुर्ग्राह्य भी बनाती है अत बाह्यालोकरश्मिओंके विषयाकाराकारित न होनेकी कथा तो सर्वथा तथ्यविपरीत ही है.

जहां तक चक्षु इन्द्रियके विषयदेशमे पहुचे बिना या पहुच कर विषयको प्रकाशित करनेके विवादके बारेमे वाल्लभ वेदान्तके अभिप्रायका प्रश्न है तो गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणने *प्रस्थानरत्नाकर* के प्रमाकरणस्वरूपनिरूपक कल्लोलके तृतीय तरंगके; तथा, ब्रह्मसूत्रके द्वितीयाध्यायके चतुर्थपादके सातवे सूत्रके *अणुभाष्यप्रकाश* के आधारपर उनका विमर्श करना चाहेगे. इस विमर्श करनेसे पहले, परन्तु, स्वय महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा जो कुछ इस विषयमे प्रतिपादित किया गया है, उसे पहले दृष्टिगोचर

कर लेना उपयुक्त होगा उसके बाद श्रीपुरुषोत्तमचरणकी विशद विवेचनाका अवलोकन प्राप्तावसर चिन्तन होगा

वाल्लभ दृष्टिकोण :

भागवततृतीयस्कन्धकी सुबोधिनी व्याख्यामे महाप्रभु कहते है—

''ज्ञानप्रधान महत् तत्त्वसे क्रियाशक्तिवाला अहकार समुत्पन्न हुवा यह तीन तरहका ही उत्पन्न होता है स्वय उत्पत्तिकी प्रक्रिया ही यहा भेदिका बन जाती है क्योंकि मूलप्रकृतिके परिणामरूप ये विकार तीन गुणोंवाले तो होते ही हैं अहकार वैकारिक अर्थात् सात्त्विक भी होता है और राजस तामस भी ऐसे त्रिविध अहकारसे मन इन्द्रिय और पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, इनमें पञ्चतन्मात्राओंका भी अन्तर्भाव जान लेना चाहिये बुद्धितत्त्वकी उत्पत्ति होती है राजस अहकारसे यह बुद्धि निर्विषयिका नहीं होती, अत बुद्धि किसीभी विषयके बारेमें पैदा हो सकती है मन जैसे इन्द्रियोका प्रेरक होता है, वैसे ही इन्द्रियोपर अनुग्रह करना बुद्धिका कार्य है अतएव बुद्धिद्वारा अनुगृहीत ही इन्द्रिया कुछ भी जान या कर पाती हैं बुद्धिके तारतम्यवश ही, अतएव, इन्द्रियोंसे पैदा होते ज्ञान और क्रिया में भी तारतम्य प्रकट हो जाता है यह तो हुवा बुद्धिका कार्यानुसारि लक्षण बुद्धिका स्वरूपलक्षण 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान' माना गया है • घट आदि द्रव्योंके स्फुरण होनेपर शब्द, सस्कार अथवा आलोक द्वारा जो विशिष्ट ज्ञान पैदा होता है वह बुद्धि है क्योकि केवल चक्षुसे पैदा होनेवाले ज्ञानमें तारतम्य हो नहीं सकता स्वत स्फुरण तो योगज धर्मोंसे भी शक्य होता है, अत द्रव्यके स्फुरण होनेके बाद जो विज्ञान पैदा होता है उसे ही बुद्धिका स्वरूपलक्षण माना गया है इन्हें 'तैजस'

कहा गया है, क्योंकि इन्द्रियां चाहे ज्ञानकी करण हों या क्रियाकी, दोनों तरहकी होती तो हैं राजस ही. ज्ञानकी करण बननेवाली इन्द्रियां सात्त्विक हों और और क्रियाकी करण बननेवाली तामस हों ऐसे नहीं मान लेना चाहिये... जैसे ज्ञानके मूलमें बुद्धि होती है वैसे ही क्रियाके मूलमें प्राणतत्त्व भी होता है... बुद्धि राजसी होती है सो बुद्धिके द्वारा अनुगृहीत इन्द्रियां सभी राजसी होती हैं... बुद्धिकी तरह प्राण भी सर्वेन्द्रियोंका अनुग्राहक होता है... अब रूपका लक्षण जान लेना चाहिये. वह द्रव्यकी आकृतिके जैसी आकृतिवाला होता है. घट आदि द्रव्योंकी जो भी आकृति होती है वही रूपकी भी होती है. वह जैसे पृथुबुध्नोदराकार होता है, वैसे ही रूप भी होता है. अतएव पटके उदाहरणमें वह आतानवितानात्मक भी होता है. यहां 'द्रव्यके जैसी आकृति' कही जाती होनेसे यह फलित होता है कि द्रव्य रूपके जैसी आकृतिवाला नहीं होता. अर्थात् द्रव्यको उपमेय नहीं कहा जा रहा है. इसके अलावा रूप द्रव्यका गुण भी होता है. प्रतीति परन्तु उसकी होती है सर्वदा उपसर्जनतया ही. शब्द आदि तन्मात्राओंके बारेमें ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी तो प्रतीति स्वतन्त्रतया भी शक्य होती है. व्यक्तिकी संस्था ही रूपकी भी संस्था होती है, क्योंकि व्यक्ति वक्र हो तो रूप भी वक्र हो जाता है. रूपवान् द्रव्यके उपविष्ट होनेपर रूप भी उपविष्ट हो जाता है... इसे 'तेजका तेजस्त्व' भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह रूपतन्मात्रारूप होता है. अर्थात् उसकी सूक्ष्मावस्था. अब चक्षु वह इन्द्रिय है कि जिसका विषय तेजका कोई विशेष गुण होता है... यहां रूपको तेजका एक विशेष गुण माना गया है"[३].

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा श्रीमद्भागवतव्याख्याके रूपमे दिये गये इस प्रतिपादनके अवलोकन करनेपर जो एक बात स्पष्ट समझमे आती है वह यह कि इन्द्रियग्राह्य रूपतन्मात्रा तथा रूप आदिकी ग्राहिका इन्द्रिया राजस अहकारके विकाररूपतया उत्पन्न होते है इनमे रूपतन्मात्रा और चक्षुरिन्द्रिय दोनो ही तैजस द्रव्यके विकार है अत तैजस द्रव्य होनेके कारण चक्षुरिन्द्रियोकी जैसे किरण हो सकती है वैसे ही प्रत्येक रूपवद् द्रव्यकी भी किरणे समानन्यायेन हो सकती है अल्पत्व/बहुत्ववशात् झटिति कही प्रतीति सुकर हो और कही दुष्कर हो वह अन्य कथा है इस पक्षके विस्तृत विवेचनसे पहले परन्तु अब गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणकृत एतद्विषयक विवेचनाको दृष्टिगत कर लेना अति आवश्यक है

<u>गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण द्वारा प्रस्तुत विवेचना</u> :

तदनुसार सर्वप्रथम *प्रस्थानरत्नाकर*मे जो प्रतिपादन उपलब्ध होता है उसे देख लेना उपकारक होगा—

> "इन्द्रिय और विषय के सयागसे निर्विकल्पक ज्ञान जब प्रकट होता है तब इन्द्रियदेशमें बुद्धिवृत्ति प्रकट हो कर इन्द्रियपर अनुग्रह करती है उसके बाद ज्ञान सविकल्पक बन पाता है बुद्धि यदि इन्द्रियोंपर अनुग्रह न करती हो तो सविकल्पक ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता वृत्त्यन्तरवश पूर्ववृत्तिके नाश होनेपर सविकल्पक ज्ञान सस्कारात्मना अवस्थित हो जाता है इन्हीं सस्कारोके रूपमें अवस्थित विषयोंका उद्बोधकोंके द्वारा उद्बोधन होनेपर राजस रागादिगुणोके कारण स्मृतिजनक सस्कार प्रबल हो जाते हैं पश्चात् तमोगुणोंके बुद्धिमें प्रबल होनेपर स्वोपस्थापित अर्थसे माया वास्तविक विषयाकारको आवृत कर उस मायिक पदार्थके ज्ञानको नयनगोलकके अग्रभागपर जब आरोपित करती है तब भ्रम पैदा होता है अत बुद्धिस्थ गुणोंसे जन्य

बुद्धिकी अवस्थाविशेषरूपा ही वृत्ति होती है... इस वृत्तिके प्राकट्यका क्रम यों समझना चाहिये : हमारे भीतर विराजमान अन्तर्यामिरूप परमेश्वर जब मनको किसी कार्यके हेतु प्रेरित करता है, तब वह तत्तद् इन्द्रियोंको प्रेरणा देनेको तत्तद् इन्द्रियोंके साथ संयुक्त हो जाता है... बादमें विषयसंसृष्ट इन्द्रियोंमें पहले इन्द्रियावच्छिन्न मनमें निर्विकल्पक ज्ञान पैदा होता है. उसके बाद तत्तद् इन्द्रियदेशमें बुद्धिवृत्ति पैदा होती है. तब बुद्धिके द्वारा भी उन इन्द्रियोंपर अनुग्रह किये जानेपर सविकल्पक ज्ञान पैदा होता है. चाक्षुष ज्ञानमें तो नयनकिरण विषयदेश पर्यन्त गमन करती हैं. जबकि इन्द्रियान्तरोंमें किरण न होनेके कारण इन्द्रियद्वारोंसे ही विषय मन तक पहुंचते हैं. दोनों ही प्रकारके ज्ञानोंमें विषयेन्द्रियोंके बीच घटित होते स्पर्श आदि ही व्यापार बनते हैं. यहां एक ऐसी आशंका उठ सकती कि नयनोंकी किरण स्वीकारनेपर इन्द्रियोंके बारेमें ब्रह्मसूत्र 'अणवश्च' (ब्र.सू.२।४।७) में अभ्युपगत अणुत्वकी धारणा निरस्त हो जायेगी. यह आशंका परन्तु निराधार है, क्योंकि सूर्यमण्डल, चाहे जितना भी महत्परिमाण क्यों न हो, उसकी किरणें जिस विस्तारमें व्याप्त होती हैं उतना तो महत्परिमाण उसका होता नहीं है. और सूर्यका ही कोई क्षुद्र अंश हमारे भीतर नयनरूप इन्द्रियके रूपमें निर्मित हुवा होनेसे उसके किरणोंकी भी कल्पना करनेमें कोई शास्त्रीय बाधक दिखलायी नहीं देता...

अथवा 'गुणाद् वा आलोकवत्' (ब्र.सू.२।३।२५) ब्रह्मसूत्रके अनुसार क्योंकि आलोकको गुणरूप माना गया है अतः तैजस चक्षुके आलोकरूप गुणको विषयदेशमें व्याप्त होनेमें कोई बाधा नहीं होनी चाहिये... अतः नयनकिरणोंके विषयदेश पर्यन्त गमनद्वारा ही चाक्षुष प्रत्यक्षकी

प्रक्रिया उचित लगती है..

कुछ लोगोंका कहना है कि मायाके कार्यरूप तमका आलोकके द्वारा प्रतिबन्ध हो जानेपर ज्योतीरूप सूर्य देवताकी किरणोंद्वारा अव्यवहित सन्मुख देशमें अवस्थित घटका विशिष्ट पृथुबुध्नोदराकार रूप अणुपरिमाण चक्षु तक पहुंचाया जाता है तब सत्त्वप्रधान बुद्धिके भीतर भी वह आकार सम्पन्न हो जाता है और तब अणुरूप जीवके प्रति ज्ञानात्मक आध्यात्मिक चाक्षुप घटकी अभिव्यक्ति होती है दूरस्थ गन्ध या शब्द आदि तो वायुद्वारा घ्राण या श्रवण इन्द्रियों तक पहुंचाये जाते है तब अन्तःसत्त्वात्मिका बुद्धि भी वैसे ही आकारसे सम्पन्न होनेपर ज्ञानात्मक आध्यात्मिक गन्ध-शब्द आदिकी अभिव्यक्ति ही घ्राणज या श्रावण प्रत्यक्षोके रूपमें घटित होती है आध्यात्मिक और आधिभौतिक के बीच अभेद होनेके कारण बाह्य घटके अगृहीत रहनेपर भी यह आपत्तिजनक बात नहीं है

यहां इस विषयमें यह अवधेय है कि सर्वप्रथम तमोजनन विषयदेशमें नहीं प्रत्युत नयनदेशमें भागवतपुराण(११।२८।३-४)में प्रतिपादित किया गया है ज्योतीरूप सूर्यद्वारा पुरुषचक्षु पर्यन्त विषयरूपका प्रापण भी संगत नहीं क्योंकि अनेक द्रष्टाओं तक विषयरूपके प्रापणकी कल्पना करनेपर अन्तमे कभी विषय स्वयं नीरूप रह जायेगा . इसके अलावा सांझको सूर्यास्तके बाद सूर्यकिरणोंके अभावमें घट दिखलायी देना भी बन्द हो जाना चाहिये भागवतपुराणमें वायुके बारेमें 'नेतृत्वं द्रव्यशब्दयो' (भाग पुरा ३।२६।२७) जैसा विधान उपलब्ध होता है ऐसा तेजोद्रव्यके बारेमे उपलब्ध न होता होनेसे भी यह धारणा अशाब्द ही है

इसके अलावा यह भी यहां विचारणीय होता है कि चक्षु पर्यन्त रूपका प्रापण चक्षुमें प्रतिबिम्ब पैदा करनेके

रूपमें ही स्वीकारना पड़ेगा प्रतिविम्ब तो मायिक होते हैं वास्तविक नहीं अत बुद्धिके भीतर भी उन्हीं मायिक प्रतिबिम्बोको आकारसमर्पक मानना पडेगा अत उक्त आध्यात्मिक रूप भी मनोमय होनेसे मायामय ही सिद्ध होगा ऐसा कि जिसकी सत्यता न होनेपर भी केवल अर्थक्रियाकारिता मात्र सोची जा सकती हो" [११]

इसी तरह *ब्रह्मसूत्राणुभाष्य* के "अणव च" (ब्र सू २।४।७) के प्रकाशम भी श्रीपुरुषोत्तमचरणने अणुपरिमाण चक्षुरिन्द्रियका कोन सा गुण विषयदेशको प्राप्त करता है कि जिसके कारण उसे प्राप्यप्रकाशकारी मानना इस विषयमे यो समझाया है कि चक्षुके तैजस होनेके कारण उसमे रूपतन्मात्रा गुण ऐसा हो सकता है कि जो विषयदेश पर्यन्त गमन कर सकता है प्रकाशकार यह भी कहते है कि "यन्न स्पृशन्ति न विदु मनोबुद्धीन्द्रियासव" (भाग पुरा ६।१६।२३) इस नारदकृत उपदेशमे मन आदिके बारेमे यह कहा गया है कि न वे तो ब्रह्मका स्पर्श कर पाते है और न ही ब्रह्मको जान ही पाते है एतावता इतना तो सिद्ध होता ही है कि मन आदि इन्द्रियोमे स्पर्शपूर्वक ज्ञानजननसामर्थ्य भागवतको अभीष्ट तो है ही अन्यथा ब्रह्मके बारेमे अप्रसक्तका प्रतिषेध स्वीकारना पडेगा अत स्पर्शरूप व्यापार ही इनका स्वीकारना चाहिये, इन्हे अणुपरिमाण माना गया होनेसे उस स्पर्शका प्रत्यक्ष चाहे न भी होता हो तब भी स्वाभाविक रूपमे दूरदेशवर्ती वस्तुका जब चाक्षुप प्रत्यक्ष होता है, तब उस दूरदेशवर्तीकी वस्तुकी चक्षुरिन्द्रियदेशमे प्राप्ति शक्य न होनेपर चक्षुरिन्द्रियकी ही विषयदेशमे प्राप्ति अन्यथानुपपत्तिके बलपर स्वीकारनी पडेगी अन्यथा स्पर्शके बिना भी प्रत्यक्ष उत्पन्न हो सकता है ऐसा गतेपतित होगा

उक्त विवेचनाका विमर्श

इस समग्र प्रतिपादनमे कुछ बाते विचारणीय लगती है

सर्वप्रथम तो यह कि श्रुत्यादि शास्त्रोमे चक्षुकी विषयदेशमे प्राप्तिके बाद स्पर्शकी बात कही कण्ठोक्त है या नही? अर्थात् श्रौत अर्थापत्तिके बलपर ही यदि यह धारणा स्वीकारी गयी हो तो उसकी अन्यथोपपत्ति शक्य है या नहीं? रामानुज सम्प्रदायके श्रीवेदान्तदेशिकने अवश्य ही "'दिवीव चक्षु आततम्' ऐसे आगमिक व्यवहारस्वारस्यमें कोई बाधा दिखलायी नहीं देती होनेसे वृत्तिद्वारा प्राप्ति कही जा सकती है" (पूर्वोद्धृत) ऐसे विधान द्वारा चाक्षुषवृत्तिकी विषयदेशमे प्राप्यकारिताको श्रुतिप्रमाणमूलकतया प्रस्तुत किया है इसे श्रीपुरुषोत्तमचरणके शब्दोमे कहना हो तो सौर आदि बाह्यालोककी तरह नयनकिरणे भी स्वाश्रयाधिकदेशवर्ती गुण होती है अत स्वग्राह्य वस्तुदेशमे चक्षुर्गुणकी व्याप्ति भी इसी श्रुतिवचनके आधारपर प्रस्तावित की जा सकती है मुझे परन्तु यहा ऐसा प्रतीत होता है कि "तद् विष्णो परमं पद सदा पश्यन्ति सूरय दिवीव चक्षु आततम्" (ऋक्सहि १।५।२२।२०) इस श्रुतिवचनमे 'दिवि' पदके साथ प्रयुक्त सप्तमी विभक्तिको औपश्लेषिक या अभिव्यापक चक्षुके आधारके रूपमे लेना उपपन्न नही होता अर्थात् समग्र नभोविस्तारमे नयनकिरणोको सयोग सम्बन्धके साथ विस्तृत मानना या समग्र नभोविस्तारमे नयनकिरणोको अभिव्याप्त मानना ये दोनो ही अतीव क्लिष्टकल्पना लगती है इसके बजाय ऐसा अर्थ सोचना ऋजुतर लगता है कि नभमे जो कुछ आतत हो, व्याप्त हो, अथवा विद्यमान हो उदा नक्षत्र, प्रकाश अथवा स्वय नभोविस्तार को ही चक्षु जैसे देख पाती है, ऐसे ही सूरिगण भी विष्णुके परम पदको सदा देख पाते है

ऐसा अर्थ न स्वीकारनेपर या तो "यथा दिवि आतत चक्षु पश्यन्ति" ऐसा अन्वय सोचनेपर चक्षुको 'पश्यन्ति' क्रियापदके कर्मके रूपमे मानना पड़ेगा, अथवा तो "यथा दिवि आतत चक्षु पश्यति" ऐसा अन्वय सोचनेपर "कि पश्यति?" आकाक्षाकी पूर्ति ही हो नहीं पायेगी प्रस्तावित अर्थ स्वीकारनेपर, जबकि, "तरणि विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृद् असि सूर्यो

विश्वम् आभासि रोचनम्" (ऋक्सहि. १।९।५०।४) वचनमे कण्ठोक्त 'विश्व रोचनम् आभासि' प्रयोगके साथ सवाद भी सिद्ध हो जाता है 'विश्व रोचन'का अर्थ श्रीसायणाचार्य "रोचमानम् अन्तरीक्षम्" करते है और उसे अथवा तद्वर्ती अन्य पदार्थोको भी यहा 'आततम्' पदसे परामृष्ट मानना उपयुक्त होगा.

यदि "मोक्षे इच्छा अस्ति" प्रयोगकी तरह 'दिवि'पदमे भी वैषयिकाधाररूपमे सप्तमी विभक्ति ली जाये तो 'चक्षु'को विशेष्य बना कर 'आततम्'को उसका विशेषण मानना अथवा 'चक्षु'को उद्देश्य मान कर 'आततम्'को उसका विधेय मानना? यदि विशेषणतया स्वीकारते है तो पुन "यथा दिवि आतत चक्षु (तथा पश्यन्ति तथा) सूरय विष्णो परम पद पश्यन्ति" अन्वय गलेपतित होता है यदि 'चक्षु'से उद्देश बना कर 'आततम्'को विधेय मानते हैं तो सामान्य जनोंकी चक्षु तो आकाशमे आतत हो कर भी विष्णुके उस परमपदके दर्शनकी कर्त्री तो हो नहीं सकती अत "सूरिगण विष्णुके उस परमपदको सर्वदा देख पाते है जैसे चक्षु आकाशमे आतत-व्याप्त होती है" ऐसे विचित्र अर्थकी कल्पना करनेपर तो उपमोपमेयभाव ही स्पष्ट नही हो पाता

दूसरी जो बात यहा अवधेय है वह यह कि महाप्रभु चक्षुरिन्द्रियकी तरह ही रूपतन्मात्राको भी तैजस मानते है अत कोई विनिगमना नही रह जाती कि क्यो तैजस होनेके कारण चक्षुरिन्द्रिय ही विषयदेशपर्यन्त धावन करती है और क्यो चक्षुर्ग्राह्य विषयकी रूपतन्मात्रा चक्षुर्देश पर्यन्त आगमन नही कर पाती?

तीसरी बात यह भी विचारणीय है कि सूर्यका ही कोई अशविशेष जब हमारे नयनोके रूपमे जो प्रकट हुवा है और रूपतन्मात्राके साथ सयुक्त होनेपर तत्तादात्म्यापन्न सूर्यकी किरणे क्यो उस रूपतन्मात्राको नयनदेश तक नहीं पहुचा देती? क्यो नयनरश्मिओको रूपतन्मात्राके प्रदेश पर्यन्त गमन करना पड़ता है? श्रुति तो स्पष्ट शब्दोंमे "उद् उ त्यं जातवेदसं देव वहन्ति केतव दृशे विश्वाय सूर्यम्" (ऋक्सहि १।९।५०।१)

विधानद्वारा सप्तरश्मिओको 'केतव'=प्रज्ञापक मान कर सभी दृष्टिमान् प्राणिओको नयनोद्वारा दर्शनक्रियामे सक्षम बनानेवाले सूर्यदेवका वहन करनेवाली मानती है मूल सूर्यरश्मिया जिस कार्यको सम्पन्न कर ही रही हो उन्हे अशभूत नयनरश्मिओसे करवानेमे क्या लाभ? यदि *युक्तिदीपिका* कारकी तरह ग्राहकोपकरण और प्रकाशकोपकरण का प्रभेद करना यहा अभीष्ट हो तो पुन *न्यायकुमुदचन्द्रोदय*की युक्तियोका भी समाधान खोजना पडेगा नयनरश्मिओको अनुद्भूतरूपस्पर्शवाली माननेके बजाय उद्भूतरूपस्पर्शवाली सूर्यरश्मिओसे वह कार्य क्यो सम्पन्न होता हुवा न मान लेना? श्रीप्रभाचन्द्रकी इस युक्तिमे पर्याप्त बल है कि जो स्वय रश्मियुक्त हो उसे बाह्य आलोककी अपेक्षा क्यो होगी? यदि अपर्याप्त रश्मिवाली होनेके कारण बाह्य आलोककी अपेक्षा माननी पडती हो तो उसी कारणसे वह वस्तुग्रहणमे भी अक्षम सिद्ध होगी उदाहरणतया अमावस्याकी रात्रिके अन्धकारमे तारागणोंके मन्दालोकमे बहुधा विषयका स्फुट अवभासन नहीं हो पाता इसी तरह अन्धकारकी चक्षुर्ग्राह्यता भी अल्परश्मिवत्तासे उपपन्न तो हो सकती है नयनरश्मिओकी वही अल्पता परन्तु, जैसाकि श्रुतिमे स्पष्ट शब्दोमे निरूपित किया गया है, "अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्ति अक्तुभि सूराय विश्वचक्षसे" (ऋक्सहि १।९।५०।२) अर्थात् अल्परश्मिवाले नत्रत्रोके सारे मन्द प्रकाश सौर प्रकाशमे निवृत्त हो जाते है ऐसे ही नयनोकी भी अल्परश्मिवत्ता सौर आलोकमे अकिञ्चित्कर हो जानी चाहिये थी इसके विपरीत "दृशा विश्वाय सूर्यम्" वचनमे स्पष्ट शब्दोमे सौर आलोकको नयनोको दर्शनसामर्थ्य प्रदान करनेवाला माना गया है उल्लिखित वचनके भाष्यमे श्रीसायणाचार्य भी कहते है कि "विश्वचक्षसे विश्वस्य सर्वस्य प्रकाशकस्य सूराय सूर्यस्य आगमनं दृष्ट्वा तस्करा नक्षत्राणि च रात्रिभि सह सूर्य आगमिष्यति इति भीत्या पलायन्ते" (तत्रैव) स्वय श्रीपुरुषोत्तमचरणने भी "चक्षुषो अतैजसत्वात् तैजसत्वपक्षेऽपि प्रौढत्वाभावेन परावृत्त्यभावात्" (अवता प्रति-बि वा) इतना तो स्वीकारा ही है अत जो नयनरश्मिया परावृत्तिक्षम न हो दर्शनक्षम कैसे हो पायेगी। इसके अलावा अपरावृत्त नयनरश्मिओका

विषयदेशमे पर्यवसान स्वीकारनेपर नयनगोलकके साथ सम्बन्धविच्छेद भी स्वीकारना पड़ेगा ऐसी स्थितिमे पुन विषयावभासन चक्षूरश्मिओसे अकल्प्य सिद्ध होगा

अत इन बातोका विचार करनेपर जो श्रीपुरुषोत्तमचरणने ''केषाञ्चित् प्रक्रिया''के रूपमे जो विवेचना उद्धृत की है वह वाल्लभ मतमे, मेरी नम्र धारणाके अनुसार, अधिक सुसगत होनी चाहिये थी, बजाय कि न्यायवैशेषिकादि अनुमानप्रधान चिन्तनोंके द्वारा प्रस्तावित प्राप्यप्रकाशकारिताकी प्रक्रियापर अवलम्बित होनेके

श्रीपुरुषोत्तमचरणने एक विरोधी युक्ति यह भी दी है कि आलोकको इस प्रक्रियामे जो तमोजननमे प्रतिबन्धरूप स्वीकारा गया है वह श्रीमद्भागवतके ''यथाहि भानो उदयो नृचक्षुषा तमो निहन्याद्'' (भाग पुरा ११।२८।३४) वचनसे विरुद्ध है इस बारेमे कहा जा सकता है कि शैत्यनिवारक अग्नि यदि शैत्योत्पत्तिमे प्रतिबन्धक भी होती हो तो कोई आपत्तिजनक बात होनी तो नहीं चाहिये थी तमोजनन विषयदेशमे नही प्रत्युत नयनदेशमे होता है, ऐसा इस वचनद्वारा प्रतिज्ञात देशनियम तो स्वय ग्रन्थकारद्वारा *अन्धकारवाद* मे उद्धृत ''*यद् बाधसे गुहाध्वान्त प्रदीपप्रभया यथा*'' (भाग पुरा १०।५१।२०) वचनमे नयनोंके बजाय गुहाप्रदेशमे ही उसे आरोपित तथा भगवत्स्वरूपालोकसे प्रतिबद्ध भी माना गया होनेसे पुन विचारणीय ही लगता है स्वय श्रीमद्भागवतके ''यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो हि अर्काशभूतस्य च चक्षुष तम'' (भाग पुरा १२।४।३२) वचनमे घनको अमायिक=अर्कप्रभव अमायादर्शित=अर्कदर्शित और अर्काशभूत चक्षुके लिये तमोरूप भी माना है यह तो स्पष्ट ही है कि घन द्रष्टाके नयनोमे नहीं प्रत्युत नभोदेशमे ही अवस्थित होता है अत मायिक तमोविशेष नयनवर्ती होता है परन्तु एतावता सर्वविध तमस् न तो मायिक ही होते है और नियततया नयनगोलकमे अध्यारोपित ही रही बात सूर्यरश्मिओद्वारा विषयरूपके नयनपर्यन्त आनयन करनेपर

विषयके नीरूपताकी तो "दीप चक्षु तथा रूप ज्योतिषो न पृथग् भवेत्" (भाग पुरा १२।४।२४) वचनके अनुसार यह आपत्ति तो रूपतन्मात्रा और चक्षुरिन्द्रिय दोनोपर समानरूपेण आपादित या निवारित होगी नयनरश्मिया पलकोको बन्द करनेपर यदि झटिति पुनरावृत्त हो पाती हो तो रूपतन्मात्रा भी वैसा व्यवहार क्यो नहीं कर पायेगी ?

श्रीपुरुषोत्तमचरणने एक युक्ति यह जो दी कि सूर्यरश्मिओंद्वारा रूपके नयनपर्यन्त प्रापणकी प्रक्रियामे सूर्यास्तके बाद रूपवद् वस्तुका दर्शन शक्य नही रह जायेगा इस सन्दर्भमे ऋग्वेदकी "व्युच्छन्ती हि रश्मिभि विश्वम् आभासि रोचन ता त्वाम् उष वसुयवो गीभि" (ऋक्सहि१।९४९।४) श्रुतिमे सूर्यके साथ जुडी यदि उषा भी सर्व रूपवद् वस्तुओके प्रदर्शनमे सक्षम होती हो तो सन्ध्या भी उसी सूर्यसे जुडी होनेके कारण कुछ काल पर्यन्त तो सूर्यास्तके बाद भी रूपवद् वस्तुका प्रकाशन कर ही सकती है सूर्योदयके बाद गृहके जिस अन्त प्रकोष्ठमे सूर्यरश्मिया प्रविष्ट नहीं हो पाती वहा भी सूर्यालोक तो अन्धकारको निवृत्त करता ही है यही न्याय सूर्योदयसे पूर्व और सूर्यास्तके बाद भी कुछ काल तक प्रकट होनेवाला या रहनेवाला सूर्यालोक प्रत्यक्षसिद्ध ही होनेसे बहुत विचारणीय नहीं लगता

आदित्यरश्मिओंकी रूपप्रापकताके अशाब्द होनेका विधान भी अशतो उपर्युद्धृत श्रुतिवचनोसे भी समाहित तो हो ही जाता है प्रतिबन्दि उत्तरके रूपमे, परन्तु, यह भी तो कहा ही जा सकता है कि नयनरश्मिओंकी विषयदेशमे प्राप्ति भी किसी नि सदिग्ध शास्त्रवचनद्वारा सिद्ध होती तो, वह वचन ही उद्धृत करनेसे सारे विवाद शान्त हो सकते थे, ऐसे युक्तिप्रतियुक्तिके परिश्रमकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

यह जो श्रीपुरुषोत्तमचरणने कहा कि चक्षु पर्यन्त रूपका प्रापण

चक्षुमे प्रतिबिम्ब पैदा करनेके रूपमे ही स्वीकारना पडेगा इस सन्दर्भमे स्वय ग्रन्थकारके दो वचन मननीय प्रतीत होते है

> १ "प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति तेन मायापि प्रत्यायतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते"
>
> २ "किञ्च शलाकाव्यवहितस्थाल्युदके खण्डितमुखावलोकनोत्तर शलाकाया तदुकान्तस्तलभागे प्रवेशने मुखम् अखण्डितम् अवलोक्यते; शलाका च अन्त सिकतादिवत् तेन अन्तर्जल मध्यदेशे प्रतिबिम्बोद्भव इति निश्चीयते परावृत्य ग्रहणेतु तत् न स्यात् किम्बहुना पराक्षिण स्वप्रतिबिम्बदर्शनात् स्वाक्षण्यपि तथैव इति निश्चयात्, प्रतिबिम्बोत्तरमेव सर्वस्य चक्षुर्गोचरीभाव इत्यपि सुधीभि आकलनीयम्"
>
> (प्रस्था रत्ना प्रमा कल्लो तृती तर —-अवता वादा प्रतिबि वा)

ऐसे अभ्युपगमके बाद भी ग्रन्थकार यह कहना कि प्रतिबिम्ब तो मायिक होते है वास्तविक नही अत बुद्धिके भीतर भी उन्ही मायिक प्रतिबिम्बोको आकारसमर्पक मानना पडेगा गम्भीर आक्षेप नहीं लगता अत यह जो कहा कि उक्त आध्यात्मिक रूप भी मनोमय होनेसे मायामय ही सिद्ध होगा ऐसा कि जिसकी सत्यता न होनेपर भी केवल अर्थक्रियाकारिता मात्र सोची जा सकती हो यहा तो वदतोव्याघात दोष हो जाता है वैसे आधुनिक चक्षुर्विज्ञानके अनुसार नयनगोलकोंके भीतर सम्पन्न होती दर्शनकी प्रक्रियामे वहा नयनगोलकोमे समुद्भूत विषयप्रतिबिम्बका विषयप्रत्यक्षके साथ किसी भी तरहका कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध नहीं होता वह प्रतिबिम्ब तो नयनगोलकके बाह्यावरणपर ही घटित होता है नेत्रोके अन्त पटलपर तो विषयसंसृष्ट बाह्यालोकरश्मियोंके परावर्तनके बाद सयोगसम्बन्धवश ही बाह्यविषयका चाक्षुष आभास होता है वह भी उस नेत्रपटलसे मस्तिष्कके पश्चाद्वर्तिभागमे

अवस्थित चाक्षुपकेन्द्रमे पहुचनेवाली नाडिकाओके भलीभाति काम करनेपर ही

इस सन्दर्भमे अनिर्दिष्टनामा *'केपाञ्चित्=कुछ लोग'* कहते है अशमे उद्धृत विधान कि **"आध्यात्मिक और आधिभौतिक के बीच अभेद होनेके कारण बाह्य घटके अगृहीत रहनेपर भी यह आपत्तिजनक बात नहीं है"** इसमे भी वाल्लभ दृष्टिकोणके अनुसार थोडा सशोधन अपेक्षित लगता है वह यह कि चक्षुर्ग्राह्य वस्तुओके आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूपोमे एकान्तिक अभेद तो अनवसरपराहत है परन्तु ब्रह्मदृष्टिसे **"सर्वं सर्वमयम्"** (नृसिहोत्त ताप उप ९) वचनोक्त तादात्म्य तो अवश्य ही मान्य होगा ही यह, परन्तु, लौकिक अनुभूतिका विषय न हो कर ब्रह्मानुभूत्येकगोचर होता है अत उस मौलिक तादात्म्यकी भी विवक्षा यहा स्वीकारी नही जा सकती अत सम्बन्धमीमासा यहा सावधानतया करनी पडेगी तदनुसार हम समझ सकते है कि बाह्य रूपवद् वस्तुके साथ बाह्यालोकके सयोग होनेपर वहा तादात्म्येन विद्यमान रूपतन्मात्राओके साथ भी बाह्यालोकरश्मिओका सयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध जुडता है अत वस्तुरूपतन्मात्राकारादिसे आकारित बाह्यरश्मिया परावृत्त हो कर नयनगोलके अन्त पटलसे, आधुनिक विज्ञानाभिमत भाषाका प्रयोग करना हो तो, सयुक्त होती है तब वे विपयाकाराकारित बाह्य सौर आदि आलोककी रश्मिया चाक्षुष सवेदना उत्पन्न करती है अत प्रस्थानरत्नाकरोक्त **"तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे सयोगएव प्रत्यासत्ति"** (तत्रैव) विधान असम्यक् नही परन्तु अपर्याप्त अवश्य लगता है महाप्रभुने रूपतन्मात्रा और द्रव्य के बीच तादात्म्य स्वीकारा है और द्रव्यग्रहण रूपग्रहणपूर्वक ही शक्य होनेसे यहा सयुक्ततादात्म्यसयोग सम्बन्ध स्वीकारना अधिक उपयुक्त लगता है

वैसे *प्रस्थानरत्नाकर* मे ग्रन्थकारने १ सयोग २ तादात्म्य ३ सयुक्ततादात्म्य ४ सयुक्तविशेषणतादात्म्य और ५ स्वरूप यो पाच ही सम्बन्ध स्वीकारे है इस चाक्षुपप्रक्रियाकी उपपत्तिके हेतु, परन्तु, यदि इन सम्बन्धोके

अलावा भी सम्बन्धोका ऊह करना हो तो किया जाना चाहिये बाह्यालोकरश्मिओके साथ अपने धर्मके संयोगवश रूपतन्मात्राये तादात्म्यापन्न हो कर उन रश्मिओसे भी संयुक्ततादात्म्य सम्बन्धवश जुड जाती है अपने चक्षुर्ग्राह्य धर्मोमे तादात्म्यसम्बन्धवश वृत्तिमान रूपतन्मात्रा इन रश्मिओके साथ पुन तादात्म्यापन्न हो कर नेत्रान्तर्भूत दृष्टिपटलसे संयुक्त होती है तब चक्षुरिन्द्रिय द्रव्यग्रहणमे सक्षम हो पाती है यो परम्परासम्बन्धद्वारक यह कार्यकारणभाव मायिक नही होता प्रत्युत वास्तविक ही होता है फिरभी चाक्षुष द्रव्यका आधिभौतिक स्वरूप जड होता है जबकि इस चाक्षुष द्रव्यका आध्यात्मिक स्वरूप सदशभूत जड इन्द्रियान्त करण और चिदशभूत जीवात्मा के परस्पर संयोग तथा इतरेतरतादात्म्याध्यास के वश चिदचिद्ग्रन्थिरूप होता है

प्रस्थानरत्नाकर मे चक्षुकी अप्राप्यप्रकाशकारिता और मायाद्वारक प्रतिबिम्बप्रक्रिया के निरसनार्थ श्रीमद्भागवतके "चक्षु त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि" (भाग पुरा ११।१५।२०) इस वचनके आधारपर तत्तत्प्रतियोगिक संयोगद्वयको हेतुतया स्वीकारा गया है यह सम्बन्ध आवश्यक नही कि साक्षात् संयोगरूप ही हो, क्योकि प्रदर्शित प्रक्रियाके अनुसार यह त्वष्टृचक्षुस्संयोग त्वष्टृरश्मिसंयोगद्वारक भी हो सकता है, दोनोंके बीच अर्थात् रश्मि-तद्वान्के बीच धर्मधर्मिभावप्रयुक्त तादात्म्य सम्बन्धवशात् इस तादात्म्यका अनुल्लेख "सर्वं खलु इदं ब्रह्म"/"तत् त्वम् असि" (छान्दो उप ३।१४।१ — ६।८।१०) वचनोमे कार्यकारणभाव और अशाशिभाव प्रयुक्त रूपभेदका अनुल्लेख जैसे पारस्परिक तादात्म्य सम्बन्धवशात् आपत्तिजनक नहीं होता तद्वत् समझ लेना चाहिये

निष्कर्ष :

प्रस्तुत विषयके उपसहार करनेसे पूर्व यही विवक्षित है कि चक्षुको विषयदेशमे पहुचा कर प्राप्यकारी मानना शास्त्रदृष्ट्या अपरिहार्य नहीं लगता यह प्रत्यक्ष प्रयोग एव निरीक्षण से विरुद्ध भी है

श्रीपुरुषोत्तमचरणका प्राप्यप्रकाशकारित्वपर भार देना सर्वथा उचित ही है यह चक्षुकिरणोकी विषयदेशमे प्राप्तिकी कल्पनापर अवलम्बित करनेके बजाय बाह्य आलोककिरणोकी चक्षुर्देशमे प्राप्तिकल्पना द्वारा अधिक सोपपत्तिक प्रतीत होती है

यह तो निर्विवाद तथ्य है कि श्रीपुरुषोत्तमचरणके शास्त्रावगाहन तथा आचार्यवाणी के अवगाहनका दशाश भी यदि प्रस्तुत निबन्धकारका होता वह अपने-आपको कृतकृत्य मान कर स्वयको श्रीपुरुषोत्तमचरणके विधानोकी आलोचनाका अधिकारी मान लेता। यहा जो विमर्श प्रस्तुत किया गया है वह अपने-आपको इस विषयमे अधिकारी होनेकी अहम्मन्यताके वश नहीं परन्तु स्वय ग्रन्थकारके "युक्तिसिद्धस्य यस्य कस्यापि आदरणीयत्वात्" (अवता वादा अन्धका वा) उपदेश ओर आदेश को हृदयारूढ कर के ही श्रीपुरुषोत्तमचरण प्रस्तुत निबन्धकारके सप्तम पूर्वपुरुष श्रीविट्ठलराय गोस्वामीके विद्यागुरु है अत प्रस्तुत निबन्धकारका भी उनके प्रति औपनिषदिक मनोभाव "त्व हि न पिता यो अस्माकम् अविद्याया पर पार तारयसि" (प्रश्नोप ६।८) अतीव मनोरूढ है अत अपने सहज अज्ञानवश इस निरूपणमे कोई स्खलन हुवा हो तो श्रीपुरुषोत्तमचरण तथा सभी विद्वज्जनो से हार्दिक क्षमाप्रार्थनाके साथ

उद्धृत वचनोंके सन्दर्भ तथा उनका मूलरूप

१ न अर्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तम् अव्यतिरेकात्' बाह्यो विषय प्रकाश च न चक्षुर्ज्ञानस्य साक्षात्कारण देशकालादिवत्तु व्यवहितकारणत्व न निवार्यते ज्ञानावरणादिक्षयोपसामग्र्याम् आराद् उपकारित्वेन अञ्जनादिवत् चक्षुरुपकारित्वेन च अभ्युपगमात् कृत पुन साक्षात् न कारणत्वम् इति आह 'अव्यतिरेकाद्' व्यतिरेकाभावात् नहि तद्भावे भावलक्षणो अन्वयएव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम् अपितु तदभावेऽपि अभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि योगिना च अतीतानागतार्थग्रहणे किम् अर्थस्य निमित्तत्व निमित्तत्वे च अर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वाद्

अतीतानागतत्वक्षति "—"सन्निकर्षोऽपि यदि योग्यतातिरिक्त तदिसम्बन्ध तर्हि स चक्षुषो अर्थेन सह नास्ति, अप्राप्यकारित्वात् तस्य ने हि काचाभ्रस्फटिकादिव्यवहितस्यापि अर्थस्य चक्षुषा उपलब्धि अथ प्राप्यका[illegible] करणत्वाद् वास्यादिवद् इति ब्रूषे तर्हि अयस्कान्ताकर्षणोपलेन लोहासन्निकृष्ट व्यभिचार नच सयुक्तसयोगादि सन्निकर्ष तत्र कल्पयितु शक्यते, अतिप्रसङ्गात्"" (श्रीहेमचन्द्राचार्यकृताया प्रमाणमीमासाया १।१।२५—१।१।२९)

[२]"अप्राप्तार्थानि अक्षिमन श्रोत्राणि, त्रयम् अन्यथा' यदि अप्राप्तविषय चक्षु, कस्माद् न सर्वम् अप्राप्त पश्यति, दूर तिरस्कृत च कथ तावद् अयस्कान्तो न सर्वम् अप्राप्तम् अय। प्राप्तविषयेऽपि च एतत् समान कस्माद् न सर्व प्राप्त पश्यति अञ्जन शलाका वा। यथाच घ्राणादीना हि प्राप्तो विषयो नतु सर्व, सहभूगन्धाद्यग्रहणाद्, एव चक्षुषोऽपि अप्र स्यात् नतु सर्व "(आचार्यवसुबन्धुकृते अभिधर्मकोशे १।४३)

[३]"चक्षु श्रोत्रे प्राप्य स्वविषये कार्य कुरुतो, जनकत्वे सति तदप्राप्ती अजनकत्वात् यद्यद् जनक सद् यदप्राप्तौ यन्न जनयति तत् तत्प्राप्तावेव तद् जनयति यथा कुम्भजनक कुम्भकारो मृदोऽप्राप्तौ अकुर्वन् कुम्भ तत्प्राप्तावेव करोति तथाच एतत्"(न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाया १।१।४)
"प्राप्तप्रकाशक चक्षु व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्"—ननु चक्षुष तैजसत्वे कि मानम् इति चेत्, चक्षु तैजस परकीयस्पर्शाव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवद् अथवा प्रभाया दृष्टान्तत्वसम्भवाद् आद्य 'परकीये'ति न देयम्" (प्रशस्तपादकन्दल्या साधर्म्यवैधर्म्यप्रकरणे—न्यायमुक्तावल्या कारि ४२)
" बुद्धि तत्र इन्द्रियाधीना तेन प्रत्यक्षम् असुते प्रमाणफलभावश्च यथेष्ट परिकल्प्यता सर्वथापि अनिमित्तत्व विद्यमानोपलम्भनात् यद्वा इन्द्रिय प्रमाण स्यात् तस्य वा अर्थेन सङ्गति मनसो वा इन्द्रियै योगे आत्मना सर्वएव वा तदा ज्ञान फल तत्र व्यापारात् च प्रमाणता व्यापारो न यदा तेषा तदा न उत्पद्यते फलम् नच सर्वात्मना अक्षेण सम्बन्धो अर्थस्य विद्यते येन सर्वार्थबोध स्यात् तत्प्रमाणाभिधायिनाम् प्राप्तिमात्र हि सम्बन्धो न इन्द्रियस्य अभ्युपेयते,

मा भूत् कारणमात्रेण त्वचा रूपावधारणम् यथा प्रमाणनिष्पत्तौ योग्यत्वाद् इन्द्रियार्थयो नियता सङ्गति हेतु फलेऽपि एव भविष्यति योगस्य द्व्याश्रयत्वेऽपि भवति अन्यतराश्रयो व्यपदेश "(श्लोकवार्तिके प्रत्यक्षसूत्रे ५८-६५)

"ननु एव दूरे अर्थ इति सान्तरालग्रहण न स्यात्, प्राप्तौ सत्या दूरत्वासम्भवात् प्राप्यकारित्वात् स्पर्शनवत् किञ्च सयोगस्य गतिनिबन्धनत्वाद् गतिमता च क्रमेण आसन्नदूरगमनाद् समकालम् आसेदुषा दवीयसा च अर्थाना ग्रहण न उपपद्यते उच्यते भोगायतनपेक्षया सान्तरालग्रहण तावद् उपपन्नम् समसमयसवेदने तु केचित् परिहारम् एव वर्णयन्ति सकलान् अर्थान् प्राप्य युगपदुपस्थितेन बाह्येन तेजसा एकीभूता ते चाक्षुपा रश्मयो युगपद् ग्रहणहेतव इति तद् अन्ये दूषयन्ति इत्थ प्राप्तौ अभ्युपगम्यमानाया अतिदूरव्यवहितानामपि ग्रहण दुर्निवारम् अन्येतु आहु क्षेपीयस्तया तेषा रश्मीना कालभेदानवग्रहाद् यौगपद्याभिमान इति तद् अपरे न अनुमन्यन्ते अतिसन्निकृष्टेषु वस्तुषु गतिकालभेद पद्मपत्रशतभेदवत् मा नाम अवसायि अनेकयोजनसहस्रान्तरितेषु भूमिष्ठेषु अर्थेषु ध्रुवे च सदैव कालभेदानवसायो न बुद्धिम् अनुरञ्जयति वयन्तु वदामो अदृष्टसापेक्षत्वाद् अदोष नयनरश्मिभि एकीभूतेऽपि बाह्ये तेजसि यावानेव तस्य भागो अदृष्टवशेन उपलब्धिहेतुतया उपात्त तावानेव उपलब्धये प्रभवति न सर्वम् इति "(प्रकरणपञ्चिका-या ६।१३४)

[४]द्रष्टव्य स्याद्वादमञ्जर्या २८

[५] "किम् इद बाह्येन्द्रियत्व नाम? बहिरर्थग्रहणाभिमुख्य, बहिर्देशावस्थायित्व वा स्यात्? तत्र आद्यविकल्पे मनसा अनेकान्त, तस्य अप्राप्यकारित्वेऽपि बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यतो बाह्येन्द्रियत्वसद्भावात् द्वितीयविकल्पेऽपि रश्मिरूपस्य गोलकस्वभावस्य वा चक्षुषो बहिर्देशे अवस्थायित्व स्यात्? प्रथमपक्षे किमिद तत्र तस्य अवस्थायित्वम्—आश्रितत्व प्रकाशकत्वेन प्रवृत्ति वा? तत्र आद्यविकल्पे अपसिद्धान्तो, रश्मिरूपस्य चक्षुषो भवता बहिर्देशाश्रितत्वस्य अनभ्युपगमात्, गोलकान्तर्गततेजोद्रव्याश्रया हि रश्मयो भवद्भि प्रतिज्ञाता द्वितीयकल्पे तु असिद्धो हेतु, रश्मिरूपस्य चक्षुषो ग्राहकप्रमाणाभावत प्रकाशकत्वेनबहिर्देशे तत्प्रवृत्ते

असिद्धे गोलकस्वभावस्य तु चक्षुषो बहिर्देशावस्थायित्वे प्रत्यक्षबाधा, अर्थदेशासम्बद्धस्य शरीरप्रदेशएव प्रत्यक्षत प्रतीते धर्मित्वेन च अत्र उपात्त चक्षु गोलकस्वभाव रश्मिरूप वा? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोध अर्थेन असम्बद्धस्य अर्थदेशपरिहारेण शरीरप्रदेशएव गोलकस्वभावस्य चक्षुष प्रत्यक्षत प्रतीते अन्यथा तद्रहितत्वेन नयनपक्ष्मप्रदेशस्य उपलम्भ स्यात् द्वितीयपक्षे तु धर्मिणो असिद्धि, रश्मिरूपस्य चक्षुष कुतश्चित् प्रमाणाद् अप्रसिद्धे तत्साधक हि प्रमाण प्रत्यक्षम् अनुमान वा स्यात्? न तावत् प्रत्यक्षम्, अर्थवत् तत्र तत्स्वरूपाप्रतीते न खलु रश्मय प्रत्यक्षत प्रतीयन्ते, विप्रतिपत्त्यभावप्रसगात् नहि नीले नीलतया प्रतीयमाने कश्चिद् विप्रतिपद्यते किञ्च इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रत्यक्ष भवन्मते नच अर्थदेशे विद्यमा। तै अपरेन्द्रियस्य सन्निकर्षो अस्ति, यत तत्र प्रत्यक्षम् उत्पद्येत अनवस्थाप्रसगात् अनुमानतोऽपि अतएव एतेन यद् उक्त रश्मिप्रसाधकम् अनुमान 'रश्मिवत् चक्षु तैजसत्वाद्' इति तत् प्रत्याख्यात रश्मिवत्ता गोलकरूपस्य चक्षुष प्रसाध्यते तद्व्यतिरिक्तस्य वा? न तावद् व्यतिरिक्तस्य तस्य असिद्धस्वरूपत्वाद् अपसिद्धान्तप्रसगात् च गोलकरूपस्य तु तत्साधने पक्षस्य प्रत्यक्षप्रत्यक्षबाधा, प्रभासुरप्रभारहितस्य गोलकस्य प्रत्यक्षत प्रतीते अथ अदृश्या तद्रश्मय अनुद्भुतरूपस्पर्शयवत्वाद् अतो न अस्य प्रत्यक्षबाधा, कथम् एव रूपप्रकाशकत्व तस्य स्यात्? तथाहि चक्षु रूपप्रकाशक न भवति अनुद्भूतरूपत्वाद् जलसयुक्तानलवत् नच अनुद्भूतरूपस्पर्श तेजोद्रव्य क्वचित् प्रतीयते अथ मार्जारादिचक्षुषो प्रत्यक्षत प्रतीयन्ते रश्मय तत् कथ तद्विरोध? यदि नाम तत्र प्रतीयन्ते अन्यत्र किम् आयातम्? यद् रश्मिवत् तद् तदर्थप्रकाशने न आलोकापेक्ष यथा प्रदीप रश्मिवत् च भवद्भि अभिप्रेत चक्षुरिति यदपि 'तैजसत्वाद्' इति साधनम् उक्त तदपि अयुक्तम् असिद्धत्वात् अनुमानबाध च तथाहि चक्षु तैजस न भवति भासुररूपोष्णस्पर्शरहितत्वात् यद्यत् तथाविध तत्तत् तैजस न भवति यथा मृत्पिण्डादि भासुररूपोष्णस्पर्शरहित च चक्षु तस्मात् तैजस न भवतीति तथा न तैजस चक्षु तम प्रकाशकत्वात् यत् पुन तैजस न तद् न तम प्रकाशक यथा आलोक तम प्रकाशक च चक्षु तस्माद् न तैजसम् इति किञ्च अस्य प्राप्यकारित्वे विषय चक्षुर्देशम् आगच्छेत् चक्षु वा विषयदेशम्? तत्र आद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा द्वितीयविकल्पेऽपि अध्यक्षविरोधो विषय प्रति चक्षुषो

गमनाप्रतीते चक्षु गत्वा न अर्थेन अभिसम्बद्ध्यते इन्द्रियत्वात् त्वगादिवद् इति अनुमानविरोध च तदविशेषेऽपि दृष्टातिक्रमेण कस्यचित् तत्र गत्वा सम्बन्धाभ्युपगमे यथाप्रतीति असम्बद्धस्यैव किं न अभ्युपगम्यते? अल प्रतीत्यपलापेन। किञ्च चक्षु गत्वा अर्थ चेद् द्योतयति तर्हि काचाभ्रपटलस्वच्छोदकस्फटिकाद्यन्तरितार्थानाम् उपलम्भ स्यात् चक्षुष तत्र गच्छत काचाद्यवयविना प्रतिबन्धात्? अथ काचादिक भित्त्वा चक्षूरश्मयो अर्थदेश गच्छन्ति तर्हि तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये काचाद अनुपलम्भ एतेन शाखाचन्द्रमसो क्रमेण अनुभवेऽपि आशुवृत्त्या उत्पलपत्रशतव्यति-भेदवद् युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानो भ्रान्तिनिबन्धन इति प्रत्याख्यातम् शरीरापेक्षया चक्षुर्विषयस्य सन्निकृष्टविप्रकृष्टतोपपत्ते दूरनिकटादिव्यवहारानुपपत्ते तथाहि यद् इन्द्रियसन्निकर्षेण प्रतीयते न तत्र दूरनिकटादिव्यवहारो यथा रसादौ, इन्द्रियसन्निकर्षेण प्रतीयते च चक्षुर्विषय इति प्राप्यकारित्वे च चक्षुष गयविपर्यासानुपपत्ति, सामान्यवद् विशेषाणामपि सन्निकृष्टानाम् उपलम्भसम्भवात् विशेषानुपलब्धिनिमित्तो हि सशयो विपर्यास च नच चक्षुषा सन्निकृष्टत्वाविशेषेऽपि सामान्यमेव उपलभ्यते न विशेष इति अभिधातव्यम्, विशेषाभावात्" (न्यायकुमुदचन्द्रोदये १प्रत्यक्षपरिच्छेदे लघीयस्त्रये १।४)

[६]द्रष्टव्य स्याद्वादमञ्जर्या २८

[७]"सर्वगत चिदात्मानम् आवृत्य स्थिता भावरूपा अविद्या विविधजगदाकारेण विवर्तते तत्र शरीरमध्ये स्थितो 'अन्त करण'ख्यो अविद्याविवर्तो धर्माधर्मप्रेरितो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य यथोचित घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति यथा लोके पूर्णतटाकस्थम् उदक सेतुगतच्छिद्राद् निर्गत्य कुल्याप्रवाहरूपेण केदारान् प्रविश्य चतुष्कोणत्वेन त्रिकोणत्वेन वर्तुलत्वेन वा तत्तत्केदारानुसारि अवतिष्ठते तद्वत् नहि उदकवद् अन्त करण परिस्यन्दते येन अतिदूरवर्तिचन्द्रनक्षत्रध्रुवादिप्राप्ति झटिति न सिध्येत् किन्तर्हि? सूर्यरश्मिवत् तैजसत्वाद् दीर्घप्रभाकारेण परिणमते अतएव रश्मिवत् सहसा सङ्कोचोऽपि उपपन्न उपपन्नश्च अन्त करणस्य क्षीरादिवत् सावयवत्वात् परिणाम तच्च परिणतम् अन्त करण देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग् व्याप्य देहघटयो मध्येदेशेऽपि दण्डायमानम् अविच्छिन्न व्यवतिष्ठते तत्र

देहावच्छिन्नान्त करणभागो 'अहकारा'ख्य 'कर्ता' इति उच्यते देहविषयमध्यवर्तिद-ण्डायमान तद्भागो 'वृत्तिज्ञाना'भिधा 'क्रिया' इति उच्यते विषयव्यापक तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकम् 'अभिव्यक्तियोग्यम्' इति उच्यते तस्य त्रिभागस्य अन्त करणस्य अतिस्वच्छत्वात् चैतन्य तत्र अभिव्यज्यते तस्य अभिव्यक्तस्य चैतन्यस्य एकत्वेऽपि अभिव्यञ्जकान्त करणभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति कर्तृभागा-वच्छिन्न चिदश प्रमाता, क्रियाभागावच्छिन्न चिदश प्रमाण, विषयगतयोग्यत्वभागा-वच्छिन्न चिदश प्रमितिरिति प्रमातृप्रमाणप्रमितीनाम् असाकर्यम् "(विवरणप्रमेयसग्र-हे १।११३/ए)

"इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षु श्रोत्रत्वगात्मकानि सर्वाणि च स्वस्वविषयसयु-क्तान्येव प्रत्यक्षज्ञान जनयन्ति तत्र घ्राणरसनत्वगात्मकानि इन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्धरसस्पर्शोपलम्भान् जनयन्ति चक्षु श्रोत्रे तु स्वतएव विषयदेश गत्वा स्वस्वविषय गृह्णीत, श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भवात् "(वेदान्तप-रिभाषाया १)

""किञ्च स्याद् एतद् एव यदि घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य घटादिज्ञानत्व स्यात् तदेव तावद् अनुपपन्नम् तथाहि चैतन्यस्य घटादिज्ञानत्व वदन् प्रष्टव्य कस्माद् इदम् अनानुभविक कल्प्यते? दृग्दृश्ययो सम्बन्धन्तरायोगाद् अध्यासरूपसम्ब धघटनार्थ चेत् तत्र वक्तव्य अध्याससम्बन्धविधुरा घटवृत्तिरपि घटज्ञान भवति न वा? न तावद् द्वितीय घटवृत्यापि घटाज्ञाननिवृत्त्यापातात् आद्ये कथ तस्य तज्ज्ञानता? तदाकारत्वाद् इति चेद् न, तथा सति तवापि आवश्यकत्वात् तत्तदाकारतत्तद्वृत्तैरेव तत्तज्ज्ञात्वसम्भवेन अधिष्ठानचैतन्यस्यापि तज्ज्ञानत्वाङ्गीकारवैयर्थ्यापातात घटान्तरस्यापि अपरघटीयत्वापातात् च आकारविशेषरहितरूपसख्यासामान्याभावादिज्ञानाना ज्ञानत्वा-भावापातात् च परोक्षज्ञानेन चक्षुरादिकरणसहकाराभावेन अर्थासम्बद्धान्त करणस्य तदाकारत्वासम्भवेन परोक्षज्ञानस्य तज्ज्ञानत्वायोगात् च स्वतो निराकारस्य अन्त करणस्य कुल्यादिद्वारा बहिर्नि मृततटाकजलस्य केदारसम्बन्धात् तदाकारइव चक्षुरादिकरणद्वारा बहिर्निर्गतस्य तत्तत्करणसम्बद्धार्थसम्ब धादेव हि तत्तदाकार नहि तटाकान्तर्वर्तिसोपा-नपरम्परा बाह्यपुरद्वार जलस्य केदारगमनद्वार वा किन्तु उभयसम्बन्धिकुल्यैव तथा अन्त करणबाह्यपदार्थसम्बद्धचक्षुरादेरेव त्वयापि द्वारतया उक्तत्वाद् युक्तत्वात्

च किञ्च घटाकारवृत्त्या घटाविद्या निवर्तता चैतन्याविद्या कुतो निवर्तेत भिन्नविषयत्वात्? यदिच सैव वृत्ति चैतन्यमपि विषयीकरोति इति मत तर्हि किम् इद वृत्ते स्वानध्यस्तनिराकारचैतन्यविषयीकरण नाम? तदुल्लेख चेत् तर्हि सर्वत्र तनैव तत्तज्ज्ञानत्वसम्भवेन किम् अनानुभविककाराध्यासकल्पनया? किञ्च कथम् इद नीरूपचैतन्यविषयकत्व चाक्षुषवृत्ते ? स्वविषयकघटानुस्यूतत्वात् चेत् तर्हि तादृशगगन गुरुत्व वा कुतो न विषय ? घटपटसमूहालम्बनज्ञानानुव्यवसायवद् 'घटतदधिष्ठानचैतन्ये अह जानामि' इति अनुव्यवसायापातात् च "
(श्रीवादिराजयतिकृते विवरणव्रणे पृ ९०-९१)

[१]''यदि एवम् इन्द्रियाणि देहान्त स्थानि तदा कथ चक्षुश्श्रोयो दूरस्थग्राहकत्वम् वृत्तिद्वारा सम्बन्धाद् ननु वृत्ति यदि स्वरूप देहपरिच्छिन्नत्वात् न दूरस्थे वृत्ति, धर्मोऽपि न धर्मिणम् अतिवर्तेत भूतै सह इति वा चारै पश्यन्ति इतिवद् वा यद्यपि अप्राप्यकारित्व हैतुकगत्या हठात्कारेण वक्तु शक्य, तथापि 'दिवीव चक्षुराततम्' इत्याद्यागमिकव्यवहारस्वारस्यबाधाभावाद् वृत्तिद्वारा प्राप्त्युक्ति 'सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' इति श्रुते सङ्कोचकाभावात् तत्र बाह्यै एवम् उच्यते 'वृत्तिप्रसरणे क्रमयौगपद्यविकल्पायोगाद् दूरस्थविषया प्राप्ति न भवतीत्यतो यद् रूपग्राहकम् इन्द्रिय तद् अप्राप्यग्राहि यथा मन' इति तत्र तावत् प्रत्यनुमानम् आह — प्राप्यग्राहि इन्द्रियत्वाद् विमतम् इतरवत् प्राप्ति उक्तप्रकारा वत्ति दृष्टे न रुधे विरलपटनयाद् अम्बुकाचादि अच्छो नोचेद् गृह्येत योग्य सममिह निखिल निष्फले छादकादौ स्थैर्ये तद्योग्यभावो नहि गलति समा सन्तति त्वन्मतेऽपि अतिप्रसगो असम्बद्धग्रहणे स्यात् सम तु इद सम्बद्धग्रहणेऽपीति न सद् योग्यान्वितग्रहाद् गृहीतस्य इष्यते कश्चित् सम्बन्धो अव्यभिचारतो न सम्बद्धस्य सर्वस्य ग्रहण व्यभिचारत ननु उन्मिषितमात्र चक्षु चन्द्र गमयति नच एकस्मिन् क्षणे तावान् देशो वृत्त्या लघयितु क्षम क्रमेतु प्रतिपरमाण्ववच्छेद विलम्ब्य गमानात् प्रतीतिरपि विलम्बेत दूरासन्नग्रहणकालतारतम्य च स्यात् मैव, उदत्येव सवितरि सकलदिग्व्यापिन्या प्रभायामिव इन्द्रियवृत्ते तादृशवेगातिशयस्य अविस्मयनीयतया पद्मपत्रशतवेधनीत्या यौगपद्याभिमानोपपत्ते यत्तु कैश्चिद् उच्यते निष्क्रान्तमात्रमेव चाक्षुष तेजो बाह्येन बहुदेशव्यापिना चन्द्रसूर्यादिज्योतिषा सवलित तावत् प्रथिमानम्

अवयविनम् आरभते तेनच सम्बन्धाद् उन्मिषितस्य दूरस्थग्रहण दूरासन्नयो युगपद्ग्रहण च सिद्धयेद् इति तद् अयुक्त निष्क्रमणकल्पनस्य गुरुत्वाद् अनिष्क्रान्तमेव किं न अवयविनम् आरभेत आन्तरनिष्क्रमणवद् बाह्यप्रवेशोपपत्ते अपिच अस्मिन् पक्षे त्रिभुवनविवरव्यापिना तेजसा सह चाक्षुषतेजससचलनात् तेन सम्बद्ध सर्वे युगपद् भासेत पश्चाद्भागादिस्थित च " (तत्त्वमुक्ताकलापसर्वार्थसिद्धौ १।४०)

१०११द्विविधानि इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च बुद्धे इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि किं पुन एतानि बुद्धे इति? उच्यते—शब्दादिविषयप्रतिपत्तौ द्वारम् कस्मात्? अवहिर्वृत्तित्वात् अन्त करणस्य नास्ति बहिर्वृत्ति इत्यतो न अलम् एतत् साक्षात् शब्दादीन् अर्थान् प्रतिपत्तुम् तस्माद् श्रोत्रादिलक्षण साक्षाद् बाह्यविषयप्रकाशनसमर्थ कारणान्तरम् अपेक्षते तत्प्रणालिकया तस्य विषयग्रहणम् तस्माद् युक्तम् उक्त बुद्धे बाह्यविषयकप्रतिपत्तौ द्वारभूतत्वाद् बुद्धीन्द्रियाणि इति 'रूपादिषु पञ्चानाम् आलोचनमात्रम् इष्यते वृत्ति' 'आलोचन'=ग्रहणम् इति अनर्थान्तरम् तत्तु ग्रहणरूप नतु प्रकाशक प्रदीपवद् इत्यत्र को हेतु इति? उच्यते न कारणान्तरप्रसगात् यदि प्रदीपवद् इन्द्रिय प्रकाशक स्यात् तेन तथा प्रकाशितेषु घटादिषु अर्थेषु करणान्तरमार्गणमेव अत्रापि स्यात् तस्माद् युक्तम् एतद् ग्राहकम् इन्द्रिय नतु प्रदीपवत् प्रकाशकम् इति ग्रहणप्रकाशनाम् इदानीं को भेद? उच्यते—विषयसम्पर्कात् ताद्रूप्यापत्ति इन्द्रियवृत्ति ग्रहणम् तथा विषयेन्द्रियवृत्त्यनुकारेण निश्चयो 'गौ अय शुक्लो धावति' इत्येवमादि प्रत्यय तथा विषयसम्पर्कापगमे श्रोत्रादिवृत्ते ताद्रूप्यापगमो वर्तमानकालता, ग्रहणस्य अनुभवात्तु सस्काराधान तत्पूर्विका च स्मृति इति त्रिकालविषया प्रत्ययस्य इति अयम् अनयो विशेष बाह्यस्तु प्रकाशो न विषयरूपापन्न सस्कारात्तु घटादीना व्यवधानरूप पार्थिव छायालक्षण धर्मम् अपहृत्य व्यञ्जकत्वाय कल्पते, चक्षुषो अनुग्रहाय" (श्रीभोजराजकृताया युक्तिदीपिकाया ३।२६-२८)

१०१२इच्छारूप हि मनो व्यापार तस्य भवति सङ्कल्पो बुद्ध्यक्षाणि श्रोत्र त्वग् दृग् जिह्वा च नासा न ग्राह्यास्तेषा शब्द स्पर्शो रूप रसश्च गन्धश्च शब्दादीना ग्रहण व्यापार कीर्तित क्रमाद् एषाम् शब्द आदि

येषा ते शब्दादय तेषा ग्रहण तदाकारभजनम् एषाम् इन्द्रियाणा व्यापार उक्त तत्त्वैः इति अर्थ" (श्रीभोजराजकृते तत्त्वप्रकाशे ४।७-९)

[१२]"ज्ञानप्रधानाद् महत्तत्त्वात् क्रियाशक्ति अहकार समुत्पन्न सच त्रिविध उत्पत्त्यैव तथैव समपद्यत, क्रिया हि भेदिका कारणभूत गुणत्रय कार्ये भिन्नतयैव उत्पादितवती 'वैकारिक'=सात्त्विक 'तैजसो'=राजसतामस च यत त्रिविधाद् मनस इन्द्रियाणा भूताना च सम्भव 'महता'=तन्मात्राणामपि बुद्धे उत्पत्तिम् आह 'तैजसात्तु' इति 'विकुर्वाणाद्'=राजसाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत् 'सति'=विषये वा, सर्वविषयिकैव बुद्धि उत्पद्यतइति यथा इन्द्रियप्रेरकत्व मनस तथा इन्द्रियानुग्राहकत्व बुद्धे बुद्ध्यैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च अतएव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञानक्रिययो तारतम्यम् एतत् कार्यानुसारि लक्षण 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्' इति स्वरूपलक्षणम् द्रव्यस्य घयादे स्फुरणे सति शब्देन, सस्कारेण, आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञान, यस्मात् केवल चक्षुषा ज्ञाने तारतम्य न स्यात् स्वत स्फुरण योगजधर्मादिभिरपि भवति अतो द्रव्यस्फुरणएव विज्ञान बुद्धे लक्षणम् 'तैजसानि' इति, ज्ञानकरणकानि क्रियाकरणकानि च उभयविधान्यपि राजसान्येव, नतु ज्ञानकरणकानि सात्त्विकानि क्रियाकरणकानि तामसानि वा क्रियाया प्राणो मूल ज्ञाने बुद्धि बुद्धि राजसीति तदनुगृहीतानि इन्द्रियाणि सर्वाणि राजसान्येव प्राणोऽपि सर्वेन्द्रियानुग्राहक रूपस्य लक्षणम् आह 'द्रव्याकृतित्वम्' इति द्रव्यस्य घटादे या आकृति सैव रूपस्य पृथुबुध्नोदराकार रूपमपि आतानवितानात्मक च द्रव्यस्येव आकृतिरिति द्रव्यस्यतु न उपमेयत्वम् अतो रूपस्यैव लक्षणम् 'गुणता'=सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीति न एव शब्दादिषु स्वतन्त्रतयापि प्रतीयमानत्वात् व्यक्ते सस्थैव सस्था यस्य, यदि व्यक्ति वक्रा भवेद् रूपमपि वक्र भवेदिति उपविष्टे रूपवति रूपम् उपविष्ट भवति 'तेजसश्च तैजस्त्व' रूपतन्मात्रत्व सूक्ष्मावस्था इति अर्थ 'तेजोगुणविशेषो अर्थो यस्य तत् चक्षु उच्यते' =तेजोगुणविशेषो रूपम्" (श्रीवल्लभाचार्यकृताया भागवतसुबोधिन्या ३।२६।२३-४८)

[१३]"यदा विषयेन्द्रियसयोगात् निर्विकल्पक तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे वृत्ति

तथा इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम्, अननुग्रहे तु न वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्ते नाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेण अवस्थान, तस्य उद्बोधके उद्बोधे मायोपस्थापित-मायिकार्थ-सहकृता स्मृति, राजसै रागादिभि संस्कारप्राबल्ये मायया विषयावरणपूर्वक मायिकरूपदार्थसहित-स्य ज्ञानस्य गोलकागभागे क्षेपे भ्रम अत ... राजन्या तदवस्था वृत्ति गा यदा अनुगृह्णाति तदा वक्ष्यमाणप्रक्रियया स... ज्ञान जन्यते तत्र अय क्रमो दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मन कार्यार्थं प्रेर्यते, तत् च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण युज्यते तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्य विषयग्रहे इन्द्रियै म्यावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते तदा इन्द्रिदेशे बुद्धे वृत्ति ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पक भवति चाक्षुषेतु नयनकिरणा विषयपर्यन्त गच्छन्ति, इन्द्रियान्तरेतु किरणाभावाद् इन्द्रियेण सह विषय मन प्राप्नोति तदा, क्रमेण सहैव वा, निर्विकल्पक सविकल्पक च तत्तदिन्द्रियसंसृष्टे मनसि उत्पद्यते ज्ञानद्वयेऽपि विषयेन्द्रियस्पर्शादिक व्यापार नच नयनकिरणाङ्गीकारे चक्षुषो व्यापकत्वापत्त्या 'अणव च' (ब्र सू २।४।७) इति सूत्रविरोध शङ्कनीय, अर्चीरूपाणा किरणाना सूर्यमण्डलाद् भेदस्य 'आदित्यो वा एष' (महाना उप १२।२) इति अनुवाके श्रावणात् तै अखिलमेरूत्तरदेशदेशान् व्याप्नुवानस्य आदित्यमण्डलस्य दशसहस्रयोजन-परिमाणस्मरणेन तेषा तत्परिणामाबाधकत्ववत् सूर्याध्यात्मिकचक्षुष किरणानामपि तथात्वेन सूत्राविरोधात् 'गुणाद् वा आलोकवद्' (ब्र सू २।३।२५) इति सूत्रे आलोकस्य गुणत्वाङ्गीकाराद् तैजसस्य चक्षुष आलोकरूपगुणव्याप्त्यङ्गीकारेऽपि अदोष या पुन आलोकेन मायाकार्यतमोजननप्रतिबन्धे कृते ज्योतीरूपसूर्यदेवतया अण्वात्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहित-देशस्थ-पृथुबुध्नोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते सत्त्वप्रधानबुद्धे अन्तरेव तदाकारतासम्पत्तौ अणुरूप जीव प्रति ज्ञानाश्रिताध्याध्यात्मिक-घटाभिव्यक्तिरेव चाक्षुष, दूरस्थगन्धशब्दादयोस्तु वायुना घ्राणश्रोत्रसमीपप्रापणे अन्त सत्त्वात्मकबुद्धे तदाकारतासम्पत्तौ ज्ञानाश्रिताध्यात्मिकगन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव घ्राणज श्रावण च प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयो अभेदात् न बाह्यघटाग्रहणनिबन्धनो दोष इति केषाञ्चित् प्रत्यक्षप्रक्रिया तत्र आलोकेन तमोजननप्रतिबन्धकथनम् अयुक्त, 'यथाहि भानो उदयो नृचक्षुषा तमो निहन्याद्' (भाग पुरा ११।२८।३४) इति एकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्ये तमोनिहन्तृत्वकथनात् एव ज्योतीरूपसूर्यदेवताया पुरुषचक्षुषि विषयनिष्ठरूपप्रापकत्वकथनमपि तथा, बहुषु

पश्यत्सु तान्-तान् प्रति रूपे प्रापिते विषयस्य नीरूपताप्रसङ्गेन पाश्चात्याना तद्दर्शनप्रसङ्गात् सन्ध्यायाम् अस्तगते सूर्ये रूपप्रापकदेवताया गतत्वान् तदानी घटाद्यदर्शनापत्ते च अतो 'नेतृत्व द्रव्यशब्दयो ' (भाग पुरा ३।२६।३७) इतिवद् आदित्यरश्मीना रूपप्रापकत्वस्य अशब्दगोचरत्वात् सूर्यदेवताया रूपप्रापकत्वाङ्गीकार सर्वथा न युक्त किञ्च चक्षुषि रूपप्राप्तिश्च प्रतिबिम्बभवनरूपैव, सा तु मायया 'ऋतेऽर्थ यत् प्रतीयेत' (भाग पुरा २।९।३३) इति वाक्यात्, तस्या विक्षेपकत्वात् च एवञ्च बुद्ध्याकारसमसमर्पकत्वपि प्रतिबिम्बस्यैव आध्यत्मिकरूपमपि मायामय मनोमयत्वात् तस्यच न सत्यता — अर्थक्रियाकारित्वमात्रम् " (प्रस्थानरत्नाकरीय-प्रत्यक्षप्रमाकरणप्रकरणे)



तमस्के विभिन्न स्वरूप और उनकी अनुभूतिओं के बारेमें

कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार (वाल्लभ दृष्टिकोणसे)

(१.उपक्रम)

अनेकतन्त्रकान्तारतमसावृतवर्त्मनि।
मा मा मुचथा पर्यटन्तं मां कृष्ण ! त्वं सयुक् सखा॥

यद्यपि प्रस्तुत विचारगोष्ठीमे विचार्यविषयतया जो अन्धकार या तमस् अभिप्रेत हे, वह तो भूतलपर अनुभूत होते सौर चान्द्र आग्नेय या दीपज्योति आदिके चाक्षुष प्रकाशसे विपरीत Emperical darkness अर्थात् चाक्षुष तमस् या अन्धकार ही है फिर भी Non-emperical, Psychological, Metaphysical, Spiritul या Transcendental अर्थात् प्रत्यक्षागम्य, मानसशास्त्रीय, पराभौतिक, आध्यात्मिक अथवा अलौकिक या आधिदैविक स्वरूप भी अन्धकारके शास्त्रमे उपलब्ध होते ही हे अपने वैचारिक क्षितिजसे उन्हे बाहर रख कर अर्थात् उनके सन्दर्भको ओझल होने देनेपर चाक्षुष तमस्के स्वरूपका भी यथावद् आकलन सुकर नही रह जाता अत सन्दर्भोपात्ततया उनके विमर्शके बाद ही विचार्यविषयके प्रति प्रयाण वाल्लभ विचारसरणीको सुगम बना पाता हे

श्रुत्यादि शास्त्रवचनोमे अन्धकार या तमस् के अनेक रूप निरूपित हुवे है इन विभिन्न निरूपणोमे जिस एक तथ्यके सन्दर्भमे एकसूत्रता उपलब्ध होती है, वह तो यही है कि ज्योति या प्रकाश की अनुभूतिसे विपरीत किसी अनुभूतिके प्रकारको या तद्गोचरविषयको 'अन्धकार'

या 'तमस्' कहा जाता है अब स्वय ज्योति या प्रकाश के, क्योकि, अनेक रूप या प्रकार विचारे जा सकते है, अत, तत्तद् ज्योति या तत्तत् प्रकाश के स्वरूपोसे विरुद्ध स्वभाव प्रकट करनेके कारण अन्धकारके भी अनेक रूप सम्भव है ही

सूर्य, चन्द्र, तारागण, विद्युत्, अग्नि, मणि, बाह्य विषयोका प्रकाशक बुद्धिजन्य ज्ञान, आन्तर अनुभूतिकी प्रकाशिका वाणी, प्राकृतगुणान्तर्गत मुख्यतया तो सत्त्वगुण परन्तु गौणतया अन्योन्यमिश्रित रजोगुण और तमोगुण भी, आत्मचैतन्य, देवस्वरूप, ब्रह्मचैतन्य आदि अनेकविध प्रकाशरूप तत्त्वोके स्वपरवस्तुके प्रकाशनरूप व्यापारके विपरीत कही आत्यन्तिक अप्रकाशन या कही स्वय इन्हे या इनके द्वारा प्रकाश्य विषयको आवृत करनेवाली उपाधिओका अन्धकार या तमस् के रूपमे निरूपण उपलब्ध होता है

(२ आधिदैविक तमस्का स्वरूप)

श्रौतसन्दर्भ : (क)सृष्टिपूर्व तथा (ख)प्रलयोत्तर तमस्के स्वरूप :

(क/१)"न असद् आसीद् नो सद् आसीत् तदानीं। नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्। किम् आवरीव कुह कस्य शर्मन्? अम्भ किम् आसीद् गहन गभीर? न मृत्यु आसीद् अमृत न तर्हि। न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेत। आनीद् अवात स्वधया तद् एक, तस्माद् ह अन्यद् न पर किञ्चन आस। तम आसीत् तमसा गूढम् अग्रे। अप्रकेत सलिल सर्वम् आ इद तुच्छ्येन आभु अपिहित यद् आसीत्। तपस तद् महिना अजायत एकम्।" (ऋक्सहि १०।११।१२९।१-३)

(क/२)' किं तद् आसीत्? तस्मै स ह उवाच 'न सद् न असद् न सदसद्' इति तस्मात् तम सञ्जायते

तमसो भूतादिः, भूतादेः आकाशम्, आकाशाद् वायुः, वायोः अग्निः, अग्नेः आपः, अद्भ्यः पृथिवी, तद् अण्डं समभवद्...(सुबा.उप.१।१).

(ख)"सो अन्ते वैश्वानरो भूत्वा सन्दग्ध्वा सर्वाणि भूतानि, पृथिवी अप्सु प्रलीयते, आपः तेजसि प्रलीयन्ते, तेजो वायौ विलीयते, वायुः आकाशे, आकाशम् इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते, भूतादिः महति, महान् अव्यक्ते, अव्यक्तम् अक्षरे, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवति. परस्ताद् न सत् न असद् न सदसद् इत्येतद् निर्वाणानुशासनम् इति वेदानुशासनम् इति" (सुबा.उप.२).

(क)शांकर वेदान्तके अनुसार यहां, सृष्टिपूर्व जो ब्रह्म परमार्थत था ही उससे, यह श्रुत्युक्त तमस् सदसद्विलक्षणरूप अनादि अज्ञान अविद्या या माया होनेके कारण उस परमतत्त्वके कैवल्यको हानि नही पहुंचाता है. वाल्लभ वेदान्तके अनुसार, परन्तु—

(१)सद् और असद् के अलावा तीसरी सदसद्विलक्षण मिथ्यात्वरूप कोटि प्रामाणिक न होनेसे यहां अज्ञानरूप तमस् अमान्य ही है

(२)सुबालोपनिषद्के "न सद् न असद् न सदसद्" (उपर्युद्धृत) तथा "अनादिमत् परं ब्रह्म न 'सत्' तद् न 'असद्' उच्यते" (भग.गीता.१३।१२)वचनोमे भी स्वयं परब्रह्मको भी 'सदसद्विलक्षण' कहा गया होनेसे यह सदसद्वैलक्षण्य कथमपि मिथ्या होनेके अभिप्रायवश कहा गया माना नहीं जा सकता है.

(३)"न असद् आसीत् नो सद् आसीत् तदानीम्" वाक्यांशमे सर्वसन्देहवारक 'तदानीं'पदके उपन्यासके कारण;

क्योकि, जो कोई पदार्थ वह था वह *तब* ही सदसद्विलक्षण था. अर्थात् सृष्टिके बाद वह वैसा नही रहा, फलत शांकर वेदान्ताभिमत ज्ञानावरिका माया या अविद्या सृष्ट्युत्तरकालमे भी सदसद्विलक्षण ही रहती होनेसे, यहां वह प्रतिपादनीय मानी नही जा सकती है.

(४) '*स्वधया*'पदमे 'स्व'पद उसी परमार्थ तत्त्वका वाचक है. अत 'स्वधा' उसकी योगनिद्रा होनेसे उसीके जितनी परमार्थरूप होनेपर भी, उस परमार्थ वस्तुसे द्वितीयतया निरुक्त न हो पानेके कारण उसे 'तमस्' कहना विवक्षित लगता है.

(५)यदि श्रुतिमें 'तुच्छ्येन' पदके प्रयोगके कारण उसे तुच्छकल्प मानना हो तो—जो वस्तुत तुच्छ या असद् से विलक्षण हो उसे—असत्सलक्षण मानना पडेगा. ऐसा माननेपर तो सुस्पष्ट वदतोव्याघात होगा. इसके अलावा तब सत्से विलक्षण होनेपर भी सत्सदृश भी उसे क्यो नही कहा जा सकेगा? और यदि ऐसे कहा-माना जाये तो तुच्छकल्पता अकल्प्य हो जायेगी. क्योकि स्वयंप्रकाश चैतन्यके अलावा तब प्रमाता तो कोई था नही जिसके ज्ञानके सन्दर्भमे वह तमस् उस स्वयप्रकाश परमचैतन्यको 'आ-अपिहित'=आवृत कर पाये. सो स्वयप्रकाश चैतन्यरूप अधिष्ठानमे वह तमस् तदेकप्रतिभास्य होनेके कारण, प्रातिभासिकी सत्ताके अलावा मायाविद्याकी तो अतिरिक्त सत्ता न होनेके कारण भी, स्वय उसका आवरण तो वह हो ही नहीं सकता अगतिकतया 'तुच्छ्येन' पदका तुच्छ ही अर्थ स्वीकारनेपर तो पुन वदतोव्याघात ही होगा, असद्वैलक्षण्य निरस्त हो जाता होनेसे.

(६)'सद्'-'असद्'पदोंको, अतएव, भावाभावार्थक माननेपर तो ''तम आसीत्'' वचन भी स्वतोव्याहत हो जायेगा.

(७)"तम आसीत् तमसा गूढम् अप्रकेतम्" अशपर ध्यान देनेपर यह और समझमे आता है कि जो तमस् था वह तमस् भी तव तमस्त्वेन अवगत तो नहीं था यह तो बिलकुल निद्राकालीन अज्ञान अथवा ज्ञातृज्ञानज्ञेयविकल्परहित निर्विकल्प समाधि के जैसी ही कोई कथा लगती है क्योकि निद्राकालीन अज्ञान स्वय निद्राकालमे सवेदनाका विषय नहीं बनता परन्तु जागनेपर उसकी "गाढ मूढो अहम् अस्वाप्स न किञ्चिद् अवेदिषम्" ऐसी प्रतीतिजनकता सर्वानुभूतिगोचर वनती है ऐसी ही कथा निर्विकल्पसमाधिकी भी कही जाती है

(८)"तपस तद् महिना अजायत एकम्" ओर "सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीय तद् ऐक्षत वहु स्या प्रजायेय" (छान्दो उप ६।२।१-३) यो इन दोनो वचनोमे 'तपस'-'ऐक्षत' तथा 'अजायत एक'-'एकमेवाद्वितीय वहु स्या प्रजायेय' पदोकी समानाभिप्रायकता निर्विवाद लगती होनेसे भी तदतिरिक्त मायाविद्यारूप कारणान्तरकी हेतुताके अङ्गीकारमे श्रुत्युक्त एकमेवाद्वितीयताका सर्वथा अनादर ही प्रकट होता है

(९)अतएव इस तमस्को योगनिद्रारूप मान लेनेपर "आसीद् इद तमोभूतम् अप्रज्ञातम् अलक्षणम् अप्रतर्क्यम् अविज्ञेय प्रसुप्तमिव सर्वत तत स्वयम्भु भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयन् इद महाभूतानि वृत्तौजा[१] प्रादुरासीत् तमोनुदो योऽसौ अतीन्द्रियग्राह्य सूक्ष्मो अव्यक्त सनातन सर्वभूतमयो अचिन्त्य सएव स्वयम् उद्बभौ" (मनुस्मृ १।५-७) यहा 'इद'पदके प्रयोगसे पुरोवस्थित परिदृश्यमान विस्तार ही स्वयम्भु वृत्तौजा अव्यक्त भगवान्मे तब प्रसुप्तोपम था ऐसा विवक्षित

१ "अप्रतिहतम् औज सृष्टिसामर्थ्य यस्य स "कुल्लुकभट्टी

लगता है उस प्रसुप्त्युपम तमस्को निवृत्त करके वह सर्वभूतमय सनातन अचिन्त्य तत्त्व स्वयमेव महाभूतादि सकलसृष्टिका अभिव्यञ्जक बना यह कण्ठोक्त अभिगम है अत सदसद्विलक्षण मायाविद्यादिसदृश असत्कल्प तत्त्वकी सम्भावनाको यह मनुवचन भी नि शेष कर देता है, क्योकि शाकर वेदान्तमे अज्ञाननिवृत्तिपूर्विका जगत्सृष्टि स्वीकारी नही गयी है

अत इस अशमे शाकर वेदान्तकी तरह ही वाल्लभ वेदान्तमे भी इस प्रसुप्तिकल्प स्वात्मेतरके अज्ञानको ज्ञानप्रतियोगिक केवल अभावके रूपमे देखनेके बजाय भावरूप निर्विकल्पसमाधिवत् स्वीकारा गया है अतएव महाप्रभु कहते है " 'तम आसीद्' इति तमोऽपि ब्रह्मैव, सर्वत सुप्तत्वेन साम्यात्" (भाग सुबो २।९।३२)

अत यहा यह अवश्यावधेय हो जाता है कि शाकर वेदान्तमे अज्ञान व्यावहारिक अनुभूतिमे भावरूप होनेपर भी परमार्थतया सदसद्विलक्षण माना गया है वाल्लभ वेदान्तमे, जबकि, व्यावहारिक अनुभूतिके स्तरपर ही नहीं प्रत्युत भगवच्छक्तिरूप होनेसे पारमार्थिक स्तरपर भी परमात्मगत निर्विकल्पसमाधि या योगनिद्रा के सदृश इस दिव्य तमोरूप स्वात्मेतरके अज्ञानको आत्मरमणके रूपमे माना गया है इसी तरह जीवगत भी अनेकविध अज्ञानोको सत्य भावरूप ही माना गया है "विद्याविद्ये हरे शक्ति माययैव विनिर्मिते ते जीवस्यैव नान्यस्य दु खित्व चाप्यनीशता आत्मन स्वरूपलाभो विद्यया देहलाभो अविद्यया इति उभयो जीवधर्मत्व व्यावर्तयति 'हरे शक्ती' इति तेन भगवदिच्छयैव तयो आविर्भावतिरोभावयो हेतुत्वम् इति उक्तम्" (त दी नि प्र १।३१)[२]

२ द्रष्ट "विद्याविद्ये मम तनू विद्धि उद्धव। शरीरिणा बन्धमोक्षकरी आद्ये माययैव विनिर्मिते, एतस्यैव ममाशस्य जीवस्यैव महामते। बन्धो अस्य अविद्यया

(ख) प्रलयोत्तरदशाके निरूपण भी "अव्यक्तम् अक्षरे, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवति" श्रुतिवचन प्रत्यापत्तिके वर्णनार्थ है यहा 'अक्षर'=काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुष है सो पञ्चविध अक्षरब्रह्मकी अवस्थाविशेष ही यहा विवक्षित है सकलविध द्वैतघटित सृष्टिकी स्वप्रत्यापत्ति ही 'तम'पदवाच्य सृष्ट्यतीत निष्पन्दावस्था है और परब्रह्मसे इस अवस्थाका एकीभाव भी दिखलाया ही गया है[3] अतएव यह भी इस तथ्यका प्रबल प्रमाण माना जाना चाहिये कि यह 'सदसद्वैलक्षण्य' तृतीय मिथ्याकोटिके अर्थमे प्रयुक्त नही प्रत्युत जैसा कि भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य पूर्वनिर्दिष्ट भगवद्गीतास्थ "न 'सत्' तद् न 'असद्' उच्यते" के भाष्यमे कहते है "सर्वोहि शब्दो अर्थप्रकाशनाय प्रयुक्त श्रूयमाणश्च श्रोतृभि जातिक्रियागुणसम्बन्धद्वारेण सकेतग्रहणं सव्यपेक्षो अर्थं प्रत्याययति" (गीता शाक भा १३।१२) तदनुसार "आभु'पदनिर्दिष्ट ब्रह्म उस अवस्थामे शब्दसामर्थ्येन अनिरूपणीय होनेके ही अभिप्रायवश उसकी उस अवस्थाको "तुच्छ्येन आ-अपिहित" निरूपित किया गया है अर्थात् इसी हेतुवश उसे 'तमस्' कहा गया है अतएव "परस्ताद् न सद् न असद् न सदसद् इत्येतद् निर्वाणानुशासनम् इति वेदानुशासनम् इति" वाक्यांश भी ऋजु अर्थमे सुसगत हो जाता है

स्मार्तसन्दर्भ : उल्लिखित तमस्की भगवद्गीता-भागवतपुराणोक्त योगनिद्रारूपता :

(क) "सर्वभूतानि, कौन्तेय!, प्रकृतिं यान्ति मामिका

अनादि विद्यया च तथा इतर अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्य वदामि ते विरुद्धधर्मिणो तात स्थितयो एकधर्मिणि आत्मानम् अन्य च स वेद विद्वान् अपिप्पलादो, नतु पिप्पलादो, यो अविद्ययायुक् सतु नित्यबद्धो, विद्यामयो य सतु नित्यमुक्त "(भाग पुरा ११।११।३-७)

३ द्रष्ट "ब्रह्मकूटस्थाव्यक्तादिशब्दैर्वाच्यो भिन्नार 'आदि'शब्देन 'असत्-तम'शब्दादयो गृह्यन्ते तथापि न पुरुषोत्तमाद् भिन्नतया अवस्थिता किन्तु निरन्तरएव"(ब्र दी नि २।१००)

कल्पक्षये, पुन तानि कल्पादौ विसृजामि अहम् प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य विसृजामि पुन -पुन भूतग्रामम् इम कृत्स्नम् अवश प्रकृते वशात् नच मा तानि कर्माणि निबध्नन्ति, धनञ्जय !, उदासीनवद् आसीनम् असक्त तेषु कर्मसु मया अध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचर, हेतुना अनेन, कौन्तेय !, जगद् विपरिवर्तते" (भग गीता ९।७-१०)

(प/१)"सएष इद ससर्ज अग्रे भगवान् आत्ममायया सदसद्रूपया (नु सन्सद्विलक्षणया) च असौ गुणमय्या अगुणो विभु तया विलसितेषु एषु गुणेषु गुणवानिव अन्त प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितो, यथाहि अवहितो वह्नि दारुषु एक स्वयोनिषु नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान् असौ गुणमयै भावै भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभि स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुक्ते भूतेषु तद्गुणान् भावयति एष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनो लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु जगृहे पौरुष रूप भगवान् महदादिभि सम्भूत षोडशकलम् आदौ लोकसिसृक्षया यस्य अम्भसि शयानस्य योगनिद्रा वितन्वतो नाभिहृदाम्बुजाद् आसीद् ब्रह्मा विश्वसृजा पति "(भाग पुरा १।२-४।३०-२)

(प/१)"तमोमात्राम् उपादाय प्रतिसरुद्धविक्रम कालेन अनुगताशेष आस्ते तूर्ष्णी दिनात्यये तमेव अन्वपीधीयन्ते लोका भूरादय त्रयो, निशायाम् अनुवृत्ताया निर्मुक्तशशिभास्कर त्रिलोक्या दह्यमानाया शक्त्या सकर्षणाग्निना तावत् त्रिभुवन सद्य कल्पान्तैधितसिन्धव प्लावयन्ति उत्कटाटोपचण्डवातेरितोर्मय अन्त स तस्मिन् सलिले आस्ते अनन्तासनो हरि योगनिद्रानिमीलाक्ष "(भाग पुरा ३।११।२८-३१)

इन शास्त्रवचनोके पर्यालोचन करनेपर इस तमस्वत योगनिद्रा होना स्पष्ट हो जाता है अतएव यहा योगनिद्राका सदसद्विलक्षण अज्ञानरूपा

मायाके रूपमे श्रीश्रीधरस्वामीने भी नही स्वीकारा हे जैसा कि "यस्य 'अम्भसि'=एकार्णवे 'शयानस्य'=विश्रान्तस्य तत्रच 'योग'=समाधि तद्रूपा निद्रा विस्तारयतो" (भावा दीपि १।३।२) इस व्याख्यासे सुस्पष्ट ही है आत्मसमाधिको मायिक माननेपर तो जीवन्मुक्तकी आत्मकैवल्यानुभूतिको भी मिथ्या मानना पडेगा। अस्तु, इस विषयमे वाल्लभ वेदान्तका दृष्टिकोण तो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणकी "ननु शयन नाम स्वरूपविस्मरणेन, मायाया भगवतो वा समीपगमन, तत् कथ भगवति सम्भवति? इति आशक्य आह 'योगनिद्राम्' इति नहि भगवान् शेते वस्तुतो, अस्ति च योगभूतनिद्रा काचित् शक्ति साहि जीवाना क्लेशनाशिनी स्वसमीप च आनयति गुह्य च प्रकटीकरोति" (भाग सुबो १।३।२) इस व्याख्यासे सर्वथा सुस्पष्ट ही हे अतएव इस स्पष्टीकृत सन्दर्भमे ही प्रलयनिरूपक वचनके व्याख्यागत पदोका भी अभिप्राय गृहीत करना चाहिये जैसा कि महाप्रभु दिखलाते है—

> "अत्र अय क्रम यदा भगवान् शिशयिषु भवति तदा तमो गृह्णाति पश्चात् च शेते जगति स्वस्मिन् प्रविष्टेऽपि भगवान् न परिपालनार्थं यत्न करोति किन्तु तूष्णीमेव तिष्ठति तस्य तूष्णीम्भावमनु भुवनात्मका भूरादय उज्जटग्रामभित्तयइव तिरोहिता भवन्ति तदा अन्धकारे प्रवृत्ते रात्रि सुतरा प्रवृत्ता भवति तदा सकर्षणमुखाद् उत्थितो अनल त्रिलोकीं दहति तदा तस्मिन् सलिले 'शेषा'परनामा अनन्तो, अन्त स्थितसर्वलोकाना दु खहर्ता, योगनिद्रया निमीलिताक्ष आस्ते"(भाग सुबो ३।११।२१)

एतावता सिद्ध होता है कि तमस्का कोई एक आधिदैविक या अलौकिक स्वरूप भी है जिसे भगवान्की योगनिद्रा माना गया है यह योगनिद्रा ब्रह्मकी सृष्ट्यनुकूला सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्तिके विपरीत प्रलयानुकूला शक्ति होती है इन दोनो शक्तिओमेसे यथेष्ट

शक्तिका उपयोग ब्रह्म अपनी अप्रतिहतेच्छारूपा सत्यसकल्पशक्तिके द्वारा करता है ऐसा महाप्रभुकी "'श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया विद्ययाविद्या शक्त्या मायया च निषेवितम्'— 'विद्या'=ज्ञानरूपा मोक्षदायिनी, 'अविद्या'-बन्धिका 'शक्ति'-इच्छाशक्ति एषा सर्वनियामिका, 'माया'= सर्वभवनसामर्थ्य व्यामोहिका चेति उभयविधापि परिगृहीता 'च'कारेण तेन मुख्या द्वादश अवान्तरभेदा असख्याताएव भवन्ति" (भाग सुबो १०।३९।-५५) व्याख्याके आधारपर सिद्ध होता है एतावता "रूप-रूप प्रतिरूपो बभूव तद् अस्य रूप प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते, युक्ता हि अस्य हरय शता दश इति अय वै हरयो अय वै दश च सहस्राणि च बहूनि च अनन्तानि च तद् एतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अबाह्यम् अयम् आत्मा सर्वानुभू इति अनुशासनम्' (बृह उप २।५।१९) यह बृहदारण्यकवचन भी ब्रह्मकी आत्मरूपा शक्तिओकी करणता तथा शक्ति एव शक्तिमान् के तादात्म्यके निरूपणपरक हो कर सुसङ्गत हो जाता है

इसे जीवात्मगत अज्ञान/अविद्यारूप तमस्के रूपमे न देखनेका दृढ आग्रह वाल्लभ वेदान्त इसलिये भी रखता हे, क्योकि, उपनिषद्मे जीवगत अज्ञानकी सृष्टि उत्तरकालिक प्राकट्यके रूपमे निरूपित हुयी है "सो अकामयत् 'बहु स्या प्रजायेय' इति स तपो अतप्यत् स तप तप्त्वा इद सर्वम् असृजत यद् इद किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत् तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत् विज्ञान च अविज्ञान च, सत्य च अनृत च सत्यम् अभवत्" (तैत्ति उप २।६) यहा अवधेय है कि 'विज्ञान-अविज्ञान'पदासे न तो जीव-जड-सृष्टिकी विवक्षा शाकर वेदान्तके अनुकूल होगी, और न 'अविज्ञान'पदसे मूलाज्ञानके बजाय तूलाज्ञानकी विवक्षा ही शाकर वेदान्तके अनुकूल हो पायेगी क्योकि प्रथम कल्पम जीवचेतनाको सृष्ट माननेपर वह अनित्य सिद्ध होगी और 'अविज्ञान'पदसे जडसृष्टि माननेपर उसे 'अनृत'से भिन्न मानना पड़ेगा जबकि शाकर वेदान्तम जड़ अनृत एकार्थक माने गये है

जड़सृष्टिको व्यावहारिक सत्यतया स्वीकारनेपर और प्रातिभासिक सत्यको अनृत स्वीकारनेपर भी प्रातिभासिक वस्तुओको भी परमेश्वरसृष्टतया स्वीकारना पड़ेगा यह सर्वप्रमातृगम्य हो कर उन्हे पुन व्यावहारिक ही अकामतया सिद्ध कर देगा अन्यथा प्रातिभासिक वस्तुके बारेमे भी तत्प्रमात्रेकगोचरतारूप प्रतिभासमात्रशरीरताका प्रत्याख्यान ही हो जायेगा अत श्रुत्युक्त 'अनृत च' वचनद्वारा 'मूलाज्ञाना'ख्य पदार्थ भी अनृतत्वेन शाकर वेदान्तामे सगृहीत होना ही चाहिये इस तरह सृष्टिरूपद्वैतके प्राकट्यमे उस परब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य किसीकी हेतुता मान्य नही हो पाती अर्थात् उसके सत्यसकल्पका अविषय कोई भी सृष्टिगत पदार्थ हो नही सकता, यही "इद सर्वम् असृजत यद् इद किञ्च तत् सृष्ट्वा" पदोका स्वारसिक अभिप्राय प्रतीत होता है

निष्कर्षतया अनेकविध नाम-रूप-कर्मोका पृथक्पृथक् प्रविभाजन या प्रकाशन अथवा उनमे रमण जैसे सच्चिदानन्द ब्रह्ममे सृष्टिरूप होता है, वैसे ही उनके अप्रकाशन या विभागविलोपन द्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्मका पुन आत्मैकरमण अनुभवातीत आधिदैविक तमस् माना गया है

अतएव त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी वाल्लभ वेदान्तके अनुसार एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मतत्त्वका अपने धर्मिभूत चिदानन्दाशोके तिरोधानपूर्वक केवल धर्मिभूत सदशका विलास है एतदर्थ महाप्रभुके शब्दोमे इस प्रतिपादनका अवलोकन उपकारी होगा—

> " 'सत्त्व रजस्तमइति निर्गुणस्य गुणा त्रय स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभो' यथा ऊर्णनाभि सृष्ट्यर्थम् एकाम् ऊर्णाम् उद्वमते तथा भगवानपि त्रिविधसृष्ट्यर्थं त्रीन् गुणान् उद्वमते सद्रूपेण निर्गत 'सत्त्वम्' इति उच्यते केवलचिद्रूपेण निर्गत, क्रियाशक्तिप्रधानत्वात् सदानन्दाभावात् च 'रज' इति उच्यते आनन्दाशात् च तम ते भगवद्रूपाएव

भगवता सृष्टाः. नच भगवति ते पूर्वस्थिताः, तथा सति ते भगवदात्मकाः न भवेयुः. यथा कार्पासे सूत्रम्. तदेव हि पश्चात् स्वावयवैः पौर्वापर्यम् आपद्यमानं सूत्रताम् आपद्यते. अतएव भगवान् निर्गुणः. ते गुणाः पुनः स्थितिसर्गनिरोधेषु उत्पत्तिस्थितिलयार्थं गृहीताः. तेषामपि गृहणं मायया. एषा हि माया जगत्कर्त्री नतु व्यामोहिका, तद् आह 'विभोः' इति. समर्थस्य जगत्कर्तुः इति अर्थः. साहि तच्छक्तिः सर्वरूपभगवत्सम्बन्धात् सर्वप्रतिकृतिरूपा. सा जगत्करणे करणरूपा. अतः करणांशस्य तदीयत्वात् करणरूपेणैव निर्गताः गुणाइति माययैव गृहीताः"(भाग.सुबो.२।५।१८).

अतः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी घटक गुणत्रयीके अन्तर्भूत जो तमोगुण स्वीकारा गया है वह भी न तो सदसद्विलक्षण माना जाता हे और न अब्रह्मात्मक ही. अतएव "अजाम् एकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा. सृजमानां सरूपाः" (श्वेता.उप.४।५) श्रुतिवचनमें भी 'लोहित-शुक्ल-कृष्ण' पदोंके द्वारा रजस्-सत्त्व-तमोगुणोंका प्रतिपादन किया गया है. ब्रह्मके धर्मिभूत आनन्दके तिरोहित होनेपर भी धर्मभूत आनन्दमेंसे अपने प्रादुर्भावकी प्रक्रियाको 'कृष्ण'पदवाच्य तमोगुण द्योतित करता हे. इसी तरह सत्त्वगुण एव रजोगुण को भी यथायथ धर्मिभूत सदंश एव धर्मिभूत चिदंश के तिरोहित होनेपर भी धर्मभूत सदंश और चिदंश मेंसे दो प्रादुर्भावविशेष समझना चाहिये. उदयास्तके पूर्व ओर पश्चात सूर्यके तिरोहित रहनेपर भी सूर्यप्रकाश कुछ समयके लिये, धर्मिके प्रकट रहे बिना भी, जैसे प्रकट हो जाता है तद्वत्. फिर भी इस प्राकृत गुणत्रयीके वशात् सृष्टिमें प्रकट होनेवाले ज्ञान कर्म कर्ता बुद्धि धृति सुख श्रद्धा आहार यज्ञ तप दान आदिकी जो विविधता अनुभूत होती है, उनमें जहां भी तमोगुण प्रधान होता है, वहां ज्ञानका विषय, कर्मका फल, बुद्धिभात कर्तव्य या विषय का स्वरूप, धृति=धारणाका विषय, सुखका स्वरूप, या तो असद्

होता है या असाधु होता है यह भगवद्गीताके सत्रहवे-अट्ठारहवे अध्यायके अवलोकन करनेपर अवगत होता ही है भगवान्‌के वचन "न तद् अस्ति पृथिव्या वा दिवि देवेषु वा पुन सत्त्व प्रकृतिजै मुक्त यद् एभि स्यात् त्रिभि गुणै" (भग गीता १८।४१) के अवगाहन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है

जगत्‌के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयार्थ परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके जैसे — ब्रह्मा विष्णु एव शिव — तीन आधिदैविक रजस्सत्त्वतमोगुणाभिमानी नियामकरूप माने गये है, वैसे ही, इनके अनुरूप अक्षरब्रह्ममे भी — कर्म स्वभाव एव काल — उत्पत्त्यादित्रयीके नियमरूप रजस्सत्त्वतमोगुणानुरूप तीन आध्यात्मिक रूप भी माने गये है अक्षरब्रह्मके अवशिष्ट दो पहलु प्रकृति तथा पुरुष मेसे प्रकृति, जो उल्लिखित गुणत्रयीकी साम्यावस्था है, उसे त्रिगुणात्मिका माना गया है इस प्रकृतिमे सत्त्वादि गुणत्रयीके गौणप्राधान्यभाववश प्रत्येक उत्पद्यमान विद्यमान तथा लीयमान वस्तुमे कथञ्चिद् उत्पत्ति, तो कथञ्चित् स्थिति, तो कथञ्चित् लय भी निरन्तर चलता ही रहता है एतदर्थ महाप्रभुके ये वचन अवलोकनीय है

> "एष काल तथा कर्म स्वभावो हरिरेव स सर्वथा त्रिगुणत्वाद्धि त्रयो भेदा पृथङ् मता आधिदैविकम् अध्यात्मम् अधिभूतम् इति स्मृता अन्तर्यामी अक्षर कृष्णो ब्रह्मभेदा, तथा परे स्वभावकर्मकाला च रुद्रो ब्रह्मा हरि पर ब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्ततइति त्रयो भेदा अक्षरस्य स्वभावकर्मकाला, रुद्रादय कृष्णस्य"
>
> (त दी नि २।११५-१२१)

इस तरह तमस्‌के आधिदैविक स्वरूपके विवेचनके बाद अब आध्यात्मिक स्वरूपकी विवेचनाके हेतु अग्रसर हुवा जा सकता है

(३ आध्यात्मिक तमस्का स्वरूप)

श्रौतसन्दर्भ . [क]अज्ञानजन्य तमस् तथा [ख]तमोजन्य अज्ञान की परस्पर जन्यजनकता .

[क]"अस्तमिते आदित्ये, याज्ञवल्क्य!, चन्द्रमसि अस्तमिते, शान्ते अग्नौ, शान्तायां वाचि, किंज्योतिरेव अय पुरुष ? इति आत्मैव अस्य ज्योति भवतीति आत्मनैव अय ज्योतिषा आस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति इति" (बृह उप ४।३।६)

[ख]"मृत्यु वै तमो ज्योति अमृतम्" (बृह उप १।३।२८)

[ग]"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा आवृता तान् ते प्रेत्य अभिगच्छन्ति ये के च आत्महनो जना यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव अनुपश्यति सर्वभूतेषु च आत्मान ततो न विजुगुप्सते यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानत तत्र को मोह क शोक एकत्वम् अनुपश्यत अन्धन्तम प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो ये उ विद्याया रता अन्यदेव आहु विद्यया अन्यद् आहु अविद्यया इति शुश्रुम धीराणा ये न तद् विचचक्षिरे विद्या च अविद्या च य तद् वेद उभय सह, अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते" (ईशा उप २।११)

इन श्रुतिवचनोंके अवलोकन करनेपर यह जाना जा सकता है कि सौर चान्द्र आग्नेय तथा वाचिक ज्योतिसे भिन्न कोई एक आत्मचैतन्यरूप ज्योति या प्रकाश भी होता ही है विविध भूतोमे अनुगत तथा विद्या-अविद्यामें भी अनुगत इस आत्मैकत्वके अनुभवके बिना या तो मृत्युरूप या फिर आत्मघातरूप अन्धन्तमकी अनुभूति कथञ्चिद् होने लगती है इसी तरह आत्मैकत्वानुभाववश शोकमोहातिगामी आत्मप्रकाशन

भी शक्य हो ही जाता है यह आत्मप्रकाश तथा आत्मान्ध्य के मूलकारणतया आत्माके साथ जुड़नेवाली भगवान्की द्वादशशक्तिओमे अन्तर्भूत अविद्या या व्यामोहिका मायाके कारण आत्मवेत्तनामे प्रकटी स्वरूपविस्मृति=निजस्वरूपाज्ञान तथा प्राकृत गुणान्तर्गत तमोगुण के बीच परस्पर जन्यजनकभावका चक्र भगवद्गीतामे निरूपित हुवा है

सर्वप्रथम अज्ञानजन्य तमस् "तेषामेव अनुकम्पार्थम् अहम् *अज्ञानज तमो* नाशयामि आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" (भग गीता १०।११) तथा *तमस्तु अज्ञानज* विद्धि मोहन सर्वदेहिना प्रमादालस्यनिद्राभि तद् निबध्नाति" (भग गीता १४।८) इन वचनोमे निरूपित हुवा है

इसी तरह तमोजन्य अज्ञान भी "कर्मण सुकृतस्य आहु सात्त्विक निर्मल फल रजसस्तु फल दु खम् *अज्ञान तमस फल*, सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान रजसो लोभएव च *प्रमादमोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव* च" (भग गीता १४।१६-१७) इन वचनामे निरूपित हुवा हम पाते है

इस विषयमे वाल्लभ वेदान्ताभिमत प्रक्रियाके अनुरोधवश यह कहा जा सकता है कि जहा तमस्को अज्ञानजन्य कहा जा रहा है वहा अज्ञान भगवान्की द्वादशविध शक्तिओमे अन्तर्भूत अविद्या या व्यामोहिका मायाकी उपाधिसे जन्य कोई अनुभूतिविशेष है इसी तरह यहा निरूपित हुवा तमस्का जो जनन है वह प्राकृत तमोगुणका उद्रेक है इसी तरह जहा तमोगुणजन्य अज्ञान कहा जा रहा है वहा अप्राकृत आत्माके साथ जुडी प्राकृत गुणत्रयीके अन्तर्गत तमोगुणके उद्रेकवश ज्योतीरूप आत्माके स्वरूपका आवरक अज्ञान विवक्षित है इन दोनोका चक्रवत् परस्पर जन्यजनकभाव या एकतरके निरसनवश अन्यतरका निरास आविर्भाव-तिरोभावरूप ही स्वीकारा गया है अतएव न तो जनन-नाशहेतुक अभावचतुष्टयी और न सदसद्वैलक्षण्यरूप मिथ्यात्व ही वाल्लभ वेदान्तमे अभिमत प्रक्रिया है यह सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मोपादानक

सृष्टिमे ब्रह्मकर्तृक नाम-रूप-कर्मोका वैविध्यपूर्ण प्रकाशन या अप्रकाशन ही केवल है—"ये चैव सात्त्विका भावा राजसा तामसा च ये मत्तएव इति तान् विद्धि नतु अह तेषु ते मयि" (भग गीता ७।१२), अतएव, यह न तो निरन्वयनाश है और न त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगितारूप बाध ही यो तमस्का कुछ आध्यात्मिक स्वरूप भी सिद्ध होता ही है

निष्कर्षतया तमोगुणरूप उपाधिकी उत्तरोत्तर वृद्धिके वश आत्मचेतनामे प्रमाद आलस्य अज्ञान मोह भ्रान्ति निद्रा मूर्छा मृत्यु अन्धन्तम नरक आदि अनेक रूप आध्यात्मिक तमस्के शास्त्रवचनोमे निरूपित हुवे है ये अक्षरब्रह्मान्तर्भूत चिदशसमष्टि चेतनाकी व्यष्टिरूप चेतनामे उसके स्वभाववश घटित नहीं होते ये घटित होते है आनन्दाशके तिरोधानवश चेतनाके साथ भगवान्की व्यामोहिका मायाके जुड जानेके प्रभाववश ही ये पञ्चपर्वा अविद्याके रूपमे औपाधिकतया वहा भासित होते हे अत तमस्का आध्यात्मिक उपरिनिर्दिष्ट स्वरूप आत्मचेतनाके स्वाभाविक गुणधर्मतया नहीं प्रत्युत औपाधिक गुणधर्मतया प्रकट होता है औपाधिक गुणधर्म सहजस्वभावप्रयुक्त नही होते परन्तु एतावता उन्हे मिथ्या, वाल्लभ वेदान्तमे कमसे कम, माना नही जाता

यो आध्यात्मिक तमस्की स्वरूपविवेचनाके बाद अब आधिभौतिक तमस्के विवेचनार्थ प्रवृत्त हुवा जा सकता है

(४ आधिभौतिक तमस्का स्वरूप)

श्रौतसन्दर्भ · नृचक्षुग्राह्य प्रकाश और उसके तिरोभाववश प्रकट होता तमस् :

(क)"स इत् तमो अवयुन ततन्वत् सूर्येण वयुनवत् चकार" (ऋक्सहि ६।२१।३)

(ख)"अह च कृष्णम्, अह अर्जुन च, विवर्तेते रजसी वेद्याभि, वैश्वानरो जायमानो नराजा अवातिरद् ज्योतिषा अग्नि तमासि" (ऋक्सहि ६।९।१)

(ग) "य तमसि तिष्ठन् तमसो अन्तरो, य तमो न वेद यस्य तम शरीर, य तमो अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृत य तेजसि तिष्ठन् तेजसो अन्तरो, य तेजो न वेद यस्य तेज शरीर, य तेजो अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृत"

(बृह उप ३।७।१३-१४)

(घ) "तद् ऐक्षत 'बहु स्या प्रजायेये'ति तत् तेजो असृजत तत् तेज ऐक्षत 'बहु स्या प्रजायेये'ति तद् अपो असृजत ता आप ऐक्षन्त 'बह्व्य स्याम प्रजायेये'ति ता अन्नम् असृजत सेय देवता ऐक्षत 'हन्त! अहम् इमा तिस्रो देवता अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासा त्रिवृतम् एकैका करवाणि' इति यद् अग्ने (आदित्यस्य चन्द्रमसो विद्युतो) रोहित रूप तेजस तद्रूप, यत् शुक्ल तद् अपा, यत् कृष्ण तद् अन्नस्य अपागाद् अग्ने अग्नित्व (आदित्यस्य आदित्यत्व चन्द्रात् चन्द्रत्व विद्युतो विद्युत्त्व) वाचारम्भण 'विकारो' नामधेय 'त्रीणि रूपाणि' इत्येव सत्यम्"

(छान्दो उप ६।२।३-४।४)

इन श्रुतिवचनोके आधारपर यह सिद्ध होता है कि तमस्का कोई आधिभौतिक स्वरूप भी निश्चयेन होता ही है (क)भगवान्ने जैसे सौर प्रकाशको ज्ञानजनक बनाया है उसी तरह तमस् भी भगवान्के द्वारा ही अज्ञानजनक बनाया गया है (ख)दिन और रात्रि को शुक्ल और कृष्ण बनाया गया है, जो दोनो भूलोकपर और अन्तरिक्षमे चक्रवत् वेद्यतया घूमते रहते है सूर्यकी तरह अग्नि भी किन्तु भूतलपर प्रकट हो कर अपने प्रकाशसे तमस्को निरस्त कर देता है (ग)तमस् और ज्योति दोनोके भीतर वह अन्तर्यामी

विद्यमान रहता है, जिसे तमस् और ज्योति जान नही पाते परन्तु वे दोनो ही उसके शरीररूप होते है जो इन तमस् और ज्योति दोनोके भीतर रह कर उनका नियमन करता है वही हमारे भीतर भी रहनेवाला अमृत अन्तर्यामी है (घ)उस परमात्माने सोचा कि वह अनेकरूप धारण करे सो वह तेज बन कर जल, और जल बन कर, अन्न बन गया उसने सोचा कि वही इन देवताओके रूपोमे प्रकट हो कर प्रस्तुत जीवात्माके रूपमे अनुप्रविष्ट हो कर नामरूपोका विस्तार करे सो उसने प्रत्येककी त्रिपुटी बना दी अतएव अग्नि आदित्य चन्द्रमा और विद्युत् मे जो रक्तिम प्रकाश है वह तैजस है, जो श्वेत प्रकाश है वह जलीय है और जो कृष्णवर्णी प्रकाश है वह अन्नोपलक्षित पार्थिव प्रकाश होता है अत इन अग्नि आदित्य चन्द्रमा या विद्युत् को 'तेज-वायु-पृथिवीके विकार' नामसे पुकारना तो वाग्व्यवहारकी मर्यादा है वास्तविक नाम तो इनका 'तीन रूप' ही समझना चाहिये

यहा त्रिवृत्करण या उपलक्षणविधया पञ्चीकरण की वेदान्ताभिमत प्रक्रियाके अनुरोधवश प्रत्येक पाञ्चभौतिक स्थूल तत्त्वमे स्वयंके अलावा अवशिष्ट दो या चार तत्त्व विद्यमान रहते ही है अत कही भी किसीका आत्यन्तिक अभाव या अन्योन्याभाव तो हो ही नही सकता है अत भगवद्गीतोक्त—"न असतो विद्यते भावो न अभावो विद्यते सत"(भग गीता २।१६) सिद्धान्तके आधारपर भी तेजस् तत्त्वका अभाव ही सिद्ध न हो पानेके कारण अन्धकार या तमस् के तेजोरूप प्रकाशका अत्यन्ताभावरूप होना या तेजोरूप प्रकाशका अन्योन्याभावरूप होना उपपन्न हो नहीं पाता

निष्कर्षतया किसी तरहके प्रकाशके कही-कभी आविर्भाववश, तो किसी तरहके प्रकाशके कहीं-कभी तिरोभावरूप होनेके रूपमे तमस्का एक आधिभौतिक स्वरूप अकामतया मान्य रखना ही पड़ता है अतएव

"उद्गसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम्" — "यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो अर्कांशभूतस्य च चक्षुष तम" (भाग पुरा ३।१७।६ — १२।४।३२) इन भागवतवचनोमे स्पष्टतया आधिभौतिक मेघघटारूप अन्धकारके वश आधिभौतिक भारूप प्रकाशका आधिभौतिक नाश, तथा, सूर्यरश्मिजन्य घनकी सूर्यप्रकाशदृश्यता तथा सूर्याशरूप नृचक्षुओंके प्रति सूर्यावरक होनेके रूपमे तमोरूपता जो निरूपित हुयी है वह भी सगत हो जाती है सूर्यरश्मिजन्य घनोमे उपादानकारणतया अनुगत होनेसे सूर्यका कथमपि अभाव तो सम्भव ही न होनेसे तिरोभाव ही स्वीकारना उचित होगा अत सूर्यप्रकाशका तिरोभाव व्यामोहिका मायाका अवास्तविक मायिक कार्य न होनेसे आधिभौतिक प्रकाशका आधिभौतिक तिरोभावरूप ही आधिभौतिक तमोरूप कार्य ही मानना यहा उचित लगता है ज्योतिके ये आविर्भाव-तिरोभाव भी "आत्मतएव आविर्भावतिरोभावौ आत्मतएव इद सर्वम्" (छान्दो उप ६।२६।१) वचनानुसारी परब्रह्मकी बहुभवनेच्छाके ही एक अनुभावके रूपमे तमस्को भी सिद्ध करते है अस्तु

अतएव आधुनिक भौतिक विज्ञानके अनुसार भी तमस्का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसके साथ प्रस्तुत निरूपणके सवाद या विसवाद पर भी यत्किञ्चित् दृष्टिपात प्रस्तुत विषयके सम्यग् आकलनार्थ उपकारक हो सकता है

<u>आधुनिकविज्ञानसन्दर्भ : नृचक्षु द्वारा ग्राह्य प्रकाश और नृचक्षु द्वारा अग्राह्य प्रकाश के तिरोभाववश प्रकट होते अनेकविध तमस् :</u>

आधुनिक विज्ञानके अनुसार नृचक्षुर्ग्राह्य प्रकाशका क्षेत्रविस्तार अत्यल्प माना गया है जबकि नृचक्षुसे अग्राह्य प्रकाशका क्षेत्रविस्तार बहुत बडा माना गया है एतदर्थ आधुनिक विज्ञानाभिमत एकीकृत इलेक्ट्रोमेग्नेटिक क्षेत्रविस्तारके स्वरूपको दृष्टिगत कर लेना उपकारक होगा

एकीकृत इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक तरङ्गविस्तारका व्यापकक्षेत्र

लघुतरंग ← तरंगदैर्घ्यसारणी → दीर्घतरंग

------------|---------|----|-------|-------------

कॉस्मिकरैज् गामारैज् एक्सरैज् [वृन्ताक्कृष्णातीत(चक्षुर्ग्राह्य)लोहिताध] राडार रेडियोतरंग(एफ्एम् टीवी एएम)

------------|------प्रकाशतरंग--------|-------------

(द्रष्टव्य : फ्रित्जोफ काप्राकृत 'द ताओ फिजिक्स्' पृ.६०)

इस तरंगदैर्घ्यसारिणीके अवलोकन करनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि नृचक्षुर्ग्राह्य प्रकाशका क्षेत्रविस्तार विविध तरंगोकी किरणोके क्षेत्रविस्तारकी तुलनामे कितना अल्पतम है! उस प्रकाशके चक्षुर्गृहीत न होनेपर मनुष्यके नयनोंमे स्वाभाविकतया अन्धकार या तमस् की अनुभूति होने लगती है. परन्तु नृचक्षुर्ग्राह्य तमस्के साथ ही साथ अन्यान्य तरंगो द्वारा वस्तुका प्रकाशन भी उतना सहज सम्भव है. अतएव मानवीय चक्षुसे जहां तमस् ही गृहीत होता हो वहां भी अब अन्यान्य तरंगोकी किरणोसे प्रकाशन अशक्य नही रहा है फलत तमसावृत होना या न होना भी उन-उन तरंगकिरणोके ग्राहक नयनोके अथवा उपकरणोके सन्दर्भमे ही अब सोचा-कहा जाना चाहिये अन्यथा नही इनके उदाहरणतया नृचक्षु द्वारा ग्राह्य प्रकाशकिरणोके दैहिक त्वचाके आवरणके भीतर प्रविष्ट न हो पानेकी स्थितिमे भी एक्स्रे या ध्वनिकिरणो द्वारा त्वगन्त प्रवेशनके तथा उनके परावर्तनके वश शरीरान्त स्थित अगोपांगोका प्रदर्शन एव चित्रण आधुनिक एक्सरे/सोनोग्राफी रूपी उपकरणो द्वारा अतीव सुकर जो हो गया है, उसे ध्यानके बाहर नही रखना चाहिये. गहरे सागरतलमें डूबी हुयी वस्तुके इर्दगिर्द नृचक्षुसे तमस् जहा प्रत्यक्षसिद्ध होता है वहा भी ध्वनिकिरणोके प्रक्षेपण द्वारा अन्तस्तलावस्थित वस्तुका दर्शन एव चित्रग्रहण सुलभ हो गया है. सन् १८८३से आरम्भ कर अधुनातन किये गये अनेक प्रयोग-निरीक्षणोंके आधारपर यह भी सिद्ध हुवा है कि चींटी दफ्निआ(जलमक्षिका) मधुमक्षिका काष्ठभक्षी कीट

(wasp) फलमक्षिका तथा अन्य कुछ पक्षी भी नृचक्षु द्वारा अग्राह्य वृन्ताककृष्णातीत ultraviolet किरणोंको देख पाते हैं (दृष्ट. : पी.ई.हॉक्बर्जर्-कृत 'अ हिस्टोरी ऑफ् अल्ट्रावायोलेट् फोटोबायोलोजी फोर् ह्युमन्स्, एनिमल्स् एंड् माइक्रोओर्गनिजम्' आलेख पृ.५६६).

इन विविध तरंगकिरणोंके बीच न तो आत्यन्तिक आपसी भेद होता है और न आत्यन्तिक अभेद ही. एतावता किसी एक प्रकारकी तरंगकिरणके चक्षुर्गृहीत न हो पानेकी स्थितिमें अनुभूत होते तमस् और दूसरी भी किसी प्रकारकी तरंगकिरणोंसे गृहीत न हो पानेवाले तमस् के बीच भी न तो आत्यन्तिक भेद और न आत्यन्तिक अभेद ही स्वीकारा जा सकेगा. फ्रित्जोफ् काप्रा कहते हैं कि "Today we know that radio waves, light waves or X-rays, are all electromagnetic waves, electric and magnetic fields, differing only in the frequency of their oscillation, and that visible light is only a tiny fraction of the eletromagnetic spectrum" (The Tao Physics p 61) क्योंकि यह सहज सम्भव है कि जिन एक या दो तरहकी तरंगकिरणोंके गृहीत न हो पानेके कारण कहीं तमस् अनुभूत हो रहा हो वहां ही तीसरी प्रकारकी किसी तरंगकिरण द्वारा वस्तुप्रत्यक्ष एवं चित्रग्रहण सर्वथा सुशक ही हो. इन विविध तरंगकिरणोंके प्रभेद इनकी पृथक्-पृथक् तरंग-लंबाईमात्रके आधारपर निर्भर होते हैं. और हम देख सकते हैं कि दृश्य और श्रव्य का प्रभेद भी केवल तरंगोंकी पृथक्-पृथक् लंबाईओंका ही भेद अब रह गया है. और तो और द्रव्य और ऊर्जा के प्रभेद भी अब आपेक्षिक हो गये हैं स्टीफेन् हॉकिंग अपनी 'ब्रीफ हिस्टरी ऑफ टाइम' ग्रन्थमें कहते हैं कि —

"In this theory, particles no longer had separate, well-defined positions and velocities that could

be observed Instead they had a quantum state, which was a combination of position and velocity Although light is made up of waves, Planck's quantum hypothesis tells us that in some ways it behaves as if it were composed of particles it can be emitted or absorbed only in packets, or quanta Equally Heisenberg's uncertainty principle implies that partlicles behave in some respects like waves they do not have a definite position but are smeared out' certain probabilty distribution The theory of quantum mechanics is based on an entirely new type of mathematics that no longer describes the real world in terms of particles and waves it is only the observations of the world that may be described in those terms There is thus a duality between waves and particles in quantum mechanics for some purpose it is helpful to think of particles as waves and for other purposes it is better to think of waves as particles (अ ब्रीफ हिस्टरी ऑफ टाइम् पृ ५९-६१)

न केवल इतना प्रत्युत श्रव्य तरंगोके द्वारा दृश्यावभासन भी शक्य हो गया है अतएव प्रकाशाभावके रूपमे तमस्‌का प्रतिपादन करने जानेपर सर्वप्रथम यह स्पष्टीकरण अनिवार्य हो जाता है कि किस तरहके तरंगकिरणोकी विवक्षाके वश कैसा प्रकाशाभाव विवक्षित है, क्योकि एक तरहके तरंगकिरणका जहा अभाव हो वहा अन्य प्रकारके तरंगकिरणका अभाव होना आवश्यक नहीं होता इसी तरह सभी तरहके तरंगकिरण सभी तरह नयनोंसे या किसी भी एक उपकरणसे

गृहीत हो नहीं पाते परिणामतया ऐसी स्थितिमे नयनगोचर होते तमस्‌के साथ-साथ अन्य प्रकारके तरंगकिरणग्राही उपकरणविशेष द्वारा वस्तुप्रकाशन या साक्षात्कार भी शक्य होता ही है हाल ही मे इराक-अमरीकीयुद्धमे अमरीकी सैनिकोको अन्धेरेमे भी देख पानेके intra red (लोहिताध) प्रकाशकिरणग्राही उपनेत्र प्रदान किये जानेके समाचार प्रकाशित हुवे थे एतावता सिद्ध हो जाता है कि विद्युच्चुम्बकीय व्यापक तरंगक्षेत्रके विस्तारमे न तो सभी तरहके तरंगकिरणोका अभाव सम्भव है और न द्रष्टा और/अथवा उपकरण से निरपेक्षतया तमस् या प्रकाशन का चाक्षुष अनुभव सम्भव हो पाता है अत यहा भी सापेक्षतावादको ही मुखरित होता हुवा हम पाते है पी ई लॅकूबर्जर् तो यहा तक कहते है कि "One of the more contraversial discoveries is the observation that cell produce, transmit and perceive ultraweak electromagnetic radiation (also called ultraweak photon emission, low level bioluminescence and bioelctroma gnetism) (पूर्वोद्धृत आलेख पृ ५७२) अर्थात् एककोशीय जीवाणु भी अतिक्षीण विद्युच्चुम्बकीय तरंगकिरणोको प्रकट करते है, उन्हे सम्प्रेषित करते है तथा उन्हे अनुभूत भी करते है ऐसी स्थितिमे अन्धकारमे अवस्थित किसी प्राणी व्यक्तिका केवल नृचक्षुसे साक्षात्कार शक्य न होनेपर भी अतिक्षीण विद्युच्चुम्बकीय तरंगकिरणग्राही उपकरणविशेष द्वारा साक्षात्कार शक्य होता ही है

निष्कर्षतया अन्धकारको केवल प्रकाशाभावके रूपमे परिभाषित करना अब आधुनिक विज्ञानाभिमत कथा प्रतीत नही होती है

यहा तमश्चाक्षुष प्रत्यक्षकी प्रक्रियाका भी यतकिञ्चिद् विवेचन, आधुनिक विज्ञानके अनुसार, जान लेना सन्दर्भोपात्त ही होगा वह भी पुन ज्योतिश्चाक्षुष प्रत्यक्षकी प्रक्रियाके साथ जुडी हुयी बात होनेसे पुन तदेकसन्दर्भोपात्त ही बन जाती है प्रकाशतरंगकिरणोकी विवेचना

करते हुवे Light and Vision ग्रन्थमे सी जी म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् कहते है

> "Light waves, unlike water waves, need no medium, they can travel in a vacuum without ever diminishing" (p 46)
>
> "Light passing into the eye remains essentially unchanged, although its path is altered so that it reaches the retina in proper focus It is at this point that the dramatic conversion takes place, and light is transformed into signals, partly electrical and partly chemical in their nature Although triggered by light, these signals can no longer be described in terms of light units In fact, the light is gone–dissipated It is used up just as the energy of a gun's hammer is used up when it strikes the bullet At this point, it is important to keep in mind that light *is* energy Light is not a substance nor a picture, but energy, the ability to do work The eye harnesses light energy to see by the process of vision just as plants harness light energy to grow by the process known as photosynthesis " (ibd p 75 76)

अर्थात् जलतरंगोंसे विसदृशतया प्रकाशतरंगोको किसी माध्यमकी अपेक्षा नहीं रहती, वे शून्यावकाशमे क्षीण हुवे बिना निरन्तर यात्रा कर पाती है नेत्रोंके भीतर प्रवेश करते समय दृष्टिपटल तक केन्द्रित हो कर पहुच पानेके पथपरिवर्तनके अलावा प्रकाशम और कोई परिवर्तन

नही आता इस दृष्टिपटल तक पहुच जानेपर प्रकाशके स्वरूपमे अवश्य ही नाटकीय परिवर्तन घटित हो जाता है कि प्रकाश अब सकेतके रूपमे परिवर्तित हो जाता है, अशत वैद्युत और अशत रसायनिक स्वरूपमे इन प्रकाशजन्य सकेतोका प्रकाशकीय इकाईओमे निरूपण अब शक्य नहीं रह जाता वस्तुतस्तु प्रकाश तो व्ययीभूत हो कर तितर-बितर हो जाता हे बन्दूकके भीतर जुडी लघुकाय हथौड़ी जैसे गोलीपर आघात कर चुकनेपर कार्यनिवृत्त हो जाती है तद्वत् यहा एक महत्त्वपूर्ण अवधेय तथ्य यह भी होता है कि प्रकाश एक ऊर्जा है भूल नही जाना चाहिये कि प्रकाश एक ऊर्जारूप पदार्थ ही है, न तो द्रव्यरूप और न चित्ररूप ही प्रकाशरूप ऊर्जाका नेत्र अधिग्रहण करते हे, देखनेकी क्रिया सम्पन्न करनेको, ठीक उसी तरह तरह जैसे प्रकाशकणसश्लेषणकी प्रक्रिया द्वारा वनस्पति आत्माभिवृद्धयर्थ प्रकाशकणोका अधिग्रहण करती हे

यहा, किन्तु, कुछ बाते मुझे दर्शनशास्त्रीय विश्लेपणार्थ विचारणीय प्रतीत होती है सर्वप्रथम तो यह कि प्रकाशको आपेक्षिकतया द्रव्य ओर/अथवा ऊर्जा अर्थात् उभयरूप या वैकल्पिकतया अन्यतररूप न मान कर केवल ऊर्जारूप भी मान कर चला जाये तब भी विज्ञानको उसकी क्षणिकता या क्षणभग की प्रक्रिया तो मान्य नही हे, क्योकि करोडो प्रकाशवर्ष दूरवर्ती ज्योतिष्पिण्डोसे व्युत्सृष्ट प्रकाश भूलोक तक पहुचता माना जाता है अत नेत्रगोलकके भीतर घटित होते प्रकाशके वैद्युतरसायनिक परिवर्तनमे प्रतीत्यसमुत्पादवादानुसारी प्रक्रिया तो अपना पाना दुष्कर है आरम्भवादानुसारी प्रक्रियाको स्वीकारनेमे भी सबसे बडी बाधा यही सामने आती है कि नेत्रगोलकको मस्तिष्कसे जोडनेवाली नाडिओके भीतर वैद्युतरसायनिक तत्त्व तो पहलेसे ही विद्यमान रहता है पूर्वोद्धृत पी ई हाक्क्वर्जके One of the more contraversial discoveries is the observation that cell produce transmit and perceive ultraweak electromagnetic radiation (also called

ultraweak photon emission, low level bioluminescence and bioelectromagnetism) (पूर्वोद्धृत आलेख पृ ५७२) विधान द्वारा भी इसकी पुष्टि होती ही है अत इन वैद्युतरसायनिक सकेतोंमे प्रकाशके रूपान्तरणकी आरम्भवादी व्याख्या भी शक्य नहीं लगती प्रकाश तो चक्षुर्ग्राह्य होनेसे कथञ्चिद् दृष्ट्यधिष्ठानक विवर्त माना जा सकता हे परन्तु प्रकाशके वैद्युतरसायनिक रूपान्तरणको चक्षुर्ग्राह्य बनानेवाले न तो उपकरण निर्मित हो पाये है और न विज्ञान उन्हे प्रकाशकी तुलनामे विषमसत्ताक ही मानता है, अर्थात् न्यूनसत्ताक न मानता होनेसे, उन्हे प्रकाशविवर्ततया स्वीकारना भी अशक्य ही है ऐसी स्थितिमे या तो विकृतपरिणामवादी या अविकृतपरिणामवादी उत्पत्तिप्रक्रियामेसे ही किसी एकको स्वीकारना पडेगा

जहा पूर्वभावापत्ति शक्य न हो और कार्यरूपमे कारणस्वरूपानुगम शक्य न हो वहा विकृतपरिणामवादानुसारी उत्पत्तिप्रक्रिया अभिप्रेत होती है और पूर्वभावापत्ति तथा कारणस्वरूपानुगम के शक्य होनेपर अविकृतपरिणामवादानुसारी उत्पत्तिप्रक्रिया वाल्लभ वेदान्तको अभिमत है और वही यहा, मेरी विनम्र समझके अनुसार, शक्य प्रतीत होती है

रूसके वैज्ञानिक मेंदेलीयेव द्वारा सारणीबद्ध किये गये प्रकृतिसिद्ध ९२ मौलिक तत्त्व और आधुनिक विज्ञान द्वारा निर्मित १४ मौलिक तत्त्व, यो सभीके भीतर अब इलेक्ट्रॉन न्यूट्रॉन और प्रोटॉन रूपी कारणस्वरूपके अनुगमके तथा विश्लेषण द्वारा पूर्वभावापत्ति भी शक्य होनेसे अविकृतपरिणामवादानुसारी उत्पत्तिप्रक्रिया ही यहा मान्य रखनी चाहिये स्वय सी जी म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् भी इतना तो स्वीकारते ही है कि —

> "It assumes that a single photon of light is strong enough to power the chemical and

electrical processes that actually produce the *sensation of vision in the brain. But* one photon could not do that It is far too weak; just to provide dim light from a small flashlight requires billions and billions of photons per second Scientists are certain that the pigment reaction must be amplified for any perception of vision *to occur As yet, they do not know how this* amplification takes place in eye George Wald of Harvard's Biological Laboratories has suggested two possibilities It may be that the absorption of photon activates chemical boosters—enzymes—in the pigment These enzymes may then able *to generate far greater amounts of energy than the original molecule could produce* by itself"

(लाईट् एंड् वीजन् पृ.८०).

एक और यान्त्रिकी प्रक्रिया फोटोरिसेप्टर्स्मे फोटॉन कणो द्वारा छिद्रीकरण (punching) की भी प्रस्तावित की गयी है इनमे, परन्तु, प्रथम प्रक्रियाके सन्दर्भमे तो अविकृतपरिणामवादानुसारी अभिन्ननिमित्तोपादान-वाली उत्पत्तिप्रक्रियाकी सगति सर्वथा सोची ही जा सकती है. द्वितीय प्रक्रिया कुछ दुरूह लगती है तथा अभिन्ननिमित्तोपादानकारणताके विचारपर आश्रित न हो कर केवल निमित्तकारणताके विचारपर आश्रित प्रतीत होती है.

प्रकृतानुसरणार्थ श्वेताश्वतरोपनिषद्के "य: एको अवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णान् अनेकान् निहितार्थो दधाति वि चैति च अन्ते विश्वम् आदौ स देव." (श्वेता.उप.४।१) तथा "सप्त युञ्जन्ति रथम् एकचक्रम्

एको अश्वो वहति सप्तनामा, त्रिनाभि चक्रम् अजरम् अनर्वं येन इमा विश्वा भुवनानि तस्थु श्वेतो रश्मि परि सर्व बभूव" (तैत्ति आर ३।११।८-१०) इन श्रुतिवचनोके अवलोकन करनेपर अवर्णका सर्ववर्णभावापन्न होना तथा श्वेतरश्मि सूर्यकी रश्मिओका ही सप्तवर्णी भी होना ईसाके १८वे शतकमे हुवे इस्साक न्यूटन्से बहुत पहले वेदोमे प्रतिपादित था ही न्यूटन्के प्रसिद्ध प्रयोग कि त्रिपार्श्व काचमेसे सूर्यरश्मिके नि सारण किये जानेपर श्वेतरश्मिमे से सभी रगोकी किरणे पृथक् हो कर बाहर प्रकट हो जाती है यह प्रसिद्ध वृत्तान्त है अत प्रातिकूल्येन, अर्थात्, अन्ते व्येति च विश्वम्" (यथोद्धृत) इस प्रक्रियाके नेत्रमे सम्पन्न न होनेपर तमस्की अनुभूतिका ऊह सरलतया सम्पन्न किया जा सकता है परन्तु यह कथा वस्तुत इतनी सरल नही है क्योकि तमस् जैसे कृष्णवर्णी होता है वेसे ही चक्षुर्ग्राह्य वस्तुओके प्रकाशसयुक्त होनेपर भी कृष्णवर्णकी अनुभूति भी होती ही है अत उस कृष्णवर्ण और तमस्के कृष्णवर्ण के बीच रहे अन्तरका और उसके चाक्षुप प्रत्यक्षका विमर्श भी यहा आवश्यक हो जाता है

सी जी म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् अपने पूर्वोद्धृत ग्रन्थमे कहते है कि मनुष्यके नेत्रके भीतर प्रकाशसवेदनशील तत्त्व दो तरहके होते है १ शलाका तथा २ शकु शलाका सीधी तथा महीन होती है, जबकि शकु कुछ अधिक फूले फूले से महीन गुब्बारे जैसे होते है ये दोनो हमारे दृष्टिपटलके पार्श्वमे एक साथ ठुसे हुवे भरे रहते है—करीब तेरह करोडकी सख्यामे एक छोटी सी डाककी टिकिटके जितनी जगहमे भरे रहते है और क्योकि अन्य भी कयी पशुओकी तरह मनुष्य भी दिन और रात दोनो तरहके दृश्यजगत्मे जीनेवाला प्राणी है अत नृचक्षुमे करीब ७० लाख शकु तीव्र चमकीले प्रकाशके सुविशद परीक्षणार्थ भरे रहते है और महीन शलाका तो इनसे अट्ठारह गुनी ज्यादा मन्दप्रकाशके अधिग्रहणार्थ भरी रहती है जैसे केमराके भीतर यथेच्छ श्वेतकृष्ण या रगीन फिल्म भरी जा सकती है, ठीक

उसी तरह ये शलाकायें मुख्यतया दृश्यवस्तुके श्वेतकृष्णवर्णकी ग्राहिका होती हे और शंकु मुख्यतया विविध वर्णी दृश्यके ग्राहक होते हें. फिरभी शंकु पीतिमायुक्त हरित् वर्णी दृश्यतरंगके विशेषतया ग्राहक होते है, जबकि शलाकायें गौणतया नीलिमायुक्त हरित् वर्णके दृश्यतरंगके प्रति भी अपनी संवेदनशीलता प्रकट करती हें. अतएव रक्तिम पुष्प तथा नील पुष्प दिनके प्रकाशमें समानतया चमकीले लगते है जबकि रात्रिके धुंधलकेमें दोनो वर्णोंकी चमक कम हो जाती है (तत्रैव पृ.७६-७७). यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि आधुनिक विज्ञानके अनुसार मौलिक वर्ण या तो लोहित हरित् ओर नील होते या लोहित पीत हरित् ओर नील माने गये है. वैसे १८वीं शताब्दिके मोजेस् हेरिस्ने अपने वर्णव्यवस्थाद्योतक चक्राकार कोष्ठकमें परस्पर मिश्रणवश [१]रक्त [२]केसर-रक्त [३]रक्त-केसर [४]केसर [५]पीत-केसर [६]केसरी-पीत [७]पीत [८]हरित्-पीत [९]पीत-हरित् [१०]हरित् [११]नील-हरित् [१२]हरित्-नील [१३]नील [१४]पतंगी-नील [१५]नील-पतगी [१६]पतगी [१७]रक्त-पतगी [१८]पतगी-रक्त (तत्रैव पृ १२९) वर्णोके भेदोपभेद दिखलाये थे. अत यहा अवधेय है कि श्वेत और कृष्ण को वर्ण नहीं माना गया हे. क्योकि सर्वविध वर्णोकी प्रकाशतरंगोके समाहारसे जन्य चाक्षुष अनुभूतिमे श्वेतका अवभासन होता है तथा सर्वविध प्रकाशतरंगोंमेसे किसी भी प्रकारकी प्रकाशतरंगके नेत्रपटल तक प्रविष्ट न हो पानेपर कृष्णवर्णका अवभासन होता माना गया है.

सी.जी.म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् कहते है कि—

> "Light is the only source of color in the world The ripest tomato, the most spectacular peacock, the gaudiest clown's costume—all are merely reflectors, absorbers and transmitters of one or more colors that make up light Without it, not even the faintest color exists This is not an easy concept to accept because color seems an

inherent part of everything man sees If light is only source of color, how does nature achieve it's endlessly divert palette, and how does man get the remarkable effects he does with color? The answer to these questions lie in the nature of and interrelatioship of three elements light, the source of color, the material and it's response to color, and the eye, the perceiver of color" (लाईट् एड् वीज़न् पृ ९७)

यो इन सभी रगोकी तरगोंके एक साथ नेत्रपटलमे प्रविष्ट होनेपर श्वेतवर्ण गृहीत होता है और इनमेसे किसी लम्बाईकी कोई भी तरग जब दृष्टिपटल तक पहुच नहीं पाती तो वहा कृष्णवर्ण गृहीत हो जाता है

ऐसी स्थितिमे जहा तमस् गृहीत होता है वहा वस्तुत प्रकाशका अभाव नही प्रत्युत समूचा प्रकाश वहा अन्त शोषित रहता है अतएव अन्यान्य प्रकाशतरगोके मध्यमे इस श्वेतप्रकाश — चक्षुर्ग्राह्य सर्वविध प्रकाशतरगोंके समाहार — का अन्त शोषण कृष्णवर्णात्मना गृहीत होता है जबकि कृष्णवर्ण जहा भासित हो रहा हो उसके चतुर्दिक् अन्यान्य प्रकाशतरगोका भी परावर्तन तथा दृष्टिपटल तक अन्त प्रवेश यदि सम्पन्न नही हो पाता तब वहा तमस् या अन्धकार भासित होने लगता है किसी वस्तुतलपर प्रकाशतरगोके प्रक्षेपण या सयोग के बाद उस वस्तुतल द्वारा प्रकाशका अन्त शोषण होनेपर प्रकाशतरगोका अभाव(-असत्त्व) घटित हो जाता है कि तिरोभाव(सत्त्व होनेपर भी अनुभवागोचरता या सत्व होनेपर निज अर्थक्रियाकी अकारिता) यह न्याय-वैशेषिक मत तथा वाल्लभ वेदान्तके बीच विवादग्रस्त विषय हो सकता है उभय न्याय-वैशेषिक तथा वाल्लभ वेदान्त को, किन्तु, अभिमत प्रकाशसयुक्त वस्तुके साथ

चक्षुसयोगके सम्पन्न होनेपर वस्तुके चाक्षुष प्रत्यक्षकी प्रक्रिया आधुनिक विज्ञानको मान्य नहीं है क्योकि आधुनिक विज्ञान चक्षुको प्राप्यकारी नही मानता प्रत्युत वस्तुके साथ प्रकाशसयोग सम्पन्न होनेपर वस्तुद्वारा अवशोषित प्रकाशतरगोके अलावा जिन प्रकाशतरगोका वस्तुतल द्वारा प्रतिक्षेपण होता है वे परावृत हो कर हमारी चक्षुमे प्रविष्ट हो कर वस्तुका चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रकट करती है यह प्रत्यक्षसिद्धतया सर्वथा निर्विवाद सिद्ध अब माना जाना चाहिये ऐसी स्थितिमे पूर्वनिरूपित प्रक्रियाके अनुसार किसी वस्तुके कृष्णवर्णका चाक्षुप अनुभव तथा तमस्के कृष्णवर्णी होनेका चाक्षुप अनुभव यो दोनोके बीच सम्पन्न होती अनुभूतिप्रक्रियाओमे यत्किञ्चित् पार्थक्य तथा अधिकाशमे अपार्थक्य अर्थात् प्रकाशके अपरावर्तनवश नेत्रगोलकान्तर्गत नेत्रपटलान्त स्थित शलाकाओका अनुद्दीपन ही कृष्णवर्णोपित भौतिक वस्तु या अन्धकार की अनुभूतिका जनक होता है

सी जे म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् का यह भी कहना है कि वर्णचाक्षुष प्रत्यक्षके बारेमे प्रयोगो द्वारा यह निर्धारित हो गया है कि लाल और हरे रगोका पार्थक्य मन्दप्रकाशमे भी सम्भव है जबकि नीले और पीले रगोका पार्थक्य मन्दप्रकाशमे जान पाना उतना सरल नही होता जबकि तीव्रप्रकाशमे नीलपीत वर्णोका पार्थक्य कुछ अधिक ही प्रकटतया भासित होता है वैसे किसी वर्णपर नयनोको अत्यधिक ध्यानैकाग्र बनानेपर वह उस वर्णके प्रति हमारे मस्तिष्ककी रुचिको क्षीण बना देता है ओर वहा दृष्टिगोचर होता वर्ण या तो ओझल होने लगता है या फिर सिलेटी (श्वेतश्यामिश्रणजन्य gray) वर्णका ही आभास प्रकट होने लग जाता है यद्यपि प्रस्तुत आलेखकारको ऐसी अनुभूति होती नही है परन्तु सी जे म्यूलर् तथा माए रुडोल्फ् का यह भी कहना है कि अतएव गहन अन्धकारमे हमारी दृष्टि घना सिलेटी रग ही देख पाती है कृष्णवर्ण नही। क्योकि कृष्णवर्ण या तो अन्य वर्णोके साहचर्य या उनके अनुवर्तन के रूपमे ही अनुभूत

होता है अत इनका कहना है कि "For black does not exist except as a sensation that accompanies or follows other colors, the lighter those colors are the the deeper the black that will appear Black is blackest in contrast to white' (लाईट् एड वीजन् पृ १३६)

मूलमे भारतीय वर्णानुभूतिकी रीतिमे न तो नीले और काले रगोंके बीच शब्दान्तरोकी कोई व्यवस्था है और नही वर्णोंके भेदोपभेदोके ही बहुत सुव्यवस्थित नामकरण किये गये उपलब्ध होते है परिणामतया *"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमाद् ऋते"* के नियमानुसार वर्णचाक्षुष प्रत्यक्षमे भी थोडी-बहुत असमञ्जसता हमारी अनुभूतिमे झलकती ही है, और, इसका प्रत्याख्यान शक्य नही। यह हम देख सकते है कि इन्द्रनील मणिकी नीलिमा, गगनकी नीलिमा, पिरोजा मणिकी नीलिमा, तमालवृक्षकी नीलिमा, नील घटकी नीलिमा, गज-महिष-काकादि प्राणिओकी नीलिमा, अन्धकारकी नीलिमा आदि अनेक वर्णोंके आभासोके लिये एक ही 'नीलिमा' शब्द प्रयुक्त होता हुवा हम पाते है।

किसी भी सूरतमे इतना तो स्पष्ट ही है कि Photon प्रकाशकणोके अशत या सर्वाश मे अवशोषण हो जानेकी सूचना नृचक्षु कृष्णवर्णके आभासन द्वारा देती है एतावता अन्यान्य तरगोका भी अवशोषण हुवा मान नही लेना चाहिये अब स्टीफेन् हॉकिग् तो यहा तक प्रतिपादन करने उद्यत हुवे है कि अन्तरिक्षमे अवस्थित आसन्नात्मविलय 'कृष्णगर्ता'रूप Black Holes पिण्ड भी सर्वात्मना सर्वविध तरगोका अन्त शोपण नहीं करते है

स्टीफेन् हॉकिग् कहते है—

"The idea of radiation from black holes was the first example of a prediction that depended

in an essential way on both the great theories of this century, general relativity and quantum mechanics However, in the end most people have come to conclusion that black holes must radiate like hot bodies, if our other ideas of general relativity and quantum mechanics are correct Thus even though we have not yet managed to find a primordial black hole, there is fairly general agreement that if we did, it would be emitting a lot of gamma rays and X rays "

(अ ब्रीफ हिस्टरी ऑफ टाईम् पृ ११९)

यह एक विस्मयजनक साम्य है कि वेदान्त तथा साख्य सिद्धान्तोको अभिमत उत्पत्ति-स्थिति-लयके नियामक रजसस्त्वतमो गुणोके रक्त श्वेत तथा कृष्ण वर्णोका निरूपण आधुनिक विज्ञान भी प्रकारान्तरसे स्वीकारता है मूलत निहारिकाओमे बिखरी हुयी गेस और रेणु के बडे-बडे मेघोमे जब कही आन्तरिक परस्पराकर्षणवशात् एकत्रित हो कर सपिण्डित होनेकी प्रक्रिया शुरु होती है तब आकाशीय पिण्डो या ताराओ का निर्माण होता है अत उन तारापिण्डोके केन्द्रमे हायड्रॉजन् गेस्के कण पिस-पिस कर हीलियम् गेस्मे रूपान्तरित होने लगते है उन पिण्डोकी यह अवस्था करीब दस खर्व वर्षो तक चलती बतायी जाती है हमारा सूर्य, आधुनिक विज्ञानके अनुसार, अभी इसी अवस्थामे ही वर्तमान है परन्तु जब सारा हायड्रॉजन् जल जाता है तब वह प्रज्वलनशील तारापिण्ड विराट चमकीले रक्तिम पिण्डका रूप धारण कर लेता है वही शने-शनै क्षीण हो कर श्वेत वामन पिण्ड बन जानेपर अन्तमे थडा पड कर तथा सिकुड कर राखके एक कृष्णवर्णी वामन गोलाके रूपमे शेष रह जाता है परन्तु अधिक द्रव्ययुक्त पिण्ड श्वेत वामन अवस्था प्राप्त करनेसे पूर्व ही आन्तरिक विस्फोट द्वारा अत्यधिक

घनीभूत न्यूट्रॉन् तारा बन जाते है. और तब इनके भीतर प्रत्यापत्तिकी प्रक्रिया आरब्ध होने लगती है. यह बहुत कुछ उसी तरहकी होती है जैसी कि सुबालोपनिषद्के—

> "सो अन्ते वैश्वानरो भूत्वा सन्दग्ध्वा सर्वाणि भूतानि, पृथिवी अप्सु प्रलीयते, आप. तेजसि प्रलीयन्ते, तेजो वायौ विलीयते, वायु आकाशे, आकाशम् इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते, भूतादिः महति, महान् अव्यक्ते, अव्यक्तम् अक्षरे, अक्षरं तमसि, तम परे देवे एकीभवति. परस्ताद् न सत् न असद् न सदसद् इत्येतद् निर्वाणानुशासनम् इति वेदानुशासनम् इति".
>
> (सुबा.उप.२)

—वचनमे ब्रह्मके बारेमे निरूपित हुयी है. और तब इसे 'कृष्णगर्त' Black Hole कहा जाता है अन्तर इस कृष्णगर्तके तमस् और ब्रह्मकी योगनिद्रारूप तमस् के बीच इतना ही है कि ब्रह्माण्डमें कृष्णगर्त तो अनेकानेक सम्भव है प्रत्यापत्याश्रय ब्रह्म, किन्तु, एकमेवाद्वितीय होनेसे उसके आधिदैविक तमस्के बाहर कुछ भी शेष बच नही सकता.

इस मुद्देको उपसहृत करनेसे पहले नासाके भूतपूर्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक कार्ल् सेगान्की एक उक्ति दोहराना चाहूगा—

> "The Hindu religion is the only one of the world's great faiths dedicated to the idea that the Cosmos itself undergoes an immense, indeed an infinite, number of deaths and rebirths It is the only religion in which the time scales correspond, no doubt by accident, to those of modern scientific

cosmology It's cycle run from our ordinary day and night to the day and night of Brahma, 8 64 billion years long, longer than the age of Earth or Sun and about half the time of since the Big Bang And there are much longer time scale still" (कॉस्मोस् पृ २५८)

अत इस कृष्णगर्तरूप आधिभौतिक तमस्की ब्राह्मिक अलौकिक तमस्के साथ कोई तुलना अन्यथा शक्य नही सिवाय कि प्रत्यापत्ति और पुन नूतन व्युच्चरण के (द्रष्ट "यथा अग्ने क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मन सर्वे लोका व्युच्चरन्ति" बृह उप २।१।२०) आधुनिक विज्ञानमे भी इसे व्युच्चरण और प्रत्यापत्ति का चक्र माना गया है अत समूचे श्रौत चिन्तनकी व्याख्या आधुनिक शब्दावलीमे करनी हो तो न तो अपने यहा 'बिग बेग थिअरी' है और न 'एक्स्पाडिंग् युनिवर्स् थिअरी' ही क्योंकि श्रौत चिन्तन तो 'पल्सेट् थिअरी'को अपना कर चला है अतएव न इस योगनिद्रारूप आधिदैविक तमस्का, न व्यामोहिका मायासे जन्य आध्यात्मिक तमस्का, और न आधिभौतिक तमस्का ही एकान्तिक या आत्यन्तिक निरसन वाल्लभ वेदान्तको अभिमत प्रक्रिया है हा, चक्रान्त पाति आपेक्षिक निरसन ही उपनिषद् भगवद्गीता और पुराणोके आधारपर सिद्ध होता होनेसे वाल्लभ वेदान्तमे मान्य रखा गया है एतावता सिद्ध हो जाता है कि किसी विशेष चक्रान्त पातितया तमस्का निरसन शक्य होनेपर भी वह आत्यन्तिक निरसन न होनेसे तमस् भी ब्रह्मकी तरह स्वरूपतो नित्य अर्थात् नित्यसिद्ध न होनेपर भी प्रवाहतो नित्य अर्थात् आविर्भाव-तिरोभावशाली होनेसे कथञ्चित् तो नित्य होता ही है

श्वेताश्वतरोपनिषद्मे एक अतीव श्रवणीय उद्घोष हमे यह मिलता है कि "काल स्वभावो नियति यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति,

चिन्त्याः, संयोगः एषां नतु आत्मभावाद् आत्मापि अनीशः सुखदुःखहेतोः. ते ध्यानयोगानुगता. अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढां, यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एकः." (श्वेता.उप.१।२-३) अर्थात् काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, स्थूलतया व्यक्त पाञ्चभौतिक द्रव्य, अव्यक्त प्रकृति, पुरुष; अथवा, इनका परस्पर संयोग, इनमें किसीका भी अस्वीकार किये बिना इन सभीको किसी परदेवताकी आत्मशक्ति द्वारा अधिष्ठित मान गया है. एक ऐसा देवता कि जो स्वयंको स्वयंके गुणो द्वारा निगूढ रखता है. यह एक उपनिषदभिमत प्रक्रिया है. ठीक इसी तरह आधुनिक वैज्ञानिकोंमें भी सभी पदार्थों और प्रक्रियाओ के एकीकरण द्वारा किसी एक प्रमेयको खोज अब जोर पकडती जा रही है.

अतएव विविध तरंगोके एकीकरणकी प्रक्रियासे उत्साहित हो कर महा-एकीकरणकी प्रक्रियाकी खोजमे आधुनिक वैज्ञानिक भी जुटे हुवे है. इस विषयमे स्टीफेन् हॉकिंग्के कुछ उद्गारोको उद्धृत करनेके लोभका सवरण शक्य न होनेसे करना चाहूंगा—

"The success of the unification of the electromagnetic and weak nuclear forces led to a number of of attempts to combine these two forces with the strong nuclear force into what is called a grand unified theory (or GUT)"(p 79)

"GUTs allow quarks to change into antielectron at high energy The also allow the reverse process, antiquarks turning into elctrons and antielectrons into antiquarks and quarks" (p 82)

"The uncertainty principle is a fundamental feature of the universe we live in A successful

unified theory must therefore neccessarily incorporate this principle " (p 164)

"But can there really be such a unified theory ? Or are we perhaps just chasing a mirage ? There seems to be three possibilities 1 There really is a complete unified theory, which we will someday discover if we are smart enough 2 There is no ultimate theory of universe, just an infinite sequence of theories that describe the universe more and more accurately 3 There is no theory of the universe, events cannot be predicted beyond a certain extent but occur in a random and arbitrary manner " (P 176)

"However, if we do discover a complete theory, it should in time be undrestandable in broad principle by everyone, not just a few scientists Then we shall all, philosophers, scientists, and just ordinary people, be able to take part in the discussion of the question of why it is that we and the universe exist If we find the answer to that, it would be the ultimate triumph of human reason—for then we would know the mind of God "(p 185)

हमने देखा कि कैसे उपनिषद् अनेक कारणोको एक ब्रह्मके रूपमे एकीकृत बना कर अद्वैतकी प्रक्रिया प्रस्तुत करते है उपनिषदोमे हमे यह भी देखनेको मिलता है कि कैसे एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही प्रकटाप्रकट वाच्यावाच्य विज्ञान-अविज्ञान सत्य-अनृत मूर्तामूर्त व्यक्ताव्यक्त साधार-निराधार मर्त्यामृत

स्थिरास्थिर ही नही प्रत्युत ज्योति-तमस् रूपात्मना भी रूपान्तरित होता है. स्वय श्वेताश्वतरोपनिषद्मे ही यह स्पष्टीकरण भी हम पाते है कि यदृच्छा अर्थात् principle of uncertainty भी ब्रह्मकी किसी शक्तिविशेषका ही एक अनुभाव है. ब्रह्माण्डकी सम्पूर्ण व्याख्याके लिये प्रवृत्त होनेवाले सिद्धान्तोंके बारेमे भी जो तीन तरहकी उत्प्रेक्षा स्टीफेन् हॉकिंग् करते है, उसके सन्दर्भमे तो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके ये उद्गार ही दोहराना चाहूंगा कि "सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद् अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयं युक्त्यगोचरम्" (त दी नि.१।७०-७१) रहा अन्तिम मुद्दा कि क्यो हमारा अस्तित्व है और क्यो इस ब्रह्माण्डका अस्तित्व है? इस प्रश्नके उत्तरतया तैत्तिरीयोपनिषद्के "असन्नेव स भवति असद् ब्रह्म इति वेद चेद् अस्ति ब्रह्म इति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदु इति" (तैत्ति.उप.२।६) वचन ही अविस्मर्तव्य लगता है क्योकि जो सम्भावित तथा अनुभूत सभी पदार्थोंका एकीकृत महापदार्थ (द्रष्ट. : "परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति" : मुण्ड उप.३।२।७) हो उसे अस्वीकृत करना स्वय अपने-आपका अस्वीकार है.

यो आधिभौतिक प्रकाशतिरोधानवश प्रकट होता तमस् यदि प्रकाशाभावरूप न हो तो, और, वह ब्रह्मकी ही तरह स्वरूपतो नित्यसिद्ध न होनेपर भी प्रवाहतया तो नित्य ही हो तो, उसकी स्वप्रतिपन्नोपाधिमे त्रैकालिकी निषेधप्रतियोगिता भी सिद्ध नहीं हो पायेगी. ऐसी स्थितिमे "ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो माया यथा आभासो यथा तम" (भाग.पुरा.२।९।३३) इस वचनकी क्या संगति? क्योंकि प्रकाशका तिरोभाव हमारी चेतनामे होती अनुभूतिमे प्रकट नहीं होता और तमस् तो जो प्रकटतया अनुभूत होता ही है, उसकी अनुभूयमान बाह्य अर्थतया सत्ता सिद्ध भी नही होती. इस प्रश्नके समाधानार्थ, अब, तमस्का एक असत् परन्तु व्यामोहिका माया द्वारा प्रदर्शित रूप भी पुरस्करणीय बनता है. तदर्थ निष्कर्षतया

मूल विषयपर लोटनेको साथ ही साथ गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमविरचित अवतारवादावलीके अन्तर्गत अन्धकारवादकी भी संगति विचारनेको अब उद्यत हुवा जा सकता है.

(५.मायिक तमस्का स्वरूप)

<u>श्रौतसन्दर्भ : व्यामोहिका माया द्वारा प्रदर्शित असत् तमस्का स्वरूप</u> :

"मायया अन्यदिव स वा एष आत्मा. परएव एषएव सर्वम्. तथाहि प्राज्ञे सैषा अविद्या जगत् सर्वम्. आत्मा परमात्मैव स्वप्रकाशोऽपि अविषयज्ञानत्वाद् जानन्नेव हि अत्र न विजानाति. अनुभूते. माया च तमोरूपा. अनुभूते. तदेतद् जडं मोहात्मकम् अनन्तं तुच्छम् इदं रूपम् अस्य, अस्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्तापि मूढै आत्मेव दृष्टा. अस्य त्वम् असत्त्वं च दर्शयति सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन सैषा वटबीजसामान्यवद् अनेकवटशक्ति एकैव. तद्यथा वटबीजसामान्यम् एकम् अनेकान् स्वाव्यतिरिक्तान् वटान् बीजान् उत्पाद्य तत्र-तत्र पूर्णं सत् तिष्ठति एवमेव एषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशौ आभासेन करोति. माया च अविद्या च स्वयमेव भवति."

(नृसिं उत.ताप उप.९).

यहां यही बात मुख्यतया अवधेय है कि इस लोकसृष्टिसे पृथक् कुछ दिव्य नाम-रूप-कर्म ऐसे भी ब्रह्ममे प्रकट होते है कि जिनमे ब्रह्मके सच्चिदानन्द स्वरूपका अनुगम प्रकटतया शास्त्रनिर्दिष्ट है. कुछ लौकिक नाम-रूप-कर्म ऐसे भी ब्रह्ममे प्रकट होते है कि जिनमे सच्चिदानन्द ब्रह्मके केवल सदंशका ही अनुगम प्रत्यक्षसिद्ध, श्रुतिसिद्ध (द्रष्ट. : "सन्मूला , सोम्य !, इमा सर्वा प्रजा सदायतना सत्प्रतिष्ठा ", "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा 'अस्ति' इति ब्रुवतो अन्यत्र कथं तद् उपलभ्यते।" ––छान्दो उप.६।८।६,कठोप २।३।१२) तथा

ब्रह्मज्ञानियोंके ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा भी निरूपित होता पाया जाता है परन्तु न केवल श्रुतिवचनोमे अपितु उल्लिखित भागवतपुराणके वचनोमे भी कुछ नाम-रूप-कर्मोमे ब्रह्मका सदश भी न तो उपादानकारण बनता है और न उनकी लौकिक अनुभूतियोके बलपर भी किसी तरहका सत्व वहा भासित होता है इस लीलात्रैविध्यको महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण यो दरसाते है ''नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे 'रूपनामविभेदेन य क्रीडति 'रूपनामविभेदेन यो जगद् (भूत्वा) क्रीडति 'रूपनामविभेदेन यतो जगत् (क्रीडति)-इति क्रीडाया स्वातन्त्र्यम् उक्त, निर्लेपत्वाय एतादृश जगद् यत इति'' (त दी नि १।१) अत कुछ नाम रूप तथा कर्म ऐसे भी होते है जो ब्रह्मकी केवल निमित्तकारणताके वश प्रकट होते है इनमे ब्रह्मका स्वरूप नहीं केवल व्यामोहक सामर्थ्य ही झलकता है इस सामर्थ्यको ही वाल्लभ वेदान्तमे व्यामोहिका माया माना गया है तमस् हमे किसी प्रकाशविशेषके *तिरोभाव*के रूपमे झलकता दिखलायी नही देता प्रत्युत *''नील तम चलति''* यो चलनकर्मयुक्त, नीलरूपयुक्त तथा 'तमो'नाम्ना अभिहित एक विलक्षण पदार्थके रूपमे चाक्षुष अनुभूतिका गोचर बनता है इसे ही ''ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो माया यथा आभासो यथा तम'' (भाग पुरा २।९।३३) वचनमे बाह्यार्थविहीन मिथ्या अनुभूतिके उदाहरणतया माना गया है अतएव महाप्रभु कहते है—

> '' 'तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्' इति यस्मात् कारणात् अविद्यमानमेव बोधयति विद्यमान च न बोधयति तस्मात् कारणात् ता मायामेव विद्यात् नहि विषय चक्षु वा नियतस्वभावम् अन्यथाप्रतीतिहेतु भवति ननु मायाया कथम् एव पदार्थजनकत्व व्यामोहजनकत्वमेव तस्या ! नच विषयातिरिक्ता विषयता क्वचिद् उपलब्धा इति आशक्य आह '*यथा तम*' इति यथा अन्धकार पदार्थ तेजोऽभावे'' जन्यते यत्रैव तेजोऽभाव तत्रैव अन्धकार जनयति माया

इयमेव व्यामोहिका अतएव दिवाभीतान् प्रति न अन्धकारं जनयति तेतु तेजोऽभावमेव गृह्णन्ति तेषां दृष्टे कोमलत्वात् बलवत्तेजो दृष्टिप्रतिबन्धकं भवति तदभावे सुखेन विषयान् गृह्णन्ति. 'यथा हि भानो उदयो नृचक्षुषाम्' इति वाक्ये चक्षु सम्बन्धिनएव तमसो नाशकत्वं नतु स्वभावत किञ्चित् तमो अन्यथा स्पर्शेनापि ज्ञाने तत् प्रतिबन्धकं स्यात्; स्पर्शेन वा तद् गृह्येत"(भाग सुबो २।९।३३)

यहा महाप्रभुको 'अभाव'पदका जो अर्थ अभिप्रेत है उसका उनके ही शब्दोमे — "अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्ति" (भाग सुबो २।९।३२) अनुसन्धान कर लेना उचित होगा एतावता यह फलित हुवा कि भगवत्प्रकटित नाम-रूप-कर्मोके आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक प्रभेदोकी तरह एक प्रभेद मायिक भी वाल्लभ वेदान्तमे स्वीकारा गया है, शास्त्रवचनोके प्रामाण्यके अनुरोधवश ही

सक्षेपमे पुन तेजोद्रव्यका तिरोभाव तमसूका एक आधिभौतिक रूप है जो वास्तविक होता है इसी तरह तेजोद्रव्यके तिरोभाववश हमारी बुद्धिमे, या आधुनिक शब्दावलीमें कहना हो तो मस्तिष्कमे, विषयवस्तुविहीन घटित होती प्रतीति भी तमसूका एक मायिक रूप होता है इसे तमसूको असत् माना गया है भागवतपुराणगत "छायाप्रत्याह्वयाभासा हि असन्तोऽपि अर्थकारिण " (भाग पुरा ११।२८।५) वचनके आधारपर इस ओर ऐसे अन्य भी अनेक व्यामोहकमायावभासित पदार्थोकी न केवल प्रतीतिभास्यता अपितु असत् होनेपर भी अर्थक्रियाकारिता वाल्लभ वेदान्तमे मान्य रखी गयी है

अतएव अद्वैतसिद्धिमे निरूपित पञ्चविध मिथ्यात्वमे से इस तमस् और ऐसे अन्य भी व्यामोहकमायाप्रदर्शित पदार्थोके मिथ्यात्वके स्वरूपके बारेमे यह स्पष्टीकरण अब आवश्यक हो जाता है कि "सदसद्वैलक्षण्य',

[2]"स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकलिकनिषेधप्रतियोगित्व', [3]"ज्ञाननिवर्त्यत्व', [4]"स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' अथवा "सद्विविक्तत्व' मेसे द्वितीय तथा पञ्चम लक्षणानुरूप मिथ्यात्व इन मायिक पदार्थोका अङ्गीकार करनेमे वाल्लभ वेदान्तको भी कोई आपत्तिजनक कथा नही लगती

परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, तृतीय कोटि मान्य न होनेसे, अवशिष्ट "सदसद्वैलक्षण्य'रूप मिथ्यात्व वाल्लभ वेदान्तमे स्वीकरणीय नहीं [3]"ज्ञाननिवर्त्यत्व'रूप मिथ्यात्व वाल्लभ वेदान्तको इस लिये अस्वीकरणीय लगेगा कि ब्रह्मज्ञानके प्रकट होनेपर जागतिक द्वैत निवृत्त नही होता परन्तु इस भगवदिच्छाप्रकटित द्वैत या अनेकता मे ब्रह्मैक्यके प्रतिभासनवशात् "सर्वं खलु इद ब्रह्म", 'ऐतदात्म्यम् इद सर्वम्' (छान्दो उप ३।१४।१, ६।१२।७) वचनोक्त उपासना न केवल फलवती अपितु प्रमापिता भी बन जाती है अत आधिदैविक आध्यात्मिक या आधिभौतिक प्रकारके तमस् भी बाधित होनेके बजाय ब्रह्मात्मकतया अवभासित होने लगते है अतएव [4]"स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' लक्षणके बारेमे भी यह अवधेय हो जाता है कि 'स्व'पदवाच्य मिथ्या तमस्को असत् माना जाता होनेसे स्वय उसके असत् होनेके कारण उसका कोई आश्रय भी वस्तुत तो हो नही सकता यह तो बाह्य जगत्का कोई पदार्थ न हो कर हमारे आन्तरिक जगत् या केवल बुद्धिमे भासित होता पदार्थ है अत बौद्धिक प्रत्ययके रूपमे वह वस्तुत बुद्धिमे प्रकट हुवा होनेपर भी यथास्वरूप अपने बाह्यालम्बनके विरहवशात् असत् माना गया है

[2]"स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व'रूप मिथ्यात्वके बारेमे इन दोनों वेदान्तोंके बीच मतभेद जहा जहा प्रकट होता है, उसे अद्वैतसिद्धिकारके शब्दोंमे परखना हो तो "सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व यद्यपि तुच्छानिर्वाच्ययो साधारण तथापि 'क्वचिदपि उपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्यम् अत्यन्तासत्त्व' तच्च शुक्तिरूप्ये प्रपञ्चे च बाधात् पूर्वं

नास्त्येवेति न तुच्छतापत्ति " (अद्वै सि १।द्वितीयमिथ्यात्वनिरुक्ति) यह विधान अनुसन्धेय है यहा वाल्लभ वेदान्त यही कहना चाहेगा कि प्रातिभासिक तमोऽवभासन या शुक्तिरजतावभासन, अथवा, व्यावहारिक बाह्य घटपटादि वस्तुप्रपञ्च यो कही भी जहा निरुपाधिक भ्रान्ति होती है वहीं ज्ञानबाध्यता होती है जैसा कि शुक्तिरजत और स्वप्न के उदाहरणोमे परखा जा सकता है परन्तु सोपाधिक भ्रान्तिके उदाहरणोमे, यथा "पीत शख" "नील गगनम्" "नील तम चलति" या "मरुमरीचिकाया जलम्" अथवा देहात्मसम्बन्ध मे भी यथायथ उपाधिओंके विलय बिना औपाधिक भ्रान्ति निवृत्त नही हो पाती अत सभी मिथ्यावभासित पदार्थ ज्ञाननिवर्त्य नही होते अत मिथ्यात्वका यह लक्षण इस मायिक तमस्के बारेमे वाल्लभ वेदान्तको स्वय अपने अभिप्रेतार्थमें आपत्तिजनक नही लगता इसी तरह "सद्विविक्तत्व"रूप मिथ्यात्व भी स्वीकारनेमे वाल्लभ वेदान्तको कोई आपत्तिजनक कथा नहीं लगती, गीतोक्त "न असतो विद्यते भावो न अभावो विद्यते" (२।१६) नियमके साथ अपनी दृढ प्रतिबद्धताके वश ही

(६ उपसहार)

प्रस्तुत विषयके उपसहारतया, अत यह दोहरा देना आवश्यक है कि यद्यपि अवतारवादावलीकारविरचित अन्धकारवादमें तमस्के इन आधिदैविक आध्यात्मिक या आधिभौतिक स्वरूपोके बारेमे कुछ भी नहीं कहा गया है तथापि तमस्के इन रूपोका स्वीकार शास्त्रप्रामाण्यके अनुरोधवशात् मुझे अपरिहार्य लगता है प्रस्तुत आलेख अतएव अन्धकारवादसे विरुद्ध कुछ प्रतिपादन करना नही चाहता फिरभी उसके साथ यह स्पष्टीकरण जोडना तो अवश्य चाहता है इसमे यदि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणकी अभिमतिसे कुछ वैपरीत्य हो तो श्रीमदाचार्यचरण श्रीपुरुषोत्तमचरण एव आप सभी विद्वज्जनोंसे इस अपराधकी क्षमाप्रार्थनाके साथ।

संगोष्ठ्युत्तरलेखनं

(प्रथमम्)

श्रीपुरुषोत्तमजीविरचित अवतारवादावलीमे अन्यख्यातिवादके बाद प्रतिबिम्बवाद और अन्धकारवाद के पृथक् प्रतिपादनकी कोई अपेक्षा होनी नही चाहिये थी, अन्यख्यातिके प्रतिपादनसे उनके गतार्थ होनेके कारण अत यह जिज्ञास्य लगता है कि इनके पृथक् प्रतिपादनका कोई प्रयोजनविशेष तो अवश्य ही होना चाहिये ?

अर्थात् क्या प्रतिबिम्ब और तमस् अन्यख्यातिरूप भ्रान्तिज्ञानके विषय नही होते ? यदि होते हो तो अन्यख्यातिके विचारसे इनका विचार गतार्थ मान लेना चाहिये था यदि नही तो, इन्हे पृथक्तया मायिक प्रतिभास सिद्ध करनेका तथा अवस्तु माननेका हेतु क्या हो सकता है ? क्यो इन्हे भी पुरोऽवस्थित गृह्यमाण वस्तुभूत अर्थसे अन्य किसी वस्तुका मायिक प्रतिभास नही मान लिया जाता ? क्यो इहे न तो अभावरूप और न पुरोवस्थित वस्तुभूत अर्थसे भिन्न कोई अर्थ माना गया है ?

इन आशकाओके निरसनार्थ सर्वप्रथम तो श्रीपुरुषोत्तमचरणविरचित प्रस्थानरत्नाकरगत प्रत्यक्षज्ञानकी करणरूप इन्द्रियोकी व्यापाररूपा अलौकिक तथा लौकिक प्रत्यासत्तिओका विमर्श आवश्यक हो जाता है वहा ग्रन्थकारने यो दिखलाया है –

> "तत्र इन्द्रियाणि उक्तानि तेषा व्यापारो विचार्यते प्रत्यासत्तिरूप स तावत् लौकिकालौकिकभेदेन द्विधा तत्र अलौकिक त्रिधा : (क)सामान्य- (ख)योगज- (ग)माया-भेदात् (क)तत्र सामान्यम् अनुगताकारेण तद्व्यक्तिज्ञाने उपयुज्यते, तस्य तथात्व च अनुभवसिद्ध, (ख)द्वितीयो अनागतातीतातीन्द्रियादि-वस्तुसाक्षात्कारे, भगवद्ध्यानादेरपि अत्रैव निवेश , (ग)तृतीयातु अविद्यमानाना पदार्थाना बुद्धौ उपस्थापने लौकिकस्तु पञ्चविध : (क)सयोग

(७)तादात्म्य (८)सयुक्ततादात्म्य (९)सयुक्तविशेषणतादात्म्य (१०)स्वरूप च तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे सयोगएव प्रत्यासत्ति केचित्तु इतरेन्द्रियावैलक्षण्यात् चक्षुषो अप्राप्यप्रकाशकारीत्व स्वीकृत्य दूरत्वव्यवधानाभावसहकृतयोग्यतामात्रेण प्रतीतिनिर्वाहात् तत्सयोग न स्वीकुर्वन्ति अन्येतु नेत्रेन्द्रियगोलकस्य स्वच्छत्वेन तत्र वस्तुन प्रतिबिम्बे सति योग्यतामात्रेण मायाद्वारिका प्राप्ति स्वीकृत्य सयोगस्य द्वारत्व खण्डयन्ति तद् उभयपि असगत भगवता सयोगस्वीकारात् "चक्षु त्वष्टरि सयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि तत्र मा मनसा ध्यायन् विश्व पश्यति दूरत" (भाग पुरा ११।१५।२०) इति एकादशे भगवद्वाक्यात् अत्र तत्तत्प्रतियोगिकसयोगद्वयनिरूपणेन योग्यता-प्रतिबिम्बपक्षानङ्गीकरणात् प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति तेन मायापि प्रत्याययतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते तेजस्सयोगबाहुल्यइवेति न तस्य गतार्थता तस्माद् अस्ति चक्षुष सयोगो द्रव्यग्रहणे व्यापार सएव योग्यगुणक्रियाजातिसाक्षात्कारेऽपि उपयुज्यते, तेषा वस्तुतो द्रव्याभिन्नत्वात् सयुक्ततादात्म्य वा अस्तु मनस्तु बहिर्विषये स्वसयोगद्वारक इन्द्रियसयोगादि, स्वधर्माणाय ज्ञानसुखादीना ग्रहणे तादात्म्य, वृत्तीना ग्रहणेतु वृत्तिस्वरूपमेव द्वारम् तिरोभावस्तु इन्द्रियसयुक्तविशेषणतया गृह्यते" (प्रस्था रत्ना प्रमाकर कलो तर तृती)

एतावता यह सिद्ध होता है कि परिगणित प्रत्यासत्तिओमेसे केवल मायारूपा प्रत्यासत्ति ही कही पुरोऽवस्थित गृह्यमाण वस्तुसे भिन्न किसी वस्तु या वस्तुधर्म की ग्राहिका बनती है तो कही सर्वथा असत् वस्तुकी ग्राहिका भी बन सकती है

अतएव सृष्टिभेदवादमें ग्रन्थकारने जो चतुर्विध सृष्टिओका प्रतिपादन किया है, तदनुसार, —

'एव प्रपञ्च सामान्यत चतुर्धा सिद्ध १ ब्रह्मण स्वतएव सर्वाकारत्वाद् ब्रह्मरूपो गुणातीत एक, २ केनापि श्रौतेन

पौराणादिना वा क्रमेण इच्छया मुख्यशक्त्या वा निर्गमितो अनेकविधो घृतद्रवत्ववद् ब्रह्मात्मकविकारशाली ब्रह्मपरिणामरूपो द्वितीय ३ एतदुपदेहभूतो मायोपादानक प्राकृतविकारशालिव्यावहारिको ब्रह्मविवर्तात्मा तृतीय ४ अविद्याया निद्राचिन्तादिभेदेन अनेकत्वात् तन्निमित्तक तदुपादानको वा शुक्तिरजतस्वाप्निकादि-रूपो अन्त करणविकारात्मा व्यवहारदुष्टेन्द्रियादिगोचर तुरीय एतौ द्वावपि मायिकौ प्रपञ्चौ विषयधर्मत्वाद् 'विषयता'शब्देन अत्र परिभाष्येते, मायिकत्वेऽपि विषयनिष्ठतया भासमानत्वात् यथा सदृशधर्मा भिन्ननिष्ठाअपि तद्गत्वेन उच्यन्ते, "तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्" इति तद्वत् अत्र आद्या विषयता व्यामोहकमायाकार्यत्वात् मायानिष्ठापि मायया विषयोपदेहाद् विषये प्रतीयतइति मायावादिनो विषय मायिक इति अभिमन्यन्ते बुधास्तु निर्विचिकत्से शास्त्रज्ञाने जाते उपदेहात्मिका विषयता घटभ्रमणवत् पश्यन्तोऽपि ता न्यक्कृत्य विषय ब्रह्मात्मक वदन्ति जातसाक्षात्कारा शुकादितुल्यास्तु, यथा अस्मदादय प्रतिबिम्बम्, एवम् अतिरिक्तामेव विषयता पश्यन्तीति तादृक्तादृगधिकारिषु तथा-तथा वदन्ति शुक्तिरजतादिक च अन्त करणादिगतमेव जीवव्यामोहि-कया तया तदन्त करण-बहि करणयोरेव तदुत्पादनात् विषयदेशे प्रतीतिस्तु सस्कारादिप्राबल्यतया व्यत्यासात् "(सृष्टिभे वा)

यहा इस प्रतिपादनमे व्यामोहिका माया द्वारा जन्य प्रतीतिके गोचरतया जिस विषयताका निरूपण किया गया है उसके दो प्रभेद तो ग्रन्थकारने कण्ठत निरूपित किये है १ विषयोपदेहभूता विषयता तथा २ विषयावभासोपदेहभूता विषयता

मुझे लगता है कि यह तो प्रतिपादनकी एक विधा हुयी दूसरी विधा यो भी शक्य है कि व्यामोहिका माया तीन-चार तरहसे कार्य करती है १ विद्यमानका अप्रकाशन/आवरण/आच्छादन/अनवभासन, २ परोक्षदेशका-लावस्थित वस्तु या वस्तुके गुणधर्मक्रियाओ का अपरोक्षदेशकालावस्थित वस्तुतया अथवा वस्तुके गुणधर्मक्रियात्वेन अवभासन, ३ सर्वथा असद् वस्तु अर्थात्

सभी देश-कालमे असद् वस्तुका सत्त्वेन अवभासन और अन्तमे ४ जैसे किसी एक विद्यमान वस्तुका किसी दूसरी विद्यमान वस्तुसे आच्छादन या आवरण हो जानेपर आच्छादित या आवृत वस्तुकी विद्यमानतया अप्रतीति अथवा अविद्यमान होनेकी प्रतीति प्रकट करता है, वैसे ही भगवच्छक्तिरूपा व्यामोहिका मायाका ऐसा भी असाधारण सामर्थ्य होता है कि वह असद्वस्तुके द्वारा भी सद्वस्तुको आवृत या आच्छादित कर पाती है इसी तरह सनिहित देशकालावस्थित नस्तुका असनिहित देशकालावस्थित वस्तुतया जैसे आभास प्रकट करती है वैसे ही सर्वथा असद्वस्तुका आभास भी प्रकट कर सकती है

एतदर्थ स्वय श्रीवल्लभाचार्यचरणके द्वारा आलेखित व्यामोहिका मायाके निरूपणका अवलोकन ही उपकारक होगा तदनुसार—

> "यद् वस्तु स्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते तद् आत्मना जीवाना व्यामोहिका या माया पूर्वं निरूपिता तस्या कार्यम् साहि जीव व्यामोहयित्वा तत्सम्बन्धिनम् अन्त करणबुद्ध्यादिकमपि व्यामोहयति तया व्यामोहिता बुद्धि पदार्थान् अन्यथा मन्यते नतु पदार्था भवन्ति माया च द्विधा भ्रम जनयति १ विद्यमान न प्रकाशति २ अविद्यमान च प्रकाशयति देशकालव्यत्यासेन प्रमाणभूतो वेद 'सर्वं खलु इद ब्रह्म' इति आह ब्रह्मविदा प्रतीतिरपि तथा भ्रान्तप्रतीतेस्तु अर्थनियामकत्वम अन्यथा भ्रमदृष्ट्या गृहीत जगत् भ्रमद्रूपमेव स्यात् अतो विषये विपयता काचित् स्वीकर्तव्या यया दृष्टि सविपया स्यात् अन्यथा पदार्थाना स्थिरत्वाद् भ्रमदृष्टि निर्विषया स्यात् अतो अन्यत्रैव सिद्धा भ्रमि मायया पुर स्थिते विषये समानीयते, दृष्ट्यनुरोधित्वात् तस्या विपयता मायाजन्या विपयो भगवान् मायायामेव विपयतारूप भगवत स्वरूप प्रकटितमिति तदपि नि स्वभावम्, आत्मशक्तित्वात् मायापि न नि स्वभावा चिद्विलासत्वाद् बुद्धे पर तामेव व्यामोहयति यावद् न ब्रह्मभाव साहि भगवदीये सर्वे पदार्थे विरुद्धयते ते हि भगवद्विषयक ज्ञान जनयन्ति अतो विषयताजनित ज्ञान भ्रान्त विषयजनित प्रमा इति"(भाग सुबो २।९।३३)

एतावता यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मदृष्ट्या कुछ भी यहा असत्त्वेन या तुच्छत्वेन कहा नही जा सकता होनेपर भी व्यामोहिका मायाद्वारा मोहित बुद्धिकी अपेक्षासे कुछ पदार्थ भ्रमभात ऐसे होते हैं जिन्हे 'असत्' कहा जा सकता है अतएव भ्रमज्ञानके स्वरूपलक्षणतया अन्यख्याति ही अभीष्ट होनेपर भी उसके कारणलक्षणतया जो व्यामोहिका माया द्वारा जनित अज्ञान और अन्यथाज्ञान होते है उनमे कभी सदात्मक वस्तुओका भान होता है तो कभी आपेक्षिकतया असत्पदार्थोका भान भी होता ही है यथा प्रतिबिम्बतया अवभासित होता पदार्थ बिम्बतया अन्यख्यातिका विषय होनेपर भी दर्पणगत बिम्बतया असत् पदार्थ माना-कहा जा सकता है इसी तरह अन्धकार भी प्रकाशके तिरोभूत होनेपर नीलगुणविशिष्ट चलनक्रियाविशिष्ट जैसा कि चक्षुगोचर होता है उसे मायिक पदार्थ होनेके रूपमे असत् कहा-माना जा सकता है प्रकाशके तिरोभावको एतावता मायिक या असत् मानना आवश्यक नही

निष्कर्षतया अन्यख्यातिवादके आधारपर प्रतिबिम्ब एव अन्धकार को मायिक आभास मान लेनेपर भ्रान्तिगोचर पदार्थतया अतिरिक्त निरूपण अनावश्यक होनेपर भी, अज्ञान और अन्यथाज्ञान क्योकि भ्रान्तिज्ञानकी कारणकोटिके अन्तर्भूत है, स्वरूपकोटिमे नही अत इन दोनो वादोकी अन्यख्यातिवादसे अगतार्थताको लक्ष्यमे रख कर इनका स्वतन्त्र भी निरूपण उपयोगी निरूपण ही है



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ख्यातिवादकी चर्चामें कुछ पुरःस्फूर्तिक विचारबिन्दु

[१]

ख्यातिसम्बन्धी चर्चामें सर्वप्रथम जो दो प्रमुख आयाम हमारे सामने उभर कर आते है वे ये है :

१.भ्रान्तिज्ञानके विषयका वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या भ्रान्तिज्ञान सद्विषयोत्पादित अनुभव (An experience caused by objective reality) माना जा सकता है या नही?

२.भ्रान्तिज्ञानका स्वयका स्वरूप (Subjective nature) क्या है? क्या वह अनुभूतिरूप और/अथवा स्मृतिरूप ज्ञानमे किसी तरहकी न्यूनता है या व्यत्यास हे? अतएव इस सन्दर्भमे यहा ये विकल्प भी प्रमुख विवादास्पद बन जाते हे कि भ्रान्ति एकराश्यात्मक ज्ञान (Simple unit of Experience) है या राशिद्वयात्मक (Compound/Complex unit of Experiences) है

तदनुसार—

१ भ्रान्तिज्ञानका विषय सत् होता हे या असत् या सदसत् या सदसदनिर्वचनीय अथवा चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य? यह प्रथम आयामगत जिज्ञास्य बिन्दु बनते हे

इसके अन्तर्गत इन पञ्चविध विकल्पोमे क्रमश ये विभिन्न मत

प्रसिद्ध है क रामानुजोको अभिप्रेत सत्ख्यातिवाद, ख बौद्धो तथा माध्वो को अभिप्रेत असत्ख्यातिवाद, ग साख्यको, इसी तरह विपरीतख्यातिवादी पूर्वमीमासकोको भी, अभिप्रेत सदसत्ख्यातिवाद, घ शाकर वेदान्तिओको अभिप्रेत सदसदनिर्वचनीयख्यातिवाद तथा ङ माध्यमिकोको अभिप्रेत चतुष्कोटिविनिर्मुक्तशून्यख्यातिवाद यो इन सभी विचारधाराओमे देखा जा सकता है कि भ्रान्तिज्ञानविषयके सदसदादि विकल्पोके मुद्देको प्रमुखतया उभारा गया है

२ जिज्ञासाके दूसरे आयामके अन्तर्गत, जबकि, भ्रान्तिज्ञानके विषयके बजाय स्वय भ्रान्तिके स्वरूपके मुद्देको अधिक विचारणीय माना गया है अतएव इस आयामके अन्तर्गत कुछ प्रमुख विकल्प इस तरहके सामने आते है क आत्मख्यातिवाद, यह योगाचारवादी बौद्धोको एव प्रत्यभिज्ञावादी काश्मीरी शैव मतको' भी अभिमत प्रक्रिया है, ख अख्यातिवाद, इसके अनेक प्रकारोंके अन्तर्गत प्रसिद्ध प्रकार प्राभाकरोका विवेकाख्यातिवाद है, ग अन्यथाख्यातिवाद और विपरीतख्यातिवाद यथायथ नैयायिको और जैनो एव भाट्ट मीमासको को अभिप्रेत भ्रान्तिज्ञानकी व्याख्याए है

उपर्युक्त विषयसम्बन्धी पञ्चविध ख्यातिओको इन विषयिसम्बन्धी अख्याति और अन्यथाख्याति की द्विविध प्रक्रियाओसे द्विगुणित करनेमात्रसे केवल शुद्ध गणितशास्त्रीय सम्भावनाके तौरपर ख्यातिसम्बन्धी विचारप्रक्रियाके दशविध उपभेद तो सहज ही सोचे जा सकते है उदाहरणतया कतिपय अघोषित-अप्रस्तावित ख्यातिप्रक्रिया कुछ इस तरह भी सोची ही जा सकती है १ सदख्यातिवाद, न्यायकुमुदचन्द्रोदयकार[२] द्वारा अनजाने स्रोतोसे उद्धृत चार्वाकोंको अभिमत प्रक्रियाके सदृश एक सम्भावित प्रक्रिया, २ सदसद्विवेकाख्यातिवाद प्राभाकरोको अभिमत ग्रहणस्मरणविवेकाख्यातिवादके तर्जपर!, ३ सदसन्निरुक्त्यख्यातिवाद, शाकरोको अभिमत सदसदनिर्वचनीयान्यथाख्यातिवादके तर्जपर, ४ असदन्यथाख्यातिवाद तो माध्वोंको अभिमत अभिनवान्यथाख्यातिवादका ही एक सहज पर्याय हो सकता है

५.स्वदेशकालावस्थित सद्वस्तुका अस्वदेशकालस्थतया अवभासरूप सदन्यथाख्यातिवाद, भाट्ट मीमांसकोकी निरूपणशैलीमे यह भी ध्वनित होता ही हे. इसी तरह ६.स्वय आत्मख्यातिवादको भी "ये-ये प्रत्ययाः ते-ते निरालम्बनाः प्रत्यत्वात् स्वाप्निकप्रत्ययवत्" सूत्र[३] के अनुसार आत्मेतर असद्वस्तुका आत्मत्वेन अथवा आत्माका अनात्मवस्तुतया अन्यथाख्यान असदन्यथाख्याति अथवा सदन्यथाख्याति की प्रक्रियाके रूपमे भी निहारा जा सकता हे. इस तरहकी सम्भावित प्रक्रियाओकी सूचीको और अधिक बढानेके बजाय जिस छोटेसे तथ्यपर ध्यानाकर्षण अभिप्रेत है वह तो यही है कि सामान्य रूढिके अनुसार प्रचलित धारणा कि ख्यातिवादके मूल प्रकार पाच ही होते है[४], यह बहोत सुविचारित धारणा नही लगती है. क्योकि एतद्विषयक विचारके विकासक्रममे कभी पांच होगे परन्तु एतावता पाच ही प्रकार हो सकते है ऐसा सोचा नही जा सकता. अत भ्रान्तिके व्याख्याभेदोको कभी इस तरह पञ्चतया परिगणित कर लेनेका, तो कभी अख्याति और अन्यथाख्याति रूपी दो ही तरहके ख्यातिवादो[५] के सीमित क्षितिजवृत्तमे ख्यातिचर्चाको परिच्छिन्न बना लेनेका कोई ठोस औचित्य सिद्ध नही होता

इन दोनो आयामोंके परिप्रेक्ष्यमे वाल्लभ वेदान्तमे भ्रान्तिज्ञानका अभिमत स्वरूप जिज्ञास्य हो तो उसे 'अन्यख्याति'के रूपमे प्रस्तावित किया गया है भगवद्गीतोपदिष्ट "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत"[६] सिद्धान्तके अनुसार वाल्लभ वेदान्तमे न्यायशास्त्राभिमत चतुर्विध अभावोमेसे किसी भी प्रकारके अभावको मान्य नही रखा गया है. अत चारो ही प्रकारके अभावोकी अनुभूतिओकी व्याख्या यहा आविर्भाव एव तिरोभाव के आधारपर ही खोजी जाती है निष्कर्षतया भ्रान्तिज्ञानके विषयका तात्त्विक अभाव ही जब स्वीकार्य नही तब भ्रान्तिज्ञानके विषयका असत् होना भी स्वत अमान्य हो जाता है ऐसी स्थितिमे सदसदात्मकता सदसदनिर्वचनीयता या शून्यता तो अप्रसक्त ही ठहरते है. अत रह जाती है रामानुज वेदान्तमे अभिमत सत्ख्यातिवादकी

धारणा उसके बारेमे गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणके ये उद्‌गार कि

(१)''तद् अस्माकम् अभीष्टं परं कश्चिद् विशेषो अस्ति''
(२)''तस्माद् ये पूर्णज्ञानिन पूर्णयोगिनो वा तेषां सर्वत्र सर्वप्रत्यक्षम् 'अनागतमतीतं च'(भाग.पुरा.१०।६१।२१) इत्यादिवाक्यात्. अत तेषां ज्ञानस्य यथार्थत्वात् तत्र उक्ता *अख्याति* उचिता न सर्वत्र''[७].

इनके अवलोकन करनेपर यह स्पष्टतया समझा जा सकता हे कि ''तत्र उक्ता'' पदोंका अर्थ होगा : पूर्णज्ञानी अथवा पूर्णयोगी को होते अनुभवोके स्वरूपके सन्दर्भमे रामानुज वेदान्तमे कही गयी सदर्थकी अख्याति उचित हो सकती है ''न सर्वत्र'' पदोका आशय अभाव पदार्थके सैद्धान्तिक अस्वीकारके बावजूद यह तो स्वीकारना ही पडता है कि जिनका ज्ञान शास्त्रीय शब्दार्थबोधमात्ररूप हो, अर्थात् साक्षाद् ब्रह्मानुभवमे पर्यवसायी न हो, ऐसे ज्ञान या अनुभव के सन्दर्भमे, अथवा, लोकव्यवहारोपयोगी भ्रम-प्रमा विवेचकोंको होते अनुभवके सन्दर्भमे, अभावबोधकी व्यावहारिक अपेक्षा कुछ न कुछ तो रहती ही है अतएव स्वय उपनिषदादि शास्त्रोमे भी इस व्यावहारिक अपेक्षाकी पूर्ति आविर्भाव-तिरोभावकी प्रक्रियाद्वारा उपदिष्ट हुयी है[८] अत व्यवहारमे जहा जिस वस्तुका अभाव प्रतीत होता है वहा उसे तिरोहित माना गया है सर्वज्ञकी अनुभूति देशाकालके क्षितिजके भीतर घिरी नही होती, अत, उन्हे किसीभी वस्तुके कही/कभी तिरोहित या अगोचर होनेकी अनुभूति होती नही यो दैशिक या कालिक ससर्गाभावके स्थानपर यह दैशिक या कालिक तिरोभावकी धारणा प्रस्तुत हुयी है यह तिरोभावकी धारणा तत्तत् नाम-रूप-कर्मोके वैविध्य अर्थात् तादात्म्याभावकी व्याख्या करनेमे भी सक्षम धारणा हे क्योकि निखिल नाम-रूप-कर्म सदैकरस ब्रह्ममे प्रकट हुवे माने जाते है. स्वय ब्रह्म सर्व नाम-रूप-कर्मोका एकाकी निर्वाहक होता है इस श्रात धारणाके अनुरूप[९] सभी नाम-रूप-कर्मोमे ब्राह्मिक सदश सर्वदा अनुगत रहना है अत शुक्तिरूपावच्छिन्न ब्रह्मके

सदशमे रजतरूप तिरोहित तो रह सकता है परन्तु कभी भी असत् नही हो सकता, "तदभिन्नस्य तदभिन्नाभिन्नत्व" न्यायके अनुसार फिरभी व्यवहारमे शुक्तिशकलको 'रजत'नामसे जाना-पुकारा या स्वीकारा नहीं जा सकता, क्योकि उस रूपमे वहा रजतरूप और तदनुकूला अर्थक्रिया भी तो ब्रह्मने सृष्टिमे प्रकट नही की है अत सृष्टिमे ब्रह्मके साक्षात्कार न होनेके कारण हमे शुक्तिरूपके बारेमे 'रजत'नामका प्रयोग प्रामाणिक नही लगता उसका रजतके साथ रहा ब्राह्मिक तादात्म्य भी, अतएव, हमे अनुभूत नही हो पाता न रजतोचित सारे कर्म ही वहा शुक्तिमे प्रकट हो पाते है इस अर्थमे ब्रह्मस्वरूपकी या ब्रह्मतादात्म्यकी और तद्द्वारक वस्तुमात्रके इतरेतरतादात्म्यकी अख्याति स्वीकार्य बनती है ब्रह्मके अशिरूपेण इस तिरोभावकी तरह शुक्तीतर नाम-रूप-कर्मोका भी शुक्तिशकलमे तिरोभाव अख्यातिका आलम्बन बनता है" शुक्तिमे इसी स्वेतर नाम-रूप-कर्मोके तिरोधानवश, जो कुछ अवशिष्ट प्रकट या आविर्भूत गुणधर्म है, उनके अलावा अन्य किसी या किन्हीं गुणधर्मोका भान, शुक्तिसे अन्य नाम-रूप-कर्मोका भान होनेसे उसे 'अन्यख्याति' कहा जाता है अत विरुद्धधर्माश्रयरूप ब्रह्मके मौलिक स्वरूपके आयाममे सत्ख्याति स्वीकारी जा सकती होनेपर भी सृष्टिरूप ब्रह्मके सत्यसकल्पोत्थ अनेकविध नाम-रूप-कर्मोके ऐच्छिक द्वैतवश ऐच्छिक अन्यता भी उतनी ही स्वीकार्य है अत वही ऐच्छिकी अन्यता अन्यख्यातिका आलम्बन बनती है, ब्रह्मके सर्वभवनसमर्थ तथा सत्यसकल्प होनेके कारण इस तरह ब्रह्मके मौलिक स्वरूपकी अनुपाती जो निखिल नाम-रूप-कर्मोकी इतरेतरात्मकता, उसका अप्रतिभास/अख्याति भ्रान्तिकी कारणकोटिमे समाविष्ट होती है स्वरूपकोटिमे तो सर्वभवनसमर्थ-सत्यसकल्प ब्रह्ममे प्रकट ऐच्छिक द्वैत या अपरस्परात्मक्ता के विचारवश अन्यख्यातिको ही प्रतिष्ठापित किया गया है इस अख्यातिको प्रभाकरमताभिप्रेत निखिल नाम-रूप-कर्मोकी मौलिक अपरस्परात्मकताके विवेकके अप्रतिभास या अख्याति से जोड देना अत आवश्यक नही रह जाता अत श्रीपुरुषोत्तमचरणकी "तत्र उक्ता अख्याति उचिता" वचनावलीके सम्यग् विवेचन करनेपर

रामानुजमतोक्त अख्यातिके औचित्यका जो भाव प्रकट होता है उसे भी भ्रान्तिज्ञानकी अपरिहार्य कारणकोटिके सन्दर्भमे ही समझना चाहिये नकि भ्रान्तिज्ञानकी स्वरूपकोटिके सन्दर्भमे

[२]

वाल्लभ वेदान्ताभिमत भ्रान्तिज्ञानके वादरीत्या उपपादनका भार जैसे गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीने वहन किया, वैसे ही भ्रान्तिज्ञानके कारण एव स्वरूप की प्रक्रियाओको मूलभागवतादि प्रमाण तथा तन्मूलक मूलाचार्योके वचनोके व्याख्यानसन्दर्भके साथ प्रतिपादनका भार लालूभट्टोपनामक श्रीबालकृष्ण भट्टजीने उठाया है प्रमेयरत्नार्णवके उत्तरार्धमे समाविष्ट ख्यातिविवेकमे तथा निर्णयार्णव(४।६)मे इस विषयकी उन्होंने विशद विवेचना की है इनमेसे प्रमेयरत्नार्णवमे ग्रन्थकारने शुक्तिरजतादि निरुपाधिक भ्रम और पीतशङ्खादि ओपाधिक भ्रम दोनोको ही अन्यख्यातिके रूपमे ही स्वीकारा है निर्णयार्णवमे, किन्तु, निरूपाधिक भ्रमको ही अन्यख्यातितया तथा 'पीत शङ्ख''-''घटो भ्राम्यति'' सदृश औपाधिक भ्रमोको भ्रम न मान कर भ्रम और प्रमा दोनोसे भिन्न अन्यथाज्ञानतया स्वीकारनेका प्रतिपादन किया है'' इस विचारभेदमे पौर्वापर्यका अर्थात् ''पीत शङ्ख'' जैसे औपाधिक अवभासोको पहले भ्रम माना था परन्तु बादमे अन्यथाज्ञान माना अथवा पहले उन्हे अन्यथाज्ञान माना था और बादमे भ्रम, ऐसी ऐतिहासिकी विवेचनाके लिये न तो यहा अवकाश है और न कोई प्रसगौचित्य ही फिरभी इतना तो अवश्य कथनीय लगता है कि भागवतकी ''ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत '' (भाग पुरा २।९।३३) ''सशयोऽथ विपर्यास '' (भाग पुरा ३।२६।३०) तथा ''ज्ञानम् एक पराचीनै इन्द्रियै ब्रह्म निर्गुणम् अवभाति अर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा'' (भाग पुरा ३।३२।२८) कारिकाओकी सुबोधिनीमे—

१ ''यद् वस्तु स्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते तद् 'आत्मना'-जीवाना व्यामोहिका या माया तस्या कार्यम् साहि जीव व्यामोहयित्वा तत्सम्बन्धिनम् अन्त करणबुद्ध्यादि-

कमपि व्यामोहयति तया व्यामोहिता बुद्धि पदार्थान् अन्यथा मन्यते नतु पदार्था अन्यथा भवन्ति मायाच द्विधा भ्रम जनयति : विद्यमान न प्रकाशयति, अविद्यमान च प्रकाशयति, देशकालव्यत्यासेन तद् आह 'अर्थो न प्रतीयते – अर्थम् ऋते प्रतीयते' इति तस्मात् पदार्थाना याथात्म्यज्ञापनार्थं प्रमाणाम् इति उक्त भवति ननु वस्त्वेव कुतो न तथा अस्तु? कैश्चिद् वादिभि जगतो मायिकत्वस्वीकारात् इति चेद्, भवेद् एतद् एव यदि विचारे पर्यवस्यति प्रमाणभूतो वेद 'सर्व खलु इद ब्रह्म'व इति आह ब्रह्मविदा प्रतीतिरपि तथा भ्रान्तप्रतीतेस्तु न अर्थनियामकत्वम् अन्यथा भ्रमदृष्ट्या गृहीत जगद् भ्रमरूपमेव स्यात् अतो विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या यया दृष्टि सविषया भवति अन्यथा पदार्थाना स्थिरत्वाद् भ्रमदृष्टि निर्विषया स्यात् अतो अन्यत्रैव सिद्धा भ्रमि मायया पुर स्थिते विषये समानीयते साच विषयता द्विधा • आच्छादिका एका अन्यथाप्रतीतिहेतु च अपरा सा उभयविधापि माययैव जन्यते " (सुबो २।९।३२)

२ " 'विपर्यास '=सस्कारप्राबल्यात्, तेज तदनुगुणमेव धर्म प्रकाशयति 'अथ'=इति एकस्फुरणनियामकत्वाय विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादक, क्रियाज्ञानयो च भिन्नविषयत्वम् अनेन अन्यख्यातिरेव इति सिद्धान्त " (सुबो ३।२६।३०)

३ " 'ज्ञानम् एकम्'=इति वस्तुत सर्व जगद् बोधान्वयव्यतिरेकानुसरणाद् बोधमात्रम् इति अवसीयते य कश्चन लौकिको वैदिक सर्वोऽपि व्यवहारो बोधएव पर्यवसितइति यथा सर्वे तरङ्गा समुद्रे पर्यवसिता इति अत एकमेव ज्ञान 'पराचीनै '=प्राकृतै इन्द्रियै, व्यापकत्वाद् बृहणत्वात् च निर्गुणमेव, गुणाना तदतिरिक्तानाम् अभावाद्, घटपटाद्यर्थरूपेण भ्रान्त्या अवभाति अत शुक्तिका रजतवत् प्रतिभासतइति आसक्ति न उचिता तेहि प्राकृता स्वबुद्ध्यनुसारेणैव तद् गृह्णन्ति एकदेशग्रहणेन स्वस्वभावग्रहणेन च तद् अन्यथा गृहीत भवति अत स्वेन्द्रियधर्माएव

तत्र आरोप्य गृह्यन्तइति ख्यातिवादा बहुविधा उत्पन्ना धर्माणामेव वस्तुत प्रतिभानमिति अन्यख्याति आधारमपि पुरस्कृत्य तत्र कञ्चनार्थं परिकल्प्य ग्राहकधर्मसम्बन्धाद् अन्यथा इत्यपि आहु यथा प्रतीति भ्रान्ता तथा कल्पनापीति न अत्यन्तम् आग्रह " (सुबो ३।३२।२८)

१ उद्धरणमे महाप्रभुने यहा व्यामोहिका मायासे जन्य विषयतारूप दो कार्य गिनाये है (१)विद्यमान वस्तुका अप्रकाशन=आच्छादन अर्थात् अज्ञानविषयता (२)तद्देशकालमे अविद्यमान(तिरोहित)वस्तुका स्वदेशकालव्य-त्यासपूर्वक प्रकाशन, अन्यथाप्रतीतिविषयता=अन्यथाज्ञानविषयता ये दोनो ही भ्रान्तिज्ञानकी उत्पत्तिके हेतु है इस निरूपणमे लक्ष्यमे रखने लायक बात यह है कि 'भ्रान्तिज्ञान'घटक 'ज्ञान'पद प्रतिभास और/अथवा निश्चय के आशयसे प्रयुक्त हुवा पद है अतएव कतिपय निरुपाधिक भ्रमोंके उदाहरणोमे प्रतिभास ओर निश्चय दोनोमे ही व्यत्यास, अर्थात् इस अर्थमे एकरूपता होती है, अन्य बहोत सारे औपाधिक भ्रमोमे निश्चय और प्रतिभास के बीच एकरूपता नही भी होती है

२ उद्धरणमे ऐसी स्थितिमे भ्रान्तिज्ञानके स्वरूपकी व्याख्या "अख्यातिपूर्विका अन्यथाख्याति" देनेके बजाय महाप्रभुने अन्यख्याति क्यो स्वीकारी? इस आशकाके समाधानतया यही ज्ञातव्य है कि क्योकि इन दोनोंके कारण अन्तमे अन्यख्याति ही प्रकट होनी स्वीकारी गयी है, भ्रमात्मिका स्फुरणाके स्वारसिक एकत्वके अनुरोधवश जैसाकि 'एकस्फुरणनियामकत्वाय' पदसे प्रकट हो रहा है, तथा, भ्रान्तिज्ञानजनक अज्ञान या अन्यथाज्ञान के आलम्बनीभूत विषयोकी और भ्रान्तिज्ञानसे जनित प्रवृत्ति=क्रियाके विषयकी भिन्नताके अनुरोधवश यह "विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादक, क्रियाज्ञानयो च भिन्नविषयत्वम्" वचनसे स्फुटतया प्रकट होता ही है

३ तृतीय उद्धरणपर आपातत दृष्टिपात करनेपर महाप्रभुका मत

या तो मायावादी शाकर वेदान्त अथवा काश्मीर शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन के सदृश लगता हे ब्रह्मको, परन्तु, अखण्डसच्चिदानन्दैकरस माना गया होनेसे ब्राह्मिक चैतन्यके सन्दर्भमे अर्थ और ज्ञप्ति के बीच आत्यन्तिक द्वैत अर्थात् आत्यन्तिक भेदघटित विषय-विषयिभावको अमान्य करनेको महाप्रभुने ऐसी शव्दावलीका प्रयोग किया है तदनुसार भ्रान्तिज्ञान निरुपाधिक निर्गुण निरवयव व्यापक इन्द्रियातीत बृहद् आत्मचैतन्यरूप स्वयप्रकाशन (Pure sensitivity or pure consiousnes) नही होता है, क्योकि इस अन्तर्निगूढ मोलिक ज्ञानके स्तरपर तो ज्ञान-ज्ञेयका ही पार्थक्य सिद्ध नही हो पाता तो अन्यख्याति कहासे सिद्ध हो पायेगी ? भ्रान्तिज्ञान पुरोवस्थित वस्तुका औपाधिक परन्तु निरवयव निर्विकल्पक प्रकाशन (The simplest atomic unit of experience) भी सिद्ध नहीं हो पाता, शव्द-सस्कारादिजन्य विशेषावगाही राजसतामस गुणवाला सविकल्पक ज्ञान होनेसे'[२] जैसा कि देख ही चुके भ्रान्तिज्ञानको ज्ञानद्वयराशी (A compound unit of two different experiences) भी स्वीकारा नही जा सकता भ्रान्तिज्ञान तो सविकल्पक प्रमानुभूतिकी तरह निर्विकल्पज्ञानोत्तर जायमाना सविकल्पानुभूति (A single Complex unit of two experiences) का एक प्रकारविशेष है दोनोके बीच यदि कोई अन्तर है तो केवल इतना ही रजतप्रमानुभूति, न्यायभाषाके तर्जमे कहना हो तो, "निर्विकल्पकज्ञानविषयीभूते रजतत्ववति रजतत्वप्रकारको अनुभव" होता है, जबकि, रजतभ्रमानुभूति, "रजततिरोभाववति निर्विकल्पकज्ञानविषयी-भूते शुक्तिशकले बुद्ध्याविर्भूतरजतविषयको अनुभव" होता है

किसीभी वस्तु(नाम-रूप-कर्म)का आविर्भाव या तिरोभाव और तन्मूलक प्रकाशन या अप्रकाशन भी या तो सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अभिन्ननिमित्तोपादानताहेतुक होता है अथवा केवल निमित्तताहेतुक प्रथम कल्पमे वह प्रकाशन तद्देशकालमे आविर्भावरूप होता है और अप्रकाशन तद्देशकालमे तिरोभावरूप द्वितीय कल्पमे प्रकाशन व्यामोहिका मायासे बुद्धिके व्यामुग्ध न होनेपर बुद्ध्युपादानक वस्त्वाकारिका वृत्तिके प्रकाशनरूपेण

होता है. यह, परन्तु, स्वय वस्तुके यहां तिरोहित होनेके कारण परोक्ष प्रकाशनरूप ही रह जाता है. व्यामोहिका मायासे, परन्तु, बुद्धिके व्यामुग्ध होनेपर उसमे अतिरोहित वस्त्वधिष्ठानक तिरोहितवस्त्ववगाही मायाकरणक बुद्ध्युपादानक प्रकाशन होता है. इस तिरोहित वस्तुके अतिरोहितया प्रकाशनको अन्यख्यातिरूप माना गया है. इस प्रकाशनमे न केवल करणरूपा बुद्धिकी ब्रह्मात्मकता अपितु सहकारिकारणरूपा भगवच्छक्तिरूपा व्यामोहिका मायाकी भी ब्रह्मात्मकता श्रौत सिद्धान्ताभिमत है. यह एक उजागर तथ्य है कि इस प्रक्रियामें यदि कल्पनागौरवोपग व्यामोहिका मायाको बीचमे न भी लाया जाय तो भी भ्रान्तिज्ञानकी व्याख्या सुचारुतया शक्य है ही. ऐसा करनेपर, परन्तु, वाल्लभ वेदान्त "यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्याद् इदं भगवान् साक्षात्"[१३] वचनमे स्वप्रतिज्ञातार्थको भङ्ग करनेका दोषी ठहरेगा. अतः गीतोक्त[१४] ज्ञानाज्ञानस्मरणादि सभीमे भगवत्कारणताके सिद्धान्तके निर्वाहार्थ जिस शास्त्रसिद्ध भगवच्छक्तिको बीच लानेसे भगवत्कारणता सिद्ध हो पाये उसका नाम 'व्यामोहिका माया' है. अस्तु, व्यामुग्धबुद्ध्युपादानक कार्यरूप बुद्धिवृत्तिरूप प्रकाशनकी भी ब्रह्मात्मकता तो निःसन्दिग्ध ही है[१५]. फिरभी तद्देशकालमे तिरोहित नाम-रूप-कर्मका वहां अतिरोहिततया भान या ज्ञान अन्यख्यातिरूप माना गया है, यह भ्रमभात अन्य विषयकी ब्रह्मात्मकताके निरसनार्थ नहीं प्रत्युत निर्वाहार्थ सोची गयी उपपत्ति है इसमे तद्देशकालमे विद्यमानका अप्रकाशन और तद्देशकालमे अविद्यमानका प्रकाशन भगवच्छक्तिरूपा व्यामोहिका मायाके कार्य है. संक्षेपमे भगवान्‌की अनेकानेक शक्तिओमे आविर्भाव-तिरोभावशक्ति और व्यामोहकशक्ति भी अन्यतम शक्तिया है[१६] इनमेसे प्रथमशक्तिप्रकाशित नाम-रूप-कर्म सच्चिदानन्द अशी ब्रह्मके सदशोपादानक चिदशोपादानक या आनन्दाशोपादानक होनेपर आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक नाम-रूप-कर्मोको ब्रह्मोपादानक भी ब्रह्मकर्तृक भी माना जाता है[१७]. ये सत्ख्यातिके विषय होते है द्वितीय व्यामोहिका शक्तिद्वारा प्रकाशित नाम-रूप-कर्म, जो सदशभूत बुद्धि तदुपादानक होनेसे स्वरूपत सद्रूप होनेपर भी, तद्देशकालस्थ

तिरोभावशक्तिद्वारा अख्यातिगोचर बनाये गये होनेके कारण पर्यवसानमें अन्यख्यातिगोचर होते माने गये हैं.

यह श्रीलालूभट्टजीको निरुपाधिक और औपाधिक उभयविध भ्रमज्ञानमें समानरूपेण स्वीकार्य होना चाहिये था. निर्णयार्णवमें, किन्तु, ग्रन्थकारद्वारा ओपाधिक प्रतीतिओंको अन्यथाज्ञान मान कर उसे भ्रमप्रमासे भिन्न माननेके विधानका अभिप्राय बुद्धिमें सहसा आरूढ नही हो पाता है. निष्कर्षतः वाल्लभ वेदान्तके अनुसार अज्ञान और अन्यथाज्ञान अन्यख्यातिरूप भ्रान्तिके व्यामुग्ध पुरुषगत हेतुद्वय है नकि भ्रान्तिके लक्षणोपम स्वरूप.

[३]

ओपाधिक भ्रान्तिज्ञान या प्रमाज्ञान के सन्दर्भमे किसी पदार्थका उपाधि होना या ज्ञानकरणोंका सहकारी कारण या करण होना, ज्ञानोत्पत्त्यनुकूल औत्सर्गिकी अपेक्षा या आपवादिकी अपेक्षा के विचारवश सामान्यतया स्वीकार लिया जाता है. ऐसा परन्तु निरपेक्षतया निर्धारित कर पाना अतीव दुष्कर होता है. क्योंकि शुद्ध जीवात्मचैतन्यकी स्वयप्रकाशताका विचार करनेपर तो स्वयं सविकल्पक प्रत्यक्षप्रमाको भी न केवल इन्द्रिय-मनो-बुद्ध्यहंकारसंनिपातौपाधिक अपितु शब्द-संस्कारालोकाद्युपाधिजन्य भी होनेके कारण औपाधिक ज्ञान ही मानना पडता है'[८], जैसाकि वहां वचन भी उद्धृत किया ही गया है "चक्षुषा आलोच्य वस्तूनि विकल्प्य मनसा तथा 'अहं'मत्यापि अहङ्काराद् बुद्ध्यैव ह्यध्यवस्यति" (लक्ष्मीतन्त्र : १३।३४).

भारतवर्षमें योगाचार-माध्यमिक बौद्धोने एवं शांकर वेदान्तिओने भी शब्द-संस्कारादिकी उपाधिसे जन्य होनेके कारण सभी सविकल्पक प्रमानुभूतिओको शुद्ध प्रत्यक्षप्रमा माननेके बजाय भ्रमानुभूतिके निम्न स्तरपर उनकी पदावनति की है. पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तनमे भी सर्वप्रथम

लॉक (Locke) ने प्रत्यक्षगोचर पदार्थोंके प्राथमिक गुणधर्म और आनुषंगिक गुणधर्मों के पार्थक्यकी उद्भावना प्रस्तुत की थी उसके बाद तो बर्क्ले और ह्यूम के भी उसी दिशामे अग्रसर होनेके कारण अनुभववादी (Empiricistic) और कल्पनावादी (Idealistic) लेखनपरम्पराका दौर चल पड़ा अन्तत ब्रेड्ले, बर्ट्रेन्ड रसेल, ए जे एयर आदि चिन्तकोंके भी आगे आनेपर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (Sensation) सविकल्पक प्रत्यक्ष (Perception) और सामान्यप्रत्यक्ष (Conception) की एकार्थावलम्बिता अस्वीकार्य ही मानी जाने लगी अत अनुभूतिके उल्लिखित तीन प्रकारोमेसे अन्तिम दो प्रकार शुद्ध प्रत्यक्षतया मान्य नहीं रह गये यद्यपि इसी अवधिमे वहा यूरोपमे यथार्थवादी चिन्तक भी अवश्य हुवे परन्तु वह दूसरी कथा है

प्रस्तुत विचारकी ही दिशामे आगे बढनेको यह अवधेय है कि लोकव्यवहारातीत शास्त्रैकगम्य निरुपाधिक शुद्ध आत्मचैतन्यके सन्दर्भको थोड़ीसे देरके लिये भूल कर लोकव्यवहारानुगुण प्रामाण्यकी परिधिमे ही इस विमर्शको सीमित रखते हुवे कुछ सोचना हो तो आधुनिक कालमे खोजे गये अनेक वैज्ञानिक उपकरण कुछ अन्य ही तथ्योपर हमारा ध्यान बरबस आकृष्ट करना चाहते है उदाहरणतया प्राचीन कालमे प्राय विवादरहित मानी जाती साख्यकारिकाकी धारणा —

"[१]अतिदूरात् [२]सामीप्याद् [३]इन्द्रियघाताद् [४]मनोऽनवस्थानाद्
[५]सौक्ष्म्याद् [६]व्यवधानाद् [७]अभिभवाद् [८]समानाभिहारात् च
अनुपलब्धि न अभावात् "

(साख्यकारि ७)

इनमे कारिकोक्त देशदोषरूप [१]अतिदूरता और [२]समीपता, इन्द्रियदोषरूप [३]इन्द्रियघात और [४]मनोऽनवस्थान, विषयदोषरूप [५]सूक्ष्मता, और अन्तमे, अर्थान्तरदोषरूप [६]व्यवधान [७]अभिभव और [८]समानाभिहार, इन और ऐसे अन्य भी प्रत्यक्षबाधकोकी बाधकताको अकिञ्चित्कर बनानेवाले वैज्ञानिक

उपकरणोंके अब निर्मित हो जानेसे इस दिशामे पुनश्चिन्तन सद्योऽपेक्षित लगता है

उदाहरणतया देशदोषको अकिञ्चित्कर बनानेवाले टेलिस्कॉप दर्पण आदिके प्रयोगद्वारा अतिदूर और अतिसमीप को अब प्रत्यक्ष निहारा जा सकता है इन्द्रियदोषोंको भी चश्मा कॉन्टेक्ट-लेंस आर्टीफिशियल कॉर्निया-रिप्लेसमेंट हिअरिंगएड्ज आदि उपायोद्वारा तथा मनोऽनवस्थानरूप दोषको संमोहनविज्ञानपर हुवे सशोधनोंके आधारपर भी अकिञ्चित्कर बनाया जा सकता है इन उपकरणोंद्वारा होते प्रत्यक्षको व्यवहारमे औपाधिक भ्रम मानना या औपाधिक प्रमा? विषयदोषरूप सूक्ष्मतापर भी माइक्रोस्कॉपके उपयोगद्वारा काबू पाया जा सकता हो तो ऐसे सूक्ष्मवस्तुओंके प्रत्यक्षको भ्रम मानना या प्रमा? अर्थान्तरदोषरूप 'व्यवधान 'अभिभव और 'समानाभिहार की समस्याओंका निराकरण टेलिकास्टिंग एक्सरे सोनोग्राफी राडार आदि आधुनिक उपकरणोद्वारा शक्य हो जानेके कारण इनसे होते प्रत्यक्षको औपाधिक प्रमा मानना या औपाधिक भ्रम यह अब निरतिशय विचारणीय विषय हो गया है

प्राचीन कालमे विकल्पावगाही ज्ञानोंके सारे प्रकारोंको, भारतीय बाह्यार्थापलापवादिओंने, भ्रान्तिरूप मान कर जिसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष माना वह निर्विकल्पक प्रमा भी, अब चाक्षुष प्रत्यक्षकी आधुनिक विज्ञानके अनुसार जो व्याख्या प्रकट हुयी है, तदनुसार कितनी विकल्पावगाहनरहित है, यह विचारणीय हो गया है।

आधुनिक दृष्टिविज्ञानविदोंके अनुसार चाक्षुषप्रत्यक्षगोचर होनेवाली वस्तुके साथ उसके वर्ण (color), आकृति (shape), परिमाण (size), प्रकार (pattern), दैशिकी स्थिति (position) और वस्तुके गतिमान होनेपर गति (movement) भी प्रत्यक्षगोचर होती मानी जाती है इनमे सर्वप्रथम वर्णप्रत्यक्षके ही विवेचनामे यह कहा जाता है कि वर्ण

न तो बौद्धिक कल्पना है और वस्तुनिष्ठ गुणधर्म वर्ण, आधुनिक विज्ञानके अनुसार, प्रकाशतरङ्गोकी विविध लबाई और उनके प्रति सवेदनशील नेत्रपटलमे लगे हुवे शकु, शलाका और शकु+शलाका के पारस्परिक उत्तेजन और सवेदन के कारण प्रकट होता औपाधिक चाक्षुष प्रतिभास है एतावता जे पी गिलफॉर्ड कहते हे

> "न तो प्रकाशतरङ्ग दिखलायी देती हैं, और न उनसे उत्तेजित होनेवाला नेत्रपटल, और न उसे मस्तिष्कके साथ जोडनेवाला नाडीतन्त्र ही, और न उन नाडीतन्त्रोंसे मस्तिष्कको मिलनेवाले सन्देश ही हम देख पाते हैं फिरभी इन प्रक्रियाओके कारण विभिन्न वर्णोंको देख पाते है ये प्रकाशतरङ्ग, नाडीतन्त्रिकोत्तेजन और वर्णतत्त्व प्राकृतिक ऊर्जाकी तीन सर्वथा विभिन्न घटनाये है, यह कभी भूलना नहीं चाहिये" १९

स्पष्ट है कि ऐसी स्थितिमे यथार्थवादी चिन्तकोका वर्णके वस्तुगत गुणधर्म होनेका दावा और कल्पनावादी चिन्तकोका वर्णके कल्पनामात्र होनेका दावा, दोनो ही एकहेलया निरस्त हो जाते है इस सन्दर्भमे एक सहज स्पष्टीकरण, परन्तु, भगवद्गीता और भागवतपुराण के अनुसार हमे यह भी मिलता ही है "पृथक्त्वेनतु यद् ज्ञान नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञान विद्धि राजसम्", "रजो वैकल्पिक स्मृतम्" "सन्निपातस्तु 'अहम्'इति 'मम'इति या मति, व्यवहार सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभि "२० यो आत्मचैतन्यके स्वरूपको दृष्टिगत रखनेपर विकल्पावगाही ज्ञान औपाधिक तो हो सकते है परन्तु एतावता उनका स्वप्नज्ञानोपम निरालम्बन होना या सदसदनिर्वचनीयविषयालम्ब नक होना आवश्यक नही लगता भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यने इस बारेमे जो प्रभावशाली वक्तव्य दिया है वह सर्वथा अविस्मरणीय लगता है वे कहते है—

"यद् उक्त बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवद् जागरितगोचराअपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्यार्थेन भवेयु प्रत्ययत्वाविशेषाद् इति, तत् प्रतिवक्तव्यम् अत्र उच्यते न स्वप्नादिप्रत्ययवद् जाग्रत्प्रत्यया भवितुम् अर्हन्ति कस्मात्? वैधर्म्यात् वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयो किं पुन वैधर्म्यम्? 'बाधाबाधौ' इति ब्रूम बाध्यतेहि स्वप्नोपलब्ध वस्तु प्रतिबुद्धस्य नैव जागरितोपलब्ध वस्तु स्तम्भादिक कस्याञ्चिदपि अवस्थाया बाध्यते अपिच स्मृति एषा यत् स्वप्नदर्शनम्— उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम् तत्र एव सति न शक्यते वक्तु मिथ्या जागरितोपलब्धि उपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवद् इति उभयो अन्तर स्वयम् अनुभवता नच स्वानुभवापलाप प्राज्ञमानिभि युक्त कर्तुम् अपिच अनुभवविरोधप्रसङ्गाद् जागरितप्रत्ययाना स्वतो निरालम्बनता वक्तुम् अशक्नुवता स्वप्नसाधर्म्याद् वक्तुम् इष्यते नच यो यस्य स्वतो धर्मो न भवति सो अन्यस्य साधर्म्यात् तस्य सम्भविष्यति नहि अग्नि उष्णो अनुभूयमान उदकसाधर्म्यात् शीतो भविष्यति दर्शितन्तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयो"

(ब्र सू शा भा २।२।२९)

अतएव आधुनिक दृष्टिविज्ञान भी लौकिक व्यावहारिक प्रत्यक्षोंकी औपाधिकता-सन्निपातरूपताका तो समर्थन करता है परन्तु बाह्यार्थके सर्वथा कल्पित होनेकी कथा तो आधुनिक विज्ञानान्वेषणोंको कल्पनावादी ओर/अथवा अनुभववादी पूर्वाग्रहसे ग्रस्त हो कर निरानेकी मनोवृत्तिका ही परिणाम लगता है चाक्षुषप्रतिभासके आयोजनकी मीमांसामे आधुनिक विज्ञानने कुछ बाह्य और कुछ आभ्यन्तर घटकोका प्रयोगान्वेषण किया है तदनुसार बाह्य दृश्यवस्तुमे [1]सामीप्य (Contiguity) [2]सादृश्य (Similarity) [3]सातत्य (Continuity) और [4]अन्तर्भाव एव परिच्छिन्नता (Inclusiveness and Closure) ये चार चाक्षुषप्रत्ययके बाह्य घटक माने है इसी

तरह 'परिचितता (Familiarity), और 'मानसवृत्ति (Mental set) ये आभ्यन्तर घटक माने है[२२] इनमे सुस्पष्टतया देखा जा सकता है कि सामीप्य सादृश्य सातत्य और अन्तर्भाव-परीच्छिन्नता दृश्यमान वस्तुके दृष्टृनिरपेक्ष दृष्टि-आयोजक बाह्य वास्तविक धर्म है नकि दृष्टृपरीकल्पित आभ्यन्तर घटक

जो बात वर्णके चाक्षुष प्रतिभासके बारेमे कही गयी है, वही थोडे-बहोत हेरफेरके साथ आकृति, परिमाण, प्रकार, दैशिकी स्थिति, और गति के बारेमे भी कही जा सकती है क्योकि आधुनिक विज्ञान चक्षुको प्राप्यकारी तो मानता नही है सर्वप्रथम पुरोवर्ती वस्तुसे परावृत्त प्रकाश नेत्रगोलकके पारदर्शी आवरण (Cornia)मे प्रविष्ट होता है उसके बाद तदन्तर्वर्ती सकोचविकासशील आवरण (Iris) के मध्यवर्ती नेत्रगोलकविवर (Pupil)मे प्रविष्ट होता है वहासे तत्पार्श्ववर्ती पारदर्शी नेत्राण्डक (lens)मे प्रविष्ट होता है वहासे नेत्रपटलान्तर्घटक प्रकाशके न्यूनता/आधिक्यके अनुसार कृष्ण/श्वेत वर्णानुभाविका शलाकाओ (Rods)को और लाल-केसरी-पीत-हरित-नील-बेगनी वर्णोके अनुभावक शकुओ (Cones)को उत्तेजित करता है तब उन्हे मस्तिष्कसे जोडनेवाली नाडियो (Optic nerves)के द्वारा, और, उनके सगमस्थल (Optic Chiasma)की दृश्यसयोजनात्मिका प्रक्रियाद्वारा स्वय मस्तिष्कान्तर्गत नेत्रप्रकोष्ठ (Visual Cortex) पर्यन्त तदनुसारी सन्देश पहुचता है इस लबी प्रक्रियाके अन्तमे परिणामतया चाक्षुष प्रतिभास सम्पन्न होता माना जाता है[२३]

प्रकाशावभासनकी इस प्रक्रियाकी खोजके वृतान्त प्रकट होते ही अनुभववादी और कल्पनावादी चिन्तकोंने दूने उत्साहसे यह कहना शुरु कर दिया कि सारे वर्णादि गुणोका प्रतिभास वास्तविक न हो कर या तो विभिन्न निर्विकल्पक अनुभूतिओका केवल मानसिक सघातमात्र है अथवा ये गुण बौद्धिक कल्पनामात्र है हम जानते है कि केमेराके भीतर न तो मन होता है और न बुद्धि फिरभी हमारे नेत्रोकी

संरचनाके अनुकरणद्वारा निर्मित होनेमात्रसे उसमे भी वही चित्र प्रतिबिम्बित हो जाता है, कृष्ण-श्वेत (achromatic) भी और बहुवर्णी (chromatic) भी अत वर्णोकी सत्ता वस्तुनिष्ठ हो या न हो परन्तु वर्णोको मानसिक सघात (असत्ख्याति) या कल्पनामात्र (सदसदनिर्वचनीयख्याति) मान लेनेकी बात प्रामाणिक नही लगती है इस तर्कको केवल वर्णानुभूतिमे ही पर्यवसित होता न मान कर आकृति परीमाण दैशिक स्थिति और गति के प्रतिभासोपर भी प्रभावशाली मानना चाहिये समानयोगक्षेमन्यायेन यही कथा ध्वनि गन्ध स्वाद और स्पर्श के प्रत्यक्षोके बारेमे भी सोची जा सकती है अर्थात् इन प्रत्यक्षोको भी औपाधिक ख्याति मान लेनेपर भी आत्मख्याति असत्ख्याति अन्यथाख्याति अनिर्वचनीयख्याति या अख्याति इन्हे माना नही जा सकता रही बात अन्यख्यातिकी तो उसकी चर्चा आगे करना चाहेगे अस्तु

प्रकृतानुसरणार्थ इस क्रममे यदि कोई विषय ही प्रकाशका अन्त शोषण कर ले, अथवा प्रकाशकी यात्रामे कृत्रिम या अकृत्रिम व्यवधान उपस्थित हो जाये, अथवा नेत्रगोलकके पारदर्शी आवरण या तदन्तर्वर्ती सकोचविकासशील आइरिसके भलीभाति कार्यकारी न होनेपर, या पारदर्शी नेत्राण्डक-लेंसमे किसी तरहकी गडबडी हो जानेपर, अथवा इस लेंस और नेत्रपटलके बीच भरे पारदर्शी लचीले पदार्थ (Vitrous Humor)मे, या नेत्रपटलान्तर्वर्ती शकु-शलाकाओंके न्यूनाधिक्यमे अथवा इनसे जुडी नाडिकाओके प्रमादी हो जानेपर, अथवा मस्तिष्कान्तर्वर्ती नेत्रप्रकोष्ठके स्वय आघातादि हेतुओके कारण अस्वस्थ हो जानेपर न तो निर्विकल्पक चाक्षुष प्रतिभास और न सविकल्पक ही सम्भव रह जाता है ऐसी स्थितिमे चाक्षुषकिरणोका नेत्रद्वारमे पुरोवस्थित, या दोषवशात् अपुरोवस्थित, विषयदेश पर्यन्त गमन और वहा जा कर सद् असद् सदसद् अथवा सदसदनिर्वचनीय विषयाकारसे आकारित होनेकी कल्पनाको अब आधुनिक विज्ञान स्वीकारनेको उद्यत नही ऐसी ही प्रक्रियान्तर श्रावण, रासन आदि प्रत्यक्षके भी प्रकारोके बारेमे आधुनिक विज्ञानने ध्वनितरङ्ग आदिकी खोजके आधारपर प्रकट की है

लौकिक विषयोंके बारेमें भी शास्त्रवचनोंको ही परमप्रमाण माननेकी विचारशैलीमें तो लौकिक वस्तुके लौकिकप्रमाणोंसे अग्राह्य किसी शब्दैकगम्य पक्षकी धारणा या प्रत्युपपत्ति प्रस्तुत की जा सकती है. लौकिक विषयोंमे, परन्तु, शास्त्रवचनोंको सर्वथा अनुपयोगी मान कर प्रत्यक्षानुमिति और लाघव-गौरवके तर्कोंपर ही अवलम्बित होनेवाली चिन्तनशैलीके समक्ष असकृत् प्रयोग-परीक्षणसिद्ध वैज्ञानिक तथ्योंसे विरोधकी समस्या नूतन परिभाषा, नूतन प्रक्रियानिर्देश और नूतन हेतुनिर्देश रूपी प्रतीकारोंकी विकट मांग प्रस्तुत कर रही है.

१९ वीं शताब्दिके मध्यमे आंग्ल सैद्धान्तिक-भौतिकीविद् जेम्स क्लर्क मेक्सवेलकी इस खोजके बाद कि प्रकाश तो केवल उस व्यापक इलेक्ट्रोमेग्नेटिक क्षेत्रविस्तारमें घटित होते उत्किरणका एक क्षुद्र अंश है जो चक्षुर्भास्य होता है[२४], इससे वैचारिक जगत्का पूरा चित्र ही बदलना शुरु हो गया. क्योंकि अब प्रकाश दृश्य द्रव्य न रह कर ऊर्जाके रूपमे परिभाषित होने लगा. परवर्ती मेक्स प्लेक, नील्स बोहृर, अल्बर्ट आईन्स्टीन, लूइस द ब्रोग्ली, वेर्नर हैजनबर्ग, एरविन श्रॉडिंगर आदि अनेक वैज्ञानिकोंके सशोधन-अन्वेषणोंके कारण, कहा जाता है[२५] कि, उक्त इलेक्ट्रोमेग्नेटिक उत्किरणोंमे तरङ्गरूपता और आणविकगुच्छरूपता यों उभयविध विरुद्धधर्माश्रयताका स्वभाव प्रकट होता पाया गया. इस कारण अल्बर्ट आईन्स्टीनने द्रव्य, दैशिक अवकाश, ऊर्जा, काल और गतिकर्म के परस्पर सापेक्ष होनेकी धारणा प्रस्तुत की. एतावता यद्यपि द्रव्यका ऊर्जामे रूपान्तरण तो प्रयोगसिद्ध भी हो गया है परन्तु तोभी अभी तक ऊर्जाके द्रव्यमे रूपान्तरणकी शक्यता विवादग्रस्त विषय है. हर सूरतमे इतना तो निश्चिततया कहा ही जा सकता है कि द्रव्यके चक्षुर्ग्राह्य भाव या अभाव अब द्रव्यकी सत्ता या असत्ता के निश्चित प्रमापक हेतु रह नही गये है। ऐसी स्थितिमे जड या चेतना के एक-दूसरेसे बाह्य भावाभावोंकी कल्पनाके वश किसी एक या दूसरे की सत्ता या असत्ता की चर्चा अब अनवसरपराहत होने जा रही

है क्योकि जड़ और चेतन दोनो ही इस इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक व्यापक ऊर्जाक्षेत्रविस्तारके सातत्यके अद्वैतमे आविर्भूत-तिरोभूत होते केवल नाम-रूप-कर्मोके द्वैतमात्र रह गये है यद्यपि उत्तरकालीन अन्वेषणोमे इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक व्यापक ऊर्जाक्षेत्रविस्तारके अलावा भी इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक ऊर्जासे भी पूर्वसिद्ध गुरुत्वाकर्षण ऊर्जा जो द्रव्यसघातोके बीच पारस्परिक आकर्षणका हेतु होती है इसी तरह अशक्त नाभीकीय ऊर्जा जो रेडियोएक्टीविटीके हेतुतया उत्प्रेक्षित हुयी है और सशक्त नाभीकीय ऊर्जा जो परमाणुओके मध्यवर्ती प्रॉटोन और न्यूट्रोन के भीतर घटक यथार्थ्क्को जोड़नेवाली सशक्त नाभीकीय ऊर्जाके रूपमे उत्प्रेक्षित हुयी है यो तीन और ऊर्जाओको जोड़ कर ऊर्जाचातुर्विध्यका स्वीकार एक आवश्यक उत्प्रेक्षा मान ली गयी परन्तु पुन कई वैज्ञानिक अन्वेषणोमे अशक्त नाभीकीय ऊर्जा और इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक ऊर्जाके सफल एकीकरणके आधारपर इन दोनो ऊर्जाओके भी सशक्त नाभीकीय ऊर्जाके साथ एकीकरणद्वारा एक महान् एकीकृत प्रक्रियाको खोजनेके प्रयास भी चल रहे है[२६] अभी कैसे-क्या कहा जा सकता है कि कब इन चारोंके भीतर काम करती कोई एक ही ऊर्जा वैज्ञानिकोको मिल ना जाये। यहा तुलनीय हो जाता है कि भागवतपुराण (२।५।१४) भी "द्रव्य कर्म च कालश्च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वत" निरूपणद्वारा कुछ इसी तरहके ब्रह्माण्डका मॉडल प्रदर्शित करना चाहता है खुलासाके तौरपर कुछ मोटे समीकरण स्वीकार कर चले कि 'द्रव्य-Matter", 'कर्म-Kinetic Energy", "काल-Time", "स्वभाव-Static Energy", और 'जीव-Consciousness", यो भागवतीय तत्त्वोके समकक्ष आधुनिक वैज्ञानिक तत्त्वोको निहारे तो सैद्धान्तिक चौखटके भीतर जो चित्र प्रकट होता है वह यही कि 'अन्यो अर्थो तत्त्वतो नास्ति" अर्थात् अनेकविध नाम-रूप-कर्मात्मक ही ये सारे भेद है

उक्त इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक क्षेत्रका स्वरूप आधुनिक विज्ञानके अनुसार

यो माना गया है :

इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक तरङ्गविस्तारका व्यापकक्षेत्र[२७]

लघुतरंग ← तरंगदैर्घ्यसारणी → दीर्घतरंग

गामा एक्सरे परावैंगनी । चक्षुर्ग्राह्य । रक्तान्तरित । राडार रेडियो-टेलिविजन ब्रॉडकास्टबैंड

इन विविध किरणोंके प्रभेद इनकी पृथक्-पृथक् तरंग-लंबाई मात्रके आधारपर निर्भर होते है. और हम देख सकते है कि दृश्य और श्रव्य का प्रभेद भी केवल तरंगोकी पृथक्-पृथक् लंबाईओंका ही भेद है. न केवल इतना प्रत्युत श्रव्य तरंगोंके द्वारा दृश्यावभासन भी शक्य हो गया है अत पदार्थोंके बीच अथवा उनके गुणधर्मोंके बीच परस्पर आत्यन्तिक भेदकी धारणा आधुनिक चिन्तनका विषय होनेके बजाय भूतकालिक दर्शनेतिहासका विषय बनने जा रही है. अत "ब्रह्मैव इदं विश्वम्" "ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्" "सएव इदं सर्वम्" "तत् सर्वम् अभवत्" "पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्" "सर्वं सर्वम् इदं जगत्" "यच्च किञ्चिद् जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायण स्थित." "सर्वं सर्वमयम्"[२८] आदि अनेकानेक उपनिषद्वचनोंका उद्घोष कि सर्वत्र भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्य ही है और वही शनै -शनै आधुनिक विज्ञानमें भी मान्य होता जा रहा है अस्तु

प्रकृतानुसरणार्थ इस इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक तरंगविस्तारमे अवस्थित चक्षुसे अग्राह्य तरङ्गोको न केवल प्रकट किया जा सकता है अपितु उन्हे देख-सुन पानेके उपकरण भी जब उपलब्ध होते ही है. अत अब इन उपकरणोंसे ग्राह्य पदार्थोंको भ्रमविषय या प्रमाविषय मानना? यह सोचनेको अब बाधित होना ही पडता है दस करोड प्रकाशवर्षकी दूरीपर अवस्थित किसी पिण्डके दस हजार वर्षपूर्व विनष्ट हो जानेके बाद भी आज-अभी उसकी प्रात्यक्षिकी प्रमा, "अनागतम् अतीतं च

वर्तमानम् अतीन्द्रिय विप्रकृष्ट व्यवहित सम्यक् पश्यन्ति योगिन" (भाग पुरा १०।६१।२१)न्यायेन प्रकट हो सकती है अवधेय है कि 'सम्यक्' अर्थात् "नतु असदनिर्वचनीयान्यथाख्यात्यादिरूपेण"

अत चाक्षुप श्रावण स्पार्शन आदि प्रत्यक्षोंके निरुपाधिक एव औपाधिक प्रमाओंके प्रभेद, निरुपाधिक और औपाधिक भ्रमोंके प्रभेद, स्वाप मूर्छा मस्तिष्काघात औषधादिजन्य भ्रम सम्मोहन आदि रूपोमे घटित होती अनुभूतिओके विविध प्रकारोंका पुनर्मूल्याकन आवश्यक लगता है

[४]

आधुनिक मनोविज्ञानमे, अतएव ख्यातिकी चर्चाके अन्तर्गत—

(१)साधारणभ्रान्ति (Normal illusions)
(२)असाधारणभ्रान्ति (Abnormal illusions)
(३)निरधिष्ठानकभ्रान्ति (Hallucination)

यो मूलमे तीन प्रभेद दिखलाये जाते है इनमे साधारणभ्रान्तिके भी कई उपभेद उपलक्षणविधिसे यो दिखलाये है (१/क)समकालिक वैसादृश्यमूलक भ्रान्ति, उदाहरणतया, समान परिमाणके दो वर्तुलोमेसे एकको लघुपरिमाणवाले वर्तुलोसे चारो घेर लेनेपर ओर दूसरेको दीर्घपरिमाणवाले वर्तुलोसे घेर लेनेपर एक बड़ा और दूसरा छोटा दिखलायी देता है (१/ख)पूर्वोत्तरकालिक वैसादृश्यमूलक भ्रान्ति उदाहरणतया ३० सेन्टीमीटरकी एक मुड़ी हुई रेखाको एकाग्रदृष्टिसे कुछ देर तक निहारनेके बाद तुरत सीधी रेखापर दृष्टिपात करनेपर वहभी मुड़ी हुई दिखलायी देने लगती है (१/ग)भौमितिक भ्रान्तिया, इनके अन्तर्गत भी समान होनेपरभी उन्नताकृति तिर्यगाकृतिकी तुलनामे ज्यादा लबी लगती है अधिकावकाशव्यवहित आकृति समान होनेपर भी अल्पावकाशव्यवहित आकृतिकी तुलनामे दीर्घ परिमाणवाली लगती है दो समान परिमाणवाले

अंशोमेसे एकको अपेक्षाकृत महत्परिमाणवाले अंशीमें योजित किया जाये और दूसरेको अल्पपरिमाणवाले अंशीमे योजित किया जाये तो महदंशीका अंश महत्परिमाणवाला लगता है कभी-कभी अंशीके प्रतिभासकी प्रधानताके वश अशका अप्रतिभास भी हो जाता है तो कभी-कभी अंशके प्रतिभासकी प्रधानताके वश अंशीका भी अप्रतिभास हो जाता है. दो समानान्तर रेखाओपर बाह्यकोण या आन्तरकोण वाली रेखाओका न्यास करनेपर बाहर या भीतर की ओर चौड़ी होती या सिकुड़ती वे लगने लगती है. हल्के रगकी आकृति गहरे रंगकी आकृतिकी तुलनामे महत्परिमाणवाली लगती है. ये ऐसी भ्रान्तियां हे जो सभीको साधारणरूपेण होती ही है, नभोनैल्य या इन्द्रधनुप के प्रतिभासकी तरह. इन औपाधिक प्रतिभासोको 'भ्रान्ति' इसलिये कहा जाता हे क्योकि अन्य परीक्षणोके आधारपर इनमे भासित होते विपय बाधित हो जाते है[२९]. इस तरहके प्रतिभासोमे बाह्य उपाधिवश प्रतीत होते तथ्यसे अवगत होनेपर भी ऐसा अवभास निवृत्त नहीं हो पाता, जबकि अन्य प्रमाणोंके आधारपर वैसा न होना भी सिद्ध होता है. अत इन्हे 'साधारणभ्रान्ति' कहा जाता है

प्रस्तुत लेखकको इस विषयमे आग्रहके साथ इतना ही कथनीय लगता है कि 'साधारणभ्रान्ति' नामसे पुकारे जाते इन प्रतिभासोको मानसिक सघात या बौद्धिक कल्पना अर्थात् असत्ख्याति या आत्मख्याति या अनिर्वचनीयख्याति के अर्थोमे भ्रान्तितया स्वीकार लेनेकी धाधल नही करनी चाहिये क्योकि मनोबुद्धचहकारचित्तरहित केमेरा भी इन तथाकथित भ्रान्तिप्रतिपन्न वस्तुओका चित्र वैसा ही प्रकट करता है, जैसा कि सभी साधारणजनोको प्रतिभास होता है. निर्वस्त्र दिगम्बर शुकादिसदृश अवधूत मुनियोके साक्षात्कारकी तुलनामे वल्कलादि वस्त्ररूप विशेषणादिविशिष्ट उनके पूर्वज वशिष्ठ पराशर व्यास आदि मुनियोके साक्षात्कारको, केवल विकल्पावगाही होनेके दोषवश, क्या अनिर्वचनीयख्याति या असत्ख्याति रूपा भ्रान्ति माना जा सकता है। क्या शुकादिसदृश

दिगम्बर अवधूतोके ही साक्षात्कारको, केवल निर्विकल्पावगाही ज्ञान होनेके गुणवश, प्रामाणिक माननेका सिद्धान्त स्वीकारा जा सकता है? अत 'औपाधिकप्रमा' 'साधारणभ्रान्ति'के रूपमे कहे जाते इन प्रतिभासोको क्यो न 'औपाधिकप्रमा' नामसे पुकारना चाहिये? न्यायमतके अनुसार इतना तो स्पष्ट ही है कि वस्त्र और वशिष्ठादि मुनियो के बीच समवाय सम्बन्ध न होनेसे किसी साक्षात्कारमे वस्त्रवैशिष्ट्यकी तो अन्यथा वस्त्राभाववैशिष्ट्यकी प्रमा भी सम्भव तो है ही। अत इन्हे अनुभूयमान वस्तुओके स्वाभाविक गुणधर्म माननेके बजाय आगन्तुक गुणधर्म माननेमे क्या आपत्ति हो सकती है? यह धैर्यपूर्वक विमर्श करना चाहिये

भारतीय ख्यातिविचारके सन्दर्भमे "अधिष्ठानके यथार्थ ज्ञानसे निवर्त्य शुक्तिरजतसदृश भ्रम"को निरुपाधिक भ्रम माना गया है, जबकि, "अधिष्ठानके यथार्थ ज्ञानसे अनिवर्त्य किन्तु उपाधिनाशसे निवर्त्य अलातचक्र या शखपीतिमा जैसे भ्रमो"को औपाधिक भ्रम माना गया है ऐसा विभाजन आधुनिक मनोविज्ञानमे इतने स्पष्ट शब्दोमे नही पाया जाता वैसे ही केशोण्ड्रक (Flying Gnats) कर्णकुहरान्तर्गुञ्जन (Humming sound in eardrum) जैसे निरधिष्ठानक भ्रमोके बारेमे अपने यहा भी सागोपाग विवेचना हो नहीं पायी, स्वाप्निक प्रतिभासके अपवादको छोड़ कर आधुनिक मनोविज्ञानने, परन्तु, निरधिष्ठानक भ्रम (Hallucination) और साधिष्ठानक भ्रम (Illusion) के पार्थक्यके बारेमे स्वरूप, कारण और निवृत्त्युपाय के दृष्टिकोणसे पर्याप्त विवेचना की है जे पी गिल्फॉर्डने पूर्वोदाहृत अपने सामान्यमनोविज्ञानमे इनके पार्थक्यको इन शब्दोमे समझाया है *"इल्युजन कुछ न कुछ तो ऐन्द्रियक उद्दीपक आलम्बनके वश होता है जबकि हेल्युसिनेशन तो शतप्रतिशत कल्पनावश ही वैसे यह सम्भव है कि यह भी किसी इन्द्रियको अपना आधार बना कर प्रकट हो"*[१३०] सी टी मॉर्गन इस प्रभेदको इन शब्दोंमे समझाते है *"भ्रान्तियाँ(साधिष्ठानक) इन्द्रियोंद्वारा अन्तर्निविष्ट सूचनाओंकी प्रात्यक्षिक आयोजनरूपा होती हैं भ्रान्ति(साधिष्ठानक) स्मृति आदि अन्यतम मानसिक क्रियाकलापोके*

अलावा अन्य किसी भी बाह्य कारणसे अजन्य कभी नहीं होती, यो वह केवल अन्तर्निर्मित प्रत्यक्षानुभूतिरूपा भ्रान्ति (निरधिष्ठानक) नहीं होती''[३१] एतद्विषयक भारतीय सन्दर्भोंमे कुछ कहना-सोचना हो तो भागवतपुराण (१०।७७।२५-२९)मे श्रीकृष्ण और शाल्व-सौभके युद्धमे बन्दीके रूपमे उपस्थापित वसुदेवके प्रतिभासका वर्णन या इस तरहकी अन्यभी इन्द्रजालविद्या (Rope trick) निरधिष्ठानकभ्रान्तिया हो सकती है

ख्यातिके विशिष्टज्ञान होनेकी अर्थात् बुद्धिकी विविध वृत्तियोकी चर्चाके अन्तर्गत स्वप्नको विपर्याससे पृथक् एक ज्ञानके प्रकारतया प्रतिपादित करनेकी उपपत्ति महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने भी, अतएव, इन शब्दोंमे दी है '' 'स्वाप '-स्वप्नरूपो, भिन्नसृष्टिविषयत्वात् न पूर्वोक्तेषु अन्तर्भाव ''[३२]

अतएव स्वप्न और विपर्यास अथवा निरधिष्ठानक और साधिष्ठानक, यो मूलमे भ्रमके दो प्रभेद मानने चाहिये यह निरधिष्ठानकता आरोप्यमाणसादृश्योद्बोधक अधिष्ठानके अभिप्रायवश ही है क्योकि ब्रह्म भी अधिष्ठान न बन पाये तो ऐसी तो कोई अनुभूति ही शक्य नही अतएव महाप्रभुने भगवत्क्रीडाके तीन प्रकार स्वीकारे है ''१ य क्रीडति २ यो जगद् भूत्वा क्रीडति और ३ यतो जगत् क्रीडति''[३३] इनमे तृतीय कोटिकी क्रीडाके बारेमें महाप्रभुका कहना है कि भगवान् इस प्रकारकी क्रीडामे निर्लिप्त रहते है अर्थात् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म अपने सदशसे इस प्रकारमे लिप्त नही होता अत वह अद्भुतकर्मा अपनी विशेषशक्तिद्वारा इस तरहकी क्रीडामे नाम-रूप-कर्मोका केवल प्रतिभास ही उत्पन्न करता है अर्थात् इस तरहके भ्रान्तिज्ञानमे ज्ञानका उपादान होनेके बावजूद ज्ञायमान विषयका वह उपादान नहीं बनता अस्तु

इसी तरह विपर्यासके पुन निरुपाधिक तथा औपाधिक यो दो उपभेद और होते है इनमे निरुपाधिक भ्रान्तिकी भारतीय विवेचनाके

अनुसार यह कहा जा सकता है कि [1]अधिष्ठानवस्तुविषयक सामान्यज्ञान, [2]विशेषावभासमें प्रतिबन्ध, [3]अधिष्ठान-आरोप्यका सादृश्य, [4]आरोप्यमाण वस्तुविषयक पूर्वानुभव, [5]आरोप्यमाण वस्तुविषयक हानोपादानोपेक्षात्मिका वासना, [6]तज्जन्य हेयोपादेयोपेक्षात्मक संस्कारोद्दीपन आदि भ्रान्तिज्ञानकी कारणसामग्रीको उपाधि नहीं माना जाता. क्योंकि अधिष्ठानके तत्त्वज्ञान होते ही निरुपाधिक भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है. इसके अलावा बहुधा इस तरहकी कारणतासामग्री सर्वजनसाधारण न हो कर व्यक्तिविशेषके साथ ही रहती होती है. अतः भ्रान्तिके इस प्रकारको साधारण प्रकार नहीं माना जाता.

जैसे साधारण और असाधारण भ्रान्तिओका पृथक्करण भारतीय चिन्तनमे सुविशद नहीं हो पाया, ऐसे ही साधिष्ठानक और निरधिष्ठानक भ्रान्तिओंके प्रभेदका भी सुविशद निरूपण हो नहीं पाया है. मुझे लगता है कि हेतु इसमे हमारी रुचि भ्रान्तिज्ञानके विषय और स्वरूप की विवेचना करनेकी अधिक बलवती रही बजाय कि भ्रान्तिज्ञानके कारणोकी विवेचनाके.

वैसे यह तो सत्य है कि न्यायबिन्दुमे[१४] आचार्य धर्मकीर्तिप्रदत्त भ्रान्तिज्ञानके उदाहरणोकी विवेचना करते हुवे आचार्य धर्मोत्तरने अपनी टीकामे भ्रान्तिज्ञानके हेतुओके चार वर्ग दिखलाये है

१.इन्द्रियगत
२.विषयगत
३.बाह्याश्रयगत
४.अध्यात्मगत.

यह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण पृथक्करण है परन्तु साथ ही साथ अतीव अपर्याप्त भी है. क्योंकि सर्वप्रथम तो इन्हे निरुपाधिक और औपाधिक

होनेके प्रभेदमात्रसे द्विगुणित करनेपर चारके बजाय आठ संख्या मिल सकती थी, वैसे अवान्तर प्रभेद और भी अधिक इनके सोचे जा सकते है .

१ इन्द्रियगत हेतुके अन्तर्गत : क.स्वय करणगत (उदाहरणतया चन्द्रद्वयकी भ्रान्ति) ख.व्यापारगत (उदाहरणतया केशोण्ड्रककी भ्रान्ति) और ग सहकारिकारणगत (उदाहरणतया पर्याप्त और अल्प प्रकाशभेदवश वस्तुके वर्णोंमे भिन्नताकी भ्रान्ति). ये हेतु सहज ही सोचे जा सकते है.

२ इसी तरह विषयगत हेतुके अन्तर्गत : क धर्मिनिष्ठ भ्रान्तिहेतुता (उदाहरणतया दूरस्थ नभ पिण्डोंके अल्पपरिमाण होनेकी भ्रान्ति) ख स्वाभाविकधर्मनिष्ठ भ्रान्तिहेतुता (उदाहरणतया अतिसादृश्यवश होती अभेदकी भ्रान्ति) ग आगन्तुकधर्मनिष्ठ भ्रान्तिहेतुता (उदाहरणतया आचार्य धर्मकीर्तिप्रदत्त अलातचक्रकी या उपरागवश सूर्य-चन्द्रमे कृष्णवर्ण होनेकी भ्रान्ति अथवा मालतीके शुष्क पुष्पको सूघनेपर अन्धजनको अमालती होनेकी भ्रान्ति)

३ इसी तरह बाह्याश्रयके बारेमे भी यह कहा जा सकता है क भ्रान्तिज्ञानके विषयका बाह्याश्रय (उदाहरणतया एयरपॉर्टपर कन्वेअर बेल्टके चलनेपर सामानके चलनेकी अथवा बेक्प्रॉजेक्शनवश स्थिर कारके चलनेकी भ्रान्ति) ख भ्रान्तिज्ञानके करणका बाह्याश्रय (उदाहरणतया त्र्यायामिक चलचित्रोको देखनेमे प्रयुक्त सव्येतर रक्त और नील-हरित वर्णोके उपनेत्रसे जन्य भ्रान्ति) ग भ्रान्तिज्ञानके कर्ताका बाह्याश्रय (उदाहरणतया स्वय धर्मकीर्तिद्वारा प्रदत्त नौकाके तेज चलनेपर तटस्थ स्थिर वृक्षोके चलायमान होनेकी भ्रान्ति)

४ अध्यात्मगत कारणके बारेमे भी क सहज (उदाहरणतया साहजिक अज्ञानके दोषवश ब्रह्मानुभूति न होनेके कारण ब्रह्मके अत्यन्ताभावकी

भ्रान्ति अथवा हमारे सौर परिवारकी अशितया आकाशगंगाके दृष्टिगोचर न हो पानेकी भ्रान्ति) ख आगन्तुक दोषवश (उदाहरणतया आचार्य धर्मकीर्तिप्रदत्त ज्वरादिसंनिपातवश होते ज्वलितस्तम्भादि विषयोंकी भ्रान्ति) ऐसे आध्यात्मिक दोषोंके प्रभेद भी सोचे जा सकते हैं

इस तरह भ्रान्तिज्ञानकी कारणताके विचारके बाद अब थोड़ा-बहोत स्वरूप एवं वर्गों के विचारके साथ इस चर्चाका उपसंहार करना है

[५]

भ्रान्तिज्ञानके बारेमें विविध मतोंका जैसा परिपूर्ण संकलन मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिककार श्रीलक्ष्मीपुर श्रीनिवासाचार्यजीने किया है, वह वस्तुत अन्यत्र दुर्लभ संकलन है इसमें आत्मख्याति, असत्ख्याति, अन्यथाख्याति, अख्याति, सदसदनिर्वचनीयख्याति, सत्ख्याति, शून्यख्याति, निरधिष्ठानख्याति, अर्थसंसर्गजाकारख्याति और बाह्याकारार्पिताकारख्याति इन दशविध ख्यातिवादोंमें अन्तर्भूत होती कुछ और भी प्रक्रियाओंका इस ग्रन्थरत्नमें निरूपण-संकलन उपलब्ध होता ही है यह किसी भी जिज्ञासुके लिये वहींसे अध्येतव्य है इस प्रबन्धमें उसका पुनरावर्तन आवश्यक नहीं लगता यहां तो मुझे वाल्लभ वेदान्तमें ख्यातिके बारेमें जो निरूपण उपलब्ध होता है उसके व्याख्यानतया कुछ निरूपण अभिप्रेत है

भागवतपुराणके तृतीयस्कन्धका छब्बीसवां अध्याय वाल्लभ वेदान्तकी ज्ञानमीमांसाका प्रमुख आकर स्थल है यहां चित्त-अहंकार-मनो-बुद्धिके प्रादुर्भाव, स्वरूप, लक्षण एवं क्रियाकलापों की चर्चा मूलकारिकाओंके अनुसार अपनी सुबोधिनी व्याख्यामें महाप्रभुने की है अत वहांके उन्तीस और तीसवें श्लोकमें महाप्रभुने संशय, निश्चय, स्मरण, स्वप्न रूपी ज्ञानके प्रभेदोंके साथ विपर्यासको भी बुद्धिवृत्तितया प्रतिपादित किया है बुद्धिका स्वरूपलक्षण 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान' कह कर दिया है इसी तरह बुद्धिका कार्यलक्षण उसके 'इन्द्रियानुग्राहिका' होनेके रूपमें

दिया है तदनुसार बुद्धि अपनेद्वारा या स्वय अपने भीतर बोध्य वस्तुको उत्पन्न नहीं करती परन्तु उत्पन्नानुत्पन्न(=आविर्भूत-अनाविर्भूत) सद्‌वस्तुके स्फुरण(=निर्विकल्पकानुभूति)को सविकल्पकानुभूतितया अर्थात् सामान्यतया ज्ञात वस्तुको विकल्पविशिष्टतया विज्ञापित करनेके रूपमे प्रकट होती है यह बुद्धिका स्वरूपलक्षण है कार्यलक्षण, परन्तु, इन्द्रियोपर अनुग्रह करना है अर्थात् जिन आख या कान आदि इन्द्रियोंसे, जो दिखलायी या सुनायी दे रहा है, उन दिखलायी या सुनायी देती वस्तुओको भलीभाति देख या सुन पाने आदिमे सहायता करना बुद्धिका इन्द्रियोपर अनुग्रह है, इन्द्रियोके ज्ञानेन्द्रिय होनेपर बुद्धि इसी तरह किसी कर्मार्थ चेष्टा करती कर्मेन्द्रियोको भी कर्म सम्पन्न करवा देनेमे भी सहायिका बनती है यह जटिल उत्तरदायित्व बुद्धि अपनी सशय विपर्यास निश्चय स्मरण और स्वप्न रूपिणी पचविध वृत्तिओद्वारा सम्पन्न करती है

अतएव किसी भी सजीव प्राणीके लिये इन पाचो वृत्तिओमेसे किसीभी एक वृत्तिकी उपयोगिता अन्य वृत्तिसे न्यून नही होती प्रत्येक निश्चयके घटित होनेमे सशयकी कोई उपयोगिता अगर न होती तो वेदान्तविचारके अधिकरणके पाच अगोमेसे प्रथमाग निर्विकल्पज्ञानस्थानीय विषयवाक्यके निर्देशके बाद द्वितीयाग सशयका कोई स्थान ही होना नहीं चाहिये था इसी तरह द्वितीयाग सशय यदि पर्याप्त होता तो विपर्यासस्थानीय पूर्वपक्षको कभी तृतीयागतया मान्य नहीं रखना चाहिये था पूर्वपक्षका निरसन जिस चतुर्थाग उत्तरपक्षद्वारा होता है, वह यदि निश्चयाकारक न हो तो बात ही नहीं बन पाती है अन्तिम अग सगति भी विचार्यविषयके पूर्वोत्तरभावके विविध प्रकारोंके स्मरणके बिना शक्य ही नही

रही बात स्वप्नके निरालम्बन ज्ञान होनेकी और उसके ऐसे प्रचारकी जो योगाचारवादी बौद्धोंने जम कर किया परन्तु स्वय भगवान् बुद्धकी जननी मायादेवीको वह मान्य होगा कि नहीं यह विचारणीय

लगता है। क्योकि भदन्त अश्वघोष कहते है "प्राग्गर्भधानाद् मनुजेन्द्रपत्नी सितं ददर्श द्विपराजम् एकं, स्वप्ने विशन्तं वपु आत्मनः सा न तन्निमित्तं समवाप तापं, सा तस्य देवप्रतिमस्य देवी गर्भेण वंशश्रियम् उद्वहन्ती" [३५]. अत भगवान् बुद्धके गर्भप्रवेशके स्वप्नको निरालम्बन होनेसे सर्वथा अविश्वसनीय तो मायादेवी मानती नही होगी और न अधिकांश बौद्धोने ऐसा कभी माना। स्वयं उपनिषद्को भी आत्माके स्वयञ्ज्योतिष्ट्वका प्रतिपादन स्वाप्निक ज्ञानके बिना निरूपण करना सुहाता नहीं है "अत्र अयं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिः भवति" [३६]. इसी तरह स्वय ब्रह्मसूत्रकार भी स्वाप्निक ज्ञानको श्रुतिके बलपर यथार्थका सूचक तो मानते ही है [३७]. अत· वेदान्त जेसे महनीय गम्भीर विचारक्षेत्रमे भी जब स्वाप्निक ज्ञानका इतना महत्त्व मान्य रखा गया हो तब साधारण जनोके दैनन्दिन व्यवहारमे इनकी अपरिहार्य उपयोगिताका अस्वीकार कैसे सम्भव है?

एक ओर बात जो इस मोड़पर सावधानीके साथ समझ लेनी चाहिये वह यह हे कि इन बुद्धिवृत्तियोके असकीर्ण स्वरूपके प्रतिपादनके आधारपर, अतएव, ऐसा सिद्ध नही हो पाता कि इन पचविध वृत्तियोके स्वरूपके अन्योन्यसमिश्रणके वश अन्योन्यसकीर्ण स्वरूप हो ही नही सकते.

यह तो सच है कि सम्प्रदायमे मान्य वाल्लभ वेदान्तके किसी भी पूर्वग्रन्थमे इसका निरूपण उपलब्ध नहीं होता परन्तु महाप्रभुकी मान्यताके विपरीत यदि यहा कुछ कहा जा रहा हो तो महाप्रभुसे इस अपराधकी क्षमायाचनाके साथ अन्यथा पूर्वाचार्यवचनसे अविरुद्ध प्रतिपादन मान लेनेके दु साहसके साथ कुछ निरूपण मे करना चाहूगा

उल्लिखित तृतीयस्कन्धसुबोधिनीमे उपलब्ध होती ज्ञानमीमासाके आधारपर मुझे ऐसा लगता हे कि सर्वप्रथम चैतन्यके दो प्रभेद स्वीकारने चाहिये . १.काल-कर्म-स्वभावरूपी शक्तियो और नाम-रूपोके अनन्त वैविध्य की सम्भावनाओको अपने भीतर समाहित रखनेवाला

देश-काल-वस्तु-परिच्छेदरहित ब्राह्मिक समष्टिचैतन्य २ व्यष्टिचैतन्य कि जिसमे समष्टिकी अपरिच्छिन्न सामर्थ्यकी अंशरूपा सर्वविध या न्यूनाधिक सभी सामर्थ्य परिच्छिन्न परिमाणमे तिरोहित या आविर्भूत रहती हो

इस धर्मिगत तथा धर्मगत अशरूपा परिच्छिन्नताके कारण, इसमे बाह्याभ्यन्तरका प्रभेद खडा हो जाता है, जो समष्टिचेतनाके सन्दर्भमे सोचा नहीं जा सकता था अतएव इस व्यष्टिचेतनामे ज्ञेय (भवति) और ज्ञान (अनुभवामि) का प्रभेद अपनेसे बाह्य और आन्तरिक घटनाओ या तथ्यो के रूपमे प्रतिभासित होता है जहा बाह्याभ्यन्तर दोनोंमे सवाद लगता है, वहा प्रमात्मक ज्ञान होता है जहा विसवाद लगता है वहा अप्रमात्मक ज्ञानका अनुव्यवसाय होता है व्यष्टिचेतनाकी आत्मानुभूति (अनुभवामि) भी निरुपाधिक प्रतीति न हो कर औपाधिक अर्थात् चित्त अहकार मन और बुद्धि के उपकरणोद्वारा ही सम्पन्न होनेवाली अनुभूति मानी गयी है इसके अलावा इस व्यष्टिचेतनामे ज्ञेयानुभूति (भवति)के लिये केवल अन्त करण भी पर्याप्त नहीं होते अपितु बाह्य ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भी बाह्य उपकरणतया अपेक्षित होते है अतएव यहा 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान' और 'इन्द्रियानुग्रह' स्वरूपलक्षण और कार्यलक्षण वाली बुद्धिका उपयोग अपेक्षित होता है ये द्रव्यस्फुरणविज्ञान और इन्द्रियानुग्रह के रूपमे स्वरूपनिर्वाह और कार्यनिर्वाह बुद्धि अपनी सशय विपर्यय निश्चय स्मरण और स्वप्न रूपा पचविध वृत्तिओद्वारा सम्पन्न करती है

अत व्यष्टिचेतनाके बौद्धिक ज्ञानके सन्दर्भमे सर्वप्रथम

१ यथार्थानुभव २ याथार्थ्याननुभव ३ अयथार्थानुभव

—यो तीन प्रकार स्वीकारने चाहिये

यथार्थानुभवके सुबोधिनीकारने तीन प्रकार दिखलाये है १/क प्रत्यक्ष

१/ख अनुमिति १/ग शाब्द

याथार्थ्यानुभवके चार प्रकार यो सोचे जा सकते है २/क निर्विकल्पक २/ख अज्ञानके विविध प्रकार निद्रा-मौढ्यादि २/ग सशय २/घ स्मरण

अयथार्थानुभव अर्थात् विपर्यासके मूलमे दो प्रकार ३/क साधिष्ठानक और ३/ख निरधिष्ठानक इनमे साधिष्ठानक विपर्यासके पुन दो ३/क/१ निरुपाधिक ओर ३/क/२ औपाधिक इसी तरह निरधिष्ठानकके पुन दो प्रकार ३/ख/१ समोहन ऐन्द्रजालिक रोग आघात आदिसे अन्य भ्रान्ति ३/ख/२ स्वाप्निकी भ्रान्ति

इन त्रिविध ज्ञानोके प्रकारोके परस्परमिश्रणसे अन्य अनेकविध उपभेद प्रकट हो सकते है ऐसा मुझे प्रतीत होता है तदनुसार निश्चयान्तर्गत प्रत्यक्ष अनुमिति शाब्द और अनिश्चयान्तर्गत स्मृति और स्वप्न इन पाचोमे सशयाकारक विपर्यासाकारक निश्चयाकारक स्मरणाकारक और स्वप्नाकारक सकीर्ण ज्ञान सहज सम्भव लगते है

१ सकीर्ण सशय•

(विपर्यासात्मक सशय)कुछ सशय विपर्यासाकारक हो सकते है, यथा, देवदत्तको देख कर ऐसा सशय होना कि "यह देवदत्त हो भी सकता ओर कदाचित् न भी हो।" (निश्चयात्मक सशय)इसी तरह कुछ सशय निश्चयान्तर्गत प्रत्यक्षाकारक होते है, उदाहरणतया, "अय स्थाणुर्वा पुरुषो वा।" कुछ सशय अनुमित्याकारक हो सकते है, उदाहरणतया, "शब्दो नित्यो वा अनित्यो वा।" कुछ सशय शाब्दबोधाकारक भी हो सकते है, यथा, देवदत्तोक्त "नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति" और यज्ञदत्तोक्त "नद्यास्तीरे पञ्च फलानि न सन्ति" ऐसे दो वचनोको सुननेपर शाब्दबोधात्मक सशय होता है कि नदीके तटपर पाच फल है कि नहीं। (स्मरणात्मक सशय)इसी तरह कुछ सशय स्मरणाकारक भी हो सकते है "'नद्यास्तीरे पञ्च

फलानि सन्ति' वचन देवदत्तोक्त यज्ञदत्तोक्त वा।''.

२ संकीर्ण विपर्यास :

(संशयात्मक विपर्यास) इसी तरह शुक्तिके बारेमे ''इदं रजतं न वा।'' ज्ञान संशयात्मक विपर्यास है. (निश्चयात्मक विपर्यास) निश्चयात्मक विपर्यासके अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रत्यक्षात्मक विपर्यास ''इदं रजतम्''के रूपमे विख्यात ही है. हेत्वाभासोके वश होती अनुमितिओको अनुमित्यात्मक विपर्यास क्यो नहीं मानना? इसी तरह ''तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय'' श्रुतिमे[१७] निरुपाधिक ब्रह्म विवक्षित है या मायोपाधिक ब्रह्म ऐसे प्रश्नके उठनेपर केवलाद्वैतवादी वेदान्तीको निरुपाधिक ब्रह्मका बोध शाव्दबोधात्मक विपर्यास लगेगा और शुद्धाद्वैतवादी वेदान्तीको सोपाधिक ब्रह्मका बोध शाव्दबोधात्मक विपर्यास लगेगा अत उसे शाव्दबोधात्मक विपर्यास क्यो नहीं मानना? (स्मरणात्मक विपर्यास) मेरे एक परिचित सज्जनको बहोत अरसेके बाद अकस्मात् मिलन होनेपर मैने पूछा कि ''आपने मुझे पहचाना?'' तो वे बोले ''अरे आपको कैसे भूल सकता हू आप दीक्षितजीके पुत्र उत्तमश्लोक हो।'' मैने उन्हे याद दिलाया कि वह तो मेरा अनुज है. मेरा नाम तो 'श्याममनोहर' है तो बोले नाम चाहे जो कुछ हो, हो तो दीक्षितजीके पुत्र ही न। ठीक यही तो स्मरणात्मक विपर्यास हो गया।

३ सकीर्ण निश्चय :

(सशयात्मक निश्चय) सशयसकीर्ण निश्चय बहुधा रज्जुके बारेमे यो होता है ''रज्जु अथवा सर्प दोमेंसे एक तो कुछ है ही'' (विपर्यासात्मक निश्चय) भ्रमसकीर्ण निश्चयको बहुधा ''गुरुमतं नतु गुरो मतम्'' जैसे निन्दावचनोद्वारा प्रकट किया जाता है (स्मरणात्मक निश्चय) स्मृतिसकीर्ण निश्चय ''स्मर्यमाणन्तु इत्थमेव'' जैसे वचनोद्वारा प्रकट किया जाता है (स्वप्नात्मक निश्चय) स्वप्नसकीर्ण प्रत्यक्ष, यदि विद्वानोको आपत्तिजनक न लगता हो तो, मै आसक्तिभ्रमजन्य ''सा सा सा सा जगति सकले कोऽयम् अद्वैतवाद।'' जैसे दिवास्वप्नोके उद्गारोमे खोजना चाहूगा

४ सकीर्ण स्मरण:

(सशयात्मक स्मरण)सशयात्मक स्मरण "तत्र तदा देवदत्त आसीद् यज्ञदत्तो वा?" किसे नहीं होता? (विपर्यासात्मक स्मरण)इसे ही देवदत्त होनेके याथार्थ्यके सन्दर्भमे "यज्ञदत्तएव आसीद्" वचनावलीमे प्रकट करनेपर स्पष्टतया पहचाना जा सकता है (निश्चयात्मक स्मरण)उल्लिखित देवदत्तकी भूतकालीन विद्यमानताके सन्दर्भमे "देवदत्तएव आसीद्" वचनावलीद्वारा प्रकट होती बुद्धिवृत्तिको निश्चयाकारक स्मरणतया कैसे नही स्वीकारना?

५ सकीर्ण स्वाप:

(सशयात्मक स्वाप)सशयसकीर्ण स्वाप्निक ज्ञान स्वप्नके अन्तर्गत होती सशयाकारिका बुद्धिवृत्तिके रूपमे अनेक लोगोको होती ही है ऐसा पूछ कर देखा जा सकता है (विपर्यासात्मक स्वाप)विपर्याससकीर्ण स्वप्नका प्रमाण भी स्वप्नमे भी "इद रजत-नेद रजतम्" रूप आरोप और अपवादात्मक ज्ञानके द्वारा बहुजनानुभूत तथ्य है (निश्चयात्मक स्वाप)अर्थात् निश्चयसकीर्ण स्वाप्निक ज्ञानके तो एक नहीं अनेकानेक उदाहरण विद्वानो वैज्ञानिको कविओ चित्रकारो मूर्तिकारो एव सगीतकारो के इतने सारे स्वानुभव उल्लिखित है कि उनकी तार्किक शाब्दिक वर्णाकृतिसम्बन्धित राग-तालादिकी जिन समस्याओका समाधान जागते समय बुद्धि खोज न पायी उन्हे सोनेके बाद स्वप्नप्रदर्शनद्वारा बुद्धिने जता दिये (स्मरणात्मक स्वाप)वैसे तो स्मृति और स्वप्न का परस्पर सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि "दृष्ट श्रुतोऽनुभूतश्च प्रार्थित कल्पितस्तथा भाविको दोषजश्चैव स्वप्न सप्तविध स्मृत"[३८] प्रसिद्ध उक्तिके अनुसार सातमेसे पाच प्रकारके स्वप्न तो स्मृतिकी तरह ही पूर्वानुभूत वस्तुविषयक सस्कारके उद्बुद्ध होनेके कारण ही प्रकट होते है स्मृतिके प्राकट्यमे परन्तु "सदृशादृष्टचिन्ताद्या स्मृतिबीजस्य बोधका"[३९] उक्तिके अनुसार जाग्रत्कालीन सदृशादर्शन आदि हेतु बनते है जबकि स्वप्नमे तो पूर्वानुभूतवस्तुविषयिणी काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यात्मिका असन्तुष्ट वासनाये ही बहुधा स्वप्नदर्शनार्थ जीवको उकसाती है इस ऐसे स्वरूपके कारण नहीं प्रत्युत स्वय स्वप्नमे

स्वप्नान्तिक सशय निश्चय भ्रान्ति की ही तरह स्वप्नान्तिक स्मरण भी प्रकट होता ही है इस अर्थमे स्मरणसकीर्ण स्वप्नके वास्तविक स्वरूपको समझना चाहिये

६ क्रियासकीर्ण पचविध बुद्धिवृत्तिया :

अन्तमे बुद्धिको, क्योकि 'इन्द्रियानुग्राहिका' कहा गया है और इन्द्रिय केवल ज्ञानेन्द्रिय ही नही होती अपितु कर्मेन्द्रिया भी होती ही है अत बुद्धि अपनी इन पचविध वृत्तिओंके द्वारा कर्मेन्द्रियोपर भी अनुग्रह अननुग्रह या उपेक्षा भी करती होनेके कारण पद-वाक्योच्चारणादि वाक्कर्म, ग्रहण-त्यागादि करकर्म, गमनोपवेशनादि चरणकर्म आदि क्रियाओके अनुष्ठानमे सशय विपर्यास निश्चय तथा स्मरण रूपा वृत्तिया प्रकट करती ही है क्रियासशय क्रियाविपर्यास क्रियानिश्चय तथा क्रियास्मरण भी कर्मेन्द्रियोंमे यथायथ प्रकट होते ही है

[६]

उपसहारमे पुन यही कहना अभिप्रेत है कि ज्ञानानुषगिक क्रिया ज्ञानतया ही ली जानी चाहिये और कर्मानुषगिक ज्ञान कर्मतया जैसे निश्चयानुषगिक अज्ञान सशय विपर्यास और स्मरण वेदान्तकी अधिकरणात्मिका विचारीतिमे निश्चयाग होनेसे निश्चयरूप होते है एवमेव, उदाहरणतया, पर्वतपर धूलिपटलदर्शनमूलिका "पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसादिवत्" अनुमिति निश्चयात्मिका होनेपर भी भ्रान्त्यगतया भ्रमात्मिका बन जाती है जैसे अनुमित्यगतया व्याप्तिस्मरण स्मृतिरूप न हो कर अनुभूतिरूप ही हो जाता है अथवा जैसे लिखिताक्षर ध्वनि या शब्द रूप न होनेपर भी ध्वन्यगभूत या शब्दागभूत प्रत्यक्षगोचर सकेत-चिन्ह होनेसे शाब्दबोधजनक हो जाते है वही कथा बुद्धिकी भी अन्योन्यसकीर्ण वृत्तियोमे स्वीकार लेनी चाहिये अतएव महाप्रभुका इस बारेमे यह एक अतीव मननीय उद्गार है "वस्तुतस्तु ब्रह्मज्ञाने तदितरज्ञानाभावोऽपि ज्ञानस्वरूपमेव।"[४०]

निष्कर्षतया जो अनुभूति सर्वदृष्टसाधारण होनेपर भी तर्कत उपपन्न न होती हो, साथ ही साथ ऐसी प्रतीतिका बाधज्ञान भी कभी होता न हो, और, मनोबुद्ध्यहकारचित्तरहित उपकरणोसे वैसे प्रतीयमान अर्थकी वैसे स्वरूपका प्रतिभासन भी होता हो, तो उसे ओपाधिक भ्रम माननेके बजाय औपाधिक प्रत्यक्षतया मान्य करना चाहिये इसके उदाहरणतया, नभोनैल्यके प्रतिभासको गिनाया जा सकता है अन्यथा आणविक सरचना, न्यायस्थापित मानदण्डको अनुसरना हो तो, त्रसरेणुसे सूक्ष्मतर द्व्यणुक या परमाणु के अथवा आधुनिक विज्ञानकी परिभाषामे मॉलेक्यूल या एटमिक अथवा सबएटमिक स्ट्रक्चर के, इनमे कुछका प्रतिभासन तो तत्तद् विशेष उपकरणोद्वारा सर्वथा शक्य हो ही गया है उन उपकरणोके साहाय्यके बिना किन्तु दर्शन-स्पर्शन आदि शक्य न होनेसे क्या उपकरणोपाधिक प्रतिभासनोको भी भ्रम मान लेना? क्या ऐसे प्रतिभासोको ओपाधिक भ्रान्ति माननेवाला अपने एक्सरे या सोनोग्राफी आदि उपकरणोसे शरीरके भीतर किसी विकट किन्तु शल्यचिकित्साद्वारा निराकरणीय विकृतिको भ्रान्ति मान लेनेका दु साहस अब कर सकता है? स्पष्ट है कि ऐसी स्थितिमे प्रतीयमान विषयके औपाधिक रूप, गुण, धर्म, आकृति, कर्म या सम्बन्ध आदिको, जब कोई मनोबुद्ध्यहकारचित्तवान् प्राणी निरुपाधिक प्रतिभास मान ले, तब तो उसे 'औपाधिक भ्रान्ति' माननी चाहिये इसके प्राचीन उदाहरणतया तेज बहती नौकामे बैठे व्यक्तिको नदीतटगत वृक्षोके गतिशील होनेकी प्रतीति, शखपीतिमाकी प्रतीति या केशोण्ड्रककी प्रतीति को यदि कोई दृष्टिविकारोपाधिक माननेके बजाय विलक्षण दृश्य वस्तु मान ले तो वह औपाधिक भ्रान्ति हो सकती है अन्यथा औपाधिक प्रत्यक्षकी विधाके रूपमे ही इन्हे मान्य करना चाहिये और नहीं तो क्यों? यह गम्भीर विचार अब मागता है

सन्दर्भ

१ ख्यातिवादके बारेमे काश्मीरप्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार भ्रान्तिज्ञानके हेतु और

स्वरूप यो निरूपित हुवे हैं [(तं)]"द्विविधञ्च अज्ञान बुद्धिगत पौरुष च तत्र बुद्धिगतम् अनिश्चयस्वभाव विपरीतनिश्चयात्मक च पौरुषन्तु विकल्पस्वभाव सङ्कुचितप्रथात्मकम् तदेवच मूलकारण ससारस्य इति वक्ष्यामो मलनिर्णये" (श्रीमन्महेश्वराचार्य अभिनवगुप्तकृते तन्त्रसारे आह्नि १-४) [(स्वरू)]"ततो यावता पूर्णेन रूपेण प्रख्यातव्यम् विमर्शपर्यन्त तावत् न प्रख्यातीति अपूर्णख्यातिरूपा अख्यातिरेव भ्रान्तितत्त्वम् तद्वशेन हि असद्विपरीतानिर्वचनीवचनीयख्यातयोऽपि उच्यन्ताम्[(विम)] 'यावता पूर्णेन रूपेण'=विमर्शपर्यन्तेन 'इद रजतम्' इति, सत्यविमर्शपर्यन्त विश्रान्तिपर्यन्त 'प्रख्यातव्य'=प्रकटीकरणीयम् आसीत् 'तावद् न प्रख्याति'-प्रकटीकरोति भ्रान्ति इति अपूर्णज्ञानरूपा ननु ख्यात्यभावरूपा 'अख्याति'=अज्ञान भ्रान्तिस्वरूप भवति अपूर्णख्यातिवशेन तैस्तै वादिभि 'असद्विपरीतानिर्वाच्यादिख्यातयोऽपि उच्यन्ता' का हानि। अपूर्णज्ञानन्तु अत्र तावद् अस्ति शुक्ते रजततया ग्रहणाद् इति भाव 'आदि'शब्देन आत्मख्यातिग्रहणम्' '[(भास्क)](ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शनी तथा भास्करी अधि २।-आह्नि ३।कारि १३) यह हेतु और स्वरूप का निरूपण हुवा परन्तु भ्रान्तिभात विषयके स्वरूपकी जिज्ञासा हो तो श्रीअभिनवगुप्तका प्रस्तुत वचन अवधेय है 'किञ्च भ्रान्तौ असद् वा आत्माकारो वा प्रख्याति' '(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शनी अधि १।आह्नि ३।कारि ४) अत विषयदृष्ट्या आत्मख्याति भी सम्भव लगती ही है

२ न्यायकुमुदचन्द्रोदय (लघीयस्त्रयकारिका १।३) यहा यद्यपि स्वय मूलकार श्रीअकलक या व्याख्याकार श्रीप्रभाचन्द्र ने 'चार्वाक'नामोल्लेखपूर्वक अख्यातिका विमर्श नही किया तथापि विद्वान् सम्पादकने अन्यान्य ग्रथोंकी एकवाक्यताके आधारपर इसे चार्वाकमततया सूचित किया है

३ 'तस्माद् विभक्त आकार सकलो वासनाबलाद् बहि अर्थत्वरहित ततो अनालम्बना मति अतएव सर्वे प्रत्यया अनालम्बना प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवद् " प्रज्ञाकरगुप्तकृत वार्तिकालकार (३।३३० पृ २२ राहुल साकृत्यायनसस्करण)

४ "आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्याति ख्यातिरन्यथा तथानिर्वचनख्याति इत्येतख्यातिपञ्चक, योगाचारा माध्यमिकास्तथा मीमासकाअपि नैयायिका मायिनश्च पञ्च

ख्याती क्रमाद् जगु "(भीमाचार्य झलकीकरविरचित न्यायकोश 'ख्याति'/१)
५ शाकर वेदान्ताभिमत सर्वानर्थहेतुभूत अविद्याकी आवरण तथा विक्षेप शक्तिओके विचारसे, अथवा वाल्लभ वेदान्ताभिमत व्यामोहिका मायाकी आच्छादिका और अन्यथाप्रतीतिहेतुभूता शक्तिओंके विचारसे भी प्रत्येक भ्रान्तिज्ञानसे नियतपूर्ववर्तिताके वश अधिष्ठानका अभान/अज्ञान और आरोप्यमाण विषयके अन्यथाभान/अन्यथाज्ञानरूप होनेके कारण अख्याति और अन्यथाख्याति सभी विचारकोंके भ्रान्तिकारणतया अथवा भ्रान्तिस्वरूपतया गलेपतित ही प्रतीत होती होनेसे। द्रष्टव्य "अख्यातौ वा अन्यथाख्यातौ विश्रम सर्ववादिनाम्"(मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक=६०-६१।२९५-३०६)
६ भगवद्गीता २।१६
७ गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणविरचित ख्यातिवाद(पृष्ठ १२)
८ "तद्धेद तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत असौनामायम् इदरूपम्"(बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।७)-"तस्य ह वा एव पश्यत एव मन्वानस्य एव विजानत आत्मत आविर्भावतिरोभावौ" (छान्दोग्योपनिषद् - ७।२६।१)
९ "त्रय वा इद नाम रूप कर्म ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत् त्रय सद् एकम् - अयम् आत्मा एक सन् एतत् त्रयम्"(बृहदारण्यकोपनिषद् १।६-।३)
१० "हन्त तिरोऽसानीति सा गौ अभवत् ऋषभ इतर वडवा इतरा अश्ववृष इतर तत् सर्वम् अभवत् सो वेद अह वाव सृष्टि अस्मि अह हि इद सर्वम् असृक्षि इति तत सृष्टि अभवत् सृष्ट्या ह एतस्या भवति य एव वेद"(बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।४)
११ "एवञ्च निरुपाधिके रज्जुभुजङ्गादिभ्रमे चक्षुषा सद्रूपैव रज्जु गृह्यते भुजङ्गस्तु बुद्धिकल्पितो बुद्ध्या विषयीक्रियते औपाधिकभ्रमेतु चक्षुषा सद्रूपो घटो मिथ्याभूतो विषयतारूपो भ्रमणधर्म च इति उभय विषयीक्रियते तदनन्तर सदोपबुद्ध्या 'घटो भ्रमणवान्' इति स्थाप्यते" (प्रमेयरत्नार्णव-ख्यातिविवेक), "तत चक्षुर्ग्राह्यात् शुक्त्यादे अन्यस्य रजतादे ख्याति बुद्धिवृत्तिरूपा

अन्यख्याति 'भ्रम'शब्दवाच्या अन्यथाज्ञानन्तु सशयविपर्यासादिभ्यो भिन्न मायिक ज्ञानान्तरमेव नतु भ्रम अस्मिन् अन्यथाज्ञाने मायाजन्यधर्मयुक्तो विषयो भासते 'घटो भ्राम्यति' 'सिता कद्वी' 'शङ्ख पीत' इत्यादौ "(निर्णयार्णव ४१६)

१२ द्रष्टव्य प्रस्थानरत्नाकर (प्रमाणपरिच्छेद प्रथमकल्लोल चतुर्थतरङ्ग)

१३ महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यविरचित तत्त्वार्थदीपनिबन्ध(१।६९)

१४ "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान रजसो लोभएव च प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च"(भगवद्गीता १४।१७), "सर्वस्य चाह हृदि सनिविष्टो मत्त स्मृति ज्ञानम् अपोहन च"(भगवद्गीता १५।१५)

१५ "भूमिरापो मनो बुद्धिरेव च अहकार इतीय मे भिन्ना प्रकृति अष्टधा" (भगवद्गीता ७।४),"सो अकामयत बहु स्या प्रजायेय इति इद सर्वम् असृजत यद् इद किञ्च तत् सृष्ट्वा सत् च त्यत् च अभवत् विज्ञान च अविज्ञान च" (तैत्तिरीयोपनिषद् २।६) "माया च अविद्या च स्वयमेव भवति"(नृसिहोत्तरतापनीयोपनिषद् ९) "ज्ञानमेक पराचीनै इन्द्रियै ब्रह्म निर्गुणम् अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा"(भागवतपुराण ३।३२।२८)की सुबोधिनी भी

१६ "श्रिया विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्" (भागवतपुराण १०-।३९।५५) "मन्मायामोहितधिय पुरुषा "(भागवतपुराण ११।१४।९)

१७ "तद् आत्मानम् स्वयम् अकुरुत" (तैत्तिरीयोपनिषद् २।७), "आत्मकृते परिणामाद्"(ब्रह्मसूत्र १।४।२६) इनपर महाप्रभुकृत अणुभाष्य भी

१८ द्रष्टव्य श्रीलालूभट्टकृत ख्यातिविवेक (पृष्ठ ८३) तथा प्रस्थानरत्नाकर (प्रमाणपरिच्छेद प्रथमकल्लोल द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ तरङ्ग)

१९ General Psychology(Chpt 9/Seeing Colors) by J P Guilford

२० भगवद्गीता(१८।२१), भागवतपुराण(११।२५।२४-११।२५।६)

२१ द्रष्टव्य Introduction to Psychology by Clifford T Morgan (Chpt Perception/Organization in Perception) and General Psychology by J P Guilford (Chpt 10 Seeing Forms Space and Movement)

२२. द्रष्टव्य : Light And Vision by C G Mueller and Mae Rudolph (Chpt 3).

२३.तत्रैव(Chpt 2 p 38)

२४.तत्रैव(Chpt 2 p 39).

२५. A Brief History of Time(Chpt 5 p 74 79) by Stephen Hawking

२६. द्रष्टव्य : Introduction To Psychology by C T Morgan (Chpt 10 p 293)

२७ मुण्डकोपनिषद्(२।२।११), छान्दोग्योपनिषद्(६।८।७—७।२५।१), बृहदारण्यकोपनिषद्(१।४।१०), श्वेताश्वतरोपनिषद्(३।१५), महानारायणोपनिषद्(-२३।१).

२८.General Psychology by J P Guilford(Chpt 10 p 253 256) .

२९.ibid (Chpt 13 p 320)

३०.Introduction To Psychology (Chpt 11 p 338)

३१ भागवतसुबोधिनी (३।२६।३०).

३२.तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (१।१)

३३.भदन्त धर्मकीर्तिकृत न्यायबिन्दुपर धर्मोत्तरी टीका (१।६).

३४.भदन्त अश्वघोषकृत बुद्धचरित (१४-५).

३५.बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।१४)

३६ ब्रह्मसूत्र (३।२।४).

३७ छान्दोग्योपनिषद् (६।२।३).

३८ आयुर्वेदशास्त्रीय उक्ति आकरस्थल अनिर्ज्ञात

३९ आकरस्थल अनिर्ज्ञात.

४०.भागवतसुबोधिनी (१०।२५।१३).



सत्यके कतिपय अनूठे आयाम

('सत्य'पर्यायवाचक पदोंके अर्थ और व्युत्पत्ति के सन्दर्भमें प्रकट होते)

सत्यव्रत सत्यपर त्रिसत्य सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यम् ऋतसत्यनेत्र सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना ॥
(भाग पुरा १०।२।२६)

<u>उपक्रम</u> :

'सत्य' पदके द्वारा अभिप्रेत अर्थके बारेमे तीव्र मतभेद विभिन्न चिन्तनरीतिओंमे पाया जाता है क्योकि या तो हम देश काल स्वरूप तथा चेतना के परिच्छेदक सन्दर्भोंकि बिना ही उसे परिभाषित करना चाहते है, या फिर इन देश-कालादिमे सत्यको परिच्छिन्न मान कर ही अथवा सत्यकी अनुभूतिमे सहानुभूयमान देश काल तथा स्वरूप को सत्यविषयिणी चेतनाके द्वारा परिकल्पित या आरोपित मान कर अथवा तो स्वय चेतनाके आत्यन्तिक अद्वैतकी धारणासे मोहित हो कर चेतनाके अलावा सत्यके अन्य किसी स्वरूपको सर्वथा नकारके ही। यो अनेकविध धारणाये मानवीय चिन्तनमे दृष्टिभेदवश उभरती मिलती है सत्यका, किन्तु, देश-कालादिसे अतीत होना जैसे एक उसका आयाम हो सकता है उसी तरह देश-कालादिमे प्रकट होते सत्यके रूपभेद भी सत्यके अनेकविध आयाम क्यों नही हो सकते? एतावता यह स्वीकारा जा सकता है कि सत्य अनेकायामी (multi dimensional) भी हो सकता है, चाहे हम अपने मतीय दुराग्रहवश उसे स्वीकारे या न स्वीकारे।

अतएव "'भू'=सत्तायाम्" तथा "'अस्'=भुवि" धातुओकी सर्वविदित एकार्थवाचिताके बावजूद निरुक्तकार महर्षि यास्कने —

"तद् यानि एतानि चत्वारि पदजातानि : नामाख्याते च उपसर्गनिपाता च तानि इमानि भवन्ति तत्र एतद् नामाख्यातयो लक्षणं प्रदिशन्ति : भावप्रधानम् आख्यात—सत्त्वप्रधानानि नामानि 'अद' इति सत्त्वानाम् उपदेशो : गौ अश्व पुरुषो हस्ति इति 'भवति' इति भावस्य · आस्ते शेते व्रजति तिष्ठति इति" (निरु १।१।१)

इस उद्गारमे 'सत्'=द्रव्य और 'भाव'=क्रिया के बीच Being और Becoming के जैसा प्रभेद स्वीकारा हो ऐसा लगता है वैसे यह कथा और है कि 'सत्त्व' और 'सत्य' पदोंके घटक स्वय 'सत्' पदकी व्युत्पत्ति भी "'अस्' भुवि अस्ति इति='सत्'"की तरह ही "'षद्लृ' विशरणगत्यवसादनेषु सीदति इति='सत्'" भी व्याख्याकारोंने शक्य मानी है फिर भी सर्वाधिक मजेदार बात मुझे तो यही लगती है कि 'सत्त्व' पदमे "अस्ति इति सत्" व्युत्पत्तिको मान्य रखते हुवे भी निरुक्तकार "षड् भावविकारा भवन्ति इति वार्ष्यायणि : [1]जायते [2]अस्ति [3]विपरिणमते [4]वर्धते [5]अपक्षीयते [6]विनश्यति 'अस्ति' इति उत्पन्नस्य सत्त्वस्य अवधारणम्" (तत्रैव) यो वार्ष्यायणि ऋषिको अभिमत सत्त्वके उत्पत्त्यादिशाली होनेका निराकरण भी नहीं करते है ऐसी स्थितिमे या तो सत्त्व और भाव के बीच स्वनिरूपित प्रभेद लुप्त होता सा लगता है या फिर सत्त्व मूर्त होता है और भाव अमूर्त, ऐसा स्वीकारनेपर 'षड्विधभावविकार' पदका प्रयोग अपार्थक हो जाता है क्योकि भावविकार द्रव्यमे घटित होता है नकि क्रियामे अत इन्हे 'सत्त्वविकार' कहा जाना चाहिये था ऐसा गलेपतित होता है अतएव इस समस्याके समाधानार्थ आगे बढना हो तो एक दिशा यही सुगम लगती है कि सत्यके कमसे कम तो अनेकविध या वस्तुत तो अनन्तविध आयाम होने ही चाहिये ऐसा स्वीकार लेनेमे महर्षि यास्कको विप्रतिपत्ति हो, ऐसा भी लगता तो नहीं है स्पष्ट है कि एतावता सत् या सत्य का जैसे देश-काल-स्वरूपकृत परिच्छेदरहित एक व्यापक

शाश्वत तथा सर्वानुगत अविकारी आयाम शक्य है वैसे ही किसी देशविशेष, कालविशेष एवं स्वरूपविशेष में जनन-स्थिति-विपरिणति-वृद्धि-अपक्षय-विनाशमुख मूर्त तथा विकारी आयाम भी शक्य होना चाहिये. इस विधानमें जो तार्किक विरोधाभास उभरता है वह भी तो स्वयं सत्यके आत्यन्तिकतया तर्कानुसारी ही अथवा आत्यन्तिकतया तर्कागम्य ही होनेके विरोधाभासपर अवलम्बित है. परन्तु हमारी तर्कणाकी सामर्थ्यको तैरनेकी सामर्थ्यके तरह स्वीकारे और सत्यको एक अपार सागरकी तरह तो यह भी समझा जा सकता है कि हम सागरमें सर्वथा तैर ही न पाते हों ऐसा नहीं होता और न तैर कर पार ही कर पानेकी सामर्थ्य मानवशरीरमें उपलब्ध होती है. समानन्यायेन सत्यके भी अपारसागरमे हम अच्छी-खासी दूरी तक तर्कणाकी सामर्थ्यद्वारा तैर भी पाते हैं और पार जाना भी शक्य नही लगता. तर्कोपपन्नता तथा तर्कातीतता भी सत्यका एक अनूठा आयाम हमें मान्य करना चाहिये।

फिर भी तर्कप्रयोग भाषाके अमुखरित आन्तरिक या मुखरित बाह्य प्रयोग बिना शक्य न होनेसे हमारी भाषामें प्रयुज्यमान पदोंद्वारा सत्यका जो स्वरूप प्रकट होता है उसका चिन्तन करना इस नम्र प्रयासका प्रमुख प्रयोजन है.

'सत्य'पदके लौकिकी भाषामें पर्याय :

अमरकोषमे : "[1]सत्यम् [2]तथ्यम् [3]ऋतम् [4]सम्यक्" (अम.को.१।१।-३५४)की रामाश्रमी व्याख्यामे [1]"सति साधु साधु = सत्यम्" [2]"तथा=सत्ये साधु = तथ्यम्" [3]"अर्यते स्म 'ऋ=गतौ' क्तः = ऋतम्" [4]"समञ्जति संगच्छते 'अञ्चु गतौ' क्विन् = सम्यक्"व्युत्पत्तिया दी गयी है.

इनके आधारपर यह कहा-सोचा जा सकता है कि प्रथम पदका अर्थ जो होने लायक हो उसे 'सत्य' कहनेकी प्रेरणा देता है. उसके

बाद आनेवाले पदद्वारा यह कहा जाना अभिप्रेत लगता है कि जो सत्य होने लायक हो उसे 'तथ्य' कहना चाहिये इसी तरह "ये गत्यर्थका ते ज्ञानार्थका" नीतिके अनुसार 'ऋत' पदके द्वारा अभिप्रेतार्थतया 'अवगत तथ्य'को लिया जाना चाहिये और इसी तरह 'सम्यक्' पदके द्वारा जो सम्यक्त्व परिलक्षित हो रहा है वह अवगत तथ्यके अन्य तथ्योंके साथ सुसगत होनेकी आवश्यकतापर भार देता हुवा सा लगता है यो उत्तरोत्तर पर्यायवाचक पद पूर्वपूर्व पदोके वाच्यार्थसापेक्ष प्रतीत होते है ये निश्चित ही सत्यके कुछ विलक्षण आयामोका लौकिकी भाषामे आविष्करण हे

यह तो लौकिक भाषामे 'सत्य' पदके पर्यायोंके प्रकटित ऋजु आयामका विहगावलोकनलब्ध दृश्य है

'सत्य' पदके वैदिक पर्याय :

वैदिक भाषामे भी, इसी तरह, 'सत्य' पदके छह विविध पर्याय महर्षि यास्कने परिगणित किये है "बट्" "श्रत्" "सत्रा" "अद्धा" "इत्था" "ऋतम्" (निरु निघ ३।३।१०) इनमे प्रथम पाच पद, व्याख्याकारोके अनुसार, निपातरूप है तथा अन्तिम जैसा कि हम देख ही चुके कृदन्त नामरूप है परन्तु निरुक्तकार जब सुस्पष्ट शब्दोमे "सत्यनामानि उत्तराणि षट्" (निरु ३।३।१०) कहते है तो सम्भवत वैदिक वचनोमे इनके नामात्मक प्रयोग भी उपलब्ध होते होगे। परन्तु उनकी अर्थछाया क्या थी यह अन्वेष्टव्य है इनमे 'बट्' तथा 'श्रत्' पदोकी व्युत्पत्ति तो कहीं प्रस्तुत लेखकको दृष्टिगत हुयी नही फिरभी "सत्रा' और "अद्धा' की व्युत्पत्ति व्युत्पत्ति श्रीवत्साकाचार्यने अपने 'अव्ययकोष'मे क्रमश "'सत्रा महाँ असि श्रुत' (ऋक् ४।३०।२) इत्यत्र निश्चयार्थकत्वमपि वैदिकसम्मतम्अस्यइतिज्ञेयम्" — "स्फुटार्थावधारणयो" (अव्य को २५ - ७८५) दरसायी है एतावता यह ध्वनित होता है सत्यका निश्चयाकारक बोधगोचर रूप 'अद्धा' पदवाच्य बन जाता है अर्थापत्त्या कुछ सत्य

अनिश्चित भी मानने ही पड़ेगे इसी तरह किसी सत्यके स्फुट या अवधारित होनेके अर्थमे 'अद्धा' पदका प्रयोगौचित्य विचारा जा सकता है पुन अर्थापत्त्या कुछ सत्य अस्फुट या अनवधारित भी हो सकते है, यह गलेपतित होता है इसी तरह 'इत्था' पदका अर्थ उक्त अव्ययकोषकार "इत्थम् इदम्प्रकारे-इत्था इत्थम्प्रकारे" (अव्य को २०२-२०१) यो देते है अत सहज सम्भव लगता है कि पुरोवर्ती किसी वस्तुका पुर प्रकटित-प्रकारताशाली सत्य होना 'इत्था' पदसे अभिहित होना चाहिये अवशिष्ट जो 'ऋतम्' पद रहा उसकी व्युत्पत्ति तो हम देख ही चुके है फिर भी वैदिक प्रयोगका सर्वथा लौकिक व्युत्पत्त्यनुसारी ही होना न तो नियत और न उपपन्न ही लगता है इसपर आगे चल कर विमर्श करना उचित होगा

स्पष्ट है कि सत्यके ये सारे आयाम अनुभूयमान देश काल तथा स्वय अनुभूति के प्रभेदवश प्रकट हुवे आयाम है

सत्य और प्रज्ञा का परस्पर सम्बन्ध :

श्रीमुकुन्द झा द्वारा निर्मित निरुक्तविवृतिमे निरुक्तकारद्वारा प्रज्ञार्थक नामोके बाद सत्यार्थक नामोके सकलनकी सगति यो दिखलायी गयी है "प्रज्ञावन्तएव हि सत्यवादिनो भवन्तीति प्रज्ञानामभ्य उत्तराणि सत्यनामानि" (निरु विवृ ३।३।१०) यह सगति आवश्यक एव उपपन्न भी लगती है क्योकि सत्यके अन्यतम पर्याय 'ऋतम्'के द्वारा भी यह अनिवार्य तो प्रतीत होता ही है अतएव 'प्रज्ञा' पदके भी लौकिक पर्यायों तथा वैदिक पर्यायो पर भी यत्किञ्चित् दृष्टिपात अपेक्षणीय बन जाता है

प्रज्ञा और त्रैकालिक सत्य की अन्योन्याश्रितता या अन्योन्यरूपता ·

वैसे लौकिक भाषामे 'प्रज्ञा' पद बुद्धिके अन्यतम पर्यायतया ही अमरकोषमे सकलित हुवा है "बुद्धिर् मनीषा धिषणा धी प्रज्ञा

शेमुषी मति. प्रेक्षा उपलब्धि· चित् संवित् प्रतिपद् ज्ञप्ति. चेतना" (अम.को.१।८।२७८) तथापि एक बहुधा उद्धृत कारिका—

> "[१]स्मृतिर् व्यतीतविषया [२]मतिर् आगामिनी मता।
> [३]बुद्धिस् तात्कालिकी प्रोक्ता [४]प्रज्ञा त्रैकालिकी मता॥
> [५]प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी कथिता बुधैः॥"

इनमे [१]जो सत्य भूतकालमे तो था परन्तु वर्तमानमे वह यदि नियततया सत्यत्वेन अवभात न होता हो तो उसे स्मृतिका विषय मान कर सत्यका एक पूर्वकालिक आयाम प्रकट किया जाता स्वीकारा जा सकता है इसी तरह [२]जो वस्तु वर्तमानमे सत्यतया अवभात न होनेपर भी भविष्यमे सत्यतया आत्मप्राकट्यको इंगित कर रही हो उसे मतिविषयीभूत सत्यतया प्रतिपादित किया जा सकता है यह पुन सत्यके उत्तरकालिक आयामका प्रतिपादन है सत्यका [३]जो वर्तमानकालिक आयाम है वह बुद्धिगोचर होता माना गया है परन्तु सत्यका [४]जो त्रैकालिक आयाम होता है उसे तो प्रज्ञागोचर ही माना गया है

उल्लेखनीय है कि इन सभी पक्षोमे चेतना और सत्य के बीच निष्क्रिय या सक्रिय साक्षिभावघटित ग्राह्यग्राहकभावात्मक सम्बन्धको निकष मान कर चला गया है कौन नही, परन्तु, जानता कि सत्य ओर चेतना के बीच, [५]सक्रिय-भाव्यभावकलाघटित सृज्यसर्जकभावात्मक सम्बन्ध भी विज्ञान साहित्य कला तकनिकी आदि अनेकविध प्रज्ञाओके वश क्या प्रकट नही होता? क्या-क्या असम्भव या अशक्य लगते आयाम, उन्हे 'असत्य' कहो या 'सत्य', न केवल प्रकट अपितु, महर्षि यास्कद्वारा प्रयुक्त पदावलीमे कहना हो तो, बट् सत्रा अद्धा एव इत्था के रूपोको भी प्रज्ञाकी इन विधाओके कारण प्रकट होते पाये गये है। इन प्रज्ञानिर्मित सत्योको केवल अनेकविध कारणकलापोसे उत्पन्न या किसी उपादानविशेषकी परिणतिविशेष होनेके अपराधवश

मनोभ्रान्ति या केवल व्यावहारिक सत्य मानना सत्यकी अनेकायामिताके साथ अपरिचयका ही प्रकाशन है यह तो सोचा जा सकता है कि प्रज्ञा त्रैकालिक सत्यको प्रकाशित करती ऐसा स्वीकारनेपर प्रज्ञेतर चेतनाओद्वारा सत्यके त्रैकालिक आयामका प्रकटीकरण शक्य न भी माना जाये परन्तु प्रज्ञाके ही प्रयोगद्वारा ही इस तथ्यको भी जाना जा सकता है कि चेतनाके स्मृति-मति-बुद्धि-प्रतिभा आदि व्यापार भी त्रैकालिक सत्यके ही कतिपय अत्रैकालिक आयामोको तो प्रकट करते ही है अन्यथा चेतनाको स्मृत्यादि व्यापारोसे आत्यन्तिकतया मुक्त करनेपर तो प्रज्ञोपलब्धि भी शक्य नहीं रह जायेगी अनुमितिरूपा या शाब्दी प्रमा भी स्मृतिका अवलम्बन सर्वथा त्याग कर तो आत्मलाभ नही पा सकती क्या यह सच नहीं कि वस्तु या सत्य के प्रमापणमे इन अनुमति-शाब्दादि प्रमाओंका स्वातन्त्र्य होनेपर भी आत्मोत्पत्तिमे स्मृत्यादिकलापोसे स्वातन्त्र्य सुवच नहीं ?

वस्तुत तो तथाकथित देशकालातीत वेदान्तप्रमेयके बोधार्थ अगीकृत अधिकरणात्मक विचारके पाचो अग — [१]विषय [२]सशय [३]पूर्वपक्ष [४]उत्तरपक्ष तथा [५]सगति — भी वस्तुत तो चेतनाके [१]अज्ञान [२]सशय [३]भ्रान्ति [४]निश्चय और [५]स्मृति के ही शास्त्रद्वारा परिष्कृत या सस्कृत स्वरूप है। तो जब अज्ञानादि चेतनाव्यापारोकी भी देशकालातीत प्रमेयके बोधार्थ इतनी उपयोगिता हो तब स्मृति-मति-बुद्धि-प्रतिभा व्यापारोके द्वारा अवभासित तथ्यको सत्य नही मानना दुराग्रहपूर्ण तार्किकमन्यताके आलावा और कुछ नही रह जाता।

<u>'प्रज्ञा' पदके वैदिक पर्याय</u> -

महर्षि यास्कने 'प्रज्ञा'के पर्यायोकी परिगणना इस तरह दरसायी है

[१]'केत ' [२]'केतु ' [३]'चेत ' [४]'चित्तम् ' [५]'क्रतु ' [६]'असु ' [७]'धी ' [८]'शची ' [९]'माया' [१०]'वयुनम् ' [११]'अभिख्या' (निरु ३।३।९)

प्रज्ञाके इन पर्यायपदोकी व्युत्पत्ति श्रीदेवराजयज्वकृत 'निर्वचन' नामिका टीकामे यो दिखलायी गयी है

१ २ 'केत' तथा 'केतु' ''' 'चायृ' पूजानिशामनयो (भू उ) 'चाय की' (उ १।७५) इति 'त'प्रत्ययो धातो 'की' आदेशो गुण च पूज्यते ''

३ ४ ''' 'चेत' - 'चित्तम्' 'चिति' सञ्ज्ञाने (भू प) 'अञ्चिपृसिभ्य' (उ ३।८६) इति बाहुलकात् 'क्त'

५ ''' 'क्रतु' क्रियते अनया धर्मादिविचार ''

६ ''' 'असु' अस्यते 'शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसि' (उ १।१०) इति 'उ'प्रत्यय 'असु' इति प्राणनाम (नि ३।८) इति भाष्ये अस्यति क्षिपति अनर्थान्, अस्ता =क्षिप्ता अस्याम अर्था इति प्राप्यानर्थपरिहारात्मकम् उभयमपि प्राप्नोति''

७ ८ ''' 'धी' - 'शची' 'धृञ्' आधारे दिवादि धारयति कर्तार फलप्रदानेन यद्वा ध्यायते चिन्त्यते कर्तृभि एव कर्तव्यम् इति 'शची' 'शच्' व्यक्ताया वाचि भूवादि आत्मनेपदी 'इन् सर्वधातुभ्य' (उ ४।११४) 'कृदिकारात्' (४।१।४ वा) इति 'ङीष्' शचन्ते व्यक्ता वाच कुर्वन्ति अस्याम (/अनया) इति शची ''

९ ''' 'माया' 'माङ्' माने (अदा आ) 'माछाससिभ्यो य' (उ ४।१०६) इति 'य'प्रत्यय मीयन्ते परिच्छिद्यन्ते अनया पदार्था ''

१० ''' 'वयुनम्' व्याख्यात प्रशस्यनामसु [अजते 'अजियजि-मिशीङ्भ्यश्च' (उ ३।५८) इति 'उनन्' प्रत्ययो वीभाव] गती शचीवद् अर्थ क्षेपणे असुवद्''

११ ''' 'अभिख्या' 'ख्या' प्रकथने (अदा प) 'आतश्चोप-सर्गे' (३।३।१०६) इति 'अङ्' प्रकर्षेण कथ्यन्ते अनया अर्था ''

(निरु निर्व ३।३।९)

'प्रज्ञा'के इन पर्यायपदोंकी व्युत्पत्तिके अवलोकन करनेपर अतीव विस्मय होता है कि त्रैकालिक सत्यकी प्रमापिका इसी प्रज्ञाके अनेकविध व्यापार महर्षि यास्कके समय तक वैदिकगोष्ठीमें किस तरह जाने-माने जाते थे! आज, परन्तु, मध्यकालीन बाह्यचिन्तनोंके प्रभाववश श्रौत चिन्तनमें भी पूज्यापूज्यका विवेक करनेवाली प्रज्ञा, धर्माधर्मका विवेक करनेवाली प्रज्ञा, अर्थानर्थका विवेक करनेवाली प्रज्ञा, साधनफलभावका विवेक करनेवाली प्रज्ञा, उसे व्यक्तवाणीमें प्रकट करनेवाली प्रज्ञा; अथवा इन और ऐसे अनेकविध वस्तुके परिच्छेदकोंके आधारपर उनके निर्वचन कर पानेवाली प्रज्ञा को, कैसे किसी अवाच्य अप्रतर्क्य अपरिभाव्य अपरोक्ष सत्यके एकायामी स्वरूपके पक्षपाती बन कर अप्रज्ञा या भ्रान्तिरूपा मान लिया गया!

<u>क्या 'प्रज्ञा' और 'माया' अपर्यायवाची पद हो सकते हैं?</u> :

वैसे लौकिकी तथा वैदिकी दोनो ही भाषाओंमें 'माया' पद—"स्याद् माया शम्बरी" (अम.को.२।१।१९५१) तथा "'अधेन्वा चरति मायया एष वाचं शुश्रुवां अफलाम् अपुष्पाम्' (ऋक्.सं.८।२।२३)... अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया" (निरु १।६।२०)—अतथ्यप्रतिभासनके अर्थमे प्रयुक्त हुवा पाते है

इस विषयमें, परन्तु, अन्वेष्टव्य यही है कि क्या प्रज्ञाविशेषवश या चातुरीविशेषवश अतथ्यप्रकाशन भी शक्य होनेसे 'माया' पदने यह अर्थछाया स्वान्त श्लिष्ट की होगी? अथवा मूलमे मिथ्याप्रदर्शनशक्तिके अर्थमे प्रयुज्यमान यह पद, प्रज्ञाविशेषवश भी कभी ऐसी घटना शक्य होती होनेसे, प्रज्ञापरपर्यायतया प्रयुक्त होने लगा होगा?

इन दोनो तरहकी सम्भावनाओमे प्रथम अधिक सहज लगती है दूसरीके बजाय. क्योंकि "पंके जात=पंकजम्" जैसे योगरूढिके प्रयोगकी तरह सामान्यार्थक यौगिक पदका पुष्पविशेषरूप अर्थमे रूढिरूप निगमन

पदप्रयोगको अप्रामाणिक नही बनाता, जबकि, दूसरी सम्भावनामे "गो वाहिक" गोणी प्रयोगकी कल्पनाके कारण प्रज्ञापर्यायीकरण अप्रामाणिक बन जाता है

अत 'मायिक' पदका भी मूलार्थ तो प्रज्ञानिर्मित वस्तु ही होना चाहिये था परन्तु गोणी वृत्तिसे पश्चात् वह "असत्वेऽपि भासमान वस्तु" होनेके अर्थमे प्रयुक्त होने लगा होगा एतावता "इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते" (बृह उप २।५।१९) श्रुतिवचनमे भी एक इन्द्ररूप सत्यकी मायाकरणिका अनेकरूपताको अतथ्यप्रकाशनके रूपमे लेना बहोत अवार्य नही लगता, प्रज्ञाकरणिका अनेकरूपताके सुनिरूप्य होनेसे

<u>'सत्य' पदका महा-एकीकृत आयाम दरसानेवाला 'ब्रह्म'पद :</u>

अतएव सत्यके ऐसे अनन्तविध आयामोके निरूपणार्थ ही तैत्तिरीयोपनिषद्मे "['सत्य' (+) 'ज्ञान' (+) 'अनन्त'] = 'ब्रह्म']" (तैत्ति उप २।१) समीकरण घोषित किया गया अर्थात् जो सत्य है वह ज्ञानरूप भी होता है तथा जो ज्ञानरूप है वह देशत कालत तथा स्वरूपत अन्तहीन होनेके रूपमे 'ब्रह्म' कहलाता है यो सत्य अपने, उल्लिखित, तथ्य ऋत और सम्यक् होनेकी परिपूर्णतामे 'ब्रह्म' कहलाता है क्योकि ब्रह्मके ज्ञान/विज्ञान होनेके स्वरूपके बारेमे उपनिषद् यो निरूपण करता है—

"अन्यो अन्तर आत्मा विज्ञानमय तस्य श्रद्धैव शिर, ऋत दक्षिण पक्ष, सत्यम् उत्तर पक्ष विज्ञान ब्रह्म चेद् वेद तस्मात् चेत् न प्रमाद्यति, शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्यो अन्तर आत्मा आनन्दमय तस्य प्रियमेव शिर, मोदो दक्षिण पक्ष, प्रमोद उत्तर पक्ष आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा असन्नेव स भवति 'असद् ब्रह्म' इति वेद चेद् 'अस्ति

ब्रह्म' इति चेद् वेद सन्तम् एन ततो विदु " (तैत्ति उप २।४-६)

जब श्रद्धा ऋत और सत्य विज्ञानके अग वन जाते है तव भी विज्ञानको ब्रह्मतया=अनन्ततया जाने बिना परिच्छिन देश-काल-स्वरूपवाले शरीरके भीतर प्रकट होते पापोका विज्ञानद्वारा निराकरण सम्भव नहीं माना गया है अत इस विज्ञानमय कोशमे अन्तर्निहित आनन्त्य=आनन्दका साक्षात्कार उपर्युक्त "['सत्य' (+) 'ज्ञान' (+) 'अनन्त'] = 'ब्रह्म'" (तैत्ति उप २।१) समीकरणको चरितार्थ बनाता है

यह महा-एकीकरणका औपनिषदिक सिद्धान्त, जिसे "तस्य उपनिषत् 'सत्यस्य सत्यम्' इति" (बृह उप २।१।२०) भी कहा गया है सत्यका ब्रह्मीकरण है तैत्तिरीयोपनिद् सत्यके इस महा-एकीकृतरूप ब्रह्मका अस्वीकार वदतोव्याघात मानता होनेसे यहा तक कहता है कि "असन्नेव स भवति 'असद् ब्रह्म' इति वेद चेद् 'अस्ति ब्रह्म' इति चेद् वेद सन्तम् एन ततो विदु इति " (तत्रैव २।६) इस उद्गारके गाम्भीर्यका अवगाहन तभी शक्य है जब यह बात हम विचारे कि हमारी तर्कणाप्रवण बुद्धिमे ' प्रकट विरु अप्रकट", "वाच्य/परिभाष्य विरु अवाच्य/अपरिभाष्य-", "विज्ञान विरु अज्ञान", "सत्य विरु असत्य", "ऋत विरु अनृत" सदृश विरोधाभास हमारी बुद्धिको कितना व्यथित या उन्मथित कर देते है। ये ही, परन्तु, इस महा-एकीकृत सत्यमे किस तरह "यत्र विश्व भवति एकनीडम्"-"परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति" (महाना उप २।३-मुण्ड उप ३।२।७) वचनोक्त अपनी एकनीडता या एकीभूतता भी प्रकट करते है।

अतएव तैत्तिरीयोपनिषद्मे कहा गया है

"सो अकामयत 'बहु स्या प्रजायेय' इति स तपो अतप्यत स तप तप्त्वा इद सर्वम् असृजत यदिद किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सत् च त्यत्

च अभवत्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत् यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते''

(तैत्ति उप २।६)

निखिल विरुद्धताओंके एक अविरोधी आश्रयरूप इस महा-एकीकृत सत्यमेसे परस्पर विरोधाभासी वस्तु गुण धर्म क्रियाओ के प्राकट्यनिरूपक इस वचनकी तरह ही स्वरूपनिरूपिका विधामे भी ऐसे ही प्रतिपादनार्थ—

''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे : मूर्तं च अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृतं च, स्थित च यत् च, सत् च त्यत् च अथात आदेशो '' 'न' इति 'न' इति'' अथ नामधेय 'सत्यस्य सत्यम्' इति'' (बृह उप २।३।१-६)

हम देख सकते है कि इसी वचनका निष्कर्ष समझानेको महर्षि बादरायण भी ''प्रकृतैतावत्त्व प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय, तद् अव्यक्तम् आह हि, अपिच सराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अतो अनन्तेन तथाहि लिङ्गम्, उभयव्यपदेशात्तु अहिकुण्डलवत्, प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् परम् अत सेतून्मानसम्बन्धव्यपदेशात्'' (ब्र सू ३।२।२२-३१) सूत्रोमे इसी 'परमसत्य' या ''सत्यस्य सत्यम्''को सिद्ध करनेकी श्रौत उपपत्ति दे रहे है इस वचनमें उपलक्षणविधया पृथ्वी-जल-तेजको 'मूर्त' तथा वायु-आकाशको 'अमूर्त' कह कर, मूर्त होनेके कारण जो भी प्रकट मर्त्य आदि होते है और अमूर्त होनेके कारण जो अप्रकट एव अमृत आदि होते है, उनमे परिलक्षित होती अन्योन्याभावरूपता सत्य = (सत्(प्रकट) + त्य(अप्रकट)) के रूपमे एकीकृत हो कर अपना परस्पर विरोध भुला देती है इनमे परन्तु केवल सत् या केवल त्यत् को, अपनी रुचिवश, सम्पूर्ण सत्यतया मान लेनेवालेको अर्थात् प्रकृत एतावत्ताको ही सत्य माननेवालेको श्रुति '' 'न'इति-'न'इति'' कहना

चाहती है यदि आरोपितके अपोहनमात्रमे श्रुतिका तात्पर्य होता तो "'न'इति-'न'इति" कह देनेके बाद "अथ नामधेय 'सत्यस्य सत्यम्' इति प्राणा वै सत्य सत्य तेषाम् एष सत्यम्" (तत्रैव) कहना वदतोव्याघात होगा अत उसे केवल 'अव्यक्त' कहना कहना या मानना इसलिये सगत नही होता क्योकि आराधना या सराधना द्वारा उसके साक्षात्कारका उपदेश श्रुत्यादि शास्त्रोमे उपलब्ध होता ही है अत उसके देशत कालत तथा स्वरूपत आनन्त्यका ही प्रतिपादन श्रुतिविवक्षित लगता है उदाहरणतया सर्प भी अपनी सर्पणाके समय रज्ज्वाकार तथा स्थितिके समय कुण्डलाकार होनेके विरुद्धता प्रकट करता है तद्वत् ब्रह्म भी उभयविध क्यो नहीं हो सकता? अथवा जैसे तैजस पदार्थ प्रकाशरूपा धर्मता तथा प्रकाशकरूपा धर्मिता दोनो प्रकट करते है तद्वत् ब्रह्म भी क्यो हो नही सकता? अत श्रुतिमे ऐसे ब्रह्मका निरूपण "आत्मा स सेतु विधृति एषा लोकाना असम्भेदाय" (छान्दो उप ८।४।१) किया गया होनेसे उसे उभयविध स्वीकार लेना ना चाहिये यह महर्षि बादरायणके प्रतिपादनका सार है

भगवद्गीतामे भी, अतएव "यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ततएव च विस्तार ब्रह्म सम्पद्यते तदा"-"सर्वभूतेषु येन एक भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्त विभक्तेषु तज्ज्ञतन विद्धि सात्त्विकम्" (भ गी १३।३०-१८।२०) इसी सर्वभेदोके एक महा-अभेदीकरण या एकीकरण को ब्राह्मिक विस्तारके रूपमे प्रतिपादित किया गया है

<u>उपसहार</u> :

अन्तमे पौरस्त्य या पाश्चात्य दर्शनोमे सत्य-प्रमाविषयके बारेमे जो—

१ यथार्थानुभव प्रमा (पौरस्त्य) = Theory of Correspondence
२ अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञान प्रमा (पौरस्त्य) = Theory of Coherence

३. फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनकज्ञान प्रमा(पौरस्त्य) = Theory of Utility

यो इन तीनो तरहकी प्रज्ञाकी व्यापारविशेषरूपा प्रमाओ और उनके विषयीभूत सत्योके विविध रूपोका सवाद हम 'सत्य/तथ्य' 'ऋत' और 'सम्यक्' पदोंके द्वारा प्रत्यभिज्ञात कर सकते हे

क्योकि अनुभवका याथार्थ्य सत्य या तथ्य के साथ सवाद (correspondence) के बिना शक्य नही बन पाता इसी तरह कोई सत्य या तथ्य अनवगत एव अबाधित वस्तुविषयक है कि नही एतदर्थ प्रस्तुत ज्ञानका अन्यान्य ज्ञानोंके साथ सवाद (coherence) परखे बिना शक्य नही होता तीसरे किसी ज्ञानका फलाविसवादिप्रवृत्तिजनक होना उस ज्ञान और सफल व्यवहार के बीच परस्पर सवाद (utiliterian value) के बिना शक्य नहीं होता अत इन त्रिविध प्रमाओंके विषय, पाश्चात्य दर्शनकी पदावलीमे कहना हो तो क्रमश, सेंस्-डेटा कॅन्सेप्ट् और पर्सेप्ट् के आपसी विरोधाभासोका 'ब्रह्म' पदमे एकीकृत रूप खोजा जा सकता है क्योकि "पुरुषएव इद सर्वम्"-"मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियै अहमेव न मत्तो अन्यद् इति बुद्ध्यध्वम् अञ्जसा" (ऋक् सहि १०।९०।२-भाग पुरा ११।१३।२४)

"तदेव भूत तदु भव्यमानम् इद तद् अक्षरे परमे व्योमन्।
यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूप विश्व पुराण तमस परस्तात्॥
तदेव ऋत तदु सत्यम् आहु तदेव ब्रह्म परम कवीनाम्।
इष्टापूर्त बहुधा जात जायमान विश्व बिभर्ति भुवनस्य नाभि ॥"
(महाना उप १।२-६)



अन्तःकरणका स्वभाव और क्रियाकलाप
(नेचर् एंड् फंक्शन् ऑफ् माइन्ड्)
(वाल्लभ वेदान्तके अनुसार)

१ उपक्रम :

वाल्लभ वेदान्त, अपने-आपमे, उत्प्रेक्षामूलक दर्शन न हो कर श्रुति स्मृति सूत्र और पुराण आदि वैदिक शास्त्रोंके परस्पर समन्वित-सुसगत व्याख्यानार्थ प्रवृत्त हुआ एक दर्शन है(१) अतएव अपनी इस प्रतिबद्धताके अनुरूप उल्लिखित शीर्षकसे जुडी वैचारिक धारणाओके बारेमे भी वाल्लभ वेदान्त अपने उल्लिखित उपजीव्य प्रमाणस्रोतोसे निकल कर बहनेवाली अर्थात् इन्हींपर निर्भर होनेवाली एक व्याख्यारूपा चिन्तनधारा है हमारे इस प्रबन्धमे, किन्तु, उन उपजीव्य प्रमाणवचनोके उद्धरणोके आधारपर वाल्लभ वेदान्तकी धारणाओका समर्थन अथवा यथाव्याख्यात अभिप्रायोंके औचित्यका उपपादन अभिप्रेत नही है यहा तो केवल सक्षेपमे स्वीकृत स्वरूपका निरूपण प्रस्तुत करना ही हमे अभिप्रेत है अस्तु

२ 'माइन्ड्' पदका वाल्लभ वेदान्तमें सम्भावित पर्याय :

बोलचालकी अग्रेजी भाषामे 'माइन्ड्' शब्द अनेकानेक अर्थोमे प्रयुक्त होता है बुद्धि/भावावेगके द्वन्द्वके सन्दर्भमे 'माइन्ड्' पदका प्रयोग, उदाहरणतया, "हार्टके बजाय अपने माइन्ड्के अनुसार बरतो" जैसे विधानमे बुद्धिवाचक बन जाता है इसके विपरीत "माइन्ड् अपसेट् हो गया" जैसे विधानमे, जबकि, 'माइन्ड्' पद उद्विग्नताके मनोभावोका भी वाचक बनता ही है 'माइन्ड्/बॉडी'के द्वन्द्वमे यह पद शरीरान्तर्भूत मस्तिष्करूप अग या उसके व्यापारोका जैसे वाचक बनता है, वैसे ही 'माइन्ड्/मेटर्'के द्वन्द्वमे यह अभौतिक चेतन द्रव्यका वाचक भी बन जाता है अत ऐसी अनेकविध अर्थछायाओको अपने साथ समेटे रखनेवाले इस पदका पूर्ण पर्याय और वाच्यभूत पदार्थ भारतीय दर्शनमे

सहसा उपलब्ध नहीं होता फिरभी वाल्लभ वेदान्तमे प्रयुक्त 'अन्त करण' पद 'माइन्ड्' पदमे प्रकट होती, सारी कि सारी नही तो भी, कई सारी अर्थछायाओको ध्वनित करता है अत उसे आत्मा चेतना विचार सावधानी भावावेग या मन आदिके अभिधायक पदके रूपमे लेनेके बजाय अन्त करणके वाचक पदके रूपमे लेकर विवेचन करना अधिक उपयुक्त एव प्रासगिक लगता है अतएव पाश्चात्य दर्शनके सन्दर्भमे अन्त करणकी यह विवेचना, यदि अप्रासगिक लगती हो तो इस समान्य विद्वद्गोष्ठीसे क्षमायाचनापूर्वक ही, तदर्थ प्रवृत्त होना चाहूगा

२ अन्त करणके स्वरूप-क्रियाकलापका वेदान्ताभिमत पूर्वसन्दर्भ :

इस सृष्टिमे अनुभूयमान नाम-रूप-कर्मोके अनेकविध द्वैतोंकी व्याख्या, वाल्लभ वेदान्तमे, एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मके सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसकल्प के आधारपर प्रस्तुत की जाती है यह सुवर्ण-आभूषणके बीच अनुभूत होते अविकृतपरिणाम (*nominal formal and functional transformation of immutable substance*) के उदाहरणद्वारा सिद्ध कार्यकारणभावके रूपमे स्वीकारी गयी है(२) अत सारेके सारे भौतिक पदार्थ उस सच्चिदानन्द(=सत्+चिद्+आनन्द)रूप ब्रह्मके अनेकानेक अविकृत सदशोके सपातोमे प्रकट हुए विशेष-विशेष नाम-रूप-कर्मात्मक परिणाम है(३)

इस एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मकी तीन [क]स्वरूप [ख]कारण तथा [ग]कार्य रूपिणी कोटिया (Categories) स्वीकारी गई है(४)

इनमे सर्वमूल स्वरूपकोटीके अन्तर्गत सर्वप्रथम कोटी [क/१]क्रिया और ज्ञान रूपी दो धर्मोसे विशिष्ट एक धर्मी परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण स्वीकारे गये है(५) दूसरी उसी परब्रह्मकी [क/२]सत्ता चेतना और देश-काल-वस्तुपरिच्छेदरहितता रूपिणी धर्मभूत एव धामभूत भी एक 'अक्षरब्रह्म' नामक कोटी सर्वकारणकारणतया मान्य की गयी है इसी अक्षरब्रह्मके तीन अवान्तर पहलु [क/२/अ]काल [क/२/आ]कर्म और

[क/२/इ]स्वभाव नामक स्वीकारे गये है(६)

[ख]कारणकोटीके अन्तर्गत अठ्ठाईस [ख/१ ३] सत्वादि गुणत्रयी [ख/४]उनकी साम्यावस्था प्रकृति [ख/५]पुरुष [ख/६]महद् [ख/७]अहकार [ख/८ १२]पचतन्मात्रा [ख/१३ १७]पचमहाभूत [ख/१८ २७]दशविध इन्द्रिय और [ख/२८]मन नामक तत्त्व स्वीकारे गये है(७)

[ग]कार्यकोटीके अन्तर्गत [ग/१]जडगण और [ग/२]जीवगण प्रभेद स्वीकारे गये है इन दोनोमे पुन जडके [ग/१/अ]व्यष्टि और [ग/१/आ]समष्टि रूप भी स्वीकारे गये है इसी तरह जीवगणके भी पुन [ग/२/अ]व्यष्टि और [ग/२/आ]समष्टि प्रभेद स्वीकारे गये है(८)

प्रत्येक भौतिक जड रूप, उदाहरणतया घट, जडगणके अन्तर्गत एक व्यष्टिरूप होता है तथा [ख/१३ १७]पचमहाभूतान्तर्गणित पृथिवी स्वरूपेण कारणकोटिक होनेपर भी सकल जड पार्थिव पदार्थोकी कार्यसमष्टिके रूपमे कार्यकोटिक भी मानी जा सकती है

इसी तरह प्रत्येक सजीव प्राणी, उदाहरणतया 'देवदत्त'नामक पुरुष या उसका घोडा, जीवगणके अन्तर्गत व्यष्टिरूप होते है और कारणकोटीके अन्तर्गणित [ख/५]पुरुष स्वरूपेण कारणकोटिक होनेपर भी अपने कार्यसमष्टि होनेके रूपमे कार्यकोटितया भी परिगणित हो पाता है

।

यहा हम यह देख सकते है कि कार्यकोटीमे प्राय अनेकविध तत्त्वोका सघात ही किसी न किसी विशेषरूपतया प्रकट होता है

४ अन्त करणका स्वरूप

उल्लिखित स्वरूप कारण-कार्यकोटिओंके सन्दर्भके परिप्रेक्ष्यमे 'अन्त करण' पदवाच्य तत्त्व भी कारणकोट्यन्तर्गणित [ख/५]पुरुषकी अशभावापन्न

व्यष्टिचेतना एव कारणकोट्यन्तर्गणित ख/६महद् ख/७अहकार ख/२८मन के व्यष्टिभावापन्न कार्यरूपोंके सघाततया एक विशिष्ट स्वरूप एव क्रियाकलापोको निष्पन्न कर्नेवाला चिदचिद्ग्रन्थिरूप पदार्थ है यह हम प्रत्येक प्राणिओके भीतर प्रकट होता है और यही अन्त करण हमारे इस प्रबन्धका मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी है

कार्यकोटीके सभी पदार्थ प्राय इन कारण तथा कार्य कोटिओंके अन्तर्गणित अनेकविध तत्त्वोंके सघातरूप होते है जो ब्रह्मके स्वरूपमे प्रकट होते है अत इस तथ्यको थोडा सा और सुस्पष्ट कर लेना प्रस्तुत विमर्शमे कुछ उपकारक ही होगा क्योकि, उदाहरणतया, हमारा शरीर पचविध महाभूत, दशविध इन्द्रिय, पचविध प्राण, चतुर्विध अन्त करणोके सघातमे प्रकट हुआ एक विशेष नाम-रूप-कर्मात्मक परिणाम है इसमे सघातघटक तत्तत् सदश तो अविकृत ही रहते है परन्तु एक विशिष्ट नाम-रूप-कर्मात्मक सघातरूप यह शरीर षड्विध उत्पत्ति स्थिति विपरिणति वृद्धि अपक्षय और विनाश रूपी भावविकारोमे गुजरता सा प्रतीत होनेपर भी अपने सत्स्वभावका त्याग नही करता ऐसा माना जाता है अन्यथा उत्पत्त्यादि क्रियाओको निराधार माननेको बाधित होना पडेगा अत न तो उत्पत्ति प्रागभावरूप मानी जाती है और न विनाश प्रध्वसाभावरूप ही, ब्राह्मिक सदश सभी अवस्थाओमे अविकृततया अनुगत रहता अनुभूत होता होनेसे सदशोके अविकृत परिणामरूप इन अनेकानेक नाम-रूप-कर्मोमे चिदश और आनन्दाश के आविर्भाव-तिरोभावकी प्रक्रियाके अगीकारद्वारा छहोके छह भावविकारोकी प्रतीति और चतुर्विध अभावोकी प्रतीति की भी व्याख्या, वाल्लभ वेदान्त, इसी आविर्भाव-तिरोभावकी प्रक्रियाके आधारपर देना चाहता है(९) अर्थात् उत्पत्त्यादि अवस्थाओमे गुजरते नाम-रूप-कर्म कभी गुप्ततया या सुषुप्ततया विद्यमान (latent) रहनेके कारण या तो निज अर्थक्रियाको करते रहनेपर भी अनुभूतिगोचर(manifest) नही होते या अनुभूतिगोचर होनेपर भी निज-अर्थक्रियाकारी (activated) नहीं होते अथवा कभी न तो अनुभूतिगोचर

(non evident) होते है और न निज-अर्थक्रियाकारी ही (non activated) होते है(१०)

इसी तरह सारी चेतनाए उसके अविकृत चिदशमेसे उद्गत अणुरूप होती है प्रत्येक चेतना अपने अणुस्वरूपमे दूसरी अणुरूप चेतनासे भिन्न होनेपर भी किसी विशेष नाम या विशेष रूप को प्रकट करती न होनेसे उत्पत्ति विपरिणति वृद्धि अपक्षय या विनाश अवस्थाओको दरसाती नही है अत चेतनामे गमापगमकी क्रिया तो अनुभूत होती है परन्तु उत्पत्त्यादि भावविकारकी नहीं चेतनाका ऐसा स्वरूप पाश्चात्य दर्शनोमे स्वीकृत 'सोल' 'सेल्फ' 'आइडिया' 'थोट्' 'लोगोस्' 'मॉनाड्' या 'माइन्ड्' आदि पदोंके प्रयोगद्वारा भलीभाति अभिव्यक्त नही हो पाता क्योकि इस तरहकी कॉन्शीअसनेस्को 'सेसेशन्' कहना भी जब शक्य नही, तब 'रीजनिग्' या 'रेशनेलिटी' के रूपमे तो स्वीकारना सर्वथा अप्रासगिक ही होगा अत चेतना एक ऐसी सेल्फअवेर सेसिटिविटी है जो किसी विषयके सम्पर्कमे आनेपर विषयस्फुरणा विषयानुभूति विषयकामना विषयसकल्प विषयस्मृति विषयकल्पना विषयसकलना विषयाज्ञान विषयसशय विषयभ्रान्ति अथवा विषयव्यामोह आदि अनेकविध बौद्धिक या मानसिक व्यापारोके प्राकट्यका अन्यतर हेतु बनती है उदाहरणतया इलेक्ट्रीसिटीको हम कम्प्युटर् टेपरेकार्डर् या टी वी रेफ्रीजेरेटर् आदि बिजलीके उपकरणोमे निष्पन्न होते अनेकविध क्रियाकलापोका अन्यतर हेतु तो मान सकते है परन्तु एकमात्र हेतु नहीं, क्योकि इन उपकरणोके न होनेपर, अकेली बिजली इन अनेकविध क्रियाकलापोको निष्पन्न नही कर पाती

५ अन्त करणके क्रियाकलापोंके प्रकट होनेकी रीति :

इस तरह हम देख सकते है कि ब्राह्मिक सदश प्रकृति महान् अहकार आदिसे मन पर्यन्त उत्तरोत्तर प्रवर्तित उपादान-परिणामभावापन्न होनेकी प्रक्रिया, जब पुरुषके सान्निध्यवशात् अपनेमे ब्राह्मिक चिदशरूप चैतन्यसे कृत्रिमतया प्रतिसक्रान्त होती है, तब वह एक व्यष्टि अन्त करणका

रूप धारण कर लेती है इसके कारण अन्त करण स्वय जड़ होनेपर भी चेतनायित हो कर चेतनोपम व्यवहार करने लगता है और चिदशरूपा चेतना स्वयमे अन्त करणद्वारा निष्पन्न होती क्रियाओको निष्पन्न करनेमे सक्षम न होनेपर भी अन्त करणकी उपाधिके वशात् विषयस्फुरणा विषयानुभूति विषयकामना विषयसकल्प विषयस्मृति विषयकल्पना विषयसकलना विषयाज्ञान विषयसशय विषयभ्रान्ति अथवा विषयव्यामोह आदि अनेकविध सचेतनव्यापारोके रूपमे प्रकट हो जाती है(११)

६ अन्त करणके विभिन्न क्रियाकलापोके केन्द्ररूप चार विभाग:

वाल्लभ वेदान्तमे अन्त करणके चार विभाग [१]चित्त [२]अहकार [३]मन और [४]बुद्धि स्वीकारे गये है(१२) अतएव 'माइन्ड्'के पर्यायवाचक पदतया 'अन्त करण' पदको स्वीकारनेपर इस चतुर्ग्रन्थी अन्त करणके क्रिया-कलापोकी जानकारी उसके विभिन्न केन्द्रो या विभागो के स्वरूपोको जाने बिना सम्भव न होनेसे विभागश क्रिया-कलापोके बारेमे विमर्श करना अधिक उपयुक्त होगा

७ अन्त करणके प्रथम विभाग चित्तका स्वरूप और उसके क्रियाकलाप.

पूर्वनिर्दिष्ट सच्चिदानन्द ब्रह्मकी स्वरूपकोटीके अन्तर्गत [क/२]परब्रह्मकी सत्ता चैतन्य और देश-काल-वस्तुपरिच्छेदरहितता रूपी धर्मभूत-धामभूत तथा सर्वकारणकारणभूत अक्षरब्रह्म होता है यह हमने दिखलाया उसमे उसी ब्रह्मकी कारणकोटीमे अन्तर्भूता [ख/१] [२]सत्त्वादि गुणत्रयीकी अक्षुब्ध साम्यावस्था रूपिणी [ख/४]प्रकृति प्रकट होती है इस प्रकृतिमे [क/३/४]कालके वश तिरोहित चैतन्य पुन [ख/५]पुरुषचैतन्यरूपेण प्रतिसक्रान्त होता है इस प्रतिसक्रान्तिके वश वह क्षुब्ध हो जाती है परिणामतया उसमे गुणवैषम्य प्रकट होने लगता है और इस तरह वह [ख/६]महत् तत्त्वके आकारतया पुन परिणत हो जाती है इस महत् तत्त्वमे सदश तो प्राकृत ही होता है परन्तु चिदश पौरुष इसे 'महान्' इसलिए कहा जाता है क्योंकि आगे चल कर पैदा होनेवाले सम्पूर्ण जगत्का प्रसवहेतु

यही बनता है यही विश्वाधाररूप होता है डिम्बकोशसदृश प्राकृत सदशमे रेतोबीजसदृश चिदशका प्रतिसक्रमण या प्रवेश होता है और तब यह जगत्का भ्रूणरूप या अकुररूप बनता है यो बोध्यबोधकभावरहित तमोरूप प्राकृत सदशमे पौरुष चिदशके प्रतिसक्रमणवशात् बोध्यबोधकभावका उद्भवरूप तमोनिरसन इस महत् तत्त्वके कारण शक्य बन जाता हे अत वृक्षके बीजकी तरह अपनेमेसे प्रकट होनेवाले विश्वकी सूक्ष्मावस्था इसमे अकुरणाभिमुखी बनती है अत इसे ब्लुप्रिन्ट्की तरह जगत्प्रकाशक, वृक्षबीजकी तरह जगज्जनक तथा अतिसमर्थ तमोनाशक होनेके रूपमे भी प्रकट होता माना जाता है यह अतिनिर्मल शान्त तथा सच्चिद्रूप होता है परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण(१३)की अनुभूतिका विश्वसनीय आनन्दानुभावक वासुदेवात्मक करण भी यही बनता है(१४) हमारे भीतर अन्त करणकी जो निगूढावस्था या निगूढतम विभाग 'चित्त' नामक है, उसे इसी महत् तत्त्वका व्यष्ट्यश समझना चाहिए यह अति स्वच्छ होता है अत इसे बुद्धिसे पृथक्तया समझना चाहिए बुद्धि ज्ञानरूपा होनेपर भी स्वच्छ नहीं होती चित्त, जबकि, निर्विषय केवल सुषुप्त्यवस्थासाक्षिक आत्मावबोधरूप स्वच्छ होता है

आत्मावबोध सारे विषयावबोधोका बीजरूप होता है जैसे कम्प्युटर्का स्वीच आफ कर देनेपर भी ऑफ न होनेवाला स्वीचऑफ-अवस्थासाक्षिक CMOS (Complementary Metal Oxide Semiconductor) निजात्मावबोधरूप होता है अर्थात् वह स्वयके प्रति सभान होता है तद्वत् वह जैसे अपने हार्डडिस्क् तथा समय आदिके बारेमे कम्प्युटर्की सभानता है, वैसे ही चित्त भी निद्रावस्थामे भी अनस्तमित आत्मसभानता है अत यह चित्त विकाररहित होता है कम्प्युटर्मे जैसे RAM (Random Acces Memory) होती है वैसा चचल मन, जबकि, निरन्तर विकारशील होता है, क्योकि वह किसी भी विषयकी फाइल या प्रोग्राम को कम्प्युटरके ऑन/ऑफ करनेकी प्रक्रियाके अनुसार ही सम्हाल पाता है अथवा खो देता है

इसी तरह शान्त घोर विमूढ अहंकार भी केवल शान्त कभी नहीं हो पाता, जबकि चित्त तो केवल शान्त होनेके कारण अहंकारसे भी विसदृश ही होता है बुद्धयुपाधिवशात् कभी-कभाक विकृत अशान्त सा कालुष्य सा इसमें प्रतीत होनेपर भी चित्त स्वभावत तो निर्विकार शान्त ही रहता है(१६)

हमने देखा कि वैसे तो वाल्लभ वेदान्तमें आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक सभी रूपोंको धारण करनेवाला ब्रह्म स्वय एकमेवाद्वितीय तत्त्व है फिरभी सत्ता चैतन्य और त्रिविध अपरिच्छिन्नताको लिये रखनेवाला अक्षरब्रह्म प्रकृति और पुरुष के रूपमे द्विधा विभक्त होनेके बावजूद अपनी इस महद्-अवस्थामे पुन चिदचिद्ग्रन्थिभावापन्न हो जाता है तदनुरूप प्रत्येक प्राणीमे रहा हुआ महदंशभूत चित्त भी चिदचिद्ग्रन्थिरूप होता है

मूलमे यही कारण है कि अपने यहा भारतवर्षमे चार्वाक मत केवल भौतिक पदार्थोकी ही सत्ता स्वीकारता है तो विज्ञानवादी बौद्ध तथा शाकर वेदान्त केवल आत्मा या चेतन पदार्थकी ही सत्ता स्वीकारते है इसी तरह यूरोपमे भी कुछ भौतिकवादी चिन्तक केवल मैटरकी ही सत्ता स्वीकारते है तो दूसरे आत्मवादी चिन्तक केवल माइन्ड्की ही सत्ता स्वीकारते है दोनो ही अपने-अपने दृष्टिकोणोके आग्रहोके अनुरूप सारेके सारे matenal phenomina या mental phenomina की Mind या Matter के रूपमे व्याख्या कर पाते है यह Reductionistic approach स्वय चित्तके चिदचिद्ग्रन्थिरूप होनेसे उपपन्न भी हो जाता है अतएव अर्नेस्ट् वाल्डफ्राईड् जोसेफ् वेजेल् मैंकूको यदि Neutral Monism युक्तिसगत लगता है तो बर्ट्रेन्ड् रसेल What is Mind? Does not matter What is Matter? Never mind उपहासद्वारा Neutral Atomic Pluralism भी प्रस्तावित कर पाते है।

वाल्लभ वेदान्त इस सन्दर्भमे कहना चाहेगा कि मूल तत्त्व उभयात्मक है और उभयातीत भी(१६) अतएव प्रत्येक भौतिक पदार्थकी जैसे सेसेशनमे व्याख्या शक्य हो पाती है, वैसे ही सभी मानसिक क्रियाकलापोकी भौतिक-रासायनिक व्याख्या भी उतनी ही सुशक्य लगती है मूलत यह इसीलिए सम्भव हो पाता है क्योकि विश्वके मूलमे रहा महत् तत्त्व उभयात्मक होता है यह महत् स्वय जिस काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषात्मक अक्षरब्रह्मका नाम-रूप-कर्मात्मक व्याकरण या विस्तार है वह उभयात्मक भी होता है और उभयातीत भी(१७) अत जडजीवात्मना विभक्त हुआ अक्षरब्रह्म महत् तत्त्वके रूपमे पुन उभयमिश्रित हो जाता है महत् अहकारतया परिणत होता है अहकारसे विषयोके गुणधर्मरूप तन्मात्राओका परिणाम प्रकट होता है तथा तद्ग्राहक इन्द्रिया भी परिणत होती है इन्ही तन्मात्राओके स्थूल परिणामरूप पचमहाभूत होते है अत इस दृष्टिकोणसे हमारी अनुभूतिओका आकलन करनेपर सृष्टिकी प्रक्रियामे ही चिदचिदात्मकता अन्योन्यसक्रान्त रहती होनेसे किसी भी विषय या अनुभूति की विवेचना जिस छोरसे की जाय उस छोरसे उसका वैसा रूप दिखलाई देने लगना एक स्वाभाविक कथा लगती है अतएव हाल ही मे स्वपरबोधशील स्वतोजनक मालेक्यूलके निर्माण-अनुसधानमे निरत नॉबेल उपाधिसे पुरस्कृत श्री ज्याँ मारिए लेन्हके हाल ही मे मुबईमे Times of India समाचारपत्रको दिये एक साक्षात्कारमे उनके द्वारा प्रकट यह उद्गार सभी विचारकोके लिए मननीय है —

> Imagine bricks that can get together to form a house (if) the information is in the bricks to spontaneously assemble Bricks can t do it of course but molecules can Life for me is a much simpler problem than say consciousness Indeed the distance from non living matter to

living matter is much shorter than that from living matter to thinking matter How come natural evolution has led to an entity able to think over the very thing which produced it? This ability—to be a part of nature and to be apart —is what I find absolutely awesome"

यहा न केवल जड-जीवके बीच आत्यन्तिक भेदका अपितु आत्यन्तिक अभेदका भी निरसन ध्वनित हो रहा है अत सिद्ध होता है कि तात्त्विक अभेद और नाम-रूप-कर्मगत भेद को स्वीकारने जानेकी दिशामे ही श्री ज्याँ मारिए लेन्हका अनुसन्धान अग्रसर होता जायेगा अत जडविषयके बोधात्मक धर्मोंसे मण्डित होनेसे अथवा जडविषयक बोधके स्वय जड उपकरणोसे जन्य होनेसे दर्शनशास्त्रको अब विस्मित होनेकी मनोवृत्तिपर काबू पाना पडेगा। क्योंकि अनुभूतिविषयरूप जडद्रव्य या जडद्रव्यविषयिका अजड़-अनुभूति की इतरेतरजन्यजनकता अब सहज ही समझी जा सकनेवाली बात बनने जा रही है॥

७ अन्त करणके द्वितीय विभाग अहकारका स्वरूप और उसके क्रियाकलाप :

ज्ञानप्रधान महत् तत्त्वसे क्रियाशक्तिरूप व्यष्टि तथा समष्टि रूप अहकार परिणत या प्रकट होता है क्योंकि व्यष्टिरूप चित्त और समष्टिरूप महत् दोनो ही चिदचिद्ग्रन्थिरूप होते है अत अपने उपादानकारणानुरूप अहकार भी उभयग्रन्थिरूप ही प्रकट होता है तमोगुणके उद्रेकवश, इसमेसे, तन्मात्राओका, रजोगुणके उद्रेकवश दशविध इन्द्रियोका और सत्त्वगुणके उद्रेकवश मनका परिणाम प्रकट होता है(१८)

शुद्ध आत्मचेतनामे कर्तृत्वबोध इसी अहकारसे कृत्रिम तादात्म्यभावापत्तिवशात् सम्भव होता है इसे यो कहा जा सकता

है कि आत्मचेतनाके बिना न तो अहंकाररूप अन्त करणके विभागमे अहबोध शक्य हो सकता है और न आन्तरिक अहंकरणके बिना आत्मचेतनामे ही अहवित्तिवेद्यता सम्भव हो पाती है. गाढ निद्रामे अहवित्तिवेद्य आत्माके विद्यमान रहनेपर भी अहंबोध रह नही जाता. अत, जैसा कि पहले ही चतुर्ग्रन्थी अन्त करणके बारेमे हम देख ही चुके, कम्प्युटरगत CMOS के समान जैसे चित्त होता है, वैसे ही ROM (Read Only Memory) की तरह अहंकार होता है क्योकि यह अहकार भी कुछ वैसा ही उत्तरदायित्व निभाता है कि जैसा कार्यनिष्पादन कम्प्युटरमे ROM (Read Only Memory) करता है. हमारे सभी तरहके चेतनाव्यापारोको एकसूत्र करनेवाला निजात्मसंवेदनारूप यह विभाग या आन्तरिक सकर्षणरूप उपकरण है. हमारे बाह्य शरीर और आन्तरिक मनोबुद्धिके नित्यपरिवर्तनशील होनेकी प्रक्रियामे यह अहकार अपरिवर्तनशील ही रहता है, रीड् ऑन्ली मेमॉरी = यू कॅन् नॉट् चेज् ओर रीमूव् व्हॉट् इज स्टोर्ड् इन् इट्।

इसी अहकारमेसे प्राण और बुद्धि के पहलु भी शनै परिणत या प्रकट होते है अत इन्हे अहकारके रूपान्तरतया मान्य किया गया है(१९) प्राण हमारे भीतर वह क्रियाशक्ति भरता है कि जिससे कर्मेन्द्रिया स्वस्वकार्य निष्पन्न करनेमे समर्थ हो पाती है बुद्धि इसी तरह ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारसे विषयोको गृहीत बना कर विषयबोध विषयस्मृति विषयाज्ञान विषयसशय विषयविभ्रम विषयस्वप्न या निद्रा उत्पन्न करती है इसका विवेचन आगे किया जायेगा

८.अन्त:करणके तृतीय विभाग मनका स्वरूप और उसके क्रियाकलाप :

जैसा कि हम कह चुके अहंकारमे सात्त्विक गुणके उद्रेकवशात् मनस्तत्त्व रूपी परिणाम प्रकट होता है. यह मन भी क्रिया और बोध उभयविध गुणधर्मोसे युक्त होता है. इसका स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक होता है(२०).

जो भी कुछ कर्म हमे अपने स्वभावके अनुरूप करने पडते है या सामर्थ्यके अनुरूप हम करना चाहते है, उन्हे करनेका सकल्प और उनकी कामना हमारे सक्रिय मनके भीतर पैदा होती मानी गयी है इसी तरह जिस विषयका हमे बोध होता है उसके याथार्थ्यके सारे सम्भावित और असम्भावित विकल्प भी समान मनके भीतर ऊहापोहके रूपमे उभरते-डूबते रहते है उदाहरणतया घटके बोधके समय वह किस/किन उपादान और किस/किन निमित्त कारणोसे निर्मित हुआ है, वह किस/किन रगोका है या हो सकता है, वह जलधारणार्थ है या सगीतगोष्ठिमे तालवादनार्थ है, वह अपने समानवर्गीय अन्य घटोकी तुलनामे छोटा है या बडा है, यह अस्वामिक है या व्यक्तिविशेषस्वामिक है, आदि-आदि अनेकानेक विकल्पोका ऊहापोह मन घटानुभूतिकी आद्यक्षणके शताशमे कर लेता है अतएव सुख-दु ख राग-द्वेष दया-नैष्ठुर्य काम-अकाम क्रोध-अक्रोध लोभ-अलोभ मोह-अमोह मद-अमद मात्सर्य-अमात्सर्य सकल्प-विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धैर्य-अधैर्य लज्जा-अलज्जा अथवा भय-अभय आदि सभी मनोवृत्तिया मन करणिका ही होती है हमारी विषयानुभूतिओको हमारी भावनाओके रगमे रग देनेका काम भी मन ही करता रहता है गुणत्रयीके सात्त्विकसात्त्विक सात्त्विकराजस सात्त्विकतामस, राजससात्त्विक राजसराजस राजसतामस अथवा तामससात्त्विक तामसराजस तामसतामस आदि इतरेतरगुणित अनेकविध निमित्तोके वश क्षुब्ध हो कर मन ही इन अनेकविध मनोभावनाओका प्रकट करता है यह तो हम देख ही चुके है कि यह मन कैसे कम्प्युटर्के RAM (Random Acces Memory) जैसा चचल होनेके कारण निरन्तर परिवर्तनशील ही रहता है

सभी ज्ञानेन्द्रिया और सभी कर्मेन्द्रिया मनके आधीन रहती है अतएव इसे अनिरुद्धरूप माना गया है क्योकि बिरले योगी ही इसे निरुद्ध कर पाते है(२१) निद्राकालमे तो यह मन अहकारकी ही तरह सक्रिय नहीं रहता परन्तु स्वप्न-जागरणमे अहकारकी ही तरह

जाग उठता है इसका सामर्थ्य भी अन्त करणके समान अन्य सभी विभागोपर बहुधा बलवत्तर ही होता है इसके सहयोग बिना कोई भी इन्द्रिय अपने रूपरसादि विषयोके ग्रहणार्थ समर्थ नहीं हो पाती अतएव प्रत्यक्षानुभूति अपने प्राथमिक स्तरपर निर्विकल्पक सन्मात्रग्राहिणी होनेके कारण इस अवस्थामे प्रत्यक्ष मन सयुक्त इन्द्रियोसे जन्य माना गया हे(२२) मन जिन विकल्पोका उद्भावन करता है वह उन्हे बुद्धिके स्मृतिकेन्द्रमेसे ही बाहर निकालता है ओर स्वसयुक्त इन्द्रियोद्वारा प्रापित विषयसूचनाओंके साथ-साथ गृहीत-वस्तु-देश-काल-से सम्बद्ध या असम्बद्ध अनेकानेक विकल्पोका अवगाहन बुद्धिसे यह मन ही करवाने लग जाता है

९ अन्त करणके चतुर्थ विभाग बुद्धिका स्वरूप और उसके क्रियाकलाप •

अहकारमे राजस गुणके उद्रेकवश बुद्धितत्त्वका प्राकटच होता है मन, यदि, इन्द्रियोका प्रेरक बनता है तो बुद्धि इन्द्रियोपर अनुग्रह करनेवाली मानी गयी है कर्मेन्द्रियोसे जो कुछ हम कर पाते है या ज्ञानेन्द्रियोसे जो कुछ हम जान पाते है, वह उस क्रिया या उस विषय के बुद्ध्यारूढ होनेपर ही शक्य हो पाता है अतएव बुद्धिकी सात्त्विकादि अवस्थाओंके अनुरूप हमसे कोई कार्य या विषय भिन्न-भिन्न रीतिसे सम्पन्न या गृहीत हो पाते है यह बुद्धिका कार्य है बुद्धिका स्वरूप यो समझाया गया है कि किसी भी घटादि सदृश विषयके स्फुरण होनेपर शव्द या सस्कार अथवा आलोक के वश जो विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है वह बौद्धिक ही होता है(२३) अर्थात् हमारा सारा सविकल्पक ज्ञान बुद्धिजन्य ज्ञान ही होता है समनस्क इन्द्रियोंद्वारा बुद्धिके विभागमे उपस्थापित सामान्यज्ञानविषयीभूत विषयोंके साथ यथार्थ/अयथार्थ विविध विकल्पोंका समायोजन बुद्धिद्वारा ही विशेषज्ञानके रूपमे निष्पादित होता है(२३)

कम्प्युटरके बेसिक फक्शन्सके उदाहरणोंमे चतुर्थ BIOS (Basic

Input/Output System) के समानान्तर अन्त करणमे बुद्धिका विभाग होता है जैसे BIOS कम्प्युटरके अन्य सारे क्रिया-कलापोमे सहायक बनता है, ऐसे ही बुद्धि भी चित्त अहकार एव मन के आधीन रह कर उन्हे सर्वविध कार्योंको सम्पन्न करनेमे सहायिका बनती है BIOS जेसे ROM के भीतर स्टोर्इ होता है, इसी तरह बुद्धि भी हमारे अहकारपर आश्रित होती है अतएव गाढनिद्रावस्थामे अहकारके भी सो जानेपर चित्त तो जगता है परन्तु बुद्धि सो जाती है अन्त करणमे स्फुरित (input) द्रव्यकी सत्त्वादिगुणहेतुक स्फुरणाओमे तारतम्यवश बुद्धि भी तरतमभावापन्ना हो जाती है यो वह भी नानाविधा बन जाती है अत बुद्धिके Output ,नामश , सशय विपर्यास=भ्रम निश्चय स्मृति स्वप्न रूपिणी पचविध वृत्तिया होती है(२५) यो बुद्धिके क्रिया-कलापोकी भी अनेक विधाए प्रकट होती है

इसमे आवश्यकतया अवधेय बात यही है कि सामान्यतया वस्तुके विकल्पोका अवगाहन करनेवाला सारका सारा बौद्धिक ज्ञान वैसे तो राजस स्वभावका माना गया है मूलमे, क्योकि, अहकारके भीतर राजसगुणोद्रेकका ही परिणाम बुद्धिको माना गया है इसे वाल्लभवेदान्तके पुन सद्य प्रकट प्रस्थानरत्नाकर(२६)के अनुसार देख लेना उपकारक होगा

> सशय उस मौलिक राजसताके अन्तर्गत किसी एक धर्मिके बारेमे विरुद्ध नानाकोटिक धर्मोका अवगाहन करनेवाला सशयरूप ज्ञान पुन राजस-राजसरूप ज्ञानका एक प्रकार होता है सम्भावना और तर्क को, वाल्लभ वेदान्तमे, सशयकोटिका ज्ञानके अर्न्तभूत ही मान लिया गया है
>
> विपर्यास अर्थात् इन्द्रियोसे गृहीत विषयसे भिन्न किसी विषयकी स्फुरणा करानेवाला राजस-तामसरूप ज्ञानका प्रकार भ्रमरूप होता है यद्यपि प्रस्थानरत्नाकरकारके अनुसार यह

विषयदोष और/अथवा करणदोष के वश पैदा होता है. एतावता सोपाधिभ्रम तथा निरुपाधिभ्रम दोनों तरहके भ्रमभेद वाल्लभ वेदान्तमे अमान्य या अव्याख्येय नही हो जाते.

निश्चय : अर्थात् यथार्थ अनुभूति. इसे 'प्रमा' भी कहा जाता है. ज्ञानके इस प्रकारमे अनुभूति अर्थानतिवर्तिनी होती है. अर्थात् जिस देश-कालमे जो वस्तु जैसी हो उसका उसी देश-कालमे उसी तरह अनुभूत होना. यह राजस-सात्विकरूप प्रकार ज्ञानका होता है. इस निश्चयाकारक ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष यो दो भेद स्वीकारे गये है. निश्चयान्तर्गत प्रत्यक्षके अवान्तर प्रभेद निर्विकल्पक अर्थात् सन्मात्रग्राही सामान्यज्ञान होता है——सविकल्पक अर्थात् विकल्पावगाही विशिष्टज्ञान होता है. परोक्ष ज्ञानके प्रकारोमे अनुमिति शाव्द और ऐतिह्य को गिनाया गया हे. अन्य जो उपमान अर्थापत्ति अनुपलब्धि आदि अन्यान्य दर्शनोद्वारा प्रस्तावित किये गये परोक्षप्रमाके प्रकार हे उनका अनुमितिमे अन्तर्भाव स्वीकार लिया गया है.

स्मृति : बाह्य विषयके उपक्रमके बिना ही पूर्वानुभूत वस्तुविषयक सस्कारोंके कारण पैदा होनेवाला स्मृतिरूप बौद्धिक ज्ञान राजस-राजस प्रकारका होता है. यह बाह्यार्थजन्य न होनेके कारण अर्थात् केवल आन्तरिक संस्कारवश पैदा होनेके कारण अप्रमाणतया माना गया है. अतएव स्मृतितया स्मृतिके प्रामाणिक होनेपर भी अर्थात् दृष्टार्थसंवादिनी होनेपर भी, केवल आन्तरिक करणोंके व्यापारपर निर्भर जन्यताके कारण स्मृति प्रमेयसिद्धिमे साधिका नही बनती है. अत इस पारिभाषिक अर्थमे स्मृतिको अप्रमाण ज्ञानके प्रकारतया माना गया है.

स्वप्न : अर्थात् निद्रा और जागरण के बीच प्रकट होता बौद्धिक ज्ञान राजस-तामस प्रकारका ज्ञान होता है. इसकी गाढ अवस्थामें जानेपर अर्थात् बुद्धिके समेत मन और अहंकार के सो जानेपर सुषुप्तिरूप चित्तकरणक ज्ञान प्रकट होता है. अर्थात् बुद्धिकी निष्क्रियताके रूपमे इसे बौद्धिक ज्ञानका भेद माना जा सकता है वर्ना यह चित्तकरणक ज्ञानका प्रकार है जिसे हम देख ही चुके है.

बौद्धिक ज्ञानके इन पांच प्रकारोमे प्रमाणतया जो निश्चयाकारक ज्ञानको माना गया है उसका स्पष्टीकरण स्वयं श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु इन शब्दोंमे देते हे "*अर्थोहि ज्ञानस्य अर्धम् अङ्गम्; अतएव, स्मृति. न निश्चयात्मिका अर्थाभावात्*" (२७).अर्थात् अनुभूयमान पदार्थ अनुभूतिका आधा अंग होता है अत जब कोई अनुभूति अनुभूयमान पदार्थसे उत्पन्न न हो कर अन्यान्य कारणोंसे उत्पन्न हो जाती है तो उस बोद्धिक घटनाको पूर्णतया घटित न मान कर अर्धघटित घटनाके रूपमे स्वीकारना चाहिए. जैसे एक भाषामे कही गयी किसी बातका दूसरी भाषामे अनुवाद होता है, उसी तरह देश-कालमे घटित किसी वास्तविक घटना या वस्तु का देशकालातीत चेतनामे पुन अनुघटित हो जाना 'अनुभूति' कहलाती है "*यद् भवति तदेव अनुभूयते*" ऐसा होनेपर ही भूतवस्तुका अनुभव यथार्थ होता है अन्यथा तद्देशवर्तिता तत्कालवर्तिता तद्धर्मविशिष्टता से रहित अनुभूति भूतवस्तुकी अनुकारिणी न होनेके कारण अयथार्थ(=स्मृति संशय भ्रम स्वप्न रूपिणी) बन जाती है. बावजूद इसके वाल्लभ वेदान्तमे भ्रमज्ञानको अन्यथाख्यातिरूप न मान कर अन्यख्यातिरूप जो माना गया है, उसका हेतु केवल यही है कि सारे भ्रमज्ञान इन्द्रियसम्प्रयुक्त देश-काल-वस्तुप्रकारसे भिन्न किसी देश-काल-वस्तुप्रकारविषयक होते है. यह विषयगत आन्तरिक/बाह्य दोषोंके और/अथवा ज्ञानके आन्तरिक/बाह्य करणोके दोषोके वश घटित होता होनेसे अन्यख्यातिरूप माना गया है.

वाल्लभ वेदान्ताभिमत अन्त करणका स्वरूप और उसके क्रियाकलापोके निरूपणमे इस तरह साख्याभिमत ज्ञान प्रक्रियाका भगवद्गीता और भागवतपुराण के अनुसार उपनिषदोके साकारब्रह्मवादके साथ समन्वयका निदर्शन स्पष्ट होता है

मूलवचनसन्दर्भ

१ "अखण्ड कृष्णवत् सर्व यथा तत्तु निरूपित आत्मैव सर्व सृज्यते सृजति प्रभु त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वर 'आत्मैव तदिद सर्व' 'ब्रह्मैव तदिद' तथा इति श्रुत्यर्थमादाय साध्य सर्वै यथामति, अयमेव ब्रह्मवाद शिष्ट मोहाय कल्पितम्" त दी नि २।१८२-१८४

२ "'तदात्मान स्वयमकुरुत' इति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात्, 'सुकृत'त्ववचनाच्च अलौकिकत्व तथापि ज्ञानार्थम् उपपत्तिम् आह 'परिणामात्', परिणमते कार्याकारेणेति अविकृतमेव परिणमते सुवर्ण सर्वाणि च तैजसानि तस्माद् ब्रह्मपरिणामलक्षण कार्यमिति जगत्समवायिकारणत्व ब्रह्मणएव इति सिद्धम्" अणुभा १।४।२६

३ "सहतै उपचितै अवयवै गुप्तो अवयवी प्रकटीक्रियते" सुबो २।१।२४

४ "प्रमेय हरिरेवैक सगुणो निर्गुणश्च स गुणा कार्यं तथा धर्म क्रियोत्पत्त्यादयश्च स बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थ त्रिरूपेणोपवर्ण्यते कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतो अष्टाविशतिभेदास्तु कारणे तत्त्वभेदत भगवत्त्व यतस्तेषा तस्मात्तत्त्वानि तानि तु" त दी नि २।८४-८६

५ "स्वरूपेतु त्रयो भेदा क्रियाज्ञानविभेदत विशिष्टेन स्वरूपेण क्रियाज्ञानवतो हरे" त दी नि २।८९

६ द्रष्ट त दी नि २।९८-११६

७ "सत्त्व रजस्तमश्चैव पुरुष प्रकृतिर्महान् अहकार पञ्चमात्रा शब्दस्पर्शाकृती रस गन्धो भूतानि पञ्चैव ख वायुर्ज्योतिरप्क्षिति क्रियामयानीन्द्रियाणि वाग्दोर्-मेण्ढ्राह्ध्रिपायव श्रोत्र त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा मन षडिति भेदत" त दी नि २।९४-९५

८ द्रष्ट त दी दि २।११८-१२०

९ "सर्ववादानवसर नानावादानुरोधि तद् अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थ चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रय युक्त्यगोचरम् आविर्भावतिरोभावै मोहन बहुरूपत" त दी नि १।७०-७२

१० द्रष्ट त दी नि २।१४१-१४६

११ द्रष्ट त दी नि १।२७-३३

१२ "एकमेव अन्तरात्मकम् अन्त करण मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्धा लक्ष्यते" सुबो ३।२६।१४

१३ "यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमो अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम" भग गीता १५।१८

१४ "चित्ते भगवत्प्रेम सम्पादनीयम् तत प्रेमसवलित चित्त सर्वत्र विद्यमान भगवन्त विषयीकरिष्यति यथा यथा रसेनेन्द्रियसहिता जिह्वा द्रव्येषु विद्यमानान् रसान् स्वयमेव गृह्णाति, नतु तद्रसज्ञान पूर्वम् अपेक्षते तथा भक्त्याविष्ट चित्त स्वयमेव भगवन्त गृह्णाति प्रतिनियतेन्द्रियवद् भगवद्व्यक्ति" सुबो २।६।३३

१५ द्रष्ट सुबो ३।२६।१९-२२

१६ "प्रापञ्चिकपदार्थाना सर्वेषा तद् विलक्षण जगत समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकम्" त दि नि १।६७-६८, "मया ततमिद सव जगदव्यक्तमूर्तिना" भग गीता ९।४, "विष्टभ्याहमिद कृत्स्नमेकाशेन स्थित जगत्" तत्रैव १०।४२

१७ "पर ब्रह्मतु कृष्णो हि सच्चिदानन्दक बृहद् द्विरूप तद्धि सर्वं स्याद् एक तस्माद् विलक्षणम्" सिद्धा मुक्ता ३

१८ द्रष्ट प्रस्थानरत्नाकर कोटीत्रयनिरूपक कल्लोलगत द्वितीय तरग

१९ तत्रैव

२० "सकल्पविकल्परूपत्व स्वरूपलक्षण कामजनकत्व कार्यलक्षण" सुबो ३।२६।२७

२१ द्रष्ट तत्रैव ३।२६।२८

२२ द्रष्ट प्रस्थानरत्नाकरीयप्रमाणपरि प्रथमकल्लो द्वितीयतर

२३ द्रष्ट सुबो ३।२६।२९

२४ तत्रैव

२५ तत्रैव

२६ द्रष्ट प्रस्था रत्ना प्रमा परि प्रथमकल्लो द्विती तर

२७ सुबो ३।२६।२९



कार्यकारणभावमीमांसा

(वाल्लभ वेदान्त तथा बारुक स्पिनोजाके मतका तुलनात्मक विमर्श)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका वेदान्तचिन्तन न तो उनका अपना कोई मौलिक चिन्तन है और न वैसा कोई दावा ही उन्होने कहीं किया है "अर्थोऽयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यै रामायणै सहितभारतपञ्चरात्रै अन्यैश्च शास्त्रवचनै सहतत्त्वसूत्रै निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव"[१] की उद्घोषणा करनेवालेसे ऐसे दावेकी अपेक्षा रखनेका औचित्य भी क्या हो सकता है! महाप्रभुका तो इस विषयमे सुस्पष्ट अभिप्राय यही है कि "वेदार्थब्रह्मणो वेदानुकूलविचार . किम् अत्र युक्तं? व्याख्यानम् इति, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ते"-"पुरुषार्थस्य शास्त्रार्थस्य वा स्वरूपं शास्त्रैकसमधिगम्यं न स्वबुद्धिपरिकल्पितम् अत स्वबुद्धया शास्त्रार्थं परिकल्प्य तत्र वेदं योजयन्तो महासाहसिका सद्भि उपेक्ष्या"[२]. वैसे इसके अलावा यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि श्रीशकराचार्यसे पूर्वकालीन कई एक वेदान्तव्याख्याताओकी मान्यताओके यत्र-तत्र मिलते उद्धरणोके अवलोकन करनेपर, नामश , ब्रह्मनन्दी भर्तृप्रपञ्च ब्रह्मदत्त आदि अनेक शुद्धाद्वैतवादी वेदान्तिओके विद्यमान होनेके सकेत मिलते ही है[३]

परन्तु प्रस्थानरत्नाकरकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीके ज्येष्ठ समकालिक बारुक स्पिनोजा (जन्म ई स २४ नव १६३४ एम्स्टर्डम्, मृत्यु २१ फर १६७७) का चिन्तन अपने पूर्ववर्ती विचारकोसे प्रभावित होनेपर भी, अर्थात् सत्कार्यवादी धारणाओसे विपरीत न होनेपर भी(!), किसी ग्रन्थके व्याख्यानतया प्रकट हुवा न हो कर उसकी अपनी विचारीति एव ज्ञानमीमासासम्बन्धी धारणाओंके आधारपर प्रकट हुवा चिन्तन है बारुक स्पिनोजा Rationalistic Monism तार्किकतावादी अद्वैतवादके प्रमुख चिन्तकोंमे से एक हुवे है बर्ट्रेड रसेल् अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विज्डम ऑफ वेस्ट'मे कहते है कि

स्पिनोजाका दर्शन पाश्चात्य दर्शनके श्रेष्ठतम स्मारकोमेसे एक है[४] इसे स्पिनोजासे पूर्वकालीन युनानी चिन्तको — थेल्स अनॅक्जीमेंदर अनॅक्जीमाईन पार्मेनाईड्स हॅराक्लीतस, इसी तरह, मध्यकालीन अन्य भी फीलो, प्लॉटिनस, जॉन स्काटस एरिजेना, ब्रूनो, तोमासो कॅम्पानॅला सदृश आधुनिक यूरोपिय दार्शनिकोंकी मान्यताओके अवलोकन करनेपर स्पष्टतया इसे देखा जा सकता है[५]

कार्य-कारणभावके बारेमे वाल्लभ वेदान्तकी धारणाओके मूलमे शुद्धाद्वैतवादी श्रौत प्राग्धारणा काम कर रही है द्वैत या अद्वैत के बारेमे किस सम्प्रदायका क्या दृष्टिकोण है इस आधारपर तत्तत् सम्प्रदायोको पहचाननेकी वेदान्तदर्शनोकी रूढि प्रचलित हुयी है अत वेदान्तके अन्यान्य सम्प्रदायोकी भाति ही वाल्लभ वेदान्तकी भी पहचान "जडजीवात्मक जगत् और ब्रह्म के बीच द्वैत है या अद्वैत है?" प्रश्नके समाधानरूप 'शुद्धाद्वैत'तया प्रचलित हुयी है यह महाप्रभुके बहोत बाद गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीके भी कुछ बाद ही प्रचलित हुयी है स्वय महाप्रभु अपने मतको 'ब्रह्मवाद' कहना पर्याप्त समझते थे महाप्रभुके कनिष्ठात्मज गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण 'साकारब्रह्मवाद' कहना बादमे 'शुद्धाद्वैत'नामाभिधान द्वारा वाल्लभ वेदान्तकी पहचान अधिक रूढ हो गयी इसका भी अपना कुछ औचित्य तो है ही अत कार्यकारणभावके विमर्शसे पहले इसे एक बार बुद्धिगत कर लेना उपयुक्त होगा तदनुसार अधोनिर्दिष्ट तुलनात्मक तालिकाके आधारपर इसे सरलतासे बुद्धिगत किया जा सकता है

(१)[१]'एकमेवाद्वितीय'+[२]'नेह नानास्ति किञ्चन'=शाङ्कर वेदान्त
पारमार्थिक अद्वैत + मायिक द्वैत = केवलाद्वैत

(२)'एकमेवाद्वितीय'+[३]'य सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् '=रामानुज वेदान्त
विशिष्ट-अद्वैत + विशेषण - विशेष्य - द्वैत - विशिष्टाद्वैत

(३) 'एकमेवाद्वितीय' + ४'ज्ञाज्ञौ द्वाजावीशानीशौ' = माध्व वेदान्त
औपचारिक अद्वैत + पारमार्थिक द्वैत = केवलद्वैत

(४) 'एकमेवाद्वितीय (+) तदैक्षत बहुस्या प्रजायेय' = वाल्लभ वेदान्त
स्वाभाविक अद्वैत (में) ऐच्छिक द्वैत = शुद्धाद्वैत
(१ छान्दो उप ६।२।१, २ बृह उप ४।४।१९, ३ बृह उप ३।७।१५,
४ श्वेता उप १।९)

यहा सावधानतया अवधारणीय कुछ तथ्य है सर्वप्रथम तो प्रत्यक्षागम्य या प्रत्यक्षविरुद्ध ऐसे अद्वैतके श्रौत प्रतिपादनमे प्रत्यक्षविरोधका परिहार केसे करना? एतदर्थ द्वैतके विवक्षित स्वरूपकी निरूपिका अन्यान्य घटक श्रुतिया योजित करनी पडती है हम देख सकते है कि इन्ही घटक श्रुतिओके आधारपर तत्तद् वेदान्तोकी मौलिक धारणाये प्रकट हुयी हे वाल्लभ वेदान्तकी, परन्तु, यह मौलिक धारणा कि ब्रह्मके स्वाभाविक अद्वैतमे जागतिक नाम-रूप-कर्मोके द्वैत, स्वय ब्रह्मकी सर्वभवनसामर्थ्य तथा उसके सत्यसकल्प के कारण प्रकट हुवे है, किसी अन्य घटक वचनकी अपेक्षा नहीं रखता स्वय ब्रह्माद्वेतकी प्रतिपादिका जो श्रुति है वही ऐच्छिक द्वैतके प्रतिपादनद्वारा प्रत्यक्षविरोधके परिहारसहित शुद्ध अद्वैतका प्रतिपादन करती है दूसरे इस इच्छया प्रकट हुवे द्वैतको इदमित्थभावेन परीसीमित न किया जाये तो वह द्वैत मायिक द्वैत भी हो सकता है, विशेषण-विशेष्यपर्यवसायि द्वैत भी, पारमार्थिक द्वैत भी यों अन्य भी अनेक रूपोमे उसे स्वीकारा जा सकता है अतएव उस परमतत्वके चार पहलु १अक्षरब्रह्म २परमात्मा=अन्तर्यामी ३भगवान्=पुरुषोत्तम ४श्रीकृष्ण क्रमश यथायथ १केवलाद्वैतवादी श्रौत माग, २विशिष्टाद्वैतवादी श्रौत माग, ३केवलद्वैतवादी श्रौत माग तथा ४स्वकृतवरणैकलभ्यताकी श्रौत पुष्टिभक्तिकी माग को भी पूर्ण करनेवाले है अतएव कुल मिला कर अन्यान्य दर्शनोकी भी मौलिक मार्गोको पूर्ण करनेकेलिये महाप्रभु कहते है

क यह प्रपञ्च न तो प्राकृत है, न परमाणुओंसे जन्य, मायिक भ्रमारोपरूप ही, न जीवात्माओंके पूर्वकृत कर्मोके निमित्तवशात् प्रकट हुवा ही; और, न पहले असत् होनेपर भी बादमें सद्रूपतया प्रकट हुवा है यह तो भगवान्का बनाया हुवा है अर्थात् परमकाष्ठापन्नवस्तु परब्रह्मकी कृतिसे प्रकट हुवा तदात्मक अर्थात् भगवद्रूप कार्य है

ख अक्षरब्रह्मके दो रूप होते हैं : एक रूपमें तो वह सब कुछ बना हुवा होता है और दूसरे रूपमें वह सबसे विलक्षण भी परब्रह्ममें जगदात्मना परिणत अक्षरब्रह्मके बारेमें तत्तद् वादिओंकी बहुविध धारणायें प्रकट हुयी है कि वह मायिक आभास है, त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी विकृति है, अनेक परमाणुओंके परस्पर जुड जानेसे उत्पन्न हुवा कार्य है, स्वत या जीवात्माओंके कर्मोके वश उत्पन्न-विनष्ट होती रहती एक आदि-अन्तहीन प्रक्रिया है, इत्यादि अनेक प्रकारकी धारणाये है श्रुतिका मत, परन्तु, यही है कि वह परब्रह्म ही सब कुछ बना है[१]

अतएव श्रौत वचनोके आधार लिये बिना विचारकोद्वारा स्वत उत्प्रेक्षित इन प्रकृति परमाणु माया अदृष्टरूप कर्म अभाव आदिके आत्यन्तिक निरास करने बजाय इनकी केवल अब्रह्मात्मिकी कारणताका ही निरसन वाल्लभ वेदान्तको अभिप्रेत है ब्रह्मके बहुधाभवनका, यथाश्रुत, प्रकार वाल्लभ वेदान्तको मान्य है, एतावता बहुविध दर्शनोद्वारा उत्प्रेक्षित अन्यान्य तत्त्वोकी आत्यन्तिक अस्वीकृति भी वाल्लभ वेदान्तको अभिप्रेत होगी ही ऐसे नही मान लेना चाहिये अतएव परब्रह्मकी स्वाभाविक सामर्थ्यके रूपमे माया जैसे मान्य है, उसी तरह सच्चिदानन्द परब्रह्मके धर्म या धाम रूपी अक्षरब्रह्म मे काल कर्म स्वभाव प्रकृति और पुरुष के अन्तर्गत न केवल काल कर्म और स्वभाव ही अपितु आनन्दाशके तिरोधानकी प्रक्रियावश पुरुष ओर चिदानन्दाशके तिरोधानकी

प्रक्रियावश प्रकृति भी साङ्ख्यप्रक्रियाकी तरह ही मान्य है. इसी तरह ब्रह्मका अणुसे भी अणुतर या परमाणुरूप होना भी वाल्लभ वेदान्तको स्वीकार्य है. सृष्टिके आरम्भमे पूर्वकल्पीया सृष्टिके अभुक्तशेष ब्रह्मात्मक कर्म भी नूतन सृष्टिमे तत्तद्रूप वैविध्यके निमित्त बनते है, यह वाल्लभ वेदान्तको मान्य है. इसी तरह प्रागभावादि-चतुष्टय मान्य न होनेपर भी सृष्टिको परमेश्वरकी आत्मनिर्मिति या कृति माननेके कारण, कार्य-कारणभावानुरोधी, सृष्टिका आविर्भाव या तिरोभाव भी स्वीकारा गया है. ये आविर्भाव-तिरोभाव ही तत्तद् दैशिक कालिक एवं स्वरूपात्मना हमारी परिच्छिन्न भावाभावानुभूतियोके निमित्त बनते है, ऐसी वाल्लभ वेदान्तकी धारणा है.

एतदर्थ शुद्धाद्वैतवादकी कार्य-कारणभाव सम्बन्धी धारणाओके मूलमे, जो कुल नौ श्रौत प्राग्धारणायें काम कर ही है, उनका श्रुत्युपन्यासपूर्वक परिगणन कर लेना अत्युपकारक होनेसे तदर्थ प्रवृत्त होना हम चाहेगे:

(१)ब्रह्मवाद :

श्रौत सन्दर्भ : (क)तं तु औपनिषद पुरुषं पृच्छामि (बृह.उप.३।९।२६), (ख)ब्रह्म ते ब्रवाणि (बृह उप.२।१।१), (ग)यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते... तद् ब्रह्म (तैत्ति.उप.३।१)(घ)सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्ति.उप.२।१), (ङ)किंस्विद् वन क उ स वृक्ष आस...? (ऋक्सहि.१०।८१-।४), ब्रह्म वन ब्रह्म स वृक्ष आस...! (तैत्ति.ब्राह्म.२।८।९।१-७)(च)सर्वं खलु इद ब्रह्म (छान्दो.उप.३।१४।१)

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभु त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वर, आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा इति श्रुत्यर्थमादाय साध्य सर्वै यथामति, अयमेव ब्रह्मवाद शिष्ट मोहाय कल्पितम् (त.दी नि.२।१८३-१८४)

(२)विरुद्धधर्माश्रयतावाद

श्रौतसन्दर्भ : (क)अणो अणीयान् महतो महीयान् (कठोप १।३।२०), (ख)यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम् (म ना उप १।५), (ग)बृहच्च तद् दिव्यम् अचिन्त्यरूप दूरात् सुदूरे तद् इह अन्तिके च (मुण्ड उप ३।१।७), (ग)यदिद किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत् सच्च त्यच्च अभवत् निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च निलयनञ्च अनिलयनञ्च विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत् (तैत्ति उप ३।६), (घ)द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैव अमूर्तञ्च मर्त्यञ्च अमृतञ्च स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च (छान्दो उप २।३।१), (ङ)ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद 'अह ब्रह्मास्मि' तस्मात् तत् सर्वम् अभवद् (बृह उप १।४।१०)

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष नहि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थ विचार कर्तुं शक्य ब्रह्म पुन यादृश वेदान्तेषु अवगत तादृशमेव मन्तव्यम् अणुमात्रान्यथाकल्पनेऽपि दोष स्यात् (ब्र सू भा १।१।१)

(३)अभिन्ननिमित्तोपादनकारणतावाद

श्रौतसन्दर्भ (क)यथा ऊर्णनाभि सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्याम् ओषधय सम्भवन्ति, यथा सत पुरुषात् केशलोमानि सम्भवन्ति तथा अक्षरात् सम्भवति इह विश्वम् (मुण्ड उप १।१।७-९), (ख) सत्वेव सौम्य इदमग्र आसीद् एकमेव अद्वितीय तद् ऐक्षत बहुस्या प्रजायेय इति (छान्दो उप ६।२।३) (ग)तद् आत्मान स्वयम् अकुरुत (तैत्ति उप २।७)

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष जगत समवायि स्यात् तदेव च निमित्तक कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित् सुख, यत्र

येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्याद् इद भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वर (त दी नि १।६८-६९)

(४)अविकृतस्वरूपपरिणामवाद

श्रौतसन्दर्भ : (क)वाचारम्भण 'विकारो' नामधेय 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम् (छान्दो उप ६।१।४), (ख)सर्व खलु इद ब्रह्म 'तज्जलान्' इति शान्त उपासीत (छान्दो उप ३।१४।१)

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : "तद् आत्मान स्वयम् अकुरुत" इति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात् तथापि ज्ञानार्थम् उपपत्तिम् आह 'परिणामाद्' इति, परिणमते कार्याकारेणेति अविकृतमेव सुवर्णं, सर्वाणि च तैजसानि वृद्धेश्च अलौकिकत्वाद् ब्रह्मकारणत्वएव घटते पूर्वस्य अन्यथाभावस्तु कार्यश्रुत्यनुरोधाद् अङ्गीकर्तव्य वक्ष्यतिच "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्" इति (ब्र सू भा १।४।२६)

(५)सत्कारणतावाद

श्रौतसन्दर्भ : (क)सन्मूलम् अन्विच्छ सन्मूला सौम्य! इमा प्रजा सदायतना सत्प्रतिष्ठा (छान्दो उप ६।८।४)

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : अय प्रपञ्चो नापि असत सत्तारूप (त दी नि प्र १।२३)

(६)सत्कार्यवाद

श्रौतसन्दर्भ : (क)सदेव सोम्य इदम् अग्र आसीद् एकमेव अद्वितीय कथम् असत सद् जायेत? (छान्दो उप ६।२।१-२)

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : "असद् वा इदम् अग्र आसीद्" इति श्रुत्या प्राग् उत्पत्ते कार्यस्य असत्त्व बोध्यते इति चेत्, न, अव्याकृतत्वेन धर्मान्तरेण तथा व्यपदेश कुतो? वाक्यशेषात्, "तद् आत्मानमेव स्वयम् अकुरुत" इति स्वस्यैव क्रियमाणत्वात्, 'आसीत्' पदप्रयोगात् च (ब्र सू भा २।१।१७)

(७)कार्य-कारणतादात्म्यवाद तथा अंशांशितादात्म्यवाद

श्रौतसन्दर्भ : (क)त्रय वा इद नाम रूप कर्म ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत् त्रय सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मो एक सन् एतत् त्रयम् (बृह उप १।६।३) (ख)स य एषो अणिमा ऐतदात्म्यम् इद सर्वम् तत् सत्यम् स आत्मा तत् त्वम् असि (छान्दो उप ६।९।४)

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : द्विविधा हि वेदान्ते सृष्टि भूतभौतिक सर्व ब्रह्मणएव विस्फुलिङ्गन्यायेन एका अपरा वियदादिक्रमेण, साच अनामरूपात्मन नामरूपत्वेन अभिव्यक्ति , सा जडस्यैव कार्यत्वात् तस्य जीवस्यतु अंशत्वेनैव न नामरूपसम्बन्ध अनित्ये(जडे) जनन नित्ये परिच्छिन्ने (जीवात्मनि) समागम , नित्यापरिच्छिन्नतनौ (भगवत्स्वरूपे) प्राकट्य् चेति सा(सृष्टि) त्रिधा (ब्र सू भा २।३।१), यदा अखण्डाद्वैतभान सुवर्णग्राहकवत् तत्त्वेनैव सर्वं गृह्णाति तदा अवान्तरविकल्पविषयिणी बुद्धि 'घट '-'पट ' इति सा बाध्यते, सर्वत्र ब्रह्मैवेति नतु स्वरूपतोऽपि घटपटादिपदार्थोऽपि धर्मी बाध्यते इति अर्थ (त दी नि प्र १।-९१)

---

(८)आविर्भाव-तिरोभाववाद

श्रौतसन्दर्भ : (क)तद्धेद तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तत् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत "असो नामायम्-इद रूपम्" इति (बृह उप १।४।७)

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिण सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामीति या हरे वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवत्यज , मृदादि भगवद्रूप घटाद्याकारसयुत मूलेच्छातस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तथा, तिरोभावस्तथैव

स्याद् रूपान्तरविभेदत· (त.दी.नि.२।१४१-१४२).

(९)लीलार्थसृष्टिवाद:
श्रौतसन्दर्भ : (क)स वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत् सह एतावान् आस. यथा स्त्रीपुमासौ सम्परिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधापातयत्. तत पतिश्च पत्नी च अभवताम् (बृह.उप.१।४।३).

शुद्धाद्वैतिनिष्कर्ष : 'लोकवत् लीला', नहि लीलाया किञ्चित् प्रयोजनम् अस्ति, लीलायाएव प्रयोजनत्वात्, ईश्वरत्वादेव न लीला पर्यनुयोक्तुं शक्या, सा 'लीला'. 'कैवल्यं' मोक्ष, तस्य लीलात्वेऽपि अन्यस्य तत्कीर्तने मोक्ष इति अर्थ, लीलैव केवला 'इति वा (ब्र.सू.भा.२।१।३३), नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यत (त.दी नि.१।१).

इस प्रक्रियानवकमे प्रत्येक पूर्वपूर्वकोटि उपनयोपम होती है तथा उत्तरोत्तरकोटि निगमनोपम. इस सन्दर्भमे यह अवधेय है कि यद्यपि बारुक स्पिनोजाका मत किसी शास्त्र, नामश बायबल, पर अवलम्बित न होनेपर भी उसके शब्दोका प्राभाण्य स्पिनोजाको मान्य है ही. न केवल इतना प्रत्युत शब्दप्रामाण्यवाद ओर तदनुसारी शास्त्रीय वचनोके व्याख्यानके आवश्यक नियम ओर रीति का प्रतिपादन करनेवाले *'थियोलॉजिको-पॉलिटिकल ट्रीटिज'* नामक ग्रन्थमे इस विषयकी गम्भीर तथा सुविशद मीमांसा उन्होने की है इस ग्रन्थकी भूमिकामे स्वय ग्रन्थकार कहते है:

> अपनी इस शास्त्रमीमांसामें मुझे ऐसा कुछ भी बायबलमें मिला नहीं कि हमारी समझके साथ जिसका मेल न खाता हो या जो उमसे विरुद्ध जाता हो, और जैसाकि

मैंने देखा कि भगवत्प्रेरिततया लेखकोंने ऐसा कोई भी उपदेश नहीं दिया है कि जो सरलतासे सभीके समझमें न पाये, साथ ही साथ उन्होने अपने उपदेशको ऐसी शैलीका वाना भी पहनाया है कि वे तर्कसगत लगनेके साथ-साथ जनमानसको परमेश्वरकी भक्तिकेलिये प्रेरित कर पाते है एतावता में पूर्णतया आश्वस्त हूं कि बायबल हमारी तार्किक बुद्धिको सर्वथा अपराधीन ही रखना चाहती है अत बायबलकी दर्शनशास्त्रके साथ न तो कोई समानता हो सकती है और न बायबलशास्त्रीय साक्षात्कारों और दर्शनशास्त्रीय धारणाओं के आधार ही कभी समान हो सकते है [१]

शास्त्रव्याख्याताओके प्रभेद कुछ इस प्रकारके प्राय दृष्टिगोचर होते हे

(१) व्याख्येयशास्त्रप्रामाण्यवादी
- क यथोपदिष्टग्राही ख यथोपदिष्टाग्राही
- ख-१ तर्काश्रितश्रद्धावादी
- ख-२ श्रद्धाश्रिततर्कवादी

(२) व्याख्येयशास्त्राप्रामाण्यवादी

इस वर्गीकरणके अनुसार यदि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको (१)/क वर्गान्तर्भूत माने तो बारुक स्पिनोजाको (१)/ख-१ वर्गान्तर्भूत स्वीकारा जा सकता है

बारुक स्पिनोजाके उल्लिखित ग्रन्थके साराशतया शास्त्रीय व्याख्याकारोके समक्ष विचारणीय प्रमुख समस्या इस तरहकी उपस्थित होती है

१ जिनके दिव्य साक्षात्कारमूलक वचनोको प्रमाणतया

मान्य किया जाता है उन मन्त्रदृष्टाओके ऋषित्व या तत्त्वदर्शीओके आप्तत्व के निकष क्या? क्या वैसा ऋषित्व या आप्तत्व उन्हीमे ही केवल सम्भव है अन्य भी उनके अनुगामी या अननुगामिओमे भी वह सम्भव हो सकता है?

२ उनके प्रत्येक वचन, अथवा, कैसे और कौनसे वचन शास्त्रतया मान्य रखने चाहिये और कैसे या कौनसे वचन नही?

३ उनके स्वयके ही निरूपण या उपदेश मे ही जब कभी परस्पर विसवाद प्रतीत होता हो तो—

क समग्र शास्त्रके तात्पर्यविपयीभूत अर्थके अनुरोधवश प्रकरणो वाक्यो एव पदो के तात्पर्यविपयीभूत अर्थोका निर्धारण करना चाहिये या पदो वाक्यो और प्रकरणो के अनुरोधवश समग्र शास्त्रके तात्पर्यविपयीभूत अर्थकी उट्टकना करनी चाहिये?

ख पदोके अभिहितार्थोके अनुरोधवश वाक्यार्थ-निर्धारण करना चाहिये या वाक्यार्थानुरोधवश पदोके अभिहित या गौण अर्थोको तात्पर्यविषयीभूत मानना चाहिये?

ग जहा एक ही पदके अनेक अर्थ प्रसिद्ध हो वहा किसी वाक्यविशेषमे प्रयुक्त कोई पद किस अर्थविशेपका वाचक है यह कैसे निर्धारित करना?

घ अस्पष्टार्थक पदोके तात्पर्यविपयीभूत अर्थोका निर्धारण कैसे करना?

ङ जिन पदोके अर्थ ही अप्रसिद्ध हो गये हो उनके रहते वाक्यार्थनिर्धारण कैसे करना?

४. प्रत्यक्ष या तर्क से बाधित अर्थका कही निरूपण मिलता हो तो वहां प्रामाण्यनिर्वाह कैसे करना ?

इस तरहके अनेकानेक मुद्दोकी सुविशद मीमांसा स्पिनोज़ाके उल्लिखित ग्रन्थमे की गयी है. इसका प्राचीन भारतीय व्याख्याशास्त्र या वाल्लभ वेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन एक स्वतन्त्र ग्रन्थकलेवरकी अपेक्षा रखता है. इस लघुकाय निबन्धकेलिये उस विस्तारमे तो प्रवेश अशक्य ही है.

१ फिरभी प्रथम मुद्देके बारेमें महाप्रभु और उनके अनुगामी प्रस्थानरत्नाकरकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी के विचारोंके आधारपर कुछ निष्कर्ष यो निकाले जा सकते है. यथा —

क. प्रत्यक्षानुमितिरूप लौकिक प्रमाणोंके लौकिकव्यवहारोपयोगी स्वत प्रामाण्यके आधारपर निगमनात्मिका युक्तिका अवलम्बन कर श्रुतिका इतरप्रमाणनिरपेक्षतया स्वत प्रामाण्य वाल्लभ वेदान्तमे स्वीकार्य है

ख. श्रुतितात्पर्यकी विविदिषादशामें श्रुत्यविरुद्धतया एव श्रुत्यर्थसन्देहवारकतया भगवद्गीता ब्रह्मसूत्र भागवतपुराण का भी वैसा ही प्रामाण्य स्वीकार्य है

ग श्रुत्यर्थके नि सन्दिग्धतया निर्धारित हो जानेपर सकल वेदाविरोधी शास्त्रोका प्रामाण्य स्वीकार्य है

घ. इन शास्त्रीय प्रमाणोंके प्रमेयके साक्षात्कारके बाद विद्वद्दशामे लौकिकालौकिक शब्दमात्रका प्रामाण्य स्वीकार्य है [१०]

इसके विपरीत यद्यपि स्पिनोज़ाके अनुसार ज्ञानके प्रभेद यो स्वीकारे गये है : [१] ऐतिह्यमूलक बोध, [२] अनालोचितानुभूतिमूलक बोध, [३] तार्किकालोचनमूलक बोध तथा [४] अन्त स्फूर्त तत्त्वबोध [११] इन प्रभेदोके

अन्तर्गत तृतीय एवं चतुर्थ प्रकारके बोधोसे अविरुद्ध शास्त्रवचनोका वे मुख्य प्रामाण्य स्वीकारते है अन्यथा गौणप्रामाण्य. फिरभी शास्त्रव्याख्यानरीतिका निरूपण करते समय वे यह भी सुस्पष्टतया स्वीकारते है —

> हमें इस बातकी विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि किसी शास्त्रवचनके अभिप्रायकी मीमांसा करते समय हमें अपने स्वाभाविक बोधकी धारणापर आधृत तर्कोके झोंकेमें नहीं खिंच जायें (पूर्वाग्रहका तो प्रश्न ही नहीं उठता) कि इस तरहके बोधलब्ध तथ्योंसे हम शास्त्रवचनके अभिप्रायको जोडने लग जायें, वह तो शास्त्रीय शब्दोंके मुख्यार्थके विमर्शद्वारा ही और शास्त्रेतर अन्य किसी भी आधारपर अनवलम्बित तर्कद्वारा ही उट्टंकित करना चाहिये. हम शास्त्रवचनके अर्थको अपने तर्क या अपनी पूर्वगृहीत धारणा के आदेशानुसार अनुकूल बनानेको तोडमरोड नहीं सकते बायबलका सम्पूर्ण बोध हमें बायबलके ही आधारपर उट्टंकित करना चाहिये[१२]

उल्लिखित १-४ ही मुद्दोंके बारेमे वाल्लभ वेदान्त (तुलनीय : पूर्वोदाहृत ब्र सू भा १।१।१-१।१।३) और स्पिनोज़ाके मत की तुलनात्मक विवेचना अतीव अभीष्ट होनेपर भी इसे यहीं उपसहृत कर कार्य-कारणभावकी मीमासार्थ अग्रसर होना आवश्यक होनेसे उसी दिशामे अब आगे बढना उपयुक्त होगा

(१)ब्रह्मवादसम्बन्धी धारणाकी तुलना

औपनिषद ब्रह्मका स्वरूप "एकमेवाद्वितीयम्" (छान्दो उप.६।२।१), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति उप २।१) तथा "स आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (तैत्ति उप.२।७) आदि वचनोंमे सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदरहित

सच्चिदानन्द(=सत्+चित्+आनन्द) रूप तथा इस जडजीवात्मिका सृष्टिके एकमात्र उपादान और कर्ता के के रूपमे प्रतिपादित हुवा है एक ही तत्त्व परब्रह्मत्वेन जगत्कर्तृतया पुरुषविध भी हे ओर वही अक्षरब्रह्मत्वेन जगदुपादानतया अपुरुषविध भी होता है यह अक्षरब्रह्म भी "पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णमेवावशिष्यते" (ईशा उप १) वचनके अनुसार विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी ऐसा स्वीकारनेमे उपस्थित होती तार्किक अनुपपत्तियोंके निराकरणार्थ किसी तार्किक प्रत्युपपत्तिकी अनावश्यकता भी स्वय महाप्रभु यो प्रकट करते है

> ब्रह्म व्यापक होनेपर भी प्रादेशमात्र भी हो सकता है और इसमें किसी तरहका विरोधाभास भी नहीं सोचना चाहिये क्योंकि ब्रह्मनिरूपणमे शास्त्रप्रमाणका अनुसरण करना चाहिये नकि युक्तिका युक्तिगम्या तो अब्रह्मविद्या होती है फिरभी विरोधाभासके उपशमनार्थ कोई वेदानुसारिणी युक्ति तो देनी चाहिये, वाक्यार्थमीमासार्थ प्रवृत्त हुवे होनेसे इस अपेक्षाके समाधानतया महाप्रभु कहते है कि सर्वप्रथम तो विरोधाभास सोचना ही नहीं चाहिये, शास्त्रीय प्रमेयके वस्तुस्वभावके विचारानुरोधवश क्योंकि सर्वत्र स्वभाव और प्रमिति से बढ़ कर कोई उपपत्ति हो ही नहीं सकती है"[१३]

इस वचनके विमर्श करनेपर महाप्रभुकेलिये व्याख्येय शास्त्रमे तर्कातीत उभयविधता उपलब्ध हे स्पिनोजाके लिये, परन्तु, प्रमाणतया व्याख्येयोमे न तो बायबलमे, न तार्किकालोचनमूलक बोधमे और न अन्त स्फूर्तबोधमूलक तर्कोमे ही ऐसी उभयविधताकी उपलब्धि शक्य होनेसे स्पिनोजाके गॉड को ब्रह्मतुल्य माना जा सकता है या नहीं ?

ऐसी विचिकित्सा तो स्वाभाविक है परन्तु इसके प्राथमिक समाधानतया

यह कहा जा सकता है कि वाल्लभ वेदान्तमेसे परब्रह्म या पुरुषोत्तम को निकाल दिया जाय तो वह सर्वथा स्पिनोज़ाका *गॉड* ही बन जायेगा, और, स्पिनोज़ाके *गॉड* मे औपनिषदिक पुरुषविध ब्रह्मको मिला दिया जाये तो वह वाल्लभ वेदान्ताभिमत ब्रह्म बन जायेगा फिरभी थोडी और गम्भीरताके साथ इन दोनो मतोको अभिमत मूलतत्त्वकी तुलना करनी चाहिये स्वय स्पिनोज़ाको जो *गॉड* का स्वरूप अभिमत है उसे वे इस तरह प्रस्तुत करते है—

> क *'गॉड'* पदसे ऐसा सत्य या तत्त्व अभिप्रेत है जो सर्वथा अपरिच्छिन्न हो, अर्थात् ऐसा पदार्थ कि जिसमें अपरिच्छिन्न गुणधर्म हों; और उनमेंके प्रत्येक गुणधर्म उसके मूलस्वरूपकी कालातीत नित्यता और अपरिच्छिन्न तत्त्वता को प्रकट करते हों
>
> ख अत यह सुस्पष्टतया सिद्ध होता है कि ब्रह्माण्डमें *'गॉड'* एकमेवाद्वितीय तत्त्व ही हो सकता है और वह ऐसा द्रव्य है कि वह सर्वथा अपरिच्छिन्न है
>
> इससे पुन यह भी सिद्ध हो जाता है कि जड और चेतना अंग्रेज़ीमे (extension and thought) या तो उसके गुणधर्म है या गुणधर्मके कार्य है
>
> ग जो भी कुछ होता है वह *'गॉड'* में ही होता है; और, बिना *'गॉड'* के न तो कुछ हो सकता है और न सोचा ही जा सकता है[१४]

इन परिभाषा निष्कर्ष और प्रतिज्ञा की तुलना महाप्रभुको अभिमत ब्रह्मके अपरिच्छिन्न सामर्थ्यकी परिभाषा "कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं समर्थ होने"से करनेपर, *गॉड* कर्तुं अपरिच्छिन्न सामर्थ्यवान् होनेपर भी अकर्तुं या अन्यथाकर्तुं समर्थ नहीं है क्योंकि स्पिनोज़ाके अनुसार,

स्वयं उनके ही शब्दोंमें—

> क. गॉड ने जिन वस्तुओंको जिस किसी रूपमें प्रकट किया उससे अन्यथा प्रकारसे या अन्यथा क्रमसे वे प्रकट हो ही नहीं सकती थी.
> ख. टिप्पणी -.कुछ लोग परमेश्वरके देहवान् मनोवान् तथा मनआवेगवान् होनेका प्रतिपादन करते हैं. ऐसे लोग तथ्यसे कितनी दूर भटक गये हैं, यह पूर्वनिरूपणके आधारपर समझा सकता है.[१५]

यह अपुरुषविध है. फिरभी द्रव्यगत अपरिच्छिन्न असख्य सामर्थ्यके वश ही तद्गुणधर्मरूपा या गुणधर्मपरिणामरूपा यह परिच्छिन्न देश-काल-वस्तुरूपा यह जडजीवात्मिका सृष्टि जब प्रकट हुयी है, तो परिच्छिन्नता ओर अपरिच्छिन्नता रूपी दोनो विरुद्ध धर्मोंका आश्रय तो उसे स्वीकारना ही पड़ेगा. फिर परस्परविरुद्ध पुरुषविध और अपुरुषविध उभयविधतया उसे स्वीकारनेमे स्पिनोज़ाको अन्त स्फूर्त तत्त्वबोधाश्रित तर्कसे विरुद्ध क्यो लगता था! अस्तु

(२)विरुद्धधर्माश्रयतावादसम्बन्धी तुलना.

ब्रह्मके स्वरूपके बारेमे अनेक प्रकार सोचे जा सकते है यथा· [१]निर्गुण-निराकार [२]सगुण-निराकार [३]सगुण-साकार [४]निर्गुण-साकार. बायबलके पूर्वखण्डमे सगुण-निराकारकी धारणा प्रबल थी परन्तु उत्तरखण्डमे, रोमन केथोलिक देवशास्त्रकी प्रवृत्ति उसे सगुण-साकारतया निरूपित करती सी प्रतीत होती है

वाल्लभ वेदान्तमे "उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्" (ब्र.सू ३।२।२-७)न्यायसे औपनिषद् ब्रह्मको पुरुषविध और अपुरुषविध यो उभयविधतया मान्य रखा गया है·

ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप, व्यापक, अव्यय, सर्वशक्ति, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, प्राकृत गुणोंसे अपने मूलरूपमें वर्जित, सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैतवर्जित, सत्यादि सहस्रो सहज गुणोंमे सदा भरपूर, वस्तुमात्रका आधार, मायाको वशमें रखनेवाला, उत्तम आनन्दाकार, प्रापञ्चिक सभी पदार्थोसे विलक्षण, जगत्का समवायी अर्थात् उपादान कारण भी और निमित्त कारण भी वही होता है वह स्वयके सुखसे कभी आत्मरमण करता है तो कभी आत्मनिर्मित प्रपञ्चमें भी [१६]

हम देख गये कि इस महाप्रभुप्रदत्त ब्रह्मनिरूपणमे जो भी पुरुषविधता प्रकट करनेवाले गुणधर्म है वे स्पिनोजाको मान्य नही होगे परन्तु अवशिष्ट गुणधर्मोको स्पिनोजा भी पूर्णहृदयसे स्वीकार करना चाहेगे

(३)अभिन्ननिमित्तोपादनकारणतावादसम्बन्धी तुलना

गॉड को अभिन्ननिमित्तोपादानतया मान्यता स्वय स्पिनोजाके विधानोंके आधारपर भी समझमे आ जाती है

क *गॉड* के अलावा अन्य कोई भी पदार्थ न तो हो सकता है और न सोचा ही जा सकता है ख *गॉड* एकमेव अद्वितीय होता है, क्योंकि ब्रह्माण्डमें द्रव्य एकाधिक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि जगत्कारणतया अभिमत जो भी द्रव्य होगा उसका सर्वथा(देशत कालत और स्वरूपत प्रस्तुत अनुवादकद्वारा योजित) अपरिच्छिन्न होना अनिवार्य है ग इससे यह भी सिद्ध होता है कि जड़ और चेतना या तो *गॉड* के गुणधर्म होते है या गुणधर्मके कार्य घ अतएव यह भी सिद्ध हो जाता है कि बुद्धिगम्य जो कुछ अस्तित्ववान् वस्तु हैं उनका निमित्त कारण भी *गॉड*

ही है. ङ. गॉड अपने स्वभावके ही अनुरोधवश किसा क्रियाको करता है, स्वेतर किसी भी वस्तुके द्वारा नियन्त्रित या बाधित हो कर नहीं, च. क्योंकि उससे पृथक् या बाह्य ऐसी किसी वस्तुका अस्तित्व ही सम्भव नहीं, जो उसके कर्तृत्वकी उपाधि या नियामक बन पाये. अतः जो कुछ करता है वह अपने स्वभावके अनुरोधवश ही. छ. अतः यह सिद्ध हो जाता है कि गॉड के स्वभावसे भिन्न ऐसे किसी स्वेतर आभ्यन्तर या बाह्य कारणका अस्तित्व ही नहीं है, जो उसे किसी कर्मको करनेकेलिये प्रेरित कर पाये. ज. गॉड की कार्यजननाकूत कृतिक्षमता कार्यवस्तुओंको केवल अस्तित्व प्रदानकी ही क्षमता नहीं अपितु कार्यवस्तुको उसके तात्त्विकस्वरूपको प्रदान करनेकी भी क्षमता है. क्योंकि यदि ऐसा नहीं स्वीकारा जाता तो उत्पन्न कार्योका तात्त्विक स्वरूप गॉड के तात्त्विक स्वरूपके बिना भी सिद्ध होने लगेगा तब तो द्रव्यद्वैतापत्ति उठ खडी होगी"*.

प्रस्थानरत्नाकरमें वाल्लभ वेदान्ताभिमत उपादान कारणके प्रभेद एवं उनकी परिभाषा गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीने इस तरह दिखलायी है :

कारणके दो प्रभेद होते हैं : समवायी और निमित्त. जहां समवायसम्बन्धसे कार्य उत्पन्न होता हो उसे 'समवायी कारण' कहा जाता है. 'समवाय' और 'तादात्म्य' परस्पर पर्यायवाची पद हैं. उपादान दो प्रकारके होते हैं : क. परिणाम्युपादान ख. विवर्तोपादान. स्वसमानसत्ताक कार्याकारेण जो आविर्भूत होता हो उसे परिणाम्युपादान समझना चाहिये. क्योंकि उपादानसमसत्ताक अन्यथाभाव परिणाम होता है. यह अन्यथाभाव भी पुनः दो तरहसे

सम्भव है: क/१.अविकृततया और क/२.विकृततया. प्रथमके उदाहरण सुवर्णनिर्मित आभूषण हैं. द्वितीयके उदाहरण मृत्तिकासे बने घट-आदि होते हैं उपादानसे विषमसत्ताक अन्यथाभाव 'विवर्त' कहलाता है, उदाहरणतया शुक्तिप्रत्यक्ष होनेपर बुद्धिवृत्तिका शुक्त्याकारात्मना प्रकट होनेके बजाय रजताकारेण परिणत हो जाना. समवायिकारणसे भिन्न जो भी कारण हों वे निमित्तकारण होते है उदाहरणतया घडेको बनानेवाला कुम्हार और दंडा चक्का आदि [९८]

इस प्रतिपादनके साथ तुलना करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्पिनोजा गॉड को न केवल परिणाम्युपादान कारण अपितु निमित्त कारण भी स्वीकारते है

यह तो भारतीय दर्शनके इतिहासविदोको अनवगत नही है कि अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद इस देशमे अनेक प्रकारभेदोसे प्रस्तुत होता रहा है उनमेसे कौनसे प्रकारका अभिन्ननिमित्तोपादानतावाद स्पिनोजाको अभिप्रेत होगा इसके निर्धारणार्थ उन प्रकारभेदोपर एक सरसरी निगाह फेर लेना अच्छी बात होगी

सर्वप्रथम तो स्वय शाङ्कर दर्शनके ही 'सिद्धान्तलेशसग्रह' नामक ग्रन्थमे एतद्विपयक दस-ग्यारह एकदेशिमत सकलित किये गये है

कोई कहता है कि शुद्धब्रह्म उपादान बनता है तो अन्यके अनुसार मायोपहित कुछ एकदेशी शुद्धब्रह्मके बजाय ईश्वराश्रित मायाका परिणाम माननेवाले वियदादि पाञ्चभौतिक जगत्का ईश्वरको विवर्तोपादान और ईश्वराश्रितमायाको अन्त करणादिका परिणाम्युपादान मानते है इनके पुन एकदेशी जीवाश्रित अविद्याका परिणाम अन्त करणादिको स्वीकारते

हैं. कुछ अन्य अन्तःकरणादिका उपादान जीवको ही मानते हैं. दूसरे कुछ समग्र व्यावहारिक प्रपञ्चका उपादान ब्रह्मको तथा प्रातिभासिक पदार्थोंका उपादान जीवको मानते हैं. अन्य विचारकोंका कहना है कि ईश्वरके सहित समग्र द्वैतप्रपञ्चका उपादान जीव ही होता है. शुद्धब्रह्म स्वयं तो कार्यकारणभावातीत होनेसे उपादान हो नहीं पाता परन्तु मायाके साथ मिल कर उपादान बन पाता है. अन्य विचारकोंका कहना है कि ब्रह्म उपादान होता है और माया द्वारकारण बनती है. जीवाश्रित अविद्याविषयीभूत ब्रह्म जगत्का उपादान बनता है ऐसा श्रीवाचस्पति मिश्रका अभिप्राय है.[२२]

केवलाद्वैतवादिओंके इन सभी प्रकारोंमें मिथ्याप्रपञ्चके उपादान कारण मिथ्या ही माने गया है—चाहे वह माया हो, या अविद्या, या मायोपहितब्रह्म, या अविद्योपहित जीवचैतन्य या मायिक परमेश्वर=शबलब्रह्म — अर्थात् ये सभी अपारमार्थिक ही होते हैं. अत ऐसी किसी भी धारणासे स्पिनोजाके मतकी संगति तो कदापि बेठ नही पायेगी किन्हीं केवलाद्वैती एकदेशिओंके मतमें यदि पारमार्थिक ब्रह्मको उपादानतया स्वीकारा भी गया है तो वह विवर्तोपादानतया ही.

जेसे स्पिनोजा जड़-चेतनात्मिका सृष्टिको *गॉड* के गुणधर्मोका परिणाम मानता हे, वेसे ही श्रीभास्कराचार्य भी औपाधिकद्वैताद्वैतवादी दृष्टिकोण अपना कर जगत्को ब्रह्मकी शक्तिका परिणाम मानते है; तथा, शक्तिमान् ओर शक्ति के बीच स्वाभाविक भेदाभेद स्वीकारते हैं. सम्भव है कि श्रीभास्कराचार्यका अभिप्राय शक्ति और शक्तिमान् के बीच स्वाभाविक भेदाभेद परन्तु शक्तिपरिणामरूप जगत् और शक्तिमान् ब्रह्म के बीच ओपाधिक भेदाभेद को मान्य करनेमे रहा होगा. श्रीभास्कराचार्यके अनुसार अग्नि और उसकी दाहिका प्रकाशिका आदि अनेक शक्तिओंका अग्निके साथ न तो आत्यन्तिक भेद होता है और न आत्यन्तिक अभेद ही. वे कहते है: "अप्रच्युतस्वभावस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः परिणामो यथा

तन्तुनाभस्य पटतन्तुवद्"[20] यह भास्करवचन अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावादकी गवाही तो अवश्य देता है फिरभी स्पिनोज़ाके मतके साथ इसका तालमेल बैठता नहीं लगता क्योंकि उसके अनुसार "*गॉड* के स्वभावसे भिन्न किसी स्वेतर आभ्यन्तर या बाह्य कारणका अस्तित्व ही नहीं है, जो उसे किसी कर्मको करनेकेलिये प्रेरित कर पाये" इस पूर्वोद्धृत स्पिनोज़ाके अभिप्रायके विमर्श करनेपर, विशेषतया तादात्म्यरूप अभेदके जगह भेदाभेद स्वीकारनेके कारण श्रीभास्कराभिमत ब्रह्मशक्ति ब्रह्मेतर आभ्यन्तर उपाधिवश कार्य करती सी प्रतीत होती है और स्पिनोजाको वह कितनी मान्य हो पायेगी यह कहना मुश्किल लगता है, क्योंकि स्पिनोजा स्पष्टतया यह निरूपण करते है कि *गॉड* की सामर्थ्य या शक्ति का *गॉड* के स्वरूपके साथ सर्वथा तादात्म्य होता है *गॉड* के स्वरूपमात्रके अनुरोधवश यह सिद्ध होता है कि वह स्वयम्भू है और कार्यमात्रका कारणभूत है अत उसकी वह शक्ति कि जिससे वह और सकल वस्तु विद्यमान रहती हैं और तत्तद् अर्थक्रियाकारितामे सक्षम होती है, उस शक्तिका *गॉड* के स्वरूपके साथ तादात्म्य होना चाहिये"[21] अत श्रीभास्कराचार्यके मतमे जब तक इदमित्थभावेन "भेदाभेद=तादात्म्य" का समीकरण मान्यतया निर्धारित नही हो जाता, तब तक कुछ भी विधान करना एक वैचारिक धाधली होगी यह तादात्म्यरूप भेदाभेद भी पुन उसी अर्थमे होना चाहिये कि ब्रह्मरूप द्रव्याभेदमे नाम-रूप-कर्मके भेद जो प्रकट हुवे है वे द्रव्याभेदको निभाते हुवे ही प्रकट होते है

इसी तरह भास्करमतमे निश्चयेन ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होता ही है परन्तु इस निरूपणके विरुद्ध भास्करमतालोचकोद्वारा विकल्पोका एक जटिल जाल बुना गया है यह द्वैतघटक उपाधि ब्रह्मस्वरूपात्मिका होती है या अब्रह्मात्मिका? यदि ब्रह्मात्मिका तो भेद सिद्ध नही होगा और यदि अब्रह्मात्मिका तो अभेद सिद्ध नही हो पायेगा ऐसे विकल्पजालसे श्रीभास्कराचार्यको छुडानेवाले कोई उत्तराधिकारी व्याख्याकार

आगे नही आये अत श्रीभास्कराचार्यका निष्कृष्ट अभिप्राय जान पाना दुष्कर प्रतीत होता है स्वय महाप्रभु भी भास्करीय प्रक्रियाके साथ अपनी असहमति जताते हुवे कहते ही है—

> कार्यकारणके बीच स्वाभाविक भेदाभेदके निराकरणार्थ ही "वाचारम्भण 'विकारो' नामधेय 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्" श्रुतिमें मृत्पिण्ड आदिके उदाहरण दिये गये हैं एतावता सिद्ध होता है कि एकत्र ज्ञात होनेपर ब्रह्म सर्वत्र अभिज्ञात हो जाता है इसे न तो सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिमें खपाया जा सकता है और न कार्यको अलीक मान कर ही, क्योंकि कार्योकी कारणत्वेन सत्ता यहा इस वचनमें विवक्षित है नकि कारणभिन्नत्वेन [२१]

अतएव "कारण ही केवल सत्य होता है या कार्य भी" इस बारेमे "वाचारम्भण 'विकारो' नामधेय 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्"[२२] वचनमे किसी तरहकी विप्रतिपत्तिकी कोई सम्भावना ही दृष्टिगोचर नही होती क्योकि यदि कारणरूपा केवल मृत्तिकाका ही सत्यत्व यहा अभिप्रेत होता तो वचन "मृत्तिकेत्येव सत्य"के बजाय "मृत्तिकैव सत्या" होना चाहिये था

'इति'शव्द हेतु प्रकार स्वरूप समाप्ति विवक्षाऽनियम शब्दप्रादुर्भाव एवमर्थ प्रकर्ष व्यवस्था प्रकृति वक्ष्यमाणपरामर्श समुच्चय आश्चर्य निदर्शन अवधारण प्रत्यक्ष मान प्रकाश आदि अर्थोमे प्रयुक्त होता है इनमेसे मृत्तिकात्व न तो सत्यत्वका हेतु, न प्रकार, प्रातिपदिकार्थ ही हो सकता है, क्योकि तब तो द्वैतापत्ति होगी वाक्यार्थस्वरूप समाप्ति विवक्षाऽनियम शब्दप्रादुर्भाव प्रकर्ष व्यवस्था वक्ष्यमाणपरामर्श समुच्चय आश्चर्य प्रत्यक्ष मान और प्रकाश अर्थ तो अप्रासगिक ही है अत शब्दस्वरूप एवमर्थ और निदर्शन ये तीन ही अर्थ बच जाते है

इनके उदाहरण क्रमश यो प्रसिद्ध है १ "'कृष्ण' इति मङ्गल नाम" २ "क्रमाद् अमु नारद इति अबोधि स" ३ "आपो 'नारा' इति प्रोक्ता" इनमे प्रथम और तृतीय प्रकारोके अनुसार तो 'मृत्तिका'पदसे 'इति'पद जुड़ेगा नकि मृत्तिकारूप पदार्थके साथ द्वितीय प्रकारके सन्दर्भमे 'सत्य'पदके साथ समानलिङ्गी 'नामधेय'पद जब वाक्योपात्ततया परामृष्ट हो सकता है तब असमानलिङ्गी मृत्तिकारूप अर्थसे जुड़ा हुवा माननेका कोई औचित्य नही रह जाता है

इसी तरह यदि विकारोका मिथ्यात्व ही अभिप्रेत होता तो उदाहरण रज्जुसर्प शुक्तिरजत या स्वप्न दिये जाने चाहिये थे उदाहरण तो विवर्तोपादानके बजाय परिणाम्युपादानके ही श्रुतिमे दिये गये है इससे श्रुत्यभिप्रायका कुछ विशेष सकेत मिलता ही है

यहा एक शका यह उठ सकती है कि लोहमणि-लोह और नखनिकृन्तन-कार्ष्णायस तो अविकृतपरिणामवादी उदाहरण है परन्तु मृत्पिण्ड-मृत्तिका तो, स्वय प्र र स्वीकृतिवश भी, विकृतपरिणामवादी उदाहरण है श्रुति परन्तु विकृतपरिणामवादानुसारी उदाहरणके बलपर भी कार्य-कारणमे जब तादात्म्यका प्रतिपादन कर रही हो तब अविकृतपरिणामवादानुसारी कार्य-कारणभावमे तो तादात्म्यके विद्यमान होनेके बारेमे किसी तरहकी शकाका कोई अवकाश ही नहीं रह जाता है अतएव घटादि कार्योदाहरणोका सच्चा नाम 'मृत्तिका'आदि होता है 'मृद्विकार'आदि नाम सच्चे नही होते क्योकि मृद्-घटके बीच तादात्म्यघटित भेदके बजाय असत्कार्यवादकी धारणाओका अनुसरण कर अन्योन्याभावरूप भेद यदि स्वीकारा जाता हो ऐसी स्थितिमे 'मृद्विकार'आदि नाम मिथ्या अर्थात् अर्थहीन सिद्ध होगे, मृत्तिकासे पृथक् घटके सिद्ध न होनेके कारण

यो वास्तविक नामके निरूपणद्वारा कार्यकारणके बीच द्वैत, द्वैतात्यन्ताभाव और द्वैताद्वैत तीनोके ही निराकरणपूर्वक "ऐतदात्म्यम् इद सर्व स

आत्मा तत् त्वम् असि"[२४] श्रुत्युक्त ब्रह्मतादात्म्य या ब्रह्मैतदात्म्य रूप अभेद ही 'इदं'पदाभिहित जड़सृष्टि और 'त्वं'पदाभिहित जीवसृष्टि का विवक्षित है. तदनुसार भास्करमतीया शक्ति या उपाधि ब्रह्मस्वरूपान्तर्भूत न हो तो वह स्वरूपेण भेदाभेदात्मना अवस्थित आभ्यन्तरपदार्थ होनेसे स्पिनोजाके मतके साथ औपाधिकद्वैताद्वैत वेदान्तकी सङ्गतिमे वह व्यवधान बन जायेगी

प्रत्यभिज्ञादर्शन तो सर्वथा शुद्धाद्वैतवादी ही शैवचिन्तन था. अतएव राजानक श्रीरामकवि (वि.सं.१००६) तथा महामाहेश्वर राजानक श्रीअभिनवगुप्ताचार्य (वि.सं.११२४), जो महाप्रभुसे भी पाचसौ-छस्सौ वर्षपूर्व हुवे, उनकी भगवद्गीताकी 'सर्वतोभद्रा' तथा 'गीतार्थसंग्रह' नामिका व्याख्याओमे सुस्पष्टतया अभिन्ननिमित्तोपादानता प्रतिपादित करते हुवे शिवकी परमशक्तिको पारमार्थिकी तथा शिवसे अपृथक्तया मान्य रखते है[२५]. अत उनके मतकी सगति तो स्पिनोजाके मतसे वाल्लभ वेदान्तकी तरह ही सर्वथा सुनिरूप्य हो जाती है

कर्णाटकके विशेषाद्वैतवादी श्रीपतिभगवत्पादाचार्य स्वयको श्रीभास्करमतानुगामी मानते है[२६]. वैसे इनके भाष्यमे उद्धृत अगस्त्यमुनिकृत ब्रह्मसूत्रवृत्ति दुर्वासास्मृति स्कान्दपुराण आदि अनेक ग्रन्थोके जो उद्धरण उपलब्ध होते है, वे महाप्रभुके लेखनमे भी वैष्णव पदावलीके साथ अविकल ज्योंके त्यो प्रयुक्त हुवे है अतएव इनके निरूपणका वाल्लभ वेदान्तसे अतिशय सामीप्य भी निगाहोमे उड कर आनेवाला तो एक तथ्य तो है ही ये भी अपने-आपको कण्ठत अभिन्ननिमित्तोपादानतावादी बताते है[२७]. फिरभी जिस अशमे विशेषाद्वैत ओर शुद्धाद्वैत वेदान्तोके चिन्तनमे प्रभेद है, वह इनके ही शब्दोमे देख लेना उचित होगा :

क. परमशिवशक्ति अपनी संकुचितावस्थामें कारण होती है तथा परमशिवशक्तिकी प्रसारितावस्था कार्य है अत. भेद होनेपर भी अभेद उपपन्न हो जाता है. ख. सृष्टिकालमें

भेद होता है प्रलयकालमें अभेद होता है. ग. जैसे लोहा पत्थर काठ तरु गुल्म आदि अचेतनतया सजातीय पदार्थोमें परस्पर भेद स्वभावसिद्ध होता है तद्वत् जीव और ईश्वर के बीच भी चेतनतया साजात्य होनेपर भी स्वाभाविक भेद होता है जैसे हीरा लसुनिया गोमेदक माणिक्य आदि रत्नजातीय होते हैं और उनसे भिन्न स्वर्ण रजत आदि धातुजातीय होते हैं. इस तरहका भेद भी जीव और ईश्वर के बीच भी होता ही है. घ. मेरुपर्वतपर पहुंच जानेपर कौआ भी जैसे सुनहरा बन जाता है तद्वत् अपनी भक्तिसे शिवको पा लेनेवाला जीव भी शिव बन जाता है.[२८]

श्रीपतिभगवत्पादाचार्य उपाधिकी समस्यासे अछूते बचनेकेलिये शिवशक्तिको उपाधिके रूपमे प्रतिपादित नहीं करना चाहते हे फिरभी अपने-आपको स्वाभाविकद्वैताद्वैतवादी मानते ही है गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीकी विवेचनाके आधारपर विमर्श करनेपर, ये विकृतपरिणामवादका अनुसरण करते हुवे अभिन्ननिमित्तोपादानता स्वीकारते हे, ऐसा कहा जा सकता है इनके मतमे जगदुपादानकारणभूत शिवके विकारतया जडजीवात्मक जगद् उत्पन्न होता हे और शैवसाधनाके द्वारा ही वह पुन शिवस्वरूपात्मना अवस्थित हो पाता है अत यहा भी स्पिनोज़ाके साथ सहमति खोज पाना शक्य नही है

श्रीविज्ञान भिक्षु तो आकाशवत् आधारकारणताकी सर्वथा नूतन धारणाके पुरस्कर्ता होनेके कारण उनके मतके साथ तो सगतिका विचार ही अप्रासगिक होगा

(४)अविकृतस्वरूपपरिणामवाद

इस तरह अभिन्ननिमित्तोपादानताके अन्तर्गत विकृतपरिणाम और अविकृतपरिणाम की विभिन्न धारणाओके सूक्ष्म विवेकवश स्पिनोजाके

चिन्तनमे अविकृतपरिणामकी प्रक्रियाका अवलोकन अब क्रमप्राप्त होता है तदर्थ पुन उन्हींके शब्दोमे

> क गॉड सभी वस्तुओंका वस्त्वन्तर्निहित कारण होता है, वह परिवर्तनशील (अर्थात् कार्योत्पत्तिप्रक्रियामें नष्ट हो जानेवाला) कारण नहीं क्योकि सभी कुछ जो अस्तित्ववान् हैं, वे गॉड में ही हैं और गॉड के प्रत्ययान्तर्भूत हो कर ही प्रत्यायित हो पाते है क्योंकि जो कुछ गॉड से अन्य है वह उसीमे विद्यमान रहता है क्योंकि गॉड के अलावा अन्य तो कोई पदार्थ है ही नहीं अत उससे बहिर्भूत भी कुछ हो नहीं सकता है ख गॉड और उसके सभी गुणधर्म शाश्वत होते है ग गॉड की सत्ता और स्वरूप परस्परात्मक होते हैं घ एतावता यह सिद्ध होता है कि गॉड और उसके गुणधर्म अपरिवर्तनशील या अविकारी होते है [११]

इससे यह सिद्ध होता हे कि जगदात्मना परिणत होनेपर भी न तो स्वरूपाशमे और न अपने गुणधर्मांश गॉड के स्वरूपमे किसी तरहकी तत्वान्तरता प्रकट होती है अत वाल्लभ वेदान्त जिसे 'अविकृतपरिणाम'तया परिभाषित करना चाहता है, वह प्रक्रिया स्पिनोज़ाको भी मान्य होनी ही चाहिये

शुद्धाद्वैतवादकेलिये प्राणभूत इस अविकृतपरिणामवादकी धारणाका प्राचीन उल्लेख व्याकरणमहाभाष्यमे भी इन समर्थ शब्दोमे उपलब्ध होता है

> तथा सुवर्णं कयाचिद् आकृत्या युक्त पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिम् उपमृद्य रुचका क्रियन्ते, रुचकाकृतिम् उपमृद्य

स्वस्तिका. क्रियन्ते. पुनः आवृत्त· सुवर्णपिण्ड पुन. अपरया आकृत्या युक्त ... आकृति. अन्या च अन्या भवति द्रव्यं पुन तदेव. आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेव अवशिष्यते... अथवा न इदमेव नित्यलक्षणं — "ध्रुवं कूटस्थं अविचाल्यनपायोजना-विकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्यययोगि यत् तत् नित्यम्". तदपि नित्यं यस्मिन् तत्त्वं न विहन्यते. किं पुन तत्त्वं? तद्भाव. तत्त्वम् आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते"[३०]

अत सिद्ध होता हे कि अविकृतपरिणामवादी विचारधारा महाप्रभुसे बहोत पहले भी भारतवर्षमे प्रचलित थी ही.

[क]द्रव्यस्वरूपपरिणाम अथवा [क]द्रव्यस्वरूपसे अपृथक्सिद्ध किसी [ख]द्रव्यान्तरका [ग]द्रव्यान्तरत्वेन या धर्म्यन्तरत्वेन परिणाम, गुणान्तराश्रयत्वेन या धर्मान्तराश्रयत्वेन परिणाम, आकृत्यन्तराश्रयत्वेन परिणाम, अर्थक्रियान्तराश्रय-त्वेन परिणाम यो परिणामवादके भी अवान्तरप्रभेद तो कई सम्भव है ही परिणामवादके विमर्शमे इन सूक्ष्मताओको दृष्टिसे ओझल नही देना चाहिये वाल्लभ वेदान्तमे [क]द्रव्यस्वरूपपरिणाम अभिमत है और तदविसवादितया ही गुणान्तराश्रयत्वेन या धर्मान्तराश्रयत्वेन परिणाम, आकृत्यन्तराश्रयत्वेन परिणाम, अर्थक्रियान्तराश्रयत्वेन परिणाम अभिमत होते है [क]द्रव्यस्वरूपसे अपृथक्सिद्ध किसी [ख]द्रव्यान्तरका [ग]द्रव्यान्तरत्वेन या धर्म्यन्तरत्वेन परिणाम वाल्लभ वेदान्तकी कथा नही अस्तु

इस ऐसे अविकृतपरिणामवादको यूरोपीय दर्शनके अन्तर्गत हम स्पिनोजाके चिन्तनमे सुस्पष्टतया पहचान पाते है, यह हमने देखा

(५)सत्कारणतावाद

असत्कारणवादका निराकरण स्वय ब्रह्मसूत्रके द्वितीयाध्याय द्वितीयपादके २६-२७वे सूत्रोमे उपलब्ध होता है असत्कारणतावादमे प्रमुख आपत्ति

वहा यही दिखलायी गयी है कि असत्कारणसे कार्योत्पत्ति स्वीकारनेपर शशशृगसे भी कुछ पैदा होता होना स्वीकारनेमे क्या बाधा रह जायेगी? क्योकि अभावसे भावोत्पत्ति स्वीकारनेपर, जो भावपदार्थ कार्यजननार्थ उदासीन हो, उससे भी कार्य उत्पन्न होना चाहिये फिर तो कृष्यादिरूप किसी कार्यकी उत्पत्तिकेलिये उसके बीजादिरूप उपादानकारण और कृषीवल-हल-जलादिरूप कर्ता उपकरण या निमित्त कारणो की भी अपेक्षा रह नही जानी चाहिये[३१]. कारणसामग्रीके कार्योत्पत्तिक्षणमे विद्यमान रहनेपर पुन कार्योत्पत्तिकी आपत्ति तो कार्योत्पत्तिके बाद भी कार्यसामग्र्यभावके अविशेषेण अनुवर्तमान रहनेके कारण ही असत्कारणवादमे भी असमाधेय ही है अत कार्योत्पत्तिसे अव्यवहितपूर्वक्षणमे कारणसामग्रीकी विशेष विद्यमानताके आधारपर ही समाधान खोजना उचित होता है इस सन्दर्भमे स्पिनोजाके विधानोका विमर्श अब क्रमप्राप्त होता है

> क द्रव्य स्वभावत अपने परिणामोंसे पूर्ववर्ती होता है ख प्रत्येक वस्तु जिसका अस्तित्व हो वह या तो स्ववृत्ति होती है या परवृत्ति द्रव्य या उसके परिणामोंके अलावा और कुछ अस्तित्ववान् नहीं हो सकते ग एक द्रव्यसे द्रव्यान्तर उत्पन्न हो नहीं सकता अत ब्रह्माण्डमें दो द्रव्योंका होना सम्भव ही नहीं है घ द्रव्य निज अस्तित्वमें आत्मनिर्भर होता है जबकि परिणाम निज अस्तित्वके हेतु अपनेसे भिन्न किसीपर निर्भर होता है अत उसका प्रत्यय भी अपने आश्रयीभूत द्रव्यके प्रत्ययपर निर्भर होता है[३२]

इन विधानोका अवलोकन करनेसे स्पिनोजाके सत्कारणवादी होनेमे किसी तरहके सशयको अवकाश नहीं रह जाता है

(६)सत्कार्यवाद

ब्रह्मसूत्राणुभाष्य द्वितीयाध्यायके प्रथमपादके १४-२० सूत्रोके भाष्यमे

सत्कार्यवादका मण्डन तथा असत्कार्यवादका निरसन किया गया है प्रस्थानरत्नाकरकारने इस विपयमे एक यह उपपत्ति और भी दिखलायी है कि "सदेव इदम् अग्र आसीद्" "सर्वं खलु इद ब्रह्म" "पुरुषएव इद सर्वं यद् भूत यच्च भव्यम्"[33] ब्रह्मज्ञानसामयिक ही नहीं प्रत्युत *व्यवहारदशामे भी दृश्यमान प्रपञ्चकी उत्पत्तिसे पूर्व, उत्पन्न होनेके पश्चात्* तथा नाश के बाद भी जो ब्रह्मरूपता निरूपित हुयी है, उसके आधारपर जन्यताहेतुक/नाशहेतुक अब्रह्मता निरस्त हो जाती है असत्की सत्ता और सत्की असत्ता भगवद्गीता[34] मे अस्वीकृत होनेसे प्रतीयमान उत्पत्ति-नाशको आविर्भाव-तिरोभावतया ही स्वीकारना चाहिये[35] अत प्रागभावप्रतियोगितया सिद्ध होती कार्यकी असत्-ता शुद्धाद्वैत वेदान्तमे भ्रान्तिरूपा होती है

स्पिनोजाके मतमे परिणामकी परिभाषाका अवलोकन करने मात्रसे उनके सत्कार्यवादी होनेका तथ्य सर्वथा स्फुट हो जाता है

> "mode (=रूपसे) मेरा तात्पर्य द्रव्यके परिणामोंके बारेमें है अथवा जो अन्य किसीमें विद्यमान रहता हो और जिसका प्रत्यायन भी अन्यप्रत्ययावलम्बित हो "[36]

स्पष्ट है कि रूपविशेषात्मना परिणत द्रव्यके प्रत्ययमे रूपप्रत्ययका अन्तर्भाव अङ्गीकृत होनेसे तथा द्रव्यके स्वरूप और सत्ता के बीच तादात्म्य मान्य होनेसे तत्तद्रूपात्मना सकल द्रव्यपरिणतिओकी सत्ता भी स्वीकारनी पड़ेगी

(७)कार्य-कारणतादात्म्यवाद तथा अशाशितादात्म्यवाद

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म और उसकी सदशरूपा जडसृष्टि के बीच परिणाम्युपादान और तत्तद् (नियत) नाम रूप-कर्मोकी वहा नियताविर्भूततारूपा या परिणामरूपा कार्यता अभिप्रेत

है अंशिरूप सच्चिदानन्द ब्रह्मकी चिदंशरूपा जीवसृष्टिमे नियत नाम-रूप-कर्मोकी नियताविर्भूततारूपा या परिणामरूपा कार्यता अभिप्रेत न हो कर केवल चिदंशरूपता ही अभिप्रेत है अत कार्य-कारण और अंशांशी दोनोके बीच यथायथ उपादानोपादेयभावात्मक और अंशांशिभावात्मक द्विविध तादात्म्य विद्यमान रहता है यह उभयविध तादात्म्य "ऐतदात्म्यम् इद सर्व स आत्मा तत् त्वम् असि"[३७] श्रुतिमे एकहेलया प्रतिपादित हुवा है रह जाती हे आनन्दांशरूप भगवान्के विविध आधिदैविक रूपोकी बात तो वहा तो मूलरूपके साथ तादात्म्य अनुक्तसिद्ध होता ही है, "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"[३८]

इस विषयमे स्पिनोजाका अभिप्राय स्वय उनके शब्दोमे देखना हो तो इस तरह मिलता है

क Thought (=ज्ञान) *गॉड* का एक गुणधर्म है और *गॉड* ज्ञानवान् पदार्थ है ख Extention (=जड) *गॉड* का एक गुणधर्म है और वह देशवर्ती पदार्थ है ग मैं यह प्रतिपादित करना चाहता हू कि मनुष्यकी परिच्छिन्न चेतना उस *गॉड* की अपरिच्छिन्न चेतना शक्तिसे अभिन्न है और उसके अपरिच्छिन्न ज्ञानका एक अंश है[३९]

इस तरह कार्य-कारणतादात्म्य और अंशांशितादात्म्य की स्वीकृतिपरक विधानके विमर्श कर लेनेपर, सामान्य कार्यकारणभावसम्बन्धी अन्तिम निगमन आविर्भाव-तिरोभाववाद वैचारिक क्रमप्राप्त होता है मूलमे १-७ धारणाओको स्वीकार लेनेपर या उनके सिद्ध हो जानेपर सामान्य कार्यकारणभाव सम्बन्धी अन्तिम आठवा निगमन तो अर्थापत्तिलब्ध ही हो जाता है क्योकि फिर प्रागभावप्रतियोगिताक उत्पत्ति तो सिद्ध या स्वीकार्य ही नही हो पाती क्योकि जो अब तक तिरोभूत था वही आविर्भूत हो गया ऐसे माने बिना फिर कोई चारा नही रह जाता नवम

सक्षेपमे यह देख लेना उपयुक्त होगा कि सामान्यतया सदंशभूत जडपदार्थोंका आविर्भाव किसी नियत नाम-रूप-कर्मके साथ होता है और यह नियति पुन. नित्यनियति नही होती. अतएव किसी एक नाम-रूपमे प्रकट पदार्थ निमित्तान्तरवशात् अपर नाम-रूपात्मना भी पुन प्रकट हो पाता है अर्थात् अनुभवगोचर हो पाता है. ये सारे प्रकार वाल्लभ वेदान्तमे महाप्रभु और पुरुषोत्तमजी के उपपादनके आधारपर उट्टंकित किये जा सकते है परन्तु स्पिनोज़ाके चिन्तनमे ऐसी उट्टंकना अनधिकारचेष्टा सिद्ध होगी, एतद्विषयक कोई सूत्रात्मक उक्ति जब तक मिल नही जाती. एतावता आविर्भाव-तिरोभावकी धारणा भी स्पिनोजाके चिन्तनमे असङ्गत हो जाती हो ऐसा कहा नहीं जा सकता है.

एकमेवाद्वितीय ब्रह्म जब "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यद् आस्ते" - "यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम्"[४२] श्रुत्युक्तरीत्या जब अनेकानेक नाम रूप तथा कर्मो को प्रकट कर रहा है तो उसके स्वाभाविक अद्वैतमे अनन्तविध नाम-रूप-कर्मोके द्वैत "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"[४३] ब्रह्मसूत्रके प्रमाण्यके अनुरोधवश वाल्लभवेदान्त इसे भगवल्लीलाके रूपमे देखना चाहता है

वैसे श्रीगौडपादाचार्यने —

विभूतिं प्रसव त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैः विकल्पिता॥
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात् प्रसूतिं भूताना मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयम् आप्तकामस्य का स्पृहा ?॥[४४]

यहा स्पिनोजाको अभिमत स्वभाववाद या विस्तारवाद का ही

प्रत्याख्यान नही प्रत्युत इच्छावाद-सङ्कल्पवाद और लीलावाद का भी प्रत्याख्यान किया है. भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य इन कारिकाओपर अपने भाष्यमें विवेचन करते है कि—

> सृष्टिचिन्तनमें परायण चिन्तक ईश्वरका विस्तार मानते हैं वे परमार्थचिन्तनमें परायण नहीं हो पाते। इसी तरह "संकल्पमात्रसे सृष्टि प्रकट हुयी है" ऐसा कहनेपर तो सृष्टि संकल्पनामात्र सिद्ध होती है उससे अतिरिक्त नहीं. भूतोंकी सृष्टि कालसे हुयी है ऐसा कालचिन्तक (अर्थात् यहा भी परमार्थचिन्तक नहीं ऐसा समनन्यायेन लिया जा सकता है) मानते हैं कुछ चिन्तक भोगार्थ या क्रीडार्थ परमेश्वरने यह सृष्टि प्रकट की ऐसा मानते हैं इन सभी पक्षोंका निराकरण कारिकाकार "देवस्य एष स्वभावो अयम्" अशद्वारा कर देते है, क्योंकि आप्तकामके भीतर स्पृहा तो प्रकट नही हो सकती है अज्ञानस्वभावके बिना रस्सीकी सर्पाकारेण परिणति सम्भव नही[८५]

यहा स्वभाववादको स्वीकार करनेके बावजूद देवस्वभाव स्वय देवका स्वभाव न हो कर देवसम्बन्धी अविद्याका स्वभाव मान लिया गया है

अत यह न तो स्पिनोजाको मान्य होगा और न वाल्लभ वेदान्तमे ही, देव और देव-अविद्या के बीच जब तक तादात्म्य नही स्वीकारा जाता तब तक अत पूर्वोदाहृत "ऐतदात्म्यम् इदं सर्व" श्रुतिसे सगत व्याख्या नहीं लगती है श्वेताश्वतरोपनिषद्मे "स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमाना देवस्यैष महिमातु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्"[८६] इस वचनमे देवमहिमाका ही निरूपण नकि देवसम्बन्धी अविद्याकी महिमाका अत ऐसी व्याख्यानरीति स्वीकार कर वाल्लभ वेदान्त देवमहिमा खण्डित करके अविद्याकी महिमा बढाना

नहीं चाहता है. अतएव महाप्रभु पूछते हैं कि "कोऽयं ब्रह्मवादे प्रद्वेषो येन मिथ्यावादः परिकल्प्यते? अज्ञानाद् इति चेत् पीतशङ्खप्रतिभानवद् युक्तं मतकरणम्."[४०]

केवलाद्वैतवादिओंमे प्राय. उपासनार्थ आरोपित द्वैत या भक्त्यर्थ कल्पित द्वैत को उपादेयदृष्टिसे बखाना जाता है "भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्!" परन्तु वाल्लभ वेदान्तका अभिप्राय इस विषयमें ऐसा सोचा जा सकता है कि केवलाद्वैतववादके अनुसार जीव भी मायिक है और ईश्वर भी मायिक फिरभी यह क्या कारण है कि जीवद्वारा उपासनार्थ कल्पितद्वैत श्रेयस्कर माना गया है और ईश्वरद्वारा रमणार्थ कल्पितद्वैत हानिकर यदि श्रुतिओमें द्वैतकी निन्दा निरूपित हुयी है, ऐसा समाधान दिया जाता है तो उपासनार्थ कल्पितद्वैत भी निन्दित होना चाहिये था. यदि उपासनार्थ कल्पितद्वैत मोहावरणकी निवृत्तिके बाद स्वेच्छया आरोपित होनेसे हानिकारक नहीं होता ऐसे सोचा जाये तो परमेश्वरद्वारा रमणार्थ संकल्पित द्वैत भी स्वाभाविक न हो कर ऐच्छिक ही है एतावता उसे आविद्यक मानना तो आवश्यक नहीं रह जाता। यदि श्रुत्युक्त द्वैतनिन्दापरक वचनोको कहीं सावकाश बनानेकेलिये आत्मरमणार्थ ईश्वरसंकल्पित द्वैतमे अवकाश खोजनेकी बात सोची जाये तो वह इसलिये अनिवार्य नहीं लगता कि भगवल्लीलारूप द्वैतके अलावा आत्यन्तिक, स्वाभाविक, औपाधिक अथवा मायिक द्वैतमें द्वैतनिन्दापरक श्रुतिवचनोको सावकाश माना जा सकता था। अत आत्मरमणार्थ भगवत्संकल्पित लीलात्मक द्वैतको स्वीकार कर अब लीलावादके विमर्शार्थ प्रवृत्त हुवा जा सकता है

(९)लीलार्थसृष्टिवाद :

प्रस्तुत निबन्धके प्रारम्भमे उद्धृत शुद्धाद्वैतवादनिरूपिका "सत्त्वेव सौम्य इदमग्र आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति" श्रुति तथा लीलावादनिरूपिका श्रुति "स वै नैव रेमे तस्माद्

एकाकी न रमते स द्वितीयम् ऐच्छत् सह एतावान् आस यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्'' इन दोनो वचनोमे एकमेवाद्वितीय सन्मात्र तत्त्वकी बहुभवनविषयिणी इच्छाका निरूपण उपलब्ध होता होनेसे सन्मात्र तत्वातिरिक्त सदसदनिर्वचनीय माया या अविद्या के वश बहुभवनका कोई प्रसग ही उपस्थित नही होता

यदि एकमेवाद्वितीय सन्मात्र तत्त्वमे श्रुतिसिद्ध बहुभवनकामनाके अन्यथा अनुपपन्न होनेके कारण माया या अविद्या की कामना स्वीकारनी आवश्यक लगती है, ऐसा सोचा जाये तो जेसे उस तत्त्वकी सत्ता छह भावविकाररहित होती हे, जैसे उसकी ज्ञानरूपता आन्तर-बाह्य करण एव विषयो से अजन्य होती है, ऐसे ही उसकी कामनाको भी अज्ञानी जीवोंमे पेदा होती कामनासे विसदृश मान कर भी काम चलाया जा सकता है एतावता माया या अविद्या को बीचमे लाना बहोत आवश्यक नही लगता

शास्त्रोमे माया या अविद्या का निरूपण मिलता होनेसे उन्हे सदसदनिर्वचनीय उपाधिके रूपमे लाना आवश्यक लगता हो तो ''न तस्य कार्य करण च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च''[४८] वचननिर्दिष्ट दिशामे अग्रसर हो कर माया-अविद्या आदि शक्तिओको भी उसके सत्यज्ञानान्दात्मक स्वभावके अनुरूप ही स्वीकारना चाहिये एतावता लीलाबोधमे किसी प्रकारकी बाधा नहीं आ पायेगी अतएव उसकी बहुभवनकामनाका भी स्वरूप उसके सत्यज्ञानानन्दात्मक स्वभावके अनुरूप स्वीकार लेनेपर श्रीगौडपादाचार्योक्त ''देवस्यैष स्वभावोऽयम्'' एक समीचीन उपपत्तिके रूपमे वाल्लभ वेदान्तको मान्य हो सकती है अत रह जाता है ''आप्तकामस्य का स्पृहा?'' अनुपपत्तिके परिहारकी चिन्ता तो ''*आप्तकामस्यापि आत्मन्येव आत्मना सह आत्मरमणात्मिकेय स्पृहा न आप्तकामताविरुद्धा*'' कह कर वाल्लभ वेदान्त परिहार करना उचित मानेगा।

इस मुकामपर पहुचनेपर ब्रह्ममे सृष्टिका प्रादुर्भाव चाहे ब्राह्मिक स्वभाववश हुवा हो अथवा ब्राह्मिक काम या सकल्प के वश हुवा हो, कुछ भी स्वीकारा जाये बहोत अन्तर नही पड़ता, क्योकि "कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं"रूप या "अघटितघटनापटीयसीत्व"रूप सामर्थ्य भी ब्राह्मिक स्वभावानुपाति ही मान्य करना पड़ेगा नकि मायिक स्वभावानुपाती अतएव महाप्रभु लीलाकी व्याख्या करते हुवे कहते है "सृष्टि आदिको भगवल्लीलाके रूपमें जान पानेपर भगवद्भक्ति प्रकट हो पाती है केवल भगवत्कार्यतया जान लेनेपर नहीं."-"अनायास हर्षोद्रिकवशात् की जाती चेष्टा 'लीला' कहलाती है"[४] अतएव सच्चिदानन्द ब्रह्मके समग्र सत् चित् तथा आनन्द अशोसे की जाती लीलाको महाप्रभु लीलानिरूपक स्वनिष्कर्षवचनमे —

१ "य (सच्चिदानन्दात्मा स्वसर्वांशै) क्रीडति" के आधिदैविक रूपोमे योगमाया या आत्ममाया रूपिणी शक्तिद्वारा की जाती भगवल्लीलाके रूपमे प्रतिपादित करते है

२ जहा आनन्दाशके तिरोधानद्वारा अनेक आध्यात्मिक रूपोमे जीवात्मना प्रकट हो कर अथवा चिदानन्दाशके तिरोधानद्वारा विविध आधिभौतिक जडरूपोमे प्रकट हो कर भगवान् लीला करते है उसकी पहचान महाप्रभु सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया शक्तिद्वारा की जाती लीला "य जगद् भूत्वा क्रीडति" के रूपमे कराना चाहते है

३ इसके अलावा अपने स्वरूपको भुलाया न जा सके ऐसी विद्यारूपा शक्तिकी तरह भगवत्स्वरूपको भुलाया भी जा सके ऐसी अविद्या शक्ति भगवान्मे रहती है इस अविद्या शक्तिकेद्वारा भगवदशरूप जीव निज अशीके स्वरूप स्वभाव और सामर्थ्य को भूल कर स्वयके क्षुद्र स्वरूप एव स्वभाव के अधीन अपनी क्षुद्र द्रष्टृत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूपा सामर्थ्योके कारण लीलाबोधसे

वंचित निजस्वरूपको विस्मृत कर प्राणाध्यास अन्त करणाध्यास इन्द्रियाध्यास तथा देहाध्यास से ग्रस्त हो कर अहन्ताके सीमित बोधसे तथा उन अहन्तास्पद देहादिसे जुड़े अन्यान्य जड-चेतनपदार्थोमे सीमित ममताके भावसे बंध जाता हे. इसे महाप्रभु "यतो जगत् क्रीडति" लीलाके निरूपित करते हैं.

स्पिनोज़ासे ऐसे औपनिषदिक निरूपणकी अपेक्षा यद्यपि अप्रासंगिक ही कहलायेगी फिरभी तुलनात्मक विमर्शार्थ इस विषयमे भी उनके कुछ उद्गारोको उद्धृत कर देना चाहूगा :

> क. *गॉड* की सामर्थ्य उसके स्वरूपसे अपृथक्‌सिद्ध ही होती है. ख. जिस तरहकी बुद्धि और कामना हम *गॉड* स्वरूपको घडनेवाली बुद्धि और कामना के रूपमें देखना चाहते हैं वे जिस तरहकी बुद्धि और कामना हमारी होती हैं उनसे उन्हें सर्वथा विसदृश ही समझनी चाहिये... क्योंकि वे तो इस सृष्टिकी सभी वस्तुओंके स्वरूप और सत्ता की कारणरूपा होती हैं ग. *गॉड* स्वयं और उसके गुणधर्म कालापरिच्छिन्न शाश्वत होते हैं घ व्यष्टि वस्तुएं *गॉड* के गुणधर्मोके परिणाम या गृहीत रूप होती हैं. ङ. कोई भी एक व्यष्टि वस्तु जैसी नियत अर्थक्रियाकारितावाली होती उसकी वैसी नियति *गॉड* ने ही निर्धारित कर दी होती है. क्योंकि जो जिस तरह *गॉड* द्वारा निर्धारित न हो वैसे उसका स्वतोनिर्धारित होना असम्भव है[५०].

इस तरह देखा जा सकता हे कि लौकिक बुद्धिजन्य ज्ञान और लौकिक कामना से विसदृश बोध एव काम स्पिनोजाको भी उनके *गॉड* मे मान्य तो है ही. तद्नुसार यह सृष्टि भी लौकिक

लीलाओंसे विसदृश कोई *"आप्तकामस्य आत्मन्येव आत्मना सह आत्मरमणात्मिकेयं स्पृहा"* जन्य आधिदैविकी लीला हो उसमे क्या आपत्ति हो सकती है।

बर्ट्रेड रसेलने स्पिनोज़ाकी चिन्तनके बारेमे एक मननीय विधान किया है कि "स्पिनोजाकी चिन्तनप्रणाली एकीकृत विज्ञानके भावी संकलित व्याख्यानके प्रारूप जैसी है"[५१] इसी तरहका विधान फ्रित्जोफ काप्राने आधुनिक विज्ञानके बारेमे अपने प्रसिद्ध 'द ताओ फिजिक्स' नामक ग्रन्थमे किया है कि "क्वान्टम थिअरी हमें बाधित करती है कि हम जगत्को भौतिक वस्तुओंके केवल संघातके रूपमें देखनेके बजाय किसी एकीकृत समग्र तत्त्वके विविध अंगोंके परस्पर जटिल जालके रूपमें देखनेका प्रयास करें"[५२]

इसके अलावा एक और अतीव मननीय उद्गार हाल ही फ्रासके प्रसिद्ध रसायनविज्ञानमे सशोधनार्थ नोबलपुरस्कारविजेता ज्या मारिए लेह्नने यहा मुबईके समाचारपत्रको दिये साक्षात्कारमे प्रकट किया कि—

> चेतनाकी तुलनामें जीवन मेरेलिये काफी सरल समस्या है क्योंकि अचेतन और चेतन पदार्थोंकी तुलनामें अजीवित और जीवित पदार्थोके बीच रहा अन्तर बहोत सिकुड गया है प्राकृतिक विकासमें ऐसा कैसे हुवा होगा कि कोई वस्तु ऐसी प्रकट हो जाये कि वह जिससे प्रकटी है उसके बारेमें सोच पाये? एक ऐसा सामर्थ्य कि कुछ प्रकृतिका अश होनेके बावजूद प्रकृतिसे भिन्नता भी दरसता हो।

मुझे लगता है कि न केवल स्पिनोजाका चिन्तन ही अपितु [म]हाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका वेदान्तव्याख्यान भी इन विरुद्धधर्माश्रयी तत्त्वोसे

जुडी समस्याओंको सुलझानेमे काम आनेवाली वैचारिक चोखट अपने कार्यकारणभाव तथा अशाशिभाव सम्बन्धी विचारोंके द्वारा प्रदान करनेवाले चिन्तन है

सन्दर्भ

१ त दी नि १।१०४

२ ब्र सू भा १।१।१, तत्रैव १।१।३,

३ द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्राणुभाष्य(३)गो श्या म लिखित भूमिका श्रीवल्लभविद्यापीठ-
श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरण आ हो ट्रस्ट(कोल्हापुर) प्रकाशनवर्ष वि स २०४५

४ बर्ट्रेंड रसेलकृत 'विज़डम ऑफ वेस्ट' पृ २०१ क्रेंज़ेट बुक्स न्यूयार्क
प्रकाशनवर्ष १९८९ विल डूराकृत 'द स्टॉरी ऑफ फिलॉसफी' प्रक ४,
तथा वर्क्स आफ स्पिनोज़ा भाग-२ सकलित पत्रव्यवहार पृ २९८ डॉवर
पब्लिकेशन्स्, आईएनसी न्यूयार्क प्रकाशनवर्ष १९५१ आर एच एम ए-
ल्विसकृत आग्लानुवादके ततद् अशोका हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत निबन्धकारद्वारा

५ पाश्चात्यदर्शनितिहास स्पिनोज़ाप्रकरण 'हिस्ट्री आफ मॉडर्न फिलॉसफी'-
ले रिचार्ड फाल्कनबर्ग, द बेज़िक टीचिंग ऑफ द ग्रेट
फिलासफर'-ले एस ई फ्रास्ट, 'द स्टारी आफ फिलासफी'-ले विल डूरा

६ त दी नि प्र १।२३,श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरण आ हो ट्रस्ट(को-
ल्हापुर) प्रकाशनवर्ष सिद्धा मुक्ता ३ ५,

७ द्रष्ट भग गीता भाग पुरा ,

८ द्रष्ट भग गीता भाग पुरा ,

९ वर्क्स आफ स्पिनोज़ा द प्रिफेस पृ ९,

१० त दी नि प्र आ १।७ १२,श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरण आ हो
ट्रस्ट(कोल्हापुर) प्रकाशनवर्ष २०३९ प्र र श्रीवल्लभ- [illegible]
श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरण आ हो ट्रस्ट(कोल्हापुर) प्रकाशनवर्ष [illegible]

११ स्पिनोज़ास् त्रेक्तस द इन्तलेक्त ईमादेशन-एच एच जोआ [illegible] पृ [illegible]
ऑक्सफर्ड प्रका वर्ष १९५८

१२ तत्रैव परि ७ पृ १०१, १०३

१३ ब्र सू भा १।२।३२

१४ दी एथिक्स क परिभाषा-१।६, ख निष्कर्ष १।१ [illegible]

१५ दी एथिक्स क १।३०, ख १।१५

१६ त दी नि १।५८-६५

१७ दी एथिक्स क प्रतिज्ञा १।१४/ ख १।१४-निष्कर्ष-१ ग १।१४/निष्कर्ष-२ घ १।१६/निष्कर्ष-१ ड १।१७, च १।१७/प्रमाण-१, छ १।१७/निष्कर्ष-१, ज १।२५ तथा तत्रैव प्रमाण

१८ प्रस्थानरत्नाकर पृ ३९,४४ श्रीवल्लभविद्यापीठ श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरण आ हो - ट्रस्ट(कोल्हापुर) प्रकाशनवर्ष वि स २०५६

१९ सिद्धान्तलेशसग्रह १।१७-२७

२० ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्य २।१।१४

२१ दी एथिक्स प्रतिज्ञा १।२४-प्रमाण

२२ ब्रह्मसूत्राणुभाष्य १।४।२३

२३ छान्दो उप ६।१।४

२४ छान्दो उप ६।८।१०

२५ द्रष्ट सर्व ४।६, ७।४-६-१०-१४ तथा गी रा ४।६-९, ७।६-१४

२६ ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य १।१।१६

२७ तत्रैव १।४।२४

२८ दी एथिक्स क २।१९ ख २।२२ ग २।२३ घ तत्रैव २।२२

२९ तत्रैव क प्रति १।१८ तथा प्रमा ख प्रति १।१८, ग प्रति १।१९, घ प्रति १।२०-निष्क २

३० महाभाष्य १।१।१

३१ द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्राणुभाष्य-प्रकाश २।२।२६-२७

३२ दी एथिक्स क प्रतिज्ञा १।१, ख प्रमाण १४, ग प्रतिज्ञा १।६, घ प्रतिज्ञा - १।८/टिप्पणी-२

३३ छान्दो उप १।२।१, तत्रैव ३।१४।१, पुरुषसूक्त २

३४ भग गीता २।१६

३५ प्र र पृ १८९

३६ दी एथिक्स परिभाषा १।५

३७ छान्दो उप ६।८।१०

३८ तैत्ति उप ३।५

३९ दी एथिक्स क प्रतिज्ञा २।१, ख प्रतिज्ञा २।२, ग स्पिनोजा'स् कॉरस्पॉन्डेस्

लेटर १५

४० धातुपाठ दिवादि-४३-तत्रैव-९०

४१ त दी नि १।७२

४२ तैत्ति आर ३।१२।७-महानारा उप १।५

४३ ब्रह्मसूत्र २।१।३३

४४ माण्डु उप गौडपादकारिका १।७-९

४५ तत्रैव

४६ श्वेता उप ६।१

४७ ब्र सू भा १।३।१५

४८ श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।८

४९ सुबो १।१।४ तथा सुबो १।२।१७

५० क दी एथिक्स १।३४, ख तत्रैव प्रतिज्ञा १।१७-निष्कर्ष २-टिप्पणी, ग तत्रैव १।१९ घ तत्रैव १।२५-निष्कर्ष, ङ तत्रैव १।२६

५१ विज़्डम ऑफ वेस्ट, पृ

५२ 'द ताओ फिज़िक्स'-ले फ्रित्ज काप्रा पृ १३८तृतीय सस्करण शभल प्रकाशन बोस्टन प्रका वर्ष १९९१



वाल्लभवेदान्त निबन्ध संग्रह : धर्म

- शुद्धाद्वैतवाद और लीलावाद के सन्दर्भमे व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी मीमासा
- धर्मोंकी विविधता और विश्वमे शान्ति
- श्रीस्वामिनारायण मतीय वेदान्तसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसनप्रक्रिया(१)
- श्रीस्वामिनारायणीय दर्शनसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसनप्रक्रिया(२) (साधु श्रीश्रुतिप्रकाशदासजीके समाधानात्मक आलेखपत्रकी समीक्षा)

शुद्धाद्वैतवाद और लीलावाद के सन्दर्भमें व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी मीमांसा

औपक्रमिक पूर्वपक्ष :

'शुद्धाद्वैतवादके अनुसार की जाती भगवच्छरणागतिके उपदेशमे नि साधनताकी भावनाका उपदेश मनुष्यको अकर्मण्य बनाता है 'परमेश्वरको कर्ता-कारयिता और समग्र ब्रह्माण्डको लीलाके रूपमे प्रस्तुत करनेवाले इस सिद्धान्तके कारण जीवात्माको स्वयके पुरुषार्थमे विश्वास खोनेका प्रसग आये बिना नही रह सकता अत 'शुद्धाद्वैतवाद कृत कर्मोके प्रति उत्तरदायित्वकी भावना खतम करनेवाली विचारधारा लगती है 'कर्मके प्रति उत्तरदायित्वको गौण बनानेपर कर्मके बारेमे सदसद्विवेककी शक्तिके प्रयोगकी प्रेरणा भी रुध जाती हो ऐसा लगता है अत हमारा 'बोधस्वातन्त्र्य इच्छास्वातन्त्र्य और प्रयत्नस्वातन्त्र्य यदि हम नही स्वीकारते तो धर्माधर्मका विभाग भी निभ नहीं पाता 'परिणामरूपेण व्यक्तिस्वातन्त्र्यके अभावमे पुष्टिसम्प्रदायके भी विधि-निषेध अन्तमे अर्थहीन साबित होगे अत यह मुद्दा गम्भीर विचारणा मागता है

इस समस्याका समाधान खोजनेसे पहले एक प्रमुख प्रश्न यह विचारणीय है कि जगत्का मूल कारण यदि ब्रह्म परमात्मा भगवान् न हो तो दूसरा और क्या हो सकता है?

व्यक्तिस्वातन्त्र्य जडक्रियाके वश ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके सन्दर्भमें :

जडरूपमे भासित होता यह ब्रह्माण्ड स्वयकी जडरूप कारणावस्थामे प्रकटी किसी जडप्रक्रियाके कारण ही इस कार्यावस्थामे प्रकटित हो तो कारणावस्थामे क्या उत्पत्तिप्रक्रियाको स्वत सिद्ध अर्थात् स्वभावसिद्ध माननी? अथवा तो परत सिद्ध अर्थात् बाह्य प्रभावके कारण प्रकटित

माननी? यदि बाह्य प्रभावके कारण मानते है तो अन्तमे अनवस्था दोष प्रकट होता है क्योकि वैसा स्वीकारने पर इस अनुत्तरित प्रश्नको यहासे धकेल कर वहा भेजा जा रहा है परन्तु एतावता निराकरण तो हो नही पाता अत यदि स्वाभाविक प्रक्रियाके रूपमे उत्पत्ति स्वीकारते है तो अपने बोध इच्छा या प्रयत्न के स्वातन्त्र्यको भी उस स्वभावके आधीन स्वीकारना पडेगा अब यदि जडनियमोके आधीन मनुष्यमे बोध इच्छा और प्रयत्न उत्पन्न होते स्वीकारते हो तो उन्हे ब्रह्मके आधीन उत्पन्न होते स्वीकारनेमे भी आपत्ति तो होनी नही चाहिये क्योकि ऐकान्तिक स्वातन्त्र्यका पक्ष तो इस कल्पमे छोड ही दिया गया है

इस समस्याके समाधानरूपेण ऐसी भी एक धारणा प्रस्तुत की जाती है कि समग्र ब्रह्माण्डको एक कार्य मान कर उसके किसी एक कर्ताकी खोज स्वयमे एक गलत शुरुआत है क्योकि ब्रह्माण्ड तो कार्य-कारण-अवस्थाकी निरन्तर चलती एक शृखला है अत उसमे प्रत्येक कार्यका कोई एक निश्चित कारण खोजा जा सकता है परन्तु कार्यसमष्टिकी कारणसमष्टि खोजनेकी धाधल एक भूल भरी विचाररीति है उदाहरणरूपेण कोई वश पच्चीस पीढी ('क' से 'म') तक चला हो तो पच्चीसमे 'म' व्यक्तिसे आरम्भ कर 'ख' व्यक्ति तक कौन किसका पिता यह खोजबीनके बाद जाना जा सकता है बादमे कोई पूछे कि अब यह बताओ कि 'क' से 'म' तक चले समग्र 'क-म'वशका पिता कौन? तो इसमे ध्यानमे रखने लायक बात यह है कि 'क'के पिताके रूपमे 'अ'को खोज भी ले परन्तु उस 'अ'का पितृत्व भी 'क' के हेतु ही सीमित रहेगा उसे समग्र 'क-म' वशके पिताके रूपमें दरसाया नहीं जा सकेगा

इस विचारसरणीके अनुसार ब्रह्माण्डसमष्टिके सर्वकर्ता या सर्वकारण होनेके रूपमे ब्रह्म या परमेश्वर को नकारा जा सकता है इस अस्वीकारके

बावजूद 'क' से 'म' तककी कार्यशृखलामे प्रत्येक 'क' 'ख' आदिकी 'ख' या 'ग' आदिको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य स्वत सिद्ध माननी पडेगी अत ऐसे जड या चेतन स्वभावके आधीन 'क' से 'म' तकका स्वातन्त्र्य भी स्वीकारना पडेगा अन्यथा तो उत्पादन स्वभावसिद्ध परन्तु उत्पन्न होनेवाले उन-उन व्यक्तिओकी अन्य सभी क्रियाओको व्यक्तिस्वातन्त्र्यसे मण्डित करने पर तो वह स्वातन्त्र्य फिर किसी निश्चित दायरेमे हिर-फिर सकने या उठ-बैठ सकनेवाले खूटीसे बधे बैलके जैसे स्वातन्त्र्यकी तरह ही प्रकट होगा और इस तरहके सकुचित सामर्थ्यके बारेमे यदि आपत्ति न हो तो, अर्थात् अकर्मण्य बनानेवाली धारणा लगती न हो तो, ब्रह्मके बारेमे भी इसी तरह सोचना चाहिये

अत सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म परमात्मा भगवान्‌से सृष्टिकी उत्पत्तिकी धारणा, अथवा तो जड पदार्थोंकी परस्पर कारण-कार्यभावकी शृखलामे निरन्तर उत्पन्न होती सृष्टिकी धारणा, इन दोनो धारणाओके बीचमे अन्तर इतना सा ही रह जाता है कि एक धारणाके अनुसार कारण चेतन है तो दूसरी धारणाके अनुसार जड दोनोमेसे किसी भी एकसे उत्पन्न होनेवाले कार्यपर कारणपदार्थकी जकडमे भेद प्रकट नहीं होता।

यद्यपि भगवान् बुद्धने इस समस्याके समाधानार्थ किसी भी एक कारणसे कार्यकी उत्पत्ति स्वीकारने बजाय कारणतया अवभासित बहोत सारे पदार्थोके एकत्रित होने पर कार्यकी उत्पत्तिके आभासका सिद्धान्त प्रस्थापित किया था इसमे कारण और कार्य दोनो असत् होने पर भी केलिडोस्कॉपके भीतर रगबिरगे चूडियोके टुकडे जैसे डिजाइनका आभास प्रकट करते है वैसे ही अनेक हेतुओके सघातमे कार्य-कारणभावका आभास प्रकट होता स्वीकारा गया है इस रूपमे देखने पर निरात्मक द्रव्योके सघातमे आत्माभासरूपा व्यक्तिचेतना कार्यरूपमे या कारणरूपमे एक आभास ही सिद्ध होती है, वस्तुभूत नहीं यों व्यक्तिचेतना स्वय यदि आभास हो तो उसमे अनुभूत स्वतन्त्रता भी एक आभास

ही सिद्ध होगी अब बहुविध हेतुसामग्रीके कारण अवभासित होती व्यक्तिचेतनाका स्वातन्त्र्य या भगवल्लीलाके कारण अवभासित होती व्यक्तिचेतनाका स्वातन्त्र्य, दोनो ही अन्तमे तो ऐकान्तिक सत्य न हो कर आंशिक सत्य ही सिद्ध हो पायेगे इस बारेमे बौद्ध और वाल्लभ चिन्तनके बीच मतभेद रह नहीं जाता है

व्यक्तिस्वातन्त्र्य चेतनकर्मसे ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके सन्दर्भमें ।

अब जड स्वयको या दूसरेको देख या जान नही पाता परन्तु सचेतन प्राणी स्वयको भी और अपनेसे इतरको भी देख-जान पाता है इस तथ्यके आधारपर जडावस्थामे यद्यपि सभी कुछ स्वभावाधीन होने पर भी विकसित अवस्थामे चैतन्यकी तरह स्वातन्त्र्य भी प्रकट होता स्वीकारे तो ब्रह्माण्डकी समग्रतामे इस चेतना या स्वातन्त्र्य को या तो आकस्मिक स्वीकारनी पडेगी अथवा तो जड पदार्थमे निगूढ रहनेवाली सम्भाव्यता (potentiality) या शक्ति (power) ऐसी सम्भाव्यता या शक्ति के कारण यदि स्वीकारते है तो उसे वस्तुयाथार्थ्य (Reality) मे परिणत करनेवाले परिबल कैसे या क्या मानने? क्या जड़ पदार्थके नियमोको उनके आधीन मानना या स्वतन्त्र? जड पदार्थके नियमोंके आधीन माननेपर बात वहाकी वही लोट आती है और उसे स्वतन्त्र माननेपर उन परिबलोका स्वातन्त्र्य प्रमुख स्वातन्त्र्य कहा जायेगा परन्तु मानवीय बुद्धि इच्छा या प्रयत्न का स्वातन्त्र्य पुन स्वयसे इतर किसीपर अवलम्बित सिद्ध होगा

अत ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय क्रियाके अन्तर्गत प्रकट होनेवाली विविध जड़ क्रियाओंको ही किसी तबकेपर जा कर हमे सचेतन पदार्थके कर्मतया रूपान्तरित होता स्वीकारना हो तो वह शक्य है उस कर्मको, परन्तु, या तो 'स्वभावरूप मानना पड़ेगा या 'जीवननिर्वाहार्थ सघर्षमय वातावरणमे स्वयको अथवा तो स्वयके वशसातत्यको बचाये रखनेके उपायरूपेण विकसित सामर्थ्यके रूपमे मानना पड़ेगा अर्थात्

करोडो वर्षोंसे चल रहे संघर्षमें विकसित आनुवंशिक सामर्थ्यके रूपमें मानना पडेगा [३]अथवा तो ब्रह्म जैसे तत्त्वके अस्तित्वको स्वीकारे बिना भी स्थिरास्थिरचेतना या प्रवाहस्थिरचेतना के अनेक पूर्वजन्मके कर्मोंके नियम या वासना के कारण विकसित हुयी सामर्थ्यके रूपमें मानना पडेगा

[१]इसमें प्रथम पक्ष आधुनिक विज्ञानके प्रादुर्भावसे पहले भौतिकवादिओंको, जैसे कि अपने देशमें चार्वाक आदि हुवे उनको, मान्य पक्ष है ऐसे बचकाने भौतिकवादको, परन्तु, आज कोई भी स्वीकारता नहीं है

[२]दूसरा पक्ष आधुनिक विज्ञानद्वारा प्रस्तुत होनेवाला पक्ष है इस सन्दर्भमें एक बात अतिशय याद रखने लायक यह है कि आधुनिक विज्ञानके अनुसार मानवीय चेतना स्वय एक पदार्थ न हो कर इलेक्ट्रो-केमिकल् स्पन्दन या बायोकेमिकल् कम्पाउण्ड् के अलावा अन्य कुछ हो नहीं सकती तो उसके कारण होते बोध इच्छा या प्रयत्न का स्वातन्त्र्य भी ब्रेइनकी अनूठी सरचना अथवा तो उसमें सम्पन्न होती एक प्रक्रिया है, इसे अलग प्रकारकी चिप्स् बिठाने पर, अर्थात् अधुनाविकसित जेनेटिक टेक्नोलोजीके कारण मनपसद साचेमें प्रकट किया सकता है उसके कारण नये ढगसे सुधारा या विकसित किया जा सकता है ऐसे भीषण मोडपर जब वैज्ञानिक विकास पहुच रहा हो तब बोधस्वातन्त्र्य या इच्छास्वातन्त्र्य या प्रयत्नस्वातन्त्र्य का वस्तुनिष्ठ मूल्य कितना बच पायेगा?

[३]तीसरे पक्षके अन्तर्गत प्रथम पक्ष जैनोके चिन्तनद्वारा प्रस्तुत हुवा है जबकि तीसरेके अन्तर्गत द्वितीय पक्ष बौद्धोके चिन्तनद्वारा प्रस्तुत हुवा है उसमें जैन चिन्तन जीवात्माको, अपने अनेकान्तवादी अभिप्रायके अनुरूप, स्थिरास्थिर चेतना मानता है बौद्ध चिन्तन, जबकि,

इन दोनो चिन्तनोमे असख्य पूर्वजन्मोमे किये गये कर्मफल या कर्मवासना के कारण मनुष्यके वर्तमान जन्माधिगत बोध इच्छा या प्रयत्न पंकिल माने गये है पर पूर्वजन्मोमे हम कभी वनस्पति तो कभी कीट सरीसृप जलचर थलचर या नभचर भी अवश्य बने होगे ही इन योनिओमे स्वातन्त्र्यको निभा पाये ऐसा बोधशक्तिका विकास सोचा नहीं जा सकता है अत तन्मूलक इच्छास्वातन्त्र्य या प्रयत्नस्वातन्त्र्य की तो कल्पना ही अशक्यप्राय है अब कर्मनियम जो जड हो तो केवल मानवयोनिको ही लागू पडते है मानवेतर योनिको नही ऐसा कैसे कहा जा सकता है? वातावरण या गुरुत्वाकर्षण के जडनियम सभी योनिओके प्राणिओपर समानरूपेण प्रभावशाली होते है तदुपरात चौरासी लाख योनिओमे किये कर्मोके फलका प्रभाव अन्तिम मानवयोनिमे निरस्त हो कर अचानक स्वतन्त्रता यदि प्रदान करता हो तो वह तो पख काट कर पक्षीको पीजरेमेसे मुक्त करने जैसी बात लगती है क्योकि जब तक मानवेतर योनिओमे किये गये कर्मोके फलसे या उसकी वासनासे भी जो मुक्ति दी नहीं जाती तब तक बोधेच्छाप्रयत्नस्वातन्त्र्यका मूल्य कितना?

लक्ष्यमे रखने लायक बात इसमे यह है कि मानव जेसे सामाजिक पशुके उदाहरणमे तो उसके वैयक्तिक कर्मकी तरह सामुदायिक कर्मका भी उत्तरदायित्व उसका स्वीकारे बिना कोई चारा नहीं तदुपरात वैयक्तिक बोध इच्छा या यत्न की तरह सामुदायिक बोध इच्छा या यत्न का परस्पर तारतम्य और परस्पर प्रभावजनकता भी स्वीकारनी पडती ही है जापान देशकी सरकारने दूसरे विश्वयुद्धके समय साम्राज्यवादी नीति अपना ली थी उसके परिणामरूपेण हिरोशिमा-नागासाकीके कितने निर्दोष नागरिकोंको अणुबमकी विनाशकारी ज्वालाओमे जल कर राख बनना पड़ा था। ऐसी परिस्थितिम व्यक्तिगत बोध इच्छा या प्रयत्न

मे अनुभूत होती स्वतन्त्रताका मूल्य कितना बच जाता है।

अत सचेतन प्राणिओके कर्मसे प्रकट होते ब्रह्माण्डके सन्दर्भमे भी व्यक्तिका बोधेच्छाप्रयत्नस्वातन्त्र्य अक्षुण्ण तो नही रह पाता

<u>व्यक्तिस्वातन्त्र्य सामाजिक प्राणी या मानवीय व्यवहार के सन्दर्भमें</u> :

इस शीर्षकके अन्तर्गत चार प्रकारके स्वातन्त्र्य विचारे जा सकते है . [1]कानूनी व्यक्तिस्वातन्त्र्य, [2]नैतिक व्यक्तिस्वातन्त्र्य, [3]धार्मिक व्यक्तिस्वातन्त्र्य, और [4]भक्तिमार्गीय व्यक्तिस्वातन्त्र्य

[1]<u>कानूनी व्यक्तिस्वातन्त्र्य</u> कोई भी समाज उसके लिखित या अलिखित कानूनके बिना टिक नही सकता है अत समाज ही व्यक्तिको कानूनी व्यक्तिस्वातन्त्र्य प्रदान करता है यह कानूनी स्वातन्त्र्य न तो स्वाभाविक होता है और न ऐकान्तिक ही तदुपरात तत्तद् देश-कालमे तत्तत् समाज अपने-अपने नये-नये कायदे-कानून घडते रहे थे, रहते है और घडते रहेगे पहले कभी दो व्यक्ति अपने विवाद या अपमान के निकालके हेतु तलवारके द्वन्द्वयुद्धार्थ एक-दूसरेको ललकारते थे इसमे यदि किसकी जान निकल जाये तो जान लेनेवालेको हत्याका अपराधी नही माना जाता था तब ऐसा प्राणघातक स्वातन्त्र्य मान्य था अब किसी भी सभ्य समाजमे ऐसे स्वातन्त्र्यको मान्यता प्रदान नही की जाती अत सिद्ध होता है कि व्यक्तिका कानूनी कर्मस्वातन्त्र्य समाजद्वारा प्रदत्त और तत्तत् समाजकी तत्तद् देश-कालकी मान्यताओपर निर्भर होता है स्वाभाविक या ऐकान्तिक नही यही बात बोध, *अभिव्यक्ति, इच्छा या प्रयत्न के स्वातन्त्र्यके बारेमे भी हम* लागू कर सकते है कई बाते व्यक्ति जान ले, या जान गया हो तो सरेआम उसे प्रकट करता फिरे, अथवा तो समाजमे प्रतिबधित की गयी किसी बातके कोई मनसूबे रख कर षडयन्त्र घडते हुवे पकडा जाता है तो भी समाज व्यक्तिको अपराधी घोषित कर दण्डनीय मान लेता है

अर्थात् मोटे तौरपर प्रत्येक व्यक्तिके बोध या इच्छा को घडनेमे समाजका प्रदान बडा भारी होता है अत एक सामाजिक व्यक्ति स्वयके बोध या इच्छा के अनुरूप कोई प्रयत्न करना चाहता हो तब भी उसका समाजके अनुरूप होना या समाजद्वारा अनुज्ञप्त होना अनिवार्य हो जाता है क्योकि प्रयत्न कर पानेमे अनुकूल वातावरण समाज ही व्यक्तिको उपलब्ध कराता है अब यदि यहा ऐसे समाजाधीन व्यक्तिस्वातन्त्र्यके कारण अकर्मण्य या अपुरुषार्थी होनेमे आपत्ति लगती न हो तो परमेश्वराधीन जीवस्वातन्त्र्य क्यो आपत्तिजनक लगता है?

[२]नैतिक व्यक्तिस्वातन्त्र्य नीतिशास्त्रमे किसी भी कृत्यके नैतिक मूल्याकनके हेतु कुछ कसौटी विचारी गयी है उदाहरणतया कोई कृत्य कानूनकी दृष्टिसे आपत्तिजनक न भी हो तब भी नीतिकी दृष्टिसे अयुक्त हो सकता है इसी तरह कानूनकी दृष्टिसे कोई कृत्य आपत्तिजनक लगता हो तब भी नैतिक दृष्टिसे अनुसरणीय हो सकता है अत कानूनी अपराधका दण्ड बाह्य, शारीरिक या आर्थिक आदि, रूपोमे होता है नीतिका दण्ड, परन्तु, स्वयकी अन्तरात्माको कचोटनेवाला होता है कानूनके जालमे कही भी फस न पाये ऐसी सम्पूर्ण सावधानी बरत कर एक व्यक्ति जब किसी दूसरे व्यक्तिका अहित करता है तब वह कृत्य उसके अन्तरात्माको तो कचोटता ही है कानूनकी दृष्टिसे प्रतिबन्धित होने पर भी अन्तरात्माकी नैतिक प्रेरणाके आधीन हो कर महात्मा गाधीने चपारन जिलेमे प्रवेश किया था और अग्रेज न्यायाधीशको अग्रेजी कायदेके अनुसार जो दण्ड योग्य हो उन्हे देनेको बेझिझक ललकारा भी था।

अत नीतिशास्त्रद्वारा विचारित अनेक निकषोंके अन्तर्गत कुछ निकष यो दरसाये गये है [क]''बहुजन सुखाय'', [ख]''बहुजन हिताय'', [ग]''आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचोत्'' इनके अन्तर्गत प्रथम ओर दूसरे [क ख]कल्पाकी बाबतमे हम देख सकते है कि समाजके किसी

एक व्यक्तिके कृत्यसे बहोत सारे लोगोका सुख या हित यदि सिद्ध न होता हो तो ऐसा कृत्य अनेतिक कृत्य बन जाता हे यह तथ्य किसी सीमातक सच लगता होनेपर भी केसे कृत्यके कारण समाजके बहुसाख्य जनोको कष्ट या उनका अहित होता है इसमे भी कालभेदवश समाजमे बहुमतका एकमत होना अनिवार्य नहीं होता विधवाविवाह या जातपातके भेदोको हिंदुसमाजमेसे दूर करनेको हिंदुओका बहुमत पहले स्वयका अहित मानता था अब इसमे स्वयका हित मानने लगा हे अब स्वय समाजमे ही जो वेचारिक परिवर्तनोंके प्रति एकरूप धारणा निभती न हो तो व्यक्तिको अपने केसे कृत्यको नैतिक मानना या कैसे कृत्यको अनैतिक? अर्थात् जातपातके भेद स्वीकारने या न स्वीकारने? किसमे व्यक्तिकी नीतिमत्ता प्रकट होगी? आज विवाहसस्थाको बन्धनकारी मान कर स्त्रीपुरुषोके अविवाहित सहजीवनमे अनैतिकता जेसी कोई बात न मानने कई लोग खुश है तो अन्य नाखुश इसमे बहुजनसुख या बहुजनहित का निर्धार करना कठिन हो जाता हे

"अत अन्तमे "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्" सूत्रको नैतिकताके निकषके रूपमे स्वीकारनेको ऐसे कहा जाये कि हमारे साथ किये जाते जैसे व्यवहारको हम योग्य न मानते हो, वैसा व्यवहार हमे भी दूसरोके साथ करना नहीं चाहिये नैतिकताके ऐसे आदर्शमे भी कुछ कठिनाईया तो है ही क्योकि स्वयको मार दिये जानेकी परवाह न करनेवालेका दूसरे किसीको मारनेका अधिकार नैतिक माना जा सकता है क्या? उदाहरणतया न्यूयोर्क शहरके W T C के दोनो टावर्सके साथ अपने विमानोंको टकरा कर स्वय और अन्य अनेक निर्दोषोको मार देनेवाले उद्दामवादिओका कृत्य क्या नैतिक कृत्यके रूपमे मान्य रखा जा सकता है? अत वैयक्तिक बोध इच्छा या प्रयत्न और सामाजिक बोध इच्छा या प्रयत्न के बीच विरोधाभासका प्रश्न विकराल बन जाता है मोटे तौरपर व्यक्ति समाजका अग होनेसे उसके बोध इच्छा या प्रयत्न भी समाजके बोध इच्छा या

प्रयत्न के अग होने चाहिये इस मान्यताके आदर्शके अनुरूप व्यक्तिको समाजविरोधी निरकुश स्वातन्त्र्य प्रदान करना समाजमे मान्य नहीं हो पाता है अब यहा यदि समाजाधीन व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी धारणाका अगीकार आपत्तिजनक न लगता हो तो ब्रह्माधीन जीवस्वातन्त्र्य भी आपत्तिजनक लगना तो नहीं चाहिये

[१]धार्मिक व्यक्तिस्वातन्त्र्य धर्मोके दो वर्ग प्रमुख दिखलायी देते है एक वर्ग इस सृष्टिकी तरह धार्मिक विधि-निषेधोको भी ईश्वरीय विधान गिननेवालोका है दूसरा वर्ग सृष्टिकर्ताके रूपमे ईश्वरको नकारनेवालोका होनेसे सिद्ध पुरुषोके दिव्य ज्ञानके आधारपर साक्षात्कृत धर्मनियमोको स्वीकारनेवालोका है इन दोनोमेसे कोई भी धर्मसम्प्रदाय अपने-अपने धर्मग्रन्थोमे मिलते विधि-निषेधोसे विरुद्ध न जाते होने पर ही उतने अशोमे केवल मनुष्यके स्वयके बोध आकाक्षा या प्रयत्न के स्वातन्त्र्यको मान्य रखते है मूलमे तो स्वयके धर्मग्रन्थोमे उपदिष्ट बोधसे विपरीत जाने पर किसी भी बोधको ये धर्मसम्प्रदाय अन्यथाबोध ही मानते होनेसे उनकी निन्दा ही करते है अत व्यक्तिबोधके आधारपर उद्भूत इच्छा या आकाक्षा और तदनुरूप प्रयत्न को भी अधर्मके रूपमे ही घोषित करते हे अत धार्मिक व्यक्तिस्वातन्त्र्य भी उन-उन खूटिओंसे बधा ही व्यक्तिस्वातन्त्र्य सिद्ध होता है

उदाहरणतया वैदिक यज्ञयागोमे पशुओकी आहुतिको धर्म माननेवाली वैदिकी श्रद्धाको जैन धर्म अन्यथाबोध मानते है वेसे यज्ञानुष्ठानोकी आकाक्षाको अधर्मेच्छा और अनुष्ठानको साक्षात् पापाचरण ही मानते है इसी तरह जैनाके अठ्ठम जेसे व्रतोंको अपनी भगवद्गीताके ''अशास्त्रविहित घोर तप्यन्ते ये तपो जना दम्भाहकारसयुक्ता कर्षयन्त शरीरस्थ भूतग्रामम् अचेतसो मा चैव अन्त शरीरस्थ तान् विद्धि आसुरनिश्चयान्'' (भगवद्गीता १७।५-६) वचनके अनुसार हम आसुर कर्मानुष्ठान मानते है यहूदी-मुस्लिम धर्म मूर्तिपूजनको महान् पाप मानते है मुसलमान

अत मन्दिरो और मूर्तिओ को तोड देना महान् पुण्यकार्य मानते है जबकि देवमूर्तिकी, यदि प्राणप्रतिष्ठा हुयी हो तो उसे अपूजित रखनेमे हम बड़ा भारी पाप मानते है ईसाइ धर्ममे प्राचीन कालमे, हालमे जानना मिला कि, शुक्रवारको मास खानेवालोको नरकगामी माना जाता था अब निषिद्ध होनेपर भी उस अपराधको नरकदायी नही माना जाता है किसी भी सजोगमे इसमे व्यक्तिके बोध आकाक्षा या प्रयत्न की तुलनामे धर्मसस्थाओंके बोध और निर्धार को ही प्रमुख माना जाता है

*भक्तिमार्गीय व्यक्तिस्वातन्त्र्य सामान्य बोलचालकी भाषामे भक्तिको धर्मके रूपमे ही मान लिया जाता है अत धार्मिक स्वातन्त्र्य और भक्तिमार्गीय स्वातन्त्र्य को पृथक्तया विचारना आवश्यक नहीं धर्मकी, परन्तु, शास्त्रीय परिभाषा या स्वरूप का विचार यदि गम्भीरतया किया जाये तो भक्तिको धर्ममे खपाया नही जा सकता है अलग-अलग समुदायोद्वारा समादृत शास्त्रोमे उपदिष्ट विधि-निषेधोके कारण जो कृत्य-व्यवहार वाणी या विचार हमारेलिये स्वीकरणीय या अस्वीकरणीय हो उन्हे धर्म या अधर्म माना जाता है ऐसा होने पर भी कोई भी शास्त्र स्वयकी समग्र दिव्यता या श्रेष्ठता के उपरात भी खुदके आदेशमात्रसे किसी भी मनुष्यके भीतर कर्मानुष्ठान व्यवहार विचार या भावना या आराध्य वस्तु या व्यक्ति के प्रति स्नेह उत्पन्न करने सक्षम हो नही पाता अन्यथा शास्त्राके हठात् कराये गये पारायणमात्रसे लोगोकी धारणा या भावना मे नास्तिकता निवारी जा सकती थी। अर्थात् हठात् कोई बात किसीको समझायी जा सकती हो परन्तु हठात् किसीके भी भीतर स्नेहभाव प्रकटाया नहीं जा सकता है अत कभी कोई किसीसे बलात् बाह्यादर प्राप्त कर पाता है परन्तु किसीकी हार्दिक भक्तिके भाजन होना केवल आदेश या उपदेश के आधारपर शक्य नही होता स्नेहकी भावनापर स्वय भावुक व्यक्तिका बस भी कभी चलता नहीं है तो दूसरे किसीका आदेश या उपदेश तो कैसे चल

पायेगा। अत धार्मिक स्वातन्त्र्यकी तुलनामे भक्तिमार्गीय स्वातन्त्र्य पृथक् विचार मागता है

भक्तिसाधना विश्वके लगभग सभी धर्मोमे उपलब्ध होनेवाली विश्वव्यापी मनोवृत्ति है फिरभी कण्ठोक्त विधि-निषेधवश या प्रचलित व्यवहारवश सभी भक्तिसम्प्रदाय अपने-अपने एक इष्टदेव या एकाधिक इष्टदेवो के अलावा दूसरे देवोकी भक्तिको कभी अनावश्यक, तो कभी अनुचित भटकाव, तो कभी पाप भी मानते है अतएव "अन्याश्रयो न कर्तव्य सर्वथा बाधकस्तु स" कहा जाता है यद्यपि आधुनिक युगमे धार्मिक सम्प्रदायोके साथ बध कर न रहनेकी धर्मनिरपेक्षवादकी अधाधुधीके कारण बहोत सारे धर्मसम्प्रदायोके अनुगामिओंने बिनमागी छूट इस बाबतमे ले कर सभी देवमन्दिरोमे पूजा-दर्शनभक्ति करनेवाला एक नया सम्प्रदाय खडा किया है इसका उपाय न तो शास्त्रके और न उसके उपदेशकोंके पास ही उपलब्ध है आधुनिक युगकी इस अधाधुधीके कारण दिनानुदिन बिफरनेवाला स्वधर्मनिष्ठाक्षय ही इसमे हेतु लगता है, सर्वधर्मनिष्ठा नहीं सभी धर्मोके बीच निरन्तर चलती प्रतिस्पर्धा भी इसमे दूसरा प्रमुख कारण बनी है किसी भी तरहके अधिकारिताके विवेकको वापरे बिना प्रत्येक धर्मोपदेशकोमे अपने चेले मूडनेकी मनोवृत्तिका प्रबल हो जाना भी आधुनिक युगकी एक बडी विडम्बना है इसीके कारण प्रत्येक धर्मसम्प्रदायोमे उसे सनिष्ठापूर्वक अनुसर पाये ऐसे अनुगामी अब अल्पसख्यक रह गये है अन्यथा किसी भी धर्मसम्प्रदायमे अपने मूल उपदेशके प्रति निष्ठाशील रहनेपर भक्तिस्वातन्त्र्य व्यक्तिको दिया गया दिखलायी नही देता वैयक्तिक पारिवारिक या सामाजिक सहजताके कारण अपने-अपने आराध्यकेलिये भक्तिभावना रखनेकी छूट मान्य होन पर भी दूसरोके आराध्यके प्रति भक्तिभावनामे भक्तिसम्प्रदायोंको आधिदैविक व्यभिचार जैसा कुछ लगता है वह अनन्यभक्तिका भाव भी आज लग्नसस्थाकी तरह टूटनेवाली कगारपर खडा हुवा है

समाजशास्त्री लग्नसस्थाके तीन प्रकार समझाते है ¹बहुपत्नीवाद पितृप्रधान समाजकी प्रमुख चारित्रिक विशेपता मानी गयी है ²बहुपतिवाद मातृप्रधान समाजकी ³एकपतिपत्नीवाद उभयप्रधान समाजकी तदनुरूप ही कुछ भक्तिसम्प्रदाय ¹आराध्य-प्रधान होनेके कारण ऐकान्तिक भक्तिसम्प्रदाय होते है रामानुज माध्व वाल्लभ शैव शाक्त आदि सम्प्रदायोको इस श्रेणीमे गिनना चाहिये आराध्यके चयनमे ऐसे सम्प्रदाय व्यक्तिका स्वातन्त्र्य मान्य रखते हे परन्तु निजाराध्यसे इतर आराध्यकी भक्तिका स्वातन्त्र्य व्यक्तिका मान्य नहीं होता ²आराधक-प्रधान भक्तिसम्प्रदायोमे एक आराधकके अनेक आराध्य होनेकी रीति निर्दोष मानी गयी है वस्तुतया, परन्तु, ऐसे स्मार्त या उपासनावादिओ के मतके अनुसार भक्ति लक्ष्य न हो कर लक्ष्य तक पहुचनेके एक सुगममार्गतया मानी जाती है ³उभय-प्रधान भक्तिसम्प्रदाय प्राय वन्यजातिओमे दिखलायी देते है जहा उन-उन जातिओके अपने-अपने विभिन्न आराध्य देवता होते है अपने देशमे भी आधुनिक नागरी सस्कृतिके प्रबल होनेसे पूर्व ग्रामदेवता या कुलदेवता अलग-अलग माने जाते थे ⁴तदुपरात प्राचीन वर्णाश्रमी व्यवस्थामे भी पृथक्पृथक् कर्मदेवता उत्सवदेवता और स्थानदेवता की आराधनाविधि उपलब्ध होती है तदनुसार जो कर्म या जिस प्रसग या जिस स्थानमे जिस देवताके पूजनका विधान हो उसकी जगह अन्य देवताके यजन-पूजनको अविहिताचरण माना जाता था ⁵अब पाचमी रीत एक आधुनिक फेशनकी अविवाहित सहजीवन जैसी भक्तिभावमे भी चल पडी है इसमे स्वयके आराध्यके अलावा दूसरोके आराध्यको भी भजने या न भजने का सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य व्यक्तिका मान्य हो गया हे अधिकाश राजनीतिज्ञोको यह मनोवृत्ति समाजके प्रत्येक वर्गके वोट पानेको अधिक रास आती है वैसे इस प्रकारमे भक्तिभाव कितना ओर दिखावा या देखादेखी कितनी यह तो शान्त चित्तसे विचारनेकी बात है।

<u>व्यक्तिस्यातन्त्र्य लीलात्मिका क्रियारूपमें ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके सन्दर्भमें</u> :

स्वयकी स्वार्थसिद्धि या दूसरोको छलने के हेतु किये जाते

दम्भ या कपटपूर्ण निष्ठुर व्यवहारोंसे विलक्षण, इसी तरह रसानुभूतिके हेतु अभिनीत व्यावसायिक नाटकोंसे विलक्षण, अथवा तो दो प्रणयी युगलके बीच प्रणयभावके दृढीकरणार्थ मिथ्या प्रणयवचन या प्रणयक्रीडा से भी पृथक् कोई एक वास्तविकता लीलाभावकी होती है

इस लीलाके तथ्यके प्रमुख तो दो प्रकार पर एक गौण भी, ऐसे कुल तीन प्रकार सम्भव है [१]रसानुभवार्थ [२]रसानुभावनार्थ और [३]भगवद्गीतोक्त स्थितप्रज्ञता

[१]प्रथम प्रकारका लोकसिद्ध उदाहरण बाल्यावस्था या किशोरावस्था के चोर-सिपाही जैसे खेलका लिया जा सकता है ऐसी क्रीडाआमे न तो कोई किसीको छलना चाहता है और न निश्छल खेल-कूदद्वारा रसानुभूति पानेके सिवाय दूसरा कोई गम्भीर हेतु ही सोचा जा सकता है जो बालक चोर बनता है उसकी चोर होनेकी अहन्ता जैसे लीलात्मिका होती है, वैसे ही उस अहबोधके कारण खेल-खेलमे चोरी करनेकी इच्छा भी लीलात्मिका होती है और वैसी लीलात्मिका इच्छाके कारण खेलमे चोरी करनेकी चतुराई भी लीलात्मिका ही होती है सामने पक्षमे जो बालक सिपाही बना हो उसका ''मै सिपाही हु, और मुझे चोरको पकडना चाहिये'' ऐसा आत्मबोध और कर्तव्यबोध दोनो ही लीलात्मक होते है उसके कारण प्रकट होता पुरुषार्थ भी लीलात्मक ही होता है

शुद्धाद्वैतवादमे सृष्टिको भगवल्लीलाके रूपमे बिरदाया जाता है तदनुसार ब्रह्मने भी स्वयकी एकमेवाद्वितीयतामेसे अनेक नाम-रूप-कर्मोके द्वैत प्रकट किये इन अनेकविध नाम-रूप-कर्मोके प्राकट्यकी पृष्ठभूमिमे लीलाभावके अलावा अन्य किसी गम्भीर हेतुको नकारा गया है

''न प्रयोजनवत्त्वात् लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'' (ब्रह्मसूत्र -

२।१।३२-३३) अतएव भाष्यकार भी खुलासा करते है कि "'सवे नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते स द्वितीयम् ऐच्छत् स ह एतावान् आस' इत्यादि श्रुतिओंके आधारपर, 'एष उ एव' इस श्रुतिके आधारपर भी उन-उन साधनोंको करवा कर उन-उन फलोंको देते हुवे भगवान् स्वक्रीडार्थ ही जगद्रूपेण आविर्भूत हो कर क्रीड़ा कर रहे हैं ऐसा वैदिकोंका निर्णय है"

(अणुभाष्य १।१।११)

यह बात ब्रह्मके स्वरूपको लक्ष्यमे रख की गयी है भगवल्लीलाके सन्दर्भमे यही बात कुछ ओर आगे कैसे बढती है उसे भी महाप्रभुके शब्दोमे देख लेना उचित होगा—

"यही निश्चित करके श्रीकृष्णने अर्जुनको कहा कि 'जो मेरी शरणमें आते हैं वे ही मेरी इस मायाका पार पा सकते है' यहा 'ही' लगा का भगवान्ने अपने अलावा सभी साधनोंकी अनुपायता कह दिखाई है क्योंकि कर्म ज्ञान या भक्ति आदि सभी भगवान्के ही आधीन सदा होते है अत सभी साधनों या उपायों में विश्वास छोड कर कृष्णको ही भजना चाहिये, जिनका भगवत्प्राप्तिके उपायतया निरूपण हमने किया वे भी विष्णुकी कृपा हो तो ही फलप्रद होते हैं अन्यथा नहीं अत जो ज्ञानादि उपायतया कहे गये हैं वे तो केवल लोगोंको भगवान्की ओर अभिमुख बनानेको कहे गये उपाय हैं बावजूद इसके ऐसे नहीं मान लेना चाहिये कि शास्त्रोक्त साधन सर्वथा निरर्थक ही होते हैं क्योकि भगवान्की कृपा होनेपर वे ही फलसाधक बन जाते हैं अत उपदेश प्ररोचनार्थ होनेपर भी वस्तुतस्तु भगवत्कृपा ही एक मुख्य साधनतया सिद्ध

होती है... भगवत्कृपाके अलावा अन्य कोई साधन नहीं इस बारेमें प्रमाण है 'जो न योगसे न सांख्यसे न दान व्रत तप या यज्ञयागादिसे अथवा वेदोंके व्याख्यान या स्वाध्याय से या संन्याससे ही बहुत प्रयत्न कर लेने पर भी पाया जा सकता है उसे पाना हो तो विधि-निषेध प्रवृत्ति-निवृत्ति और श्रोतव्य-श्रुत की चिन्ता छोड कर, सभी देहधारिओंके आत्मरूप केवल एक मेरी शरणमें सर्वात्मभाव रख कर आ जाओ, तुम्हें कहींसे भयभीत होनेका कोई भी कारण बच नहीं जायेगा' यह भागवतके एकादशस्कन्धोक्त उपदेशका प्रमुख सार है. इसे स्वयं भगवान्ने समझाया है और स्वयं भगवान्के अलावा भगवान्को अधिक कौन जान सकता है? अतः जो कोई कुछ भी कहता हो उसे मिथ्यावचन ही समझना चाहिये. कर्मयोग ज्ञानयोग या भक्तियोग आदिमें कुछ भी कृष्णको प्रकट करनेके हेतु अपनाने चाहिये पर हमें यदि कृष्णकी तुलनामें साधनोंपर अधिक निष्ठा होगी तो भगवान् भी उदासीनतया ही प्रकट होंगे! और स्वयं भगवान्पर निष्ठा होना भगवान्की उदासीनताको दूर करनेका हेतु बनेगा... यह ठीक है कि भगवान् अपने वाक्योंको सत्यापित करनेको कर्मयोगादिमें भी प्रकट तो होते ही हैं परन्तु आग्रहवश ही...

(त.दी.नि.प्र.२।३०४-३१२).

अब यह सिद्धान्त जिसे न रुचता हो वह व्यक्ति इसका प्रत्याख्यान कर सकता है. परन्तु जो सम्भव नहीं वह यही कि लीलावाद स्वीकारनेके बाद जीवात्माके ऐकान्तिक व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी मनोभ्रमणा. क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा अन्तमे तो परमात्माके धारण किये हुवे रूपान्तर ही हैं. अत इन रूपान्तरोमें जो स्वयंका स्वातन्त्र्य प्रतीत होता है उसे वास्तविक अनुभूति तभी मानी जा सकती है जब

अनुभवकर्ता स्वयकी सत्तामे परमात्माका भी अनुभव करता हो अन्यथा तो जो कुछ स्वातन्त्र्य अनुभूत हो रहा है वह वेसे लीलार्थ परिगृहीत स्वरूपको वेसे स्वरूपकी मर्यादामे प्रदत्त स्वातन्त्र्य ही है यह व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी सीमा व्यक्तिके बोध आकाक्षा प्रयत्न या फलप्राप्ति को भी किसी सीमामे परिच्छिन्न कर देती है लीलार्थ सृष्टिमे किसी भी एक व्यक्तिकी बोधक्षमता इच्छाक्षमता या कृतिक्षमता अथवा तो वस्तुकी क्रियाकारक या फलप्रापक साधनक्षमता भगवन्निर्धारित सीमित ही हो सकती है सख्याकी दृष्टिसे पचीस या पचास मे वे क्यो न गिनी जाती हो! अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु अपने परिसीमित सामर्थ्यके अनुसार कुछ या बहुत कुछ कार्य करनेको समर्थ होनेपर भी आत्यन्तिक स्वतन्त्र या सक्षम हो नही पाता

[२]लीलाका दूसरा प्रकार लोकसिद्ध उदाहरणमे देखना-जानना हो तो प्राचीन कालमे उन-उन देवताओके भक्तोद्वारा किये जानेवाले अपने आराध्यदेवोके चरित्रोका लीलानुकरण गिना जा सकता है भक्तगण परस्पर मिल कर अपने आराध्यदेवके रूप गुण या चरित्रो मे रहनेवाली रसात्मकताका अनुभव एक-दूजेको कराने-करानेके हेतुसे ही रामलीलासदृश लीलानुकरण करते थे अतएव भगवान् गीतामे कहते है "अह सर्वस्य प्रभव मत्त सर्वं प्रवर्तते इति मत्वा भजन्ते मा बुधा भावसमन्विता, मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्त परस्पर कथयन्त च मा नित्य तुष्यन्ति च रमन्ति च, तेषा सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वक ददामि बुद्धियोग त येन माम् उपयान्ति ते, तेषामेव अनुकम्पार्थम् अहम् अज्ञानज तमो नाशयामि आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" (भगवद्गीता १०।८-११) यहा भगवान्को सर्वकारण और सर्वप्रवर्तक मान कर भावपूर्वक भजन करनेवालोके अज्ञानका नाश करके जीवको भगवत्प्राप्ति करानेवाला बुद्धियोग भी भगवान् स्वय देते है, इतना ही केवल मान कर कोई विशेष अपवादका उदाहरण इसे मानता हो तो यह कथा उतनी मात्र नही है क्योकि इससे पहले स्वय भगवान्ने यह खुलासा

कर रखा है कि "बुद्धि ज्ञानम् असम्मोह क्षमा सत्य दम शम सुख दु ख भवो अभाव भय च अभयमेव च अहिंसा समता तुष्टि तपो दान यशो अयशो भवन्ति भावा भूताना मत्तएव पृथग्विधा "(भगवद्-गीता १०।४-५) अत निरपवादतया भक्त या अभक्त सभीके भीतर नानाविध भाव भगवान् ही प्रकट करते है अपनी भक्तिमार्गीय साधनाके मूल इसी रसानुभावनाकी मनोवृत्तिमे रहे हुवे है इसीलिये भागवतमे भी "उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माणि अभिनयन् मम मत्कथा श्रावयन् शृण्वन् " (भागवत ११।२७।४४) यह भजनरीति दिखलायी गयी है

आधुनिक युगमे प्रत्येक प्रकारके लोग प्रत्येक सम्प्रदायमे घुस गये होनेसे उस रसानुभावनाका हेतु गौण बन गया आज तो व्यावसायिक नीतिमत्ताकी मर्यादा भी लाघ कर अपने पेट भरनेके छलप्रपञ्चके रूपमे भक्तिसाधना एक सार्वजनिक व्यावसायिक नौटकीके रूपमे विकृत हो गयी है। ऐसे भक्तिभावविहीन लोग भक्तिसम्प्रदायमे या तो प्रकट(!?) हो गये है या प्रविष्ट हो गये है कि जिसके कारण उनके हृदयमे लीलानुभावनका मनोभाव तो जाग ही नही पाता है अतएव तो नगाईपर उतर कर पारिवारिक धधेके रूपमे भगवत्सेवा और भगवत्कथा द्वारा अपने परिवारका पेट भरते है दूसरे कुछ चालाक लोग जनसेवा या सम्प्रदायप्रचार के हेतु चदा जुटानेके मुखौटे पहर कर भगवत्सेवाकी झाकी और भागवतसप्ताह आयोजित करते होते है। पुष्टिमार्गमे प्रविष्ट ऐसे प्रवाही जीवात्माओंकी कथा तो अलग है। हमे इनका विचार नहीं करना है हमे तो मूल आदर्शका ही विचार करना है

अत लीलाके प्रथम प्रकारमे परब्रह्म परमात्मा भगवान्के स्वरूपाद्वैतमे निगूढ अनन्तविध नाम-रूप-कर्मोके लीलात्मक द्वैतोकी रसानुभूति यदि शक्य हो और वही हेतु बनती हो तो लीलाके इस दूसरे प्रकारमे उस भगवल्लीलाकेलिये प्रकट हुवे पुष्टिजीवोंका प्रतिभाव या भक्तिरसानुभाव

है अन्तमे "ब्रह्म लटका करता है ब्रह्मके सामने" का तथ्य कभी भूलना नहीं चाहिये अत लीलात्मक स्वातन्त्र्य होनेपर भी स्वरूपात्मक स्वातन्त्र्यकी कल्पना यहा भी शक्य नहीं

[3]लीलाके तीसरे प्रकारतया भगवद्गीतामे वर्णित स्थितप्रज्ञता हमने गिनायी मूलमे उसका सार इतना ही है कि "विहाय कामान् य सर्वान् पुमान् चरति नि स्पृह निर्ममो निरहकार स शान्तिम् अधिगच्छति" (भगवद्गीता २।७१) अब थोड़ी धीरज रख कर यदि विचार करे तो समझनेमे लेशमात्र क्लेश नहीं होगा कि यदि सचमुचमे अहन्ता-ममतारहित चेतना विकसित हो पाये तो उसमे स्वातन्त्र्य जैसा कुछ भी बच कैसे जायेगा? क्योकि यदि "स्व=अह" समीकरण सच हो तो "निरहकार=नि स्व" भी कबूल करना पड़ेगा अब विचारे कि चेतनामे स्वका भास न होता हो तो स्वतन्त्रताका भास कैसे हो सकता है? तब प्रश्न उभरता है कि क्या स्थितप्रज्ञकी चेतना सुषुप्तोपम बन जाती होगी? नही। भगवान् स्वय इसका रहस्य समझाते है "एषा ब्राह्मी स्थिति स्थित्वा अस्याम् अन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति" (भगवद्गीता २।७२) अब यह जो ब्राह्मी स्थिति हो तो क्या "ये चैव सात्त्विका भावा राजसा तामसा च ये मत्तएव इति तान् विद्धि त्रिभि गुणमये भावै एभि सर्वम् इद जगत् मोहित नाभिजानाति माम् एभ्य परम् अव्ययम्, दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एता तरन्ति ते" (भगवद्गीता ७।१२-१४) यह भगवच्छरणागति, जिसके कारण भगवान् स्वय त्रिगुणात्मिका मायासे पार पानेका आश्वासन देते है, वह क्या ब्राह्मी स्थितिके बिना सम्भव होगी? यह यदि शरणागतिकी साधनावस्थामे अशक्य लगता हो तो स्थितप्रज्ञके बारेमे भी तो भगवान् अन्तकालके उपरात ब्रह्मनिर्वाणकी फलश्रुति प्रतिपादित कर रहे है अत बात वही कि वही खडी रहती है अत ब्राह्मी स्थिति साधनावस्था है और फलावस्थामे ब्रह्मनिर्वाण सिद्ध हो जाता है

एतावता निष्कर्षरूपेण हम कह सकते है कि उस एक परमतत्त्वके ब्रह्म होनेके पक्षके अनुरूप ज्ञानमार्ग है जिसमे शरणागतिके स्थानपर स्थितप्रज्ञताका उपदेश दिया गया है उसी ब्रह्मके भगवान् होनेके पक्षके अनुरूप स्थितप्रज्ञताके स्थानपर शरणागतिका उपदेश दिया गया है आत्मभावस्थित भगवान् जिसे कर्मयोगानुरूपा बुद्धि देते है उसे कर्मरूपेण प्राप्त होना चाहते है या मिले होते है जिसे ज्ञानयोगानुरूपा बुद्धि देते है उसे ज्ञेय ब्रह्मरूपेण प्राप्त होना चाहते है या मिले होते है जिसे भक्तियोगानुरूपा बुद्धि देते है उसे भजनीय परमात्माके रूपमे प्राप्त होना चाहते है या मिले होते है जिसे शरणागति प्रदान करना चाहते है उसके साथ किसी भी कर्म ज्ञान या भक्ति रूप साधन या साधना की अपेक्षा रखे बिना उसे प्राप्त होना चाहते है या मिले होते है अत भाष्यकार कहते है कि किसीको सुखी तो किसीको दु खी बनानेवाले भगवान् अन्तमे इस सृष्टिका कभी प्रलय भी करते होने पर भी विषम या निष्ठुर नही माने जा सकते लीलामे कर्मके अनुसार फलप्रदानकी व्यवस्था है बाकी स्वरूपदृष्ट्या तो स्वय अधिगृहीत अनेकविध रूपोंके साथ भगवान् निजानन्दका ही आस्वादन स्वय ही कर रहे होते है (अणुभाष्य २।१।३० ३७)

इस तृतीय प्रकारको गौण कहनेका हेतु इतना ही है कि भक्तिके दो पहलु माने गये है [१]माहात्म्यज्ञान और [२]सुदृढ-सर्वतोधिक स्नेह परब्रह्म परमात्मा भगवान्के स्वरूपगत अद्वैत और लीलार्थ प्रकट नाम-रूप-कर्मोंके द्वैत इन दो पहलुओके प्रति सकल एव योग्य प्रतिभाव भक्तिके ये दोनो पहलु होते है जबकि दोमेसे एक पहलुकी बाकी करने पर या तो उस परमतत्त्वके स्वरूपके हेतु अथवा तो उसमे प्रकट होनेवाली लीलाके हेतु सागोपाग प्रतिभावके स्थानपर आधा-अधूरा प्रतिभाव ही प्रकट होता है वह ज्ञानमार्गीयको लीलाके आनन्दानुभवमे बाधक बनता है उसी तरह कर्ममार्गीय या भक्तिमार्गीय साधकको वह उस परमतत्त्वके स्वरूपानन्दकी आनन्दानुभूतिमे बाधक बन जाता

है. इसी तरह शरणागतिमार्गीयको भगवत्स्वरूपके माहात्म्यके समक्ष केवल दैन्य प्रकट करनेमे सफल होता है पर स्नेह प्रकटानेमे सफल हो नही पाता. यो सांगोपांग प्रतिभाव प्रकट करनेमे सफल न होनेके कारण गोण कहा जाता है.

अत जब तक भक्ति विकसित नही हो पाती तब तक भक्तिमार्गके अंगतया शरणागतिको एक अनुकल्पतया स्वीकारा गया है. किसी कारणवश जीव कर्म ज्ञान या भक्ति के हेतु अधिकारी न भी हो तो उन सभी उपायोंके विकल्परूपेण भी शरणागतिका मार्ग तो सर्वदा सहायक होता ही है

उपसंहार :

अत उपक्रममे यह जो कहा गया कि [१]"शुद्धाद्वैतवादके अनुसार शरणागतिके उपदेशमे नि साधनताकी भावनाका उपदेश मनुष्यको अकर्मण्य बनाता लगता है" उसके समाधानार्थ कहा जा सकता है कि शरणागतिके उपदेशद्वारा जिसके भीतर अकर्मण्य होनेका मनोभाव प्रबल होता हो उसके द्वारा भगवान् कोई कर्म कराना नही चाहते होगे अन्यथा तो भगवान् स्वय कहते है "अथ चेत् त्वम् अहंकारात् न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि, यद् अहंकारम् आश्रित्य न योत्स्ये इति मन्यसे मिथ्या एष व्यवसाय ते प्रकृति त्वां नियोक्ष्यति, स्वभावजेन कौन्तेय निबद्ध स्वेन कर्मणा कर्तुं नेच्छसि यद् मोहात् करिष्यसि अवशोऽपि तत्" (भगवद्गीता १८।५८-५९)

दूसरी आशका [२]"परमेश्वरको कर्ता-कारयिता और समग्र ब्रह्माण्डको लीलारूपेण प्रस्तुत करनेवाले इस सिद्धान्तके कारण जीवात्माको स्वयके पुरुषार्थमे विश्वास खोनेका अवसर उपस्थित होगा ही" ऐसे जो दरसाया गया उसके बारेमे वह जान रखना उपयुक्त होगा कि भगवान्ने अर्जुनको "मयैव एते निहता पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!"— "ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया

तमेव शरण गच्छ सर्वभावेन भारत" (भगवद्गीता ११।३३ — १८।६१-६२) कहा इस उपदेशके अनुरूप भगवान्ने अपने विराट स्वरूपमे महाभारतकी लीलाका साक्षात्कार करा कर अपना कर्ता-कारयिता होना भी समझा दिया तदुपरात अर्जुनने अपने कर्तृत्वमे विश्वास खोनेके बजाय पूर्वापेक्षया उत्तम कोटीका विश्वास प्रकट करते हुवे "नष्टो मोह स्मृति लब्धा त्वत्प्रसादाद् मया अच्युत! स्थितोऽस्मि गतसन्देह करिष्ये वचन तव" (भगवद्गीता १८।७३) कहा अत लीलार्थ सृष्टिके सिद्धान्तको और भगवान्के कर्ता-कारयिता होनेके सिद्धान्तको श्रवण करनेका जो अधिकारी होगा उसका तो कभी स्वयके पुरुषार्थमे विश्वास खोनेका प्रसग नही आयेगा जिसे आ सकता हो उसका अधिकार आसुरी जीव होनेका भगवान्ने निर्धारित किया ही है अतएव इस विषयको भी भगवान्ने वही स्पष्ट कर रखा है कि "इदम् अद्य मया लब्धम् इम प्राप्स्ये मनोरथम् इदम् अस्ति इदमपि पुन भविष्यति पुन धन सिद्धोऽह बलवान् सुखी यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इति अज्ञानविमोहिता" (भगवद्गीता १६।१३-१५) अत ऐसे आसुरी जीवोंके बारेमे भगवान्ने जो गति निर्धारित कर रखी हो उसमे ननु-नच हमे करनी नहीं चाहिये

उसके बाद जो ³"शुद्धाद्वैतवाद कृत कर्मोके प्रति उत्तरदायित्वकी भावनाको खतम करनेवाली विचारधारा लगती है" आक्षेप किया गया उस बारेमे यह जान लेना चाहिये कि शुद्धाद्वैतवाद ही एक ऐसा वाद है जो "अह कृत्स्नस्य जगत प्रभव प्रलय तथा"—"भूतभावोद्भवकरो विसर्ग 'कर्म'सज्ञित" (भगवद्गीता ७।६ - ८।३) इन दोनो वचनोकी एकवाक्यताके अनुरोधवश कर्मको भगवत्स्वरूप ही मानता है अत भगवल्लीलासे जैसे विरक्त नहीं हुवा जाता वैसे ही कर्मसे भी उदासीन हो नहीं सकता

उसके बाद आता है ⁴"कर्मके प्रति उत्तरदायित्वको गौण बनानेपर

तो कर्मके बारेमे सदसद्विवेक वापरनेकी शक्तिके प्रयोगकी प्रेरणा भी रुंध जायेगी'' इस आक्षेपके समाधानरूपेण जान रखना चाहिये कि कर्ताका त्रैविध्य भगवानूने समझाया ही है तदन्तर्गत ''मुक्तसंगो अनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकार. कर्ता सात्त्विकः उच्यते'' (भगवद्गीता : १८।२६) वचनके आधारपर कर्मके बारेमे लीलाभाव रखते हुवे जो कर्माचरणमे प्रवृत्त होता हो वही सात्विक माना जायेगा. दूसरे तो या तो राजस या तामस ही कर्ता माने जायेगे. अत कर्मके प्रति उत्तरदायित्वको तान कर कर्मकर्ताके भीतर राजस या तामस भावोको उकसाना शुद्धाद्वैतवाद उचित नही मानता है. क्योकि ''सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तज् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्'' आदर्शके अनुरूप शुद्धाद्वैतवादी कर्ता स्वयंके विभक्त कर्तृत्वमे उस परमात्माके अविभक्त कर्तृत्वको निहार पानेकी भगवदाज्ञासे बधा हुवा रहेगा ही

अतएव ⁵''बोधस्वातन्त्र्य इच्छास्वातन्त्र्य और प्रयत्नस्वातन्त्र्य यदि जीवात्माके भीतर स्वीकारे न जाते हों तो धर्माधर्मका विभाग भी निभ नही पायेगा'' आक्षेपके बारेमे भी वाल्लभ दर्शनका सुस्पष्ट अभिप्राय यही है कि भगवान्ने ''बुद्धि बुद्धिमताम् अस्मि... ये चैव सात्त्विका भावा. राजसा. तामसा. च ये मत्तएव इति तान् विद्धि'' (भगवद्गीता · ७।१०-१२) कह कर सभी बौद्धिक ऐच्छिक या कार्मिक भावोंके प्रवर्तक होनेके रूपमे स्वयको बिरदाया है. अत भगवान्से अपराधीन जीवात्माका बोधस्वातन्त्र्य इच्छास्वातन्त्र्य प्रयत्नस्वातन्त्र्य सम्भव नही अत शुद्धाद्वैतवाद-पुष्टिमार्गका सिद्धान्त तो भगवत्प्रदत्त दिव्यदृष्टिद्वारा कराये गये स्वयके विराट् स्वरूपके तात्त्विक साक्षात्कारका शाब्दिक साक्षात्कार जैसा सिद्धान्त है. अत निमित्तमात्र बननेमे पुष्टिमार्गीयको कभी क्षुद्र बन जानेकी पीड़ा नही सताती है

सर्वान्तमे ⁶''परिणामरूपेण पुष्टिसम्प्रदायके भी विधि-निषेध अन्तमे

अर्थहीन साबित होगे" यह विधान ऐतिहासिक मूल्याकनके रूपमे हो तो कहना पडेगा कि आक्षेप यदि सच होता तो पुष्टिसम्प्रदाय पाच-पाच शताब्दीकी लबी अवधिमे टिक नही पाता जो भविष्यवाणीके रूपमे हो तो हालमे तो ऐसा कुछ दीख नहीं रहा है तब व्यर्थ ही अनिष्टभावनाके उद्रेकवश आत्मपीडनका औचित्य क्या? क्यो न भविष्यकी चिन्ता छोड कर हालमे तो पुष्टिमार्गको उसके सच्चे स्वरूपमे समझ लेनेके बाद ही कोई अपना अभिप्राय उसके बारेमे प्रकट करना चाहिये पुष्टिमार्गके विधि-निषेधोंके प्रति आधुनिक पुष्टिमार्गीय निष्ठाहीन हो गये है ऐसे आरोप लगाना प्रयोजन हो तो सबसे पहले तो ऐसा आरोप कौन लगा रहा है? पुष्टिमार्गी या अपुष्टिमार्गी? जो पुष्टिमार्गी तो पुष्टिमार्गके सिद्धान्त उसे अप्रिय हो नही सकते क्योकि स्वय महाप्रभुने इस बातका खुलासा दे रखा है—

> "प्रवर्तक तो सर्वदा श्रीकृष्ण ही होते है विध्यर्थ नहीं वे किस कर्मके द्वारा कैसा फल मिल सकता है ऐसा बोध उत्पन्न करके जीवात्माके कर्मप्रवर्तक बनते हैं" — "वेदोंमें निरूपित साधन और फल दोनों ही श्रीहरिके द्वारा लिये गये विविध रूप हैं अत भगवान् जिस साधन या जिस पुरुषार्थ के रूपमें जिस जीवात्माके भीतर प्रकट होते हैं तदनुसार अपना फलरूप भी वे उस जीवात्माकेलिये प्रकट कर देते है साधनरूप और फलरूप यों उभयात्मक श्रीहरिका वेदोंमें निरूपण मिलता है अत तदनुसार भगवान्की अभिव्यक्ति होने पर सारे पुरुषार्थ सिद्ध होते माने जाते हैं, क्योंकि भगवान् ही सर्वपुरुषार्थरूप बने हैं"
>
> (त दी नि प्र २।१७७—१७)

अब यदि ऐसी आशका प्रकट करनेवालेको अपुष्टिमार्गी माने

तो कौनसे धर्म या सम्प्रदाय में उसके अनुगामी अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तोंको सम्पूर्ण सन्निष्ठासे अपना पाये हैं कि केवल पुष्टिमार्गके बारेमें विशेष चिन्ता करनेका प्रसंग खडा किया जा रहा है?

एतावता यह मुद्दा शुद्धाद्वैतवाद-पुष्टिमार्गके गम्भीर विचार किये बिना उपस्थापित किया लगता है. जो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण और उनके आत्मज श्रीप्रभुचरण विरचित ग्रन्थोंका कोई गम्भीर अध्ययन करे तो ऐसे मुद्दे उपस्थित हो नहीं सकते.

बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु!



धर्मोंकी विविधता और विश्वमें शान्ति

उपक्रम :

हम सभी धर्मप्रेमी विश्वमे शान्ति तो चाहते है परन्तु ऐसी शान्ति तो कौन चाहेगा कि जिसे 'श्मशानशान्ति' कहा जाय। इसी तरह हम सभी अपनी-अपनी धर्मभावनाके तो प्रेमी होते ही है परन्तु फिर भी हमारे धर्मसम्प्रदायसे इतर धर्मोकी भावनाको टिकाये रखनेवाले, उसकी जीवनप्रणालीको घडनेवाले उन-उन धर्मानुष्ठानोंके प्रति, क्यो हमारे भीतर आदर तथा सहिष्णुता के मनोभाव पनप या निभ नही पाते? जो धर्ममात्रके बारेमे स्वय अश्रद्धालु हो उनसे तो ऐसी अपेक्षा रखनेकी बात नही कही जा सकती परन्तु श्रद्धालुओसे ऐसी अपेक्षा नहीं रखे तो किससे रखनी? अतएव मानवसमुदायको ऐसी सुविधा प्रदान करनेवाले स्वय हमारे धर्मके अलावा अन्य धार्मिक केन्द्रोके निर्बाध अस्तित्व तथा उनमे सम्पन्न होती गतिविधि को क्यो हृदयसे हम सह नहीं पाते है? धर्मको जीवनप्रणाली न मान कर केवल आस्थाप्रणाली माननेवालोकी कथा तो दूसरी हो सकती है परन्तु जो जीवनप्रणाली मानते हों उनके लिये यह समस्या आज अधिक विकट बनती जा रही है

दूसरी ओर एक तथ्य यह भी विचारणीय लगता है कि यदि ये ही धर्मके केन्द्र, स्वधर्मके निर्वाहके स्थल होनेके बजाय एक-दूसरेके साथ प्रतिस्पर्धा तिरस्कार तथा पारस्परिक विद्वेष के प्रचार एव प्रसार के केन्द्र बन जाते हो तब क्या करना?

यह ऐतिहासिक हकीकत है कि विभिन्न धर्मोके केन्द्र ही मानवसमुदायके भीतर सुदूर भूतकालसे आपसी अशान्ति फैलानेवाले बनते पाये गये

है, इस तथ्यको भी छिपाया तो नही जा सकता है. तब क्या करना ?

अत विश्वशान्ति और धर्मोंकी विविधता की बात चलते ही आज हमारा हृदय दुविधासे भर जाता है क्या हमारी विश्वशान्तिकी चाहना शेखचिल्लीके खयाली पुलाव है? अथवा धर्मोके मौलिक स्वभावके बारेमे हमारी समझ ही कहीं गलत तो नहीं?

कमसे कम विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय तो विश्वमे अशान्तिके हेतु न बने, ऐसी हमारी महत्त्वाकाक्षा क्या सचमुचमे मरुमरीचिकासे तृषा शान्त करनेकी कोई हमारी मनोभ्रान्ति है। यदि हमारी ऐसी इस मनोग्रन्थिकी मानसचिकित्सा भी करा लेनेको हम उद्यत हो जाये तो क्या यह स्वीकार कर लेना कि सभी धर्मोके मिट जानेपर ही सच्ची शान्ति विश्वमे सम्भव होगी? सभी धर्मोका मिट जाना उन-उन धर्मोमे दृढतर आस्था रखनेवाले मानवसमुदायके मिटे बिना कैसे शक्य हो पायेगा? फलत ऐसे पाशविक मनोभाव विश्वमे क्या श्मशानशान्तिके हेतु नहीं बन जायेगे?

यदि हम ऐसा सोचते हो कि दूसरे धर्मके अनुगामिओंको अपने धर्मके अनुगामी बननेको प्रेरित करना ही हमारे स्वधर्मका सच्चा निर्वाह है तो सिद्धान्तत मान लो कि जिस दिन सारे मानव ऐसे किसी एक धर्मके अनुगामी बन भी गये, तो उस दिनसे वह धर्म स्वत ही अनुष्ठेय नहीं रह जायेगा। और यो हमारे अवश्यकर्तव्यरूप धर्मके निर्वाहसे हमे वञ्चित होना पडेगा।

ऐसी स्थितिमे क्यो न आज ही ऐसे धार्मिक उन्मादसे हम अपने-आपको मुक्त कर ले? स्वयके ऐसे इस कर्तव्यके अलावा भी कोई तो अन्य कर्तव्य धर्मतया नियत होंगे ही, उन्हे क्यो हम

प्रधानता देना नही चाहते? वस्तुत तो क्या ऐसी स्वीकृति या ऐसी गतिविधि विश्वमे अशान्तिको ही और अधिक बढानेकी हेतु नहीं बन जायेगी? अत स्पष्ट होता है कि ऐसी तो धारणा ही स्वतोव्याहत है

यूनानी चिन्तक सुकरातके अनुसार मनुष्य एक बुद्धिमान पशु है "Man is a rational animal" अत मानवजातिकी बुद्धिशीलताने ही तो कही उसे धर्मोन्मादी होनेका अभिशाप तो नही दे दिया है, क्या ऐसे स्वीकार लेना? अथवा मानवजातिकी धर्मशीलताने उसे बौद्धिक होनेका वरदान दिया है, ऐसे स्वीकारना? ईश्वरास्तित्वसे प्रतिबद्ध न होनेवाले विकासवादी विज्ञानके अनुसार तो पहले मानवजाति बुद्धिशील प्राणीके रूपमे विकसित हुई और तब उसमे धर्मभावना भी जागृत हुयी परन्तु ईश्वरास्तित्वसे प्रतिबद्ध धर्मशास्त्रोंके अनुसार तो मनुष्य अपने धर्माधर्मका विवेक भलीभाति कर पाये, इसी प्रयोजनवश परमेश्वरने मानवको बुद्धिशील प्राणी बनाया है अतएव हम देख सकते है कि परिभाषाके तौरपर "मनुष्य एक धार्मिक पशु है" = "Man is a religious animal" विधान भी उतना तर्कसगत तो लगता है जितनी कि "Man is a rational animal" परिभाषा

आज हमारी आवश्यकता परन्तु हमारी बौद्धिकता तथा धार्मिकता के इन दो विभागोंके बीच परस्पर समन्वित हो कर काम करनेवाले दो विभागोवाली सुव्यवस्था पडनेकी अधिक है अर्थात् धार्मिक आस्थाका बुद्धिसगत उपयोग एव बौद्धिक सामर्थ्यका धर्मसगत उपयोग करनेकी अधिक है यह इस लिये और अधिक अनिवार्य प्रतीत होता है, क्योकि यदि ऐसा नहीं मानते तो या तो हमारी बौद्धिकताके भीतर हमे अधार्मिकताके बीज खोजने पडेगे, अथवा हमारी धार्मिकताके भीतर अबौद्धिकताके! जो मानव स्वभावत धार्मिक भी है और बौद्धिक भी, उसे क्या ऐसी खोज *डॉक्टर् जेकिल् एड मिस्टर् हाईड्* नहीं बना देगी? अत मानवव्यक्तिके व्यक्तित्वमे इस तरहका अन्तर्निहित

द्वन्द्व पैदा न करना हो तो हमारी धार्मिकता तथा बौद्धिकता के समन्वित प्रयोग करनेकी तात्कालिक ही नहीं प्रत्युत ऐतिहासिक या शाश्वत आवश्यकता आज तीव्रतर हो गयी है.

डार्विनके *सर्वाइवल् ऑफ फिटेस्ट्* सिद्धान्तमे हम धर्मनिष्ठोंने ही जाने या अनजाने आस्था रख कर, विगत अनेक शताब्दिओमे अपनी धर्मास्थाको फिटेस्ट् मान कर दूसरे धर्मोंको मिटा देनेके भरसक पुरुषार्थ एवं संघर्ष करके तो देख लिये। सुपरिणाम, किन्तु, कुछ मिला हो ऐसा तो नही कहा जा सकता है. हम भलीभांति जानते है कि न तो आज तक किसी भी एक धर्मकी ऐसी उन्नति हो पायी कि उसके अलावा अन्य धर्मोंको लोग भूल पाये. और न ऐसी सर्वातिशायिता ही किसी भी एक धर्मकी स्वीकार्य हो पायी कि कोई एक ही धर्म, भविष्यमे, मानवजातिका एकमात्र बुद्धि हृदय एव व्यवहार को सन्तुलित रखनेवाला धर्म मानने लायक घोषित किया जा सके.

<u>परधर्मसहिष्णुताको स्वीकारनेके धार्मिक हेतु</u>:

हम भलीभाति जानते है कि जितना शाश्वत शुभ परमेश्वर है उतना ही शाश्वत अशुभ 'शैतान' कहो, 'मिथ्यादृष्टि' कहो, 'मायाविद्या' कहो; अथवा 'निषिद्ध पापाचरण' कहो, वह भी है ही

स्वय परमेश्वर ही इस सृष्टिमे शैतानके अस्तित्वकी कुछ उपयोगिता स्वीकारता न होता तो सर्वज्ञ-सर्वसमर्थके लिये उसे खतम कर देनेके उपाय न खोज पाना हमारे समझमे न आनेवाली बात है। पराये धर्मको अधिकाधिक शैतानी प्रेरणाका परिपाक मान सकते है. परन्तु वह शैतान स्वय यदि परमेश्वरकी कृति हो और परमेश्वरकी अनुज्ञा या उपेक्षा के वश सृष्टिमे कार्यरत हो तो भी परधर्मके सर्वाइवल्मे परमेश्वरके शुभसंकल्प शुभप्रेरणा अथवा शुभ-अनुज्ञा तो स्वीकारनी पड़ेगी.

क्योकि परमेश्वर कुछ भी अशुभ तो सोच नहीं सकता और न होने दे सकता है।

इसी तरह किसी भी दृष्टिका मिथ्या होना उस दृष्टिके बौद्धिक विश्लेषणको सह न पानेके कारण ही तो माना जाता है परन्तु आज तक ऐसा कोई भी बौद्धिक विश्लेषण मानव समुदायमे प्रकट नही हो पाया हे कि जो सभीके लिये बुद्धिग्राह्य बन पाये। परधर्मको मिथ्यादृष्टि माननेवाले धर्म-सम्प्रदायोमे भी बहुधा आन्तरीक मतभेदवाली मिथ्यादृष्टिका एक-दूसरेपर आरोपण विश्वधर्मके इतिहासमे अनवगत कथा नही है

इसी तरह मायिक अज्ञानकी निवृत्तिके बारेमे धार्मिक हठाग्रही उपदेशाकोके मतमे भी शुद्ध ब्रह्मचैतन्य भी यदि मायाविद्याका अधिष्ठान और प्रकाशक न होता तो उस ब्रह्मके केवलाद्वैतमे मायाविद्याका अस्तित्व ही भासित कैसे हो पाता? अत इस माया या अविद्या रूपी शैतानका निर्वाहक पुन परमेश्वरस्थानीय शुद्ध ब्रह्मचैतन्य ही सिद्ध होता है

धर्मशास्त्रोंद्वारा निषिद्ध कर्तव्य 'पाप' कहलाते है परन्तु 'पुण्य' किसे कहना और 'पाप' किसे कहना इस विषयमे यदि सभी धर्म एकमत होते तो धर्मसम्प्रदायोके बीच विवाद या कलह की कोई आवश्यकता ही नहीं उठ पाती।

"कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्" का वैदिक आदर्श या आदेश भी यदि अपने अलावा अन्य मानवसमुदायको अनार्य मान कर आर्य बनानेकी दुर्दान्त अहकार भरी मनोवृत्तिसे ग्रस्त हो तो प्रत्येक सवेदनशील मानव पूछना चाहेगा कि अनार्य बने रहनेमे क्या आपत्ति हो सकती है?

हमारे पौराणिक शिव दुर्गा गणपति कार्तिकेय हनुमान राम विष्णु

या कृष्ण के एकमात्र कल्याणकारी, या एकमात्र विघ्नहारी, या एकमात्र सर्वव्यापी; अथवा एकमात्र मानवीय आदर्शके मूर्तिमान अथवा बहुआयामी देवाधिदेव (Multidimensional divinity) स्वरूप होना, प्रचारमाध्यमोंके प्रचुर उपयोगके बाद, भी विश्वमे सभीको मान्य हो पाता हो ऐसे लक्षण तो दिखलायी नही देते है.

यद्यपि केवलाद्वैत वेदान्तने मायाविद्याको अनादिसान्त मान कर उसे अर्धशाश्वत बनानेका एक रोचक उपाय प्रस्तुत किया है. फिर भी यह सान्तता मायाविद्याके स्वरूपापेक्षया न हो कर मुमुक्षु ब्रह्मज्ञानी व्यक्तिकी वैयक्तिक अपेक्षाका ही अनुसरण करती है. अत स्वयको ब्रह्मज्ञानद्वारा मुक्त बना लेनेवाले समर्थ ब्रह्मज्ञानी भी विश्वमे अशान्तिकी जड मायाविद्याका वैश्विक सन्दर्भमे निवारणकी सोच नहीं पाता.

मानवीय धर्मचेतनाकी ऐसी दुरवस्था इस तथ्यकी साक्षी है कि तथागत बुद्ध भगवान्‌के सर्वदृष्टिप्रहाणार्थ दिये गये "सर्वं शून्यम्" उपदेशका भी स्वयको सर्वदृष्टिओसे ऊपर उठानेके बजाय हमने अपने अलावा अन्य सभी दृष्टिया कैसे मिथ्यादृष्टि है, इसी उलझन और टकराव मे अपने-आपको भरसक फसाये रखनेमे अधिक उपयोग किया है.

सर्वदृष्टिओंके अप्रहाणार्थ भगवान् महावीरके अनैकान्तिकवादसे अनुप्रेरित हो कर भी हमने स्याद्वादके अगभूत न हो ऐसे अस्वकीय नयोको अप्रमाणिक ही मान कर शान्तिस्थापनाके प्रयासोमे पुन अशान्त कलहोकी ही बढोत्तरी की है. वाद-प्रतिवादोकी कडीको लम्बी बनानेको एक वादान्तरकी और बढोत्तरी की है फलत सर्वदृष्टिओपर अनुगृह हो नही पाया

न ईसाइयतके धर्मयुद्ध और न इन्क्वीजिशन् और न दीन-दु खिजनोकी शिक्षा-चिकित्सा आदिके जनसेवाके श्लाघ्यतम पुरुषार्थ ही जगत्‌मे सभीको

आज तक ईसाई बना पाये

इसी तरह न तलवारके बलपर और न श्लाघ्यतम सूफी सन्तोकी प्रेमभावनाके प्रचारके बलपर ही आजकी तारीख तक तो समग्र जगत्को मुसलमान बनाया जा सका है

अत परस्पर प्रतिस्पर्धा अविश्वास तथा असहिष्णुता के मनोभावोपर कथञ्चित् काबू पाना आजकी सबसे बडी आवश्यकता है परधर्मके प्रति अपने सहिष्णु बर्तावको एक धार्मिक व्रतके रूपमे स्वीकारना आज मानवसमुदायके परमधर्मतया हमे स्वीकृत होना चाहिये 'सहिष्णुता' का अर्थ यह नहीं कि किसी एक धर्म-सप्रदायके अनुसार जो धारणा या कर्तव्य अनुसरणीय न हो उसे भी अपना लेना परन्तु अन्य कोई व्यक्ति या समुदाय अपने धर्मके आदर्शोसे विपरीत भी कोई धारणा या कर्तव्य निभाना चाहता हो तो उसे रोकना-टोकना या उन्हें छोड देनेको किसीको बरगलाना नहीं चाहिये बशर्ते, वह धारणा या कर्तव्य अन्य धर्मसमुदायको अभीष्ट धारणा एव कर्तव्य को नष्ट करनेका कोई षडयन्त्र न हो तो।

<u>परधर्मसहिष्णु होनेमें बुराई क्या है ? ·</u>

यदि यह हम नही स्वीकारते तो सोचनेको बाधित होना पडता है कि आखिर कब तक विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय आपसी प्रतिस्पर्धा अथवा केवल अपने धर्मको ही एकमात्र विश्वधर्म मानने और मनवानेके निरर्थक भ्रम आत्मसम्मोह या आयासोमे अपने-आपको उलझाये रखेगे ?

विश्वमे जनमनेवाले किसी भी व्यक्तिके लिये अनुसरणीय धर्म होनेके अर्थमे तो कोई भी धर्म-सम्प्रदाय विश्वधर्म हो सकता है परन्तु विश्वमे जनमनेवाला प्रत्येक व्यक्ति जिसे अनुसर पाये ऐसे विश्वधर्म होनेके अर्थमे तो मुझे नही लगता कि अद्यावधि प्रकट किसी भी

धर्मका दावा यथार्थ सिद्ध हो पायेगा।

अत क्यो न सभी धर्म-सम्प्रदाय प्रचार-प्रसारवादी बननेके बजाय स्वस्वधर्मानुष्ठानमे तत्पर रह कर अपने-अपने अनुगामिओको स्वधर्माभिप्रेत दिशामे अधिकाधिक अग्रसर बनानेके किसी नूतन पुरुषार्थका शुभारम्भ करे। ऐसा करनेमे किसी भी धर्म-सम्प्रदायको कोई हानि पहोच सकती नही और धर्म-सम्प्रदायोके कारण विश्वमे आये दिन बढते विवाद या कलह से पैदा होनेवाली अशान्तिको दूर किया जा सकेगा

परधर्मसहिष्णु बननेसे लाभ क्या होगा ? :

विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोके बीच आपसी छीना-झपटी नही रह जायेगी तो अवश्य आपसी प्रतिस्पर्धा कम हो जायेगी आपसी प्रतिस्पर्धा कम होनेके परिणामतया आपसी विश्वास भी अवश्य ही पनप पायेगा अन्तमे वह आपसी विश्वास आपसी सद्भाव और सौहार्द मे क्यो खिल नही पायेगा। अन्तर्धार्मिक विवाहके जो भी कुछ लाभालाभ समाजशास्त्री दिखलाते हो मे बहोत समर्थक न होनेपर भी एक शुभलक्षण इसमे इतना अवश्य मानता हू कि हम धर्मसकीर्णताकी मनोवृत्तिवाले प्रौढ पीढीकी तुलनामे क्षीणतर धर्मनिष्ठावाली युवापीढी एक-दूसरेके प्रति विश्वास तो प्रकट कर पाती है। उचित होता कि अपने-अपने धर्म-सम्प्रदायके प्रति दृढ प्रतिबद्धता रखते हुवे हम इन नवयुवक-नवयुवतिओके जैसा पारस्परिक विश्वास जगा पाते। अत स्पष्ट होता है कि विश्वशान्तिके हेतु आपसी सद्भाव और सौहार्द के अभिवृद्ध्यर्थ आपसी छीना-झपटी बन्द होनी चाहिये

सभी धर्म-सम्प्रदायोमे धर्मोपदेशकोने त्यागी विरक्त सन्त महापुरुष होनेके तथा स्वधर्मके प्रचार-प्रसारके हेतु ममतास्पद भौतिक सुखसुविधाओके त्यागके उच्चतर आदर्श जनतामे निश्चय ही स्थापित किये ही है परन्तु आज उस अहन्ताके त्यागकी आवश्यकता अधिक है जो अहन्ता

हमे हमारे अलावा सभीको हमारे अपने धर्मका अनुगामी बनानेके विविध उपायोको अपनानेको हमे उकसाती रहती है।

<u>धर्मोकी विविधता इस सृष्टिका सच्चा सौन्दर्य है!:</u>

मै नहीं मानता कि सभी धर्मोको या किसी भी एक धर्मको हठात् दूसरे किसी धर्मके साथ मिल जाना चाहिये अथवा सभी धर्मोके अनुगामिओको सभी धर्मोके केन्द्रोमे नॉन्-कम्मिटेड् टुरीस्ट्स् अर्थात् अप्रतिबद्ध सैलानीकी तरह लटार लगानी चाहिये

क्योकि यदि किसी उद्यानके भीतर वृक्षो एव पुष्पो की विविधता विवाद या कलह का हेतु नहीं बनती यदि किसी खेत या खलिहान मे खाद्यान्नो तथा खाद्यफलो की विविधता विवाद या कलह का हेतु नही बनती यदि किसी होटल-रेस्टोरेटमे खाद्यसामग्रीकी विविधता जब विवाद या कलह का हेतु नही बनती तो फिर क्या कारण है कि मानवजातिमे परमेश्वर और धर्म की सकल्पनाओकी विविधताको हमने इतने विवाद, इतने कलह, और इतनी अशान्ति का हेतु बना रखा है? किसीको गुलाबकी सुगन्ध भाती हो तो क्या कोई चमेलीवादी बन कर या मोगरावादी बन कर उसके साथ प्रतिस्पर्धा की सोच पाता है। और किसीके चमेलीवादी या मोगरावादी बन जानेपर क्या गुलाबकी न्यूनता या अवहेलना का मनोभाव कभी-किसीके मनमे उभरता है क्या?

फिरभी विवाद और कलह तब बढ जाते है जब कोई चमेलीवादी बन कर या मोगरावादी बन कर गुलाबके उद्यानोंको उजाड़ देनेके मनोरथ प्रतिज्ञा या योजना चुपचाप या चौडेधाडे घड़ना चाहता है अथवा गुलाबप्रेमिओंको अपनी चमेलीवादी या मोगरावादी क्षुद्र मानसिक रुग्णताके वश कोई गुलाब पुष्पकी चाहना छुड़वा कर चमेली या मोगरे का चाहक बनाना चाहता है बस वहासे विवाद और परस्पर

अविश्वास बढने लग जाता है न किसीको ब्रेड या बिस्किट खाते देख कर पूरी या लड्डु खानेके शोखीनको अपने प्रिय भोज्य पदार्थकी न्यूनता या अवहेलना लगती है और न इसमे किसी तरह प्रतिस्पर्धाका भाव ही किसी मनुष्यके भीतर जगता है

धर्मोंकी विविधता कलहका हेतु नहीं परन्तु एकाधिकारिताकी मनोग्रन्थिमें ही सारे कलहके बीज रहते हैं:

अत सिद्ध होता है कि धर्मोंकी विविधता कलहका हेतु नहीं परन्तु केवल अपने ही धर्मको सबके उद्धारका एकमात्र उपाय मानना कलहका बीज बनता है जब अन्य समुदाय ऐसी महत्ता किसी एक धर्मकी स्वीकार न पाये तब अपने धर्मग्रन्थ धर्मप्रवर्तक तथा अपने परमेश्वरके स्वरूपकी अवहेलना मानना ही विश्वमे धार्मिक अशान्ति और कलह का मूल हेतु सिद्ध हुवा है

विश्वोद्धारके एकाधिकारी होनेकी मनोग्रन्थिपर काबू कैसे पाया जा सकता है?:

अत इस दुविधाको मिटाना हो तो सभी धर्मोंके निष्ठाशील अनुगामिओ एव प्रचारको के लिये एक उपयोगी उपाय यह उचित लगता है कि सभी धर्म-सम्प्रदाय यदि ईश्वरवादी हो तो अपने-अपने परमेश्वरके स्वरूपके अनुसन्धानमे तत्पर बने अथवा अनीश्वरवादी हो तो उनको अभिमत सृष्टिके सचालक शाश्वत नियमोके अनुसन्धानमे तत्पर बने विश्वशान्तिके हेतु पुन इनका स्वरूपानुसन्धान करे तथा उस स्वरूपके प्रति अपनी आस्थाको स्वय दृढताके साथ निभाये यो अन्यान्य धर्मोंके अनुसरण करनेवाले मानवसमुदायके उद्धारकी चिन्ताका अन्तमे त्याग कर दे

परधर्मानुयाईओके उद्धारकी चिन्ताको त्याग देनेके कतिपय हेतु:

(१)मौलिक नियामककी एकता विश्वधर्म होनेके दावेदार प्राय

सभी धर्म, यदि ईश्वरवादी होते हैं तो, उस परमेश्वरकी एकता उन सभी धर्मोकी आधारभूत धारणा स्वीकारी हुयी दिखलाई देती है. जो धर्म ईश्वरवादी नहीं वे भी अपने-अपने धर्मसम्प्रदायको अभिप्रेत विश्वनियामक शाश्वत धर्मनियमकी एकतामें तो विश्वास रखते ही हैं. ऐसी स्थितिमे विश्वकर्ता और/अथवा विश्वनियम के एक होनेपर प्रत्येक धर्ममें आस्था रखनेवालेका यह कर्तव्य हो जाता है कि विश्वमें सभी व्यक्तिओंको उस परमेश्वरके सत्य एवं शुभ संकल्पके अनुसार; अथवा उन सत्य एवं शुभ नियमके अनुसार, प्रेरित तथा शासित मानें. क्योकि यदि कोई एक ही परमेश्वर या एक ही धर्म सबका एकमात्र नियामक हो तो; और, वह अशुभशक्ति न हो कर सर्वथा सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वशुभ हो तो किसका कब किस धर्मोपायसे उद्धार करना यह उसके संकल्प और सामर्थ्य अथवा ऐसे नियम के भरोसे चलनेवाली बात होनी चाहिये. व्यर्थमे अन्यधर्मोको अनुसरनेवालोंकी चिन्ता किसी एक धर्मको अनुसरनेवाले असर्वज्ञ असमर्थ मानवको क्यो करनी चाहिये? अपने धर्मग्रन्थके अनुसार अन्य कोई धर्म अधर्मकी तरह लगता भी हो तो भी. सभी सभ्य समाजमे सामाजिक अपराधकर्ताको दण्ड जैसे न्यायालय ही देता है नागरिक नहीं, उसी तरह धार्मिक समाजमे दण्डदाता होनेका एकाधिकारी परमेश्वरको ही मानना चाहिये. कानूनको उस परमेश्वरके हाथमेसे छीनना भी एक अनीश्वरवादिताका लक्षण माना जाना चाहिये. अर्थात् परमेश्वरकी न्यायिताके भरोसे एक-दूसरेको छोड देना चाहिये. बजाय के उस परमेश्वरके अधिकारको अपने हाथमे छीन लेनेके. यदि हम धर्मप्रेमी इतना भी संयम नहीं निभा पाते तो उसकी एकतामे, उसकी सर्वज्ञतामे, उसकी सर्वशक्तिमत्ता और न्यायपूर्णता मे स्वयं हमने ही आस्था खो दी ऐसा माननेको बाधित होना पडता है. एतदर्थ हम देख सकते है परमेश्वरकी एकता कैसे विभिन्न धर्मोके लिये आधारभूत धारणा रही है.

यद्यपि हिन्दुओंको आरम्भमे एकेस्वरवादिओंने बहुदेववादी मान

लिया था। वस्तुत तो हिन्दुओंके देवोंकी बहुलता उनके ब्रह्मकी एकमेवाद्वितीयताके अन्तर्गत ही स्वीकारी गयी धारणा है जैसे एकेश्वरवादिओंमे अनेक सन्तोंका स्वीकार एकेश्वरवादके त्यागका प्रमाण नही माना जा सकता ठीक वैसे ही ऐसे ही हिन्दुओंमे देवगणोंकी अनेकता भी उनके एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके एकत्वको भूल कर मान्य नहीं रखी गयी है इसे हम इन श्रुतिवचनोंमे सुस्पष्टतया देख सकते है —

१ हिन्दुधर्म

यो न पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि
विश्वा यो देवाना नामधा एकएव त सप्रश्न भुवना यन्त्यन्या
(ऋक्संहिता १०।८२।३)

एको देव सर्वभूतेपु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा
कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च
(श्वेताश्वतरोपनिपद् ६।११)

अथ हैन विदग्ध शाकल्य पप्रच्छ - कति देवा ? याज्ञवल्क्य! इति सह एतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविदि उच्यन्ते त्रय च, त्री च शतात्रय च, त्री च सहस्रा इति ओम् इति होवाच

कत्येव देवा ? याज्ञवल्क्य! इति त्रयस्त्रिशद् इति ओम् इति होवाच कत्येव देवा ? याज्ञवल्क्य! इति पड् इति ओम् इति होवाच कत्येव देवा ? याज्ञवल्क्य! इति त्रय इति ओम् इति होवाच कत्येव देवा ? याज्ञवल्क्य! इति द्वौ इति ओम् इति होवाच कत्येव देवा ? याज्ञवल्क्य! इति अर्ध इति ओम् इति होवाच कत्येव देवा ? याज्ञवल्क्य! इति एक इति ओम् इति होवाच सहोवाच महिमानएव एषाम् एते देवा
(बृहदारण्यकोपनिपद् ३।९।२)

स यथा ऊर्णनाभि तन्तुना उच्चरेद् यथा अग्ने क्षुद्रा

विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मन सर्वे प्राणा सर्वे लोका सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्य उपनिषत् सत्यस्य सत्यम् इति प्राणा वै सत्य तेषाम् एष सत्यम्

(बृहदारण्यकोपनिषद् २।१।२०)

उपनिषदोके जैसा सर्वोपादान सर्वनियामक सर्वात्मक तत्त्व बौद्ध धर्मने मान्य नहीं है फिर भी मौलिक रूपमे जगत्को शून्य मानना और उस शून्यको अ-नाना मानना सभी भेदोके भीतर भरी हुयी किसी मौलिक एकताका स्वीकार तो है ही यथा—

२ बौद्धधर्म

अपरप्रत्यय शान्त प्रपञ्चै अप्रपञ्चितम्
अविकल्पम् अनानार्थम् एतत् तत्त्वस्य लक्षणम्

(मध्यमकशास्त्रम् १८।९)

अतएव लकावतारसूत्रमे तो यहा तक निरूपण किया गया है कि ऐसे शून्यमे आभासित होते रूपो और नामो को भुला कर देखनेका प्रयास करनेपर सारे भेदग्राही प्रत्यय विलुप्त हो जाते है रूपनामरहित तत्त्वकी अनुभूतिमे वस्तुतत्त्वके बारेमे किसी भी तरहके विकल्पका विधान शक्य नही रह जाता है इसे ही वस्तुतत्त्वकी 'तथता' कहा जाता है यह सर्वसामान्य अविभक्त अविवेच्य तथता ही परम सत्य है किन्तु इसे ही 'सत्य' 'विज्ञान' 'लोकातीतप्रज्ञा' 'विवेकपरिपाक' आदि कहा जाता है यह निराकार सविद् ही परम सत्यका चरमस्वरूप है जिसे सभी बुद्धोने धर्म घोषित किया है जब इसके अनुसार सारी तथ्योको समझनेका उद्यम होता है तब कोई पारमार्थिक ज्ञानसे सम्पन्न हो पाता है (द्र लकावतारसूत्रम् ८३) जब जगत्के प्रति हम ऐसी शून्यदृष्टिकी महत्ता स्वीकार सकते हो

तो कारण क्या कि ऐसे जगत्के अन्तर्गत प्रकटे धर्मसम्प्रदायोंके बारेमे उसी शून्यदृष्टिकी महत्ता न माने। इस सन्दर्भमे शून्यदृष्टिकी उपादेयताको कैसे इन्कार जा सकता है? पारमार्थिक शून्यतामे ही धर्मसम्प्रदायोंके रूपनामात्मक प्रभेद भी स्वीकारनेपर इन प्रभेदोंमे रही आधारभूत शून्यैकताका इन्कार भी शक्य नही

इस तरह देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्मके अनुसार जब सारे जागतिक भेदोके पीछे वास्तविकता शून्याद्वयकी हो तो धर्म-सम्प्रदायोंके विभेदके पीछे भी वही शून्याद्वय स्वीकार लेनेमे कोई आपत्तिजनक कथा होनी नही चाहिये यही तथ्य यहुदी धर्मके भी ईश्वरसम्बन्धी विधानोंके आधारपर कहा जा सकता है

३ यहुदीधर्म

> परमेश्वरने इसरायल्से कहा, "क्योकि तुमने मुझे अनेकानेक रूपोमे देखा है इसलिये ऐसे मत मान लेना कि परमेश्वर अनेक होते है परमेश्वर तो सदा एक ही होता है मै ही एकाकी तुम्हारा परमेश्वर हू" रबाइ लेवीने कहा, "परमेश्वर एक दर्पणकी तरह उनके सामने प्रकट हुवा कि जिसमे अनेक मुख प्रतिबिम्बित हो जाते है, हजारो लोग उसे देख सकते है और अपना प्रतिबिम्ब निहार सकते है" अतएव परमेश्वर जब इसरायलिओसे बात करने लगा तो प्रत्येकको ऐसी प्रतीति हुयी कि परमेश्वर व्यक्तिश उसीके साथ बात कर रहा था
>
> (पेस्तिका कहाना १०९बी-११०ए)

अधिक दूर जाना सर्वथा अनावश्यक है केवल इस दिव्य रहस्यको हम हृदयसे स्वीकार पाये कि प्रत्येक धर्मसंस्थापको हुई परमेश्वरकी

दिव्यानुभूतिमे परमेश्वरने यह अपनी परमप्रेमपूर्ण कृपालुता प्रकट की ही थी कि सभी धर्म ऐसा समझ पाये कि परमेश्वर केवल उस धर्मके स्थापक और उसके अनुगामिओके लिये ही विशेषत अनुग्रहशील है जब तक एकदूसरेके धर्मग्रन्थोको देख पानेकी सुविधा उपलब्ध नही थी तब यह परमेश्वरकी अनुग्रहशीलताका लाभ किसी एक धर्मका एकाधिकार *मोनोपोली* मानना एक बालसुलभ भोलापन हो सकता था और ऐसे इस भोलेपनके कारण हुवे धार्मिक कलह भी बालकलहकी तरह क्षम्य माने जा सकते है आज परन्तु जब हम एक-दूसरेके धर्मग्रन्थोको देख पाते है, उन्हे सच्चे सन्दर्भमे समझ पाते है, तब भी केवल अपने ही धर्मको परमेश्वरकी कृपाका एकाधिकारी मानना हमारी आध्यात्मिक रहस्योको भलीभाति न समझ पानेकी मूढता ही लगती है अतएव ईसाई धर्ममे भी यह परमेश्वरकी एकता उतने ही भारपूर्वक स्वीकारी गयी है यथा—

४ <u>ईसाईधर्म</u>

मै तुम्हारा परमेश्वर हू और मेरे सिवा दूसरा कोई है नही मेरे सिवा दूसरा कोई परमेश्वर है ही नही

(ईसाइआ ४५ ५)

परमेश्वरका ऐसे कहना कि "मै तुम्हारा परमेश्वर हू" यदि सिर्फ सेमेटिक जातिके लिये होता तो स्वीकारना पडेगा कि अन्य नॉन-सेमेटिक जातिके लिये वह परमेश्वर नहीं होता तब तो परमेश्वर होना कोई चाचा या ताउ जैसे इतरेतरसापेक्ष सम्बन्धकी कथा सिद्ध होगी परमेश्वरके निरपेक्ष स्वरूपकी नहीं बायबल् परन्तु ऐसे सापेक्ष सम्बन्धके अर्थमे उसे परमेश्वर नहीं मानती अपितु "मेरे सिवा दूसरा कोई परमेश्वर नहीं है" विधानद्वारा उसका निरपेक्ष स्वरूप ही परमेश्वर होनेका निरूपित करती है तब तो सिद्ध हो गया कि वह सभीके लिये परमेश्वर है ऐसी स्थितिमे सेमेटिकोंको लगे कि वह उनका परमेश्वर है हेमेटिकोको

लगे कि उनका है. इसी तरह अन्य भी विश्वकी नीग्रो, रेड इंडियन्स्, मंगोलियन या भारतीय आदि सभी मानवजातियोको लगे कि परमेश्वर केवल उनपर ही कृपाशील है. तो इसे स्पर्धा या ईर्ष्या का हेतु न बना कर परमेश्वरके प्राणिमात्रपर अनुग्रहशील होनेके आश्वासनके रूपमें स्वीकार लेना ही वास्तविक आध्यात्मिक सूझबूझ कहालायेगी.

५.<u>इस्लाम</u> :

कुल् हुवल्लाहु अहदुन्, अल्लाहुस्समदु, लम् यलिद्,
व लम् यूलद्, व लम् यकुल्लहु कुफुवन् अहदुन्.
(कुर्आन-शरीफ,सूरतुल् इख्लासि : ११२)

अर्थात् "कहो कि अल्लाह एक है. अन्याधाररहित अल्लाह ही सबका आधार है. न वह किसीकी औलाद है ओर न उसकी कोई औलाद होती है. और न कोई उसके समान ही हो सकता है." ये कुर्आन शरीफका विधान भी यद्यपि ईसाईओके होली फादर और होली सन् के द्वैतवादी सिद्धान्तके विरुद्ध जाती बात लगती है परन्तु कुर्आन शरीफमे यह स्पष्टतया स्वीकारा गया है कि "य्युअ्तिल्-हिक्मुत मैयशाउ" (कु श सूरतुल् बकर : ३।२६९) अर्थात् "वह जिसको चाहता है उसे ही समझ देता है" तो या तो उसे पक्षपाती मानना पडेगा कि किसीको सच्ची समझ देता है ओर किसीको खोटी अथवा फिर वही एक अल्लाह सबको एकजैसी समझ नहीं देता हो तो. जैसी समझ वह जिसे देता है उसी समझको अनुसरना उसकेलिये धर्म होना चाहिये चाहे अन्योको उसने वैसी समझ न भी दी हो तब भी अपनेको दी हुयी समझके अनुसार बरतना ही उसकेलिये धर्म हो पायेगा। अन्यथा उस एकमेव अद्वितीयकी इच्छाके विपरीत भी किसीको चलता माननेपर, या तो उसकी सामर्थ्यमे किसी तरहकी न्यूनता सिद्ध होगी; अथवा उसकी इच्छाके विपरीत चलनेका अपराधी बनना पडेगा. अतएव कुर्आन-शरीफमे यह बयान भी फर्माया गया

है, "हमने (समय-समयपर) तुममेसे हर एक (फिर्के)के लिये एक शरीयत और तरीक दिया और अगर अल्लाह चाहता तो तुम सबको एक ही दीन पर कर देता लेकिन (अलग-अलग शरीयत और तरीक देनेमे) यह मकसद रहा है कि (समय-समय पर) जो हुक्म तुमको दिये जाते रहे है उन (ही)मे तुमको आजमाये सो (ईमानवालो) तुम नेक कार्मोकी तरफ एकदूसरेसे आगे बढनेकी कोशिश करो" (कु श सूरतुल् माइद ५।४८) अतएव यही अल्लाहने जो एक आज्ञा मुसल्मानोको दी है, "या ऐयुहल्लजीन आमनू ला तत्तखिजुल्-यहूद वन्नसारा औलियाअ" (कु श सूरतुल्माइद ५।५१) अर्थात् मुसल्मानोको यहुदी और ईसाईओके साथ कभी दोस्ती नही रखनी चाहिये इस आज्ञाका भी मूल तात्पर्य उनके धर्मोको नष्ट करनेमे न हो कर उन्हे जिस तरहसे धर्माज्ञा दी गयी है उन "ाज्ञाओसे स्वयकी धर्मनिष्ठाको मुसल्मान कहीं शिथिल न बना ले इतने ही अभिप्रायके अनुसार लेनी चाहिये क्योकि कुरानेपाकमे अल्लाह तआलाने यह भी फर्माया है, "वल्लाहु ला युहिब्बुल मुफ्सिदीन" (वही ५।६४) अर्थात् अल्लाह फसाद फैलानेवालोको दोस्त नहीं रहने देता अत धर्मके नामपर फसाद फैलाना अल्लाहको भी पसन्द नहीं है, यह तो सिद्ध होता ही है

एतावता सिद्ध हुवा कि इन सभी धर्मोमे परमेश्वर एक ही होता है दूसरा कोई परमेश्वर तो हो नही सकता सो अब उसे 'ब्रह्म' 'शून्य' 'यहोवा' 'होलीफादर' या 'अल्लाह' जो चाहो नाम दे दो ये सारे नामभेद ही हो सकते है तत्वभेद तो नही यदि इतनी बात समझमे आये तो दूसरे धर्मोके परमेश्वरके प्रति आशकित या आतकित होनेकी जरूरत क्या है ?

एक अन्य सन्दर्भमे महात्मा गाधीके कहे एक उद्गार, मुझे लगता है, यहा भी लागू करने चाहिये उन्होने कहीं कहा था कि "यह धरती अपने ऊपर जनमनेवाले हर इन्सानके पेटको भरने लायक

अनाज तो पैदा कर सकती है परन्तु हर जमाखोरके भण्डारको भरापूरा रख पाये इतना अनाज पैदा नहीं कर सकती " इसी तरह परमेश्वरककी एकलता प्रत्येक धर्मसम्प्रदायके मुमुक्षुका उद्धार करने तो समर्थ हो सकती है परन्तु प्रत्येक धर्मसम्प्रदायके जगत्‌के प्रत्येक मनुष्यके उद्धारके एकाधिकारके दावेको न्यायोचित नही ठहरा पायेगी। किसी भी धर्मसम्प्रदायाभिमत परमेश्वरके एकत्वमे उतनी सामर्थ्य नही है उसके सर्वजनोद्धारके एकाधिकारके दावेका वह निर्वाह कर पाये।

अत प्रत्येक धर्मसम्प्रदायको अभिमत परमेश्वरके एकत्वका विचार करनेपर धर्मोकी विविधता कलह नहीं प्रत्युत परमेश्वरके जीवात्माओंके उद्धारोपयोगी सामर्थ्यके विविध सोन्दर्यके रूपमे स्वीकारना ही विश्वशान्तिके लिये एक महत्त्वपूर्ण हेतु बन सकता है

(२)परमेश्वरका सर्वातिशायी तथा सर्वशक्तिमान् होना - परमेश्वरका सर्वातिशायी तथा सर्वशक्तिमान होना भी सभी धर्मोको अभिमत है अत परमेश्वरके ऐसे सामर्थ्यका विचार करनेपर भी परधर्मानुयायीके उद्धारकी चिन्तासे सभी धर्मसम्प्रदायोको मुक्त होना आवश्यक लगता है, विश्वशान्तिके हकमे क्योकि जब वह सर्वातिशायी है ही तब अन्यान्य धर्मोको अभिमत रूपताले परमेश्वरकी लोग आराधना करे इस बारेमे उसकी मौन अनुमति माने बिना कोई गति ही नहीं रह जाती है क्योंकि परधर्माभिमत परमेश्वरका यदि अस्तित्व न हो तो डरनेका कोई कारण नही और हो तो प्रत्येक धर्मको स्वधर्माभिमत परमेश्वरके सर्वातिशायी होनेके तथ्यको भुला नही देना चाहिये। अत न तो ब्रह्मसे शून्यकी कोई प्रतिस्पर्धा हो सकती है न शून्यसे यहोवा ही प्रतिस्पर्धा कर सकता है न यहोवासे होलीफादर प्रतिस्पर्धा कर सकता है और न होलीफादरसे अल्लाह ही। क्योकि ये सभी सर्वातिशायी सर्वशक्तिमान है। अतएव ये अनेक हो नही सकते अत इन्हे नामभेदसे ही केवल भिन्न होना पडेगा और ऐसा स्वीकारते ही परधर्मानुयायीके

उद्धारकी चिन्तासे सभी धर्मसम्प्रदायोको मुक्त हो जाना आज हमारा परमधर्म होना चाहिये सभीने अपने-अपने परमेश्वरको सर्वातिशायी सर्वशक्तिमान कैसे माना है, यह देख लेना भी अत प्रासगिक ही होगा

१ हिन्दुधर्म

तम् ईश्वराणा परम महेश्वर त देवताना परम च दैवत पतिं पतीना परम परस्ताद् विदाम देव भुवनेशम् ईड्य, न तस्य कार्यं करण विद्यते न तत्सम च अभ्यधिक च दृश्यते परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।७-८)

अत सिद्ध होता है कि उस देवाधिदेवके बराबर कोई जब हो नही सकता तो फिर उसकी इच्छाके विपरीत बौद्ध जैन यहुदी ईसाई या इस्लाम आदि विविध धर्म विश्वमे चल कैसे सकते है? अत इन धर्मोको अनुसरनेवालोके उद्धारकी निरर्थक चिन्ता हम हिन्दुओको क्यो करनी चाहिये? जैन तथा बौद्ध धर्मोके आद्य प्रवर्तकोको पुराणोमे भगवान्के विष्णुके अवताररूपेण माना जाना भी स्पष्टतया इस तथ्यको पुष्ट करता है कि हम हिन्दुओंके परमाराध्य भगवान् विष्णुके सकल्पवशात् ही हिन्दुधर्मके विरोधी धर्मोकी भी प्रवर्तना जगत्मे हुयी है

२,३ यहुदी तथा ईसाई धर्म

परमेश्वर ही सदा और सर्वदा शासन करता है

(बायबल्-एक्जोडस् १५।१८)

मनुष्यके लिये कोई काम अशक्य हो सकता है परन्तु परमेश्वरके लिये कोई काम अशक्य नहीं

(बायबल् मार्क १०।२७)

एतावता सिद्ध हो जाता है कि यहुदी और ईसाई धर्मोके अनुसार भी यदि परमेश्वरको विविध धर्म चलने न देने होते तो उन्हें बन्द करवा देना उसके लिये अशक्य नही था. फिर अन्य किसी भी धर्मको अनुसरनेवाले लोगोंके उद्धारकी चिन्ता यहुदी या ईसाईओ को भी क्यो करनी चाहिये?

४.इस्लाम :

(क)लिल्लाहि मुल्कुस्समावाति वलअर्जि व मा फिहिन्न व हुव अला कुल्लि शैइन कदीरुन्."

(कु.श.सूरतुलमाइद : ५।१२०)

(ख)अलम् तर अन्नल्लाह खलकस्समावाति वलअर्ज बिलहक्कि ईयशअ युजहिब्कुम् व यअति बिखलकिन् जदीदिन्.

(कु.श.सूर इब्राहिम् : १४।१९)

अर्थात् (क)आकाश और भूमि के बीचमे जो कुछ है, उस सबपर उस अल्लाहका ही अधिकार है. वह सर्वशक्तिमान है. (ख) (ऐ इन्सान!) क्या तूने इस बातपर नजर नही की कि अल्लाहने आकाश और भूमि को अपनी इच्छाके अनुरूप बनाया है अगर वह चाहे तो तुमको हटा कर नई सृष्टि भी प्रकट कर सकता है

यह कितने बडे सत्यका विधान है। अत इस सृष्टिमे अल्लाहकी इच्छाके विपरीत तो कुछ हो ही न सकता हो तो व्यर्थ ही हम हिन्दु और मुसल्मान आपसमे एकदूसरेके साथ द्वेष विवाद या कलह, जो अल्लाहको पसन्द भी नही है, उसमे उलझ कर व्यर्थमे क्यो विश्वमे अशान्ति फैलाते है?

(३)परमेश्वरका सर्वशुभ तथा सर्वकल्याणकारी होना : तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि सभी धर्मोमे परमेश्वरको शुभतम एव कृपालु माना

गया है फिर नाहकमे हम अपने अलावा दूसरोंके धर्मोके कारण कुछ अशुभ हो जानेकी चिन्तासे क्यों ग्रस्त रहते है? वह परमेश्वर जिनपर कृपा करता है उन्हींके लिये शुभ होता है अन्यथा अशुभ भी, ऐसा तर्क देनेपर तो यह प्रश्न उठ सकता है कि तब वह कृपा किसपर करता है? किसी निश्चित समुदायपर अथवा किन्हीं सन्मति सदाशय ओर सदाचार निभानेवालोपर ही? यदि चुने हुवे समुदायविशेषपर तो या तो अन्य समुदायोपर वह अपना ऐश्वर्य स्वीकारता नही होना चाहिये अथवा खुदकी पैदा की हुई सृष्टिमे पक्षपात करनेवाला अन्यायी सिद्ध होगा परमेश्वर अन्यायी तो हो सकता नही, अत चुने हुवे समुदायविशेषपर माने तो कठिनाई यह आती है कि वह अपना ऐश्वर्य जब स्वीकारता न हो तो ऐसे समुदायको अपने धर्मनियमोंके तहद् अपराधी या पापी कैसे मान पायेगा? यदि सन्मति सदाशय और सदाचार के अनुसार वह कृपा करता हो स्वय सन्मति सदाशय और सदाचार उस परमेश्वरकी सृष्टिमे विभिन्न देश ओर विभिन्न कालमे एकरूपमें तो प्रकट हुवे नही है तब, और जो विविधता इस बारेमे प्रकट हुयी है वह उसकी इच्छाके विपरीत एक क्षण भर भी टिक नही सकती हो तब, एक समुदायकी धारणाके विपरीत दूसरे समुदाय सन्मति सदाशय या सदाचार के बारेमे अपनी अलग-अलग धारणा रखते हो तो उनमे उनका क्या दोष हो सकता है? सदुपदेशरूप अलग-अलग धर्मसन्देश विश्वमे सभीको मिले है परन्तु वे भी एकरूपतया तो मिले नहीं है अब जिस मानवसमुदायको जैसा धर्मसन्देश उनके बीचमे प्रकट होनेवाले जिस धर्मस्थापक या धर्मोपदेशक द्वारा मिला हो उन्हे वह न मान कर दूसरोको जो सन्देश मिला वह क्यो माने? किसी एक धर्मग्रन्थके अनुसार जिस तरहका उपदेश जब मिल ही गया हो तो दूसरे धर्मग्रन्थोमे क्या-कैसे उपदेश दिये गये है, इसकी चिन्ता निरर्थक सिद्ध होती है उदाहरणतया भारतमे रहनेवालेको अमरीकामे वाहन दायीं ओर चलाना नियम है परन्तु बायीं ओर चलाना मार्गनियमोका भग है, इसमे डरनेकी बात क्या हो सकती

है? अत केवल अपने ही धर्मग्रन्थको समग्र मानवजातिके लिये परमेश्वरके द्वारा भेजा गया एकमात्र सन्देश माननेवालोको सबसे पहले यह खुलासा करना चाहिये तब परमेश्वरने उस धर्मके प्रवर्तकको प्रत्येक मानवके पास पहुच पाये ऐसी सामर्थ्य या सुविधा क्यों नही दी? क्यो अलग-अलग मानवसमुदायोंके भीतर अलग-अलग धर्मप्रवर्तक पैदा होने दिये?

फलत यह सोचनेको बाधित होना पडता है कि सभी मानवसमुदाय किसी एक ही धर्मके अनुगामी बन जाये ऐसा स्वय परमेश्वरको भी अभिलषित होना नहीं चाहिये तब एक धर्मको अनुसरनेवालेको दूसरे धर्मके अनुसरनेवालेके उद्धारकी चिन्ता क्यों करनी चाहिये। ऐसी अनेकानेक धार्मिक आस्था जगत्मे विद्यमान तो है ही अत या तो अनेकेश्वरवादको प्रामाणिक मानना या फिर एक ही परमेश्वरके जो सर्वनियामक है उसके 'परब्रह्म' 'शून्य' 'यहोवा' 'होलीफादर' या 'अल्लाह' आदि अनेक नाम एव रूप हो सकते है, ऐसा मान लेना चाहिये इसे सच माने तो किसी भी नामसे उसे पुकारा जाये उसकी इन विभिन्न नामो और रूपो के साथ जुडी धार्मिक आस्थाओको टिकाये रखनेकी इच्छाके बिना सम्भव नही, यह सिद्ध हो जाता है

फिर हम हमारी धार्मिक आस्थाके विपरीत आस्थाओसे घबरा कर उनके प्रति आशकित या आतकित क्यो होते रहते है? हमारे परमेश्वरके सर्वसमर्थ सर्वकर्ता सर्वनियामक सर्वव्यापी सर्वज्ञ सर्वशुभ होनेमे हमे आस्था क्यों खोनी चाहिये? इसे भी विभिन्न धर्मोके इस विषयमे मिलते विधानोके आधारपर अच्छी तरह जाच-परख लेना चाहिये—

१ <u>हिन्दुधर्म</u>

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्म इति वेद चेद् अस्ति ब्रह्म इति चेद् वेद सन्तम् एन ततो विदु सो अकामयत् बहु स्या प्रजायेय इति इद सर्वम् असृजत यदिद

किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तदनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत्, निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्.

(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६)

आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति.

(तैत्तिरीयोपनिषद् : ३।६)

य सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरो. यं सर्वाणि भूतानि न विदु. यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्. य सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति. एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृत.

(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।७।१५)

सर्वाननशिरोग्रीव सर्वभूतगुहाशय सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगत शिव.

(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ३।११)

न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेव एष वृणुते तेन लभ्यो तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वा न अविरतो दुश्चरिताद् न अशान्तो न असमाहितो न अशान्तमनसो सापि प्रज्ञानेन एनम् आप्नुयाद्

(कठोपनिषद् : १।२।२३-२४)

इन वचनोके आधारपर यह निसकोच कहा जा सकता है कि उपनिषदोंके अनुसार सारे जगत्मे प्रत्यक्ष या परोक्ष, साधार या निराधार, विज्ञान या अविज्ञान अथवा सत्य या अनृत जो भी कुछ है वह सब उसीके लिये हुवे रूप है वह स्वय आनन्दरूप है और सारे जगत्को अपने आनन्दमेसे उत्पन्न करता है, उत्पन्न जगत्का आनन्दमे ही पालन करता है, कर अन्तमे अपने स्वरूपभूत आनन्दमें

ही लीन कर लेता है ऐसा परमेश्वर सभी प्राणियोके भीतर बिराजमान हो कर उन्हे भलीभाति जानता है, चाहे वे उसे जान पाये या नही क्योकि वह इन्हे अपना शरीर बना कर इन सबके भीतर बस जाता है और सभी प्राणियोका भीतरसे नियमन भी करता है ऐसा वह परमेश्वर हम सभीकी अमृत आत्मा होता है अतएव हमारे सारे चेहरे और गर्दन उसके ही चेहरे और गर्दन है वह सभी प्राणियोको गुहा बना कर उसमे छिप कर बैठा हुवा है ऐसा वह सर्वव्यापी सर्वगत शिव है यहा यह भी कहा गया है कि वह परमात्मा न तो वेदके प्रवचनसे मिलता है और न अपनी बुद्धिकी धारणाशक्तिसे और न बहुत सारे शास्त्रोके श्रवण कर लेनेसे ही वह तो उसे ही मिलता जिसका वह वरण मिलनेके हेतु करता है और वह जिसका वरण करता है उसके समक्ष ही वह अपने स्वरूपको प्रकट करता है जो दुराचरमे परायण हो, जो अशान्त हो या असमाहित हो उन्हे वह प्रकृष्ट ज्ञानसे भी मिल नहीं पाता यो हम देख सकते है कि यहा ऐसा कुछ भी कहा नही गया है कि वह केवल हिन्दुओके भीतर ही रहता है बौद्ध जैन यहुदी ईसाई मुसलमानो या ऐसे अन्य किसीके भीतर नहीं प्रत्युत उसे सर्वव्यापी और सर्वगत होनेके कारण ही 'शिव' कहा जा रहा है साथ ही साथ वह जिसे मिलता है उस मिलनके विधानात्मक हेतुतया जहा स्वय उसके वरणको कारण कहा गया है, वहीं किसीके प्रज्ञानी होनेपर भी दुराचारी अशान्त या असमाहित होना उसके न मिलनेके निषेधात्मक हेतुतया भी गिनाया है

हिन्दुधर्मके बाद अब बौद्धधर्मके दृष्टिकोणसे देखे तो पारमार्थिकी शून्याद्वयताके साक्षात्कारार्थ जहा अष्टागिक मार्ग और वैराग्यधर्म को श्रेष्ठ कहा गया है "मग्गानट्ठगिको सेट्ठो विरागो सेट्ठो धम्मान" (धम्मपद २०।१) वहा सम्यग्दृष्टि, सम्यक्-सकल्प और सम्यग्-वचन धर्मानुष्ठानार्थ यद्यपि "अत्ता हि अत्तनो नाथ को हि नाथ परो सिया"

(धम्मपद : १२।४) का उपदेश दिया गया है. बावजूद इसके व्यावहारिकी करुणा का भी बौद्धधर्ममें कितना स्थान है. यह तो अधोनिर्दिष्ट विधानके आधारपर हम समझ सकते है—

२.बोद्धधर्म :

एकएव धर्मो बोधिसत्त्वेन स्वाराधित कर्तव्य सुप्रतिविद्ध . तस्य करतलगता सर्वे बुद्धधर्मा भवन्ति...एवमेव भगवन् येन बोधिसत्त्वस्य महाकरुणा गच्छति तेन सर्वे बुद्धधर्मा गच्छन्ति

(बोधिचर्यावतारपञ्जिका : ९।७६)

अतएव इसके आधारपर इतना तो आवश्यक लगता है कि आर्यसत्यचतुष्टयीके अन्तर्गत दु ख और निरोधगामिनी प्रतिपद्के भी अनादरपूर्वक जब "मुच्यमानेपु सत्त्वेपु ये ते प्रामोद्यसागरा तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणापि अरसेन किम्" (बोधिचर्या : ८।१०६) यह माना गया है तो बौद्धधर्मके अनुसार भी करुणाका सर्वातिशायी महत्त्व तो है ही वह करुणा यदि मिथ्यादृष्टिवालोपर शक्य न हो तो 'महाकरुणा' पदमे प्रयुक्त 'महा' विशेषण निरर्थक ही सिद्ध होगा स्पष्ट है महायानी धारणा कि सासारिक दु खोंसे कष्ट पानेवाले प्राणिओंके उद्धारके हेतु भगवान् बुद्ध पुन पुन आप्रलय प्रकट होते रहेंगे, इसके बावजूद यदि करुणाका यह सन्देश सभी प्राणिओ तक पहोच न पाता हो तो या तो ऐसे बुद्धावतारकी व्यर्थता माननी पडेगी अथवा विभिन्न रूपोवाली साधनाओमे भी उद्धारकी शक्यताको कथञ्चित् स्वीकारना ही एक बुद्धिगम्य समाधान लगता है

३,४ यहुदी तथा ईसाई धर्म -

भगवान् तो कृपालु और दयालु है, वे रोष करनेमे मन्द परन्तु दृढ स्नेहसे सदा छलकते रहते है भगवान्

सभीके प्रति भले ही होते है और उनकी बनायी सृष्टिमे उनकी सभीके प्रति दयापूर्ण सहानुभूति सर्वत्र-सर्वदा उपलब्ध रहती ही है.

(बायबल् साम : १४५।८-९)

परमात्मा स्नेहरूप है

(बायबल् १जॉह्न : ४.८)

कितना स्पष्ट उल्लेख है! फिरभी ऐसे कैसे सोचा जा सकत है कि यहुदीधर्म या ईसाईयत के द्वारा ही भगवान् अपनी कृपा या दया प्रकट करते है ऐसा सोचना या तो गेरयहुदी और ग़ैरईसाईओको यहोबा या होलीफादर के द्वारा निर्मित सृष्टिसे भिन्न किसी सर्जनहारकी कृति माननेमे पर्यवसित होगा अन्यथा हिन्दु मुसल्मान बोद्ध जैन तथा अन्य भी आदिवासिओंके धर्मोको अनुसरनेवाले मानव समुदायको भी भगवत्कृपाभाजन मानना ही पडेगा और वह स्वीकारते ही यह सिद्ध हो जाता है कि अन्यान्य धर्मोद्वारा भी भगवत्कृपाभाजनोका उद्धार शक्य है ही

५ इस्लामधर्म.

क़ाल अज़ाबी उसीबु बिह मन् अशाउ व रहमती वसिअत् कुल्ल शैइन्

(कु श सूरतुल् अऽराफि ७।१५६)

अर्थात् "रोप या दण्ड तो मै जिसे चाहता हू देता हू पर मेरा दयाभाव तो सभीपर एकसमान है" ऐसी स्थितिमे कुरानशरीफके अलावा भी जो धर्मग्रन्थ प्रकट हुवे हों उन्हे अनुसरनेवालोपर अल्लाहको कोई नाराज़गी होगी तो वह दण्ड देनेमे समर्थ हे ही तब मुसल्मानोको परधर्मिओंके बारेमे नाहक विरोधी भाव क्यो रखने चाहिये? क्यो अल्लाहके दयाभावके सभीको पात्र मान कर दयाभाव नही निभाना चाहिये?

निष्कर्ष :

इस तरह विश्वके प्रमुख धर्मोमे परमेश्वरके बारेमे जो धारणाये है उनका विचार करनेपर धार्मिक अशान्ति या कलह हमारी धार्मिक आस्थाके विवेकपूर्ण उपयोग प्रतीत नही होते ऐसी तो अन्य भी बहोत समानरूपता दिखलायी जा सकती है वैसे इनके अलावा भी सभी प्रमुख धर्मग्रन्थोका दिव्य अन्त प्रेरणावश ही प्राकट्य माना गया है, उसमे एकको इन्कारनेपर दूसरेको भी इन्कारा जा सकता है और एकके प्रामाण्यको स्वीकारनेपर उन्हीं आधारोपर दूसरे धर्मग्रन्थोके प्रामाण्यको भी स्वीकारना ही पडेगा अपने-अपने धर्मग्रन्थोके अनुसार धार्मिक जीवन जीनेवालोंके दिव्य चरित्र भी प्राय सभी धर्मोके अनुगामिओके जीवनवृत्तान्तोमे उपलब्ध होते ही है

निष्कर्षके तौरपर पुन यही दोहरा देना उचित होगा कि आज सभी धर्मगुरु स्वयके जगद्गुरु होनेकी अहपीडासे ग्रस्त हो कर अपने-अपने धर्मको विश्वधर्म मनवानेपर जो तुले हुवे है, इसके कारण धार्मिक जगत्मे भीषण प्रतिस्पर्धा तथा पारस्परिक अविश्वास एव विद्वेष भर कर वे अशान्तिकी ही बढोत्तरी कर रहे है सस्कृतभाषाके अनुसार 'जगत्' पदका अर्थ गमनशील होता है उस अर्थमे तो जगत्के इस कोनेसे दूसरे कोनेमे निरन्तर धर्मोपदेशार्थ या शिष्यान्वेषणार्थ गमनशील जितने भी गुरु है सभी जगद्गुरु माने जा सकते है, इसमे कोई आपत्तिजनक बात भी नही है आवश्यकता परन्तु अन्य धर्मोके अनुगामिओके उद्धारकी चिन्तासे स्वय इन जगद्गुरुओके मुक्त होनेकी अत्यधिक है आखिरमे सेम्युअल् बेकेट्के *"वेटिंग फॉर गोदो"* के कथानायक एस्ट्रागोनकी तरह मानवजातिके एकमात्र उद्धारककी प्रतीक्षाके त्राससे कभी तो मानवजातिको मुक्त कर देना, क्या सभी धर्मसम्प्रदायो एव उसके उपदेशकोके लिये एक दयापूर्ण सद्भाव नही होगा। मुझे उमर खैयामकी एक रुबाइ याद आती है कि "हाजी बराहेकाबा रफ्ते दारद, आशिक बमय दोसाला जब्तेदारद, मालूम न शुद कि यार मशगुल ब कीस्त?

हरकस खयालेखेश खप्तेदारद." वह कहना चाहता है कि आखिर हमारे पास निश्चिति क्या है कि हमारी धर्मसाधना ही परमेश्वरको प्रिय लगती है, दूसरी नही. आवश्यकता अपनी-अपनी धर्मसाधनाकी दिव्य आध्यात्मिक मस्तीभरे जीवन जीनेकी है. परमात्मा सभीको ऐसी सामर्थ्य दे।

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मां ब्रह्म निराकरोद्!
अनिराकरणम् अस्तु अनिराकरणं मे अस्तु!!



श्रीस्वामिनारायण मतीय वेदान्तसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसनप्रक्रिया

(१.उपक्रम)

श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा।
सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुम.॥
स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्य. इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्॥
विशिष्टाद्वैतवादस्य कृष्णभक्तेश्च पोषकः।
शिक्षापत्र्युपदेशेन लोकोद्धारपरायण.॥
सहजानन्दस्वामी य· सहजानन्दवर्धक.।
तमस्मन्मार्गसुहृदं हृदयेन वयं नुम ॥

प्रस्तुत आलेखपत्रमे हम श्रीसहजानन्द स्वामीजी, इत पर 'श्रीजी महाराज' पदेन अभिधेय, द्वारा लिखित *शिक्षापत्री* तथा *वचनामृत* की ही तरह उनके अनुगामी परवर्ती क्रोशस्तम्भरूप ग्रन्थकारो द्वारा भी निरूपित इस नूतन वेदान्तसम्प्रदायमे उत्तरोत्तर परिलक्षित होते यथावभात विकासका कुछ लेखा-जोखा प्रस्तुत करना चाहेगे

सभी सम्प्रदायोमे बहुत सारी बाते प्राय मूलरूपमे मतप्रवर्तक आचार्यद्वारा स्वशिष्यसमुदायको सम्बोधित कर उपदिष्ट होती है. परवर्ती कालमे, परन्तु, अन्यान्य मतोके साथ होनेवाले सवाद-विवादकी प्रक्रियाके वश अर्थात् मूलोपदेशोके बीजभावमे रही विकसनक्षमताके अंकुरित होनेके बाद प्रतिपक्षी मतोके भी प्रभाववश बहुतर मत विलक्षण रीतिसे पल्लवित पुष्पित तथा फलित होते हुवे भी दिखलायी देते है श्रीस्वामिनारायणीय मतका भी विकास इस प्रक्रियाके अपवादरूपेण हुवा हो ऐसा लगता

तो नही है क्योकि प्रत्येक जीवित सम्प्रदाय एक प्रवहमाण नदीकी तरह होता है नदियोका प्रवाह प्राय कुछ सहायक नदियोको आत्मसात कर कभी प्रचुर तथा गम्भीर बन जाता है, तो कहीं उसका प्रवाह किसी अन्तर्द्वीपके व्यवधानके कारण विभक्त हो कर दो विभिन्न दिशाओंमे बट जाता है, अथवा कहीं उस नदीके तटपर अवस्थित कृत्रिम या अकृत्रिम हृदोमे कभी आशिक पर्यवसानके के कारण भी जलप्रवाह क्षीण हो जाता है, तो कहीं-कभी दूसरी ही नदियोंको पुन आत्मसात कर वही जलप्रवाह पुन प्रबल एव गम्भीर भी हो पाता है

तदनुसार श्रीजी महाराजने स्वकीय सिद्धान्त और साधना के बारेमे अपने *अभिप्रायोको बीजरूपेण शिक्षापत्री मे तथा अकुररूपेण वचनामृत मे* प्रकट किये है इनमे अधिकाश वचनामृत मौखिक रूपमे दिये गये उपदेश है इनका सकलन किन लोगोंने किया इस बारेमे तथा इनकी सख्याके बारेमे भी कुछ मतभेद सा प्रतीत होता है क्योंकि मयाशकरात्मज गिरिजाशकर शास्त्रिकृत सस्कृतानुवादरूप वचनामृतकी अहमदाबादसे जो प्रथमावृत्ति विक्रम सवत् १९९६ मे प्रकाशित हुयी थी, इस सस्करणमें वचनामृतोकी सख्या २७३ बतायी गयी थी इसमे सकलनकर्ताओके नाम *''मुक्तानन्दो अथ गोपालानन्दो मुनि उदारधी ब्रह्मानन्दमुनि नित्यानन्द शुकमुनि तथा तै पञ्चभि सुसगत्य श्रीहर्युक्तिसुधोदधि लिखित शोधित चापि यथामति यथाश्रुतम्''* (वचना ३।२७३) उपलब्ध होते थे बादमे विक्रम सवत् २०३६ मे भारतीयविद्याभवनद्वारा प्रकाशित तथा श्रीरामवल्लभ शास्त्री द्वारा हिन्दीभाषामे अनूदित सस्करणमे वचनामृतोकी सख्या २६२ तथा सकलनकर्ताओंकि नाम *मुक्तानन्द च गोपालानन्दो मुनि उदारधी नित्यानन्दशुकानन्दौ चत्वारो मुनयस्तु ये एते सगत्य लिखितानि इत्थ धर्मजने हरे वचोऽमृतानि सर्वाणि यथामति यथाश्रुतम्''* (वचना ३।३९= २६२) यो वचनामृतसख्या तथा सकलनकारो के नामोमे भी विवरणान्तर उपलब्ध होता है अर्थात् ११ वचनामृतोको परिशिष्टतया प्रकाशित किया गया है *सम्मान्य प्राध्यापक श्री ज आ याज्ञिक महोदयका*

कहना है कि श्रीजी महाराजके निजी सचिवकल्प श्रीशुकमुनिके प्राथमिक प्रारूपके पश्चात् श्रीजी महाराजके अन्य तीन शिष्य मुक्तानन्दस्वामी गोपालानन्दस्वामी और नित्यानन्दस्वामी यो अन्तत इन चारो अनुगामिओंके सम्पादकमण्डलने मिल कर प्रश्नो तथा समाधानों के चयनके द्वारा इन्हे लिपिबद्ध किया (द्रष्ट 'द फिलोसोफी ऑफ श्रीस्वामिनारायण' पृ ८-९) इन वचनामृतोंको लिपिबद्ध करनेकी श्रीजी महाराजकी आज्ञाके अनुसार अनुष्ठित यह लेखनकार्य उनकी विद्यमानतामे हुवा या उनके पश्चात् यह जतानेको भी "एव हि तानि सर्वाणि त्रिनगाक्षिभि (वा षे द्विसाक्षिभि) सन्ति सलिखितानि श्रीमहाराजनिदेशत आप्यायन् निजजनान् स्वकीयवचनामृतै जयति श्रीहरिस्वामी श्रीमद्दुर्गपुरे प्रभु" (तत्रैव ३।३९=२६२) विवरण भी ग्रन्थोपसहारमे दिया गया है इस उल्लेखके आधारपर श्रीजी महाराजकी विद्यमानतामे लिपिबद्धीकरण भी प्रतीत तो अवश्य होता है इस सकलनका प्रमापण, परन्तु, स्वय श्रीजी महाराज द्वारा हुवा या नही इस बारेमे साम्प्रदायिक ऐतिह्यप्रमाण क्या है कमसे कम मुझे तो अवगत नही है किसी भी सूरतमे इतना सर्वमान्यतया ध्रुव सत्य लगता है कि *शिक्षापत्री* स्वय उनके करकमलोसे लिखी गयी है ऐसी स्थितिमे इन दोनो ग्रन्थोमे से प्रकृष्ट प्रामाण्य स्वामिनारायणसम्प्रदायमे किसका माना जाना चाहिये। कई विद्वानोंके अभिप्रायके अनुसार, परन्तु, ये दो ही प्रामाणिकतया श्रीजीमहाराजके वचन है अन्योका प्रामाण्य सर्वमान्य न होनेसे वे यहा विमर्शार्थ अनिवार्य नही लगते है

जहा तक कालिक पौवापर्यका प्रश्न है तो सवत् १८७६ की मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्थीसे ले कर सवत् १८८२ की माघशुक्ला तृतीया के बीच गढडा सारगपुर कारियाणी लोया पचाला पुन गढडा तथा वडताल मे जो कुछ उपदेश दिया वह *वचनामृत* का अधिकाश भाग *शिक्षापत्री* से पूर्व ही प्रकट हुवा माना जाता है *शिक्षापत्री* सवत् १८८२ की माघशुक्ला पचमीके दिन इसके बाद वडतालमे लिखी गयी बादमे वि स १८८२ से लेकर १८८६ तकके अहमदाबाद

और गढडा मे दिये गये उपदेश अन्त्यप्रकरणतया यहा लिपिबद्ध किये गये है इनके अलावा भी कतिपय ग्रन्थ प्रकट हुवे माने जाते है किन्तु उनका प्रामाण्य सर्वमान्य हे कि नहीं यह तो जिज्ञास्य ही है

(२ विचिकित्सा)

अस्तु, इन दोनोमे स्वय श्रीजीमहाराजके दिव्य अभिप्रायोका स्वहस्ताक्षरालेखित सारोपदेश या श्रोतृजनोद्वारा यथास्मृत उपदेश जो उपलब्ध होता है यह यो हे

(१)''वेदा च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिध पुराण भारतेतु श्रीविष्णुनामसहस्रक तथा श्रीभगवद्गीता नीतिश्च विदुरोदिता धर्मशास्त्रान्तरगता च याज्ञवल्क्यऋषे स्मृति एतानि अष्ट मम इष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि स्वहितेच्छुभि एतानि मच्छिष्यै सकलैरपि श्रोतव्यानि अथ पाठ्यानि कथनीयानि च द्विजै शारीरकाणा भगवद्गीताया च अवगम्यता रामानुजाचार्यकृत भाष्यम् आध्यात्मिक मम एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य वृषस्य च अत्युत्कर्षपराणि स्यु तथा भक्तिविरागयो मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येव इतरवाक्यत धर्मेण सहिता कृष्णभक्ति कार्या इति तत्रह''—''मत विशिष्टाद्वैत मे गोलोको धाम च ईप्सित तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्ति च गम्यता''— ''सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दन श्रीविठ्ठलेश कृतवान् सेवारीति चकृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैवहि''(शिक्षापत्री ९३-१०२,१२१ तथा ८१-८२)

(२)''हम अपना अभिप्राय सक्षेपमे कहते है और वह यह है कि शकरस्वामीने जिस प्रकारका अद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन किया है, उसमें हमारी रुचि नहीं है रामानुज स्वामीने जिस प्रकार क्षर-अक्षरसे परे पुरुषोत्तम भगवान्का

निरूपण किया है, उन पुरुषोत्तम भगवान्‌की तो हम उपासना करते हैं. गोपियोंके समान उन पुरुषोत्तम भगवान्‌की हम भी भक्ति करते हैं. शुकजी तथा जड़भरत के सदृश हमें भी वैराग्य और आत्मनिष्ठा है. यह हमारा अभिप्राय तथा रुचि है. हमारी इस वार्ता तथा हमारे द्वारा मान्य हमारे सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंपर जो बुद्धिमान पुरुष पूर्वापर दृष्टिसे विचार कर उन्हें देखेगा, उसे उनकी सभी बातें समझमें आ जायेंगी"(वचनामृत : लो.प्र.१४।१२२).

इस तरह हम देख सकते है कि *शिक्षापत्री* मे उप्त बीजभावोपम उपदेशके साथ-साथ *वचनामृत* मे अंकुरित हुवे उसके रूपके बीच क्या-कितना तारतम्य प्रकट हुवा. स्वमान्य शास्त्रोंकी, परन्तु, व्यावहारिकी इयत्ता, उन शास्त्रोके निःसन्दिग्ध तात्पर्यावगमार्थ पूर्वाचार्यपरम्परागत भाष्य, उनका किस प्रयोजनविशेषवश आश्रयणकी तरह ही उस प्रयोजनविशेषकी पूर्तिके हेतु तदानुसरणीय साधनाप्रणाली का भी इससे अधिक निश्छल एवं सुस्पष्ट शब्दोमे निरूपण एवं स्वीकार शक्य नहीं है. इन उपदेशोके आधारपर सक्षेपमे श्रीस्वामिनारायणीय मतको सख्याशास्त्रीय समीकरणकी रीतिमे अभिव्यक्त करना हो तो कहा जा सकता है—

"रामानुजीय वेदान्त + पुष्टिमार्गीया श्रीकृष्णभक्ति = श्रीस्वामिनारायणीय मत"

वैसे यह समीकरण जितना सरल प्रतीत होता है, वस्तुत कथा उतनी अब सरल नही रह गयी है क्योकि यह तो अपनी बीजभावावस्थाका द्योतक ही समीकरण हो सकता था. वैसे *शिक्षापत्री* गत "शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यतां रामानुजाचार्यकृतं भाष्यम्"— "मतं विशिष्टाद्वैतं मे" विधानोका ही केवल अवलम्बन करनेपर तो स्पष्टतया ही इतना झलक जाता है कि श्रीजीमहाराजके मतमे न केवल विशिष्टाद्वैतवाद अगीकृत है अपितु रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवाद ही मान्य है यह वचनामृत

"उद्धवजी स्वयं रामानन्दस्वामिरूप थे. श्रीरंगक्षेत्रमें उन रामानन्दस्वामीने स्वप्नमें साक्षात् रामानुजाचार्यसे वैष्णवी दीक्षा प्राप्त की. इसलिये रामानन्दस्वामीके गुरु रामानुजाचार्य हैं. उन रामानन्दस्वामीके शिष्य हम हैं ऐसी गुरुपरम्परा जाननी" (वचना.वरता.१८।२१८) के भी आधारपर अपरिहार्य बन जाता है.

ऐसी स्थितिमे एक सम्प्रदायमे दीक्षित होनेके बाद भी उस सम्प्रदायके सिद्धान्तोसे अपना पीछा छुड़ानेकी मनोवृत्तिको मान्य करनेपर तो कल स्वय स्वामिनारायण सम्प्रदायमे ही दीक्षित हो कर श्रीजी महाराजको अभिप्रेत मतसे पृथक् मत प्रकट करनेकी भी स्वतन्त्रता कोई क्या श्रीजीमहाराजके नामपर ले सकता है या नही?

यो रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवाद न केवल दीक्षापरम्पराधिगत है अपितु निजास्थाभ्युपगत भी है ही. अन्यथा अशतो रामानुजीय मतका स्वीकार, उदाहरणतया नारायणके सर्वान्तर्यामी होनेका, विशिष्टाद्वैतको स्वीकारे बिना भी द्वैतवादी तथा शुद्धाद्वैतवादी वेदान्तसिद्धान्तोमे भी प्रसिद्ध ही है इसी तरह अशतो विशिष्टाद्वैतवादका अगीकार भी रामानुजीय मतको माने बिना भी शैवविशिष्टाद्वैतवादमे भी प्रसिद्ध ही है परन्तु रामानुजाचार्यकृत भाष्यानुसारी विशिष्टाद्वैतवादका श्रीजीमहाराजद्वारा निजकण्ठोक्त अगीकार यहा गम्भीर समस्या खडी कर देता है जैसा कि हम देख सकते है कि बादमे इस समीकरणको जिस तरह अकुरित पल्लवित पुष्पित तथा फलित किया गया उसकी विलक्षणतापर दृष्टिपात करनेपर श्रीस्वामिनारायणीय मतकी विकासरेखा निश्चय ही जटिलतर होती चली जाती है

(३.श्रीरामानुजमत)

एतदर्थ रामानुजीय वेदान्तकी मौलिक विशेषताओको यदि सक्षेपमे दृष्टिगत करना हो तो जो रामानुजीय वेदान्ताभिमत तत्त्वविभाग श्रीवेदान्तदेशिकने

अपने *तत्त्वमुक्तकलाप* नामक ग्रन्थमे जिस तरह प्रतिपादित किया वह यो है ·

> "पदार्थ = द्रव्य + अद्रव्य   द्रव्य = जड + अजड   जड = अव्यक्त + काल.   अजड = प्रत्यक् + पराक्.   प्रत्यक् = जीव + ईश   पराक् = नित्या भूति(शुद्धसत्त्व) + मति".
>
> (तत्त्वमुक्ताकलाप : ६).

इस तत्त्वविभाजनके चित्रको विशिष्टाद्वैतवादकी चौखटमे कैसे जडा गया यह देखनेको पुन श्रीवेदान्तदेशिककी ही *न्यायसिद्धाञ्जन* ग्रन्थगत यह एक सूक्ति ही पर्याप्त है :

> "अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्म एकमेव तत्त्वम् तत्र प्रकारप्रकारिणो प्रकाराणां च मिथो अत्यन्तभेदेऽपि विशिष्टैक्यविवक्षया एकत्वव्यपदेश .. इदमेव इत्थम्भूतं सामान्यत प्रमाविषयतया विशेषत प्रकर्षेण मेयतया च प्रमेयम् उक्तम् तदन्तर्गतञ्च सर्वं द्रव्याद्रव्यात्मना विभक्तम् उपादानं द्रव्यम् अवस्थाश्रय उपादानम्".
>
> (न्यायसिद्धाञ्जन : जडद्रव्यपरिच्छेद)

(४.श्रीस्वामिनारायणीय आधुनिक सिद्धान्तमें प्रकट होता अन्तर्विरोधाभास)

अब श्रीस्वामिनारायणीय वेदान्त यदि यथोक्त रामानुजीय तत्त्वविभाग तथा सामान्य सिद्धान्त के दो किनारोंके बीचमे न बह कर स्वतन्त्र तत्त्वविभाजन तथा नूतनरीतिके विशिष्टाद्वैतवाद को प्रस्तावित करना चाहता हो तो ओर तदनुसार श्रुति गीता सूत्र पुराण आदिकी भी व्याख्या प्रस्तुत करने लग जाये तो उसकी मोलिकता तो मान्य हो पायेगी परन्तु रामानुजभाष्यानुसारी विशिष्टाद्वैतवादिता या प्रामाणिकता नहीं। और इसके अभावमे श्रीजी महाराजका उल्लिखित उद्घोष निश्चयेन वदतोव्याघातार्थक होनेसे अप्रामाणिक सिद्ध होगा कोई भी श्रीजी महाराजका अनुगामी

श्रीजी महाराजके वचनोके फलितार्थसे अपने-आपको बन्धनमुक्त कैसे मान सकता है? अत इस विरोधाभासके परिहारके अनुष्ठानमे तत्पर कोई ग्रन्थ या तो उपलब्ध ही नही या मुझे प्राप्त नही हो पाया है यह एक गम्भीर समस्या मुझे खटकती हे, श्रीजी महाराजके मूलवचनोका वास्तविक अभिप्राय हृद्गत करनेमे इस बारेमे श्रीस्वामिनारायणीय विद्वानोंके क्या स्पष्टीकरण सम्प्रदायमान्य है, यह मुझे ज्ञात नही हे अत मुझे लगता है कि इस *शिक्षापत्री* के बाद *वचनामृत* आदि ग्रन्थोमे जो-जैसा प्रतिपादन उपलब्ध होता है उसकी सगति कुछ न कुछ बेठानी ही चाहिये

क्योंकि जहा तक तत्त्वविभागका प्रश्न है तो चिदचिद्विशिष्ट-ईश्वररूप तत्त्वत्रयीका तो *शिक्षापत्री* के इन श्लोकोमे हम प्रतिपादन सुस्पष्ट शब्दोमे पाते ही हे इस प्रसगपर भी इस बीजोपदेशरूप ग्रन्थरत्नमे, जहा तत्त्वपञ्चककी स्वीकृति अतीव प्रसक्त थी, उसका उपदेश प्राप्त न होना अतीव विस्मयकारी बात लगती है द्रष्टव्य यथा

ज्ञानञ्च [1]जीव[2]माया-[3]ईशरूपाणा सुष्ठु वेदनम्।
[1]हृत्स्थोऽणुसूक्ष्मश्चिद्रूपो ज्ञाता व्याप्याखिला तनुम्।
ज्ञानशक्त्या स्थितो जीवो ज्ञेयोऽच्छेद्यादिलक्षण ॥
[2]त्रिगुणात्मा तम कृष्णशक्तिर् देहतदीययो ।
जीवस्य चाहममताहेतुर् मायावगम्यताम्॥
[3]हृदये जीववद् जीवे योऽन्तर्यामितया स्थित ।
ज्ञेय स्वतन्त्र ईशोऽसौ सर्वकर्मफलप्रद ॥
स श्रीकृष्ण पर ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम ।
उपास्य इष्टदेवो न सर्वाविर्भावकारणम्॥
स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभु ।
रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायण स हि॥
ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तोऽसौ नरनारायणाभिध ।
बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामोच्यते स च॥

एते राधादयो भक्ताः तस्य स्युः पार्श्वतः क्वचित्।
क्वचित् तदंगेऽतिस्नेहात् सतु ज्ञेयः तदैकलः ॥
(शिक्षापत्री : १०४-१११).

यहां अतिरिक्त दो तत्त्वों, नामतः ईश्वर और अक्षरब्रह्म, का अनुल्लेख साथ ही साथ मूर्तीभूत अक्षरब्रह्मके भीतर पुरुषोत्तमकी अवस्थितिके बजाय स्वयं साक्षात् पुरुषोत्तमके भीतर इन तथाकथित ईश्वरके मूर्तिरूप पार्श्ववर्तिओंकी अतिस्नेहवश अवस्थानकी कथा सर्वथा विपरीत कथा ही लग रही है.

श्रीनित्यानन्द मुनिकृत *शाण्डिल्यसूत्रभाष्यम्* के साथ इसका संवाद भी उपलब्ध होता है यथा "क्षरं प्रधानम् अक्षरं पुरुषः. अनेन मिथः संसृष्टत्त्वस्वभावकथनात् तुषातण्डुलयोरिव एकीभूय बीजभावः परमात्मनः उपादानभावे द्वारम् इति विशेषः च आचितोः दर्शितः... एवं मायाजीवेशानां स्वरूपस्वभावनिर्णयम् उक्त्वा प्रकृतम् अनुसरति" (शा.सू.भा.२।१।१७-१८). यहां हम देख सकते हैं कि समूचे ग्रन्थमें तत्त्वपञ्चक कहीं भी वर्णित नहीं हुवा है प्रत्युत उद्धृत वाक्यांशमें कण्ठतः अक्षरब्रह्माऽद्वारक अर्थात् तुषातण्डुलन्यायेन प्रधानपुरुषद्वारक परमात्माकी उपादानता तथा मायाजीवेशकी त्रिपुटी ही प्रतिपादित हुयी है। भूलना नहीं चाहिये कि इन्हीं श्रीनित्यानन्द मुनिका नाम *वचनामृत* के संकलनकारोंमें भी उल्लिखित है. अतः इनका यह तत्त्वपञ्चकके बारेमें मौन अतिशय विषम स्थितिमें तत्त्वपञ्चककी धारणाके प्रामाण्यको रख देता है. यही कथा एतत्सम्प्रदायानुसारि श्रीगोपालानन्द स्वामिकृत ब्रह्मसूत्रभाष्यके अवलोकन करनेपर भी प्रकट होती है. यहां यद्यपि तत्त्वपञ्चककी धारणा तो प्रस्तुत हो गयी है परन्तु फिरभी अक्षरब्रह्मके मूर्तिमान स्वरूपतया स्त्री-आकारवाली राधालक्ष्मी आदिके निष्कासनपूर्वक पुरुषाकार श्रीगुणातीतानन्द स्वामीकी धारणा कमसे कम मुझे कहीं दिखलायी नहीं दी. द्रष्टव्य : "महामुक्तैः सेवितम् अन्यं क्षराक्षरपुरुषभिन्नम् ईशं सर्वनियन्तारं राधालक्ष्मीपतिम्"

(ब्र सू भा र १।२।११) यह विधान *शिक्षापत्री* के पूर्वोद्धृत "एते राधादयो भक्ता तस्य स्यु पार्श्वत क्वचित् क्वचित् तदगे अतिस्नेहात् सतु ज्ञेय तदा एकल" से सर्वथा सुसगत भी लगती है

फिरभी सम्माननीय प्राध्यापक श्रीरमेश दवेका एक विलक्षण वदतोव्याघात कि Akshar too has a divine personality in human form However the mayika distinction of male or female do not apply to him for he is beyond the three gunas of maya (द भक्तभगवान् रिलेशनशिप पृ १२७) यह तो श्रीजी महाराजकी मूलविचारधारासे असगत सा ही प्रतीत होता है, यह मूलासगति पचालामे दिये गये उपदेशके आधारपर भी सिद्ध होती है—

> "श्रीजी महाराज बोले कि हमने बहुत देर तक विचार किया और समस्त शास्त्रोंपर दृष्टि डाल कर देखा तो हमें ऐसा ज्ञात हुवा कि 'श्रीकृष्ण जैसा सर्वशक्तिसम्पन्न कोई अन्य अवतार नहीं हुवा' वह किस प्रकार? सुनिये सर्वप्रथम स्वय श्रीकृष्ण भगवान्ने देवकीकी कोखसे जन्म लिया तब शख-चक्र-गदा-पद्म धारण कर उन्हे चतुर्भुजरूपमें दर्शन दिया इसके द्वारा उन्होंने लक्ष्मीपति वैकुण्ठनाथका भाव अपने स्वरूपमें दिखलाया उन्होंने माता यशोदाको अपने मुखमें विश्वरूप दिखाया इससे उन्होंने सहस्रशीर्षरूप द्वारा अनिरुद्धभाव स्वयके स्वरूपमे दिखाया तथा अक्रूरको यमुनाकी धारामें दर्शन दिया इससे शेषशायिभाव दिखाया तथा युद्धस्थलमें अर्जुनको विश्वरूप दिखलाया इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड दिखलाकर पुरुषोत्तमभाव बताया तथा स्वय श्रीकृष्णने कहा कि 'यस्मात् क्षरम अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तम अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम' इस प्रकार श्रीकृष्णने स्वय अपना

पुरुषोत्तमभाव दिखाया. गोलोकवासी राधिकासहित श्रीकृष्ण भी स्वयमेव थे...इस दृष्टिसे भी कृष्णावतार जैसा कोई अवतार नहीं है. वस्तुतः यही सर्वोपरि है." (वचना.पंचा.६।१३२).

अतएव मुझे यही अब अतीव जिज्ञासित है. क्योकि मानवीय स्वरूप या तो पुरुषाकार होता है या स्त्र्याकार, पृथक तो होता नही. ऐसी स्थितिमे केवल रामानुजमताभिप्रेत लक्ष्मीसेवित नारायणकी परमपुरुषताके स्थानपर पुरुषाकारद्वयीकी परमपुरुषताके प्रतिपादनकी संगति कैसे बैठानी! वह न तो श्रीजी महाराजकी स्वघोषित अनुगामिताके आधारपर और न उनके *शिक्षापत्री* में उपलभ्यमान कण्ठोक्त वचनोके आधारपर निरस्त हो पायेगी. ऐसी स्थितिमे श्रीगुणातीतानन्दजीको अक्षरब्रह्मके मूर्तिमान स्वरूपके रूपमे प्रस्तुत करना केवल *वचनामृत* के भी आनुमानिक आधारपर ही सम्भव है अर्थात् *शिक्षापत्री* का इस विषयमे काष्ठमौन अतिशय खटकनेवाली बात मुझे लगती है. इसके अलावा वचनामृतमे उपलभ्यमान उपदेशोका भी इस सन्दर्भमे अवगाहन करनेपर इस विषयमे एक और बात स्फुरित होती है. यथा "जब भगवान् मायामें आते हैं तब माया भी अक्षरधामरूप हो जाती है यदि चौबीस तत्त्वोंमें प्रविष्ट हों तो चौबीस तत्त्व भी ब्रह्मरूप हो जाते हैं" (वचना.वरता ७।२०७) ऐसा सुस्पष्ट शब्दोमे सिद्धान्तित है ही फिर भी व्यर्थ ही रामानुजाभिमत श्रीशक्तिको मायिक मानना या परोक्षवृत्तिसे उसकी गौणता ध्वनित करनी, इसमे प्रयोजन क्या है यह स्पष्ट नही हो पाता! जबकि स्वय भागवतपुराणके "निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नम" (भाग पुरा.२।४।१४) वचनकी रामानुजी व्याख्यामे तो यद्यपि नही परन्तु जिनकी श्रीकृष्णसेवारीतिको नियतानुसर्तव्य घोषित किया गया ऐसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी सुबोधिनीमे तो " 'निरस्तसाम्ये'ति काचिद् भगवत सिद्धि अस्ति 'राधस्'शब्दवाच्या. न तादृशी सिद्धि क्वचिद् अन्यत्र नवा ततोऽपि अधिका. तया सिद्धया भगवान् स्वगृहएव रमते. तच्च

अक्षरात्मक ब्रह्म 'रस्यन्' इति स्वनिष्ठमेव रस तत्सम्बन्धाद् अभिव्यक्त करोति इति एतावता स्वरूपस्थितिव्यतिरेकेण न अन्यत्र रस्यति इति भगवदीयो रस तत्रैव प्राप्तव्य गृहञ्च तस्यैव तत्साधन च निरस्तसाम्यातिशया सिद्धि "—"यदा भगवान् स्वशक्तिरूपेण आविर्भूत तदा शक्तीना मध्ये श्री प्रथमा सा शरीरएव बलवत् पूर्वं स्थिता यदा भगवान् प्रभुत्वेन आविर्भूत तदा सापि भोग्यत्वेन आविर्भूता भार्येव तस्या शरीरन्तुब्रह्मानन्दरूपम् साहिअक्षरस्यआनन्दरूपा "(भाग सुबो २।४।१४ — २।९।१३) अत महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्याविर्भावित श्रीकृष्णसेवारीतिको अनुसरना अनिवार्य हो तो "श्री+कृष्ण=श्रीकृष्ण" समीकरणसिद्ध राधासहित कृष्ण ही सर्वाधिक्येन भजनीय होते है बजाय कि श्रीगुणातीतानन्दस्वामिसहित श्रीसहजानन्दजीके भजनके

(५ प्रकटपुरुषोत्तमताकी प्रयोगान्वितिमे सीमा)

खैर, सभी सम्प्रदायोंने अपने-अपने मूलाचार्योंको भगवदवतार तो माना ही हे इस सन्दर्भमे मेरे वचनोको अन्यथा आशयमे न लिया जाये तो कहना चाहूगा कि केवलाद्वैत सम्प्रदायके प्रवर्तक "अह ब्रह्मास्मि"के उपदेष्टा भगवत्पाद श्रीशकराचार्यने स्वयके पूजामन्दिर नही प्रत्युत सामान्यशास्त्रसिद्ध विविध देवताओकी ही मूर्तिओंके ही मन्दिर सिद्ध करवा कर पञ्चदेवोपासना अथवा शेव शाक्त स्कान्द गाणपत्य सोर तथा वैष्णव आराधनाके षड्विध मार्गोंका प्रचार किया था यतिवर श्रीरामानुजाचार्य भी शेषावतारतया मान्य होनेपर भी श्रीलक्ष्मी-श्रीनारायणके ही मन्दिर स्थापित कर गये यही कथा माध्वसम्प्रदायमे भी है स्वय श्रीचैतन्य महाप्रभुको भी श्रीकृष्णके अवतार माना जाता है, कहीं तो श्रीकृष्णसे अधिक भी परन्तु श्रीराधाकृष्णको गौण बना कर उनकी पूजाको बढावा देनेवाले मन्दिर अल्प ही है वाल्लभ सम्प्रदायमे भी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको "वस्तुत कृष्णएव" (गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणकृत श्रीवल्लभाष्टक श्लो ८) माना गया है साक्षात् श्रीकृष्णमुखारविन्दके अवताररूप हालमे इधर सो-डेढ सो वर्षमे अनधीतसिद्धान्त अनुगामिओने

हम अयोग्य महाराजश्रीओमे अपनी श्रद्धा खो देनेके कारण नवीन वल्लभपन्थ अवश्य चलाया है अन्यथा आराधनार्थ श्रीकृष्णकी महत्ता कभी वाल्लभ सम्प्रदायमे गौण नहीं बनायी गयी

श्रीसहजानन्दजीके भी साक्षात् पुरुषोत्तमस्वरूप होनेमे, अत सम्प्रदायद्वेषरहित किसीको भी किसी तरहकी कोई सैद्धान्तिक आपत्ति तो हो ही नहीं सकती और न श्रीजीमहाराजके सहयोगी श्रीगुणातीतानन्दजीके अक्षरब्रह्मस्वरूप होनेमे भी जो बात, परन्तु, सैद्धान्तिक विवेचनाके अन्तर्गत समझ नही आती वह यह है कि एतावता स्वामिनारायणीय मन्दिरोमे श्रीकृष्ण या श्रीलक्ष्मीनारायण की जो अब गौणता प्रदर्शित करनेको श्रीजीमहाराजके पार्श्वमे उनको प्रतिष्ठापित किया जाता है, उसकी वाचनिक सगति कैसे बैठानी? इस विरोधाभासके उपशमनार्थ क्या-कैसी उपपत्तिया है यह भी मुझे जिज्ञास्य लगता है

(६ आधुनिक एतन्मताभिज्ञोंके मत एव कर्तव्य)

श्रीस्वामिनारायण सम्प्रदायके आधुनिक विद्वानोंका ऐसी स्थितिमे यह अवश्यानुष्ठेय कर्तव्य बन जाता हे कि इस विषयमे साम्प्रदायिक समाधान प्रकट करे यदि इन पाच तत्त्वोका अन्तर्भाव रामानुजीय तत्त्वत्रयीमे करना अभिप्रेत माना होता, जैसे कि तत्त्वत्रयीकी व्याख्याके रूपमे श्रीवेदान्तदेशिकने द्रव्याद्रव्यादिके विभागका प्रतिपादन किया है, तो प्रकट होता अन्तर्विरोधाभास अवश्य ही कुछ शिथिल बन जाता यह तत्त्वपञ्चककी कल्पना परन्तु इतनी अधिक न केवल रामानुजमतासहिष्णु है प्रत्युत स्वय *शिक्षापत्री* के साथ भी कितनी असहिष्णुता प्रकट करती है, यह देख कर अतीव विस्मय होता है। एतदर्थ श्रीजीमहाराजके वचनोके साथ स्पष्टतया झलकते विरोधाभासको देखना हो तो इस सम्प्रदायके आधुनिक विद्वानोंके उद्गारोके साथ मूलवचनोंका तुलनात्मक विमर्श आवश्यक लगता है एक नही प्रत्युत अनेक विद्वान समवेत स्वरोमे निरन्तर अपने दार्शनिक सिद्धान्तको अरामानुजीय तथा अपनी

आराधनाप्रणालीको अपुष्टिमार्गीय सिद्ध करनेकी भरसक चेष्टा करते रहते है यह अपने अधुनाविकसित रूपमे एक निष्ठुर सत्य हो सकता है परन्तु निजाचार्योक्तिके प्रामाण्यनिर्वाहका विकराल प्रश्न असमाहित रह जाता है

वैसे धर्म-दर्शनोकी विविधताको मै भारतीय चेतनाकी आत्मा मानता हू सो आज नही तो कल यह होना तो था ही यह, वैसे, नितान्त अभिनन्दनीय भी होता है! क्योकि प्रत्येक धर्मसम्प्रदायोमे कुछ कालके बाद इतनी सारी निर्दय रूढि तथा श्रद्धालु जनताकी श्रद्धाके शोषणके इतने मलिन रूप उभर जाते है कि नवीन सम्प्रदाय उभर कर उनका प्रतीकार न करे तो जनसाधारण आध्यात्मिकताके ऊपर ही विश्वास खो देनेके कगार तक पहुच जाता है! प्रश्न यहा, किन्तु, धार्मिक आस्थाकी विशुद्धिके निर्वाहका उतना नहीं है जितना कि श्रीजीमहाराजके वचनोंके अभिप्रायोकी यथोपदिष्टमीमासाका है एतदर्थ पूर्वोदाहृत उपदेशोको दोहरा कर अधुनाप्रकट विरोधाभासको देख लेना प्रासगिक होगा —

(१)"शारीरकाणा भगवद्गीताया च अवगम्यता रामानुजाचार्यकृत भाष्यम् आध्यात्मिक मम"

(२)"मत विशिष्टाद्वैत मे"

(३)"ज्ञेय स्वतन्त्र ईशोऽसौ सर्वकर्मफलप्रद स श्रीकृष्ण पर ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम उपास्य इष्टदेवो न सर्वाविर्भावकारण स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभु रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणाभिध "(यथापूर्वोद्धृत)

विरुद्ध

" 'In Gujarat there is an active reforming sect called Swami Narayanis *who worship*

Krishna and Radha. The founder, Sahajanand or Swami-Narayan, disgusted with the gross immorality of the Vallabhas, began shortly aftter 1804 to denounce them and to teach ▪ purer system. He soon gathered a large compny of follwers and a sect was formed... *Their philosophy is the Vishishtadvaita of Ramanuja, but in their theololgy they follow Vallabha... They retain the Vallabh mantra...*' Thus we see that Farquhar has allotted only one paragraph to Swāmināräyanism, and even in such a small description, he has made more than five false statements which have been put by us in italics" (श्री ज.आ याज्ञिककृत 'द फिलोसॉफी ऑफ श्रीस्वामिनारायण' पृ.१०).

वैसे तो वाल्लभ देवशास्त्र भी श्रीजी महाराजको मान्य है ही और इसे शिक्षापत्रीके आधारपर सिद्ध भी किया जा सकता है इस तथ्यकी, परन्तु, उपेक्षा भी कर के चले तब भी इतना तो ध्रुव निश्चित है कि उपरि निर्दिष्ट विरोधाभासके चलते श्रीजी महाराजकी रामानुजमतानुगामिताके निजकण्ठोक्त वचन अब या तो अप्रामाणिक ठहराने पडेगे या फिर रामानुजमतानुगामिताविशिष्ट विशिष्टाद्वैतवादिता स्वीकारे बिना कोई समाधान ही दृष्टिगत नही होता

सम्माननीय विद्वान् श्री ज.आ याज्ञिक महोदयने ६६वे इडियन् फिलोसोफिकल् कॉन्ग्रेसमे प्रस्तुत किये आलेखपत्र "विशिष्टाद्वैत ऑफ् स्वामिनारायण"के द्वितीय परिच्छेदमे स्वामिनारायणीय वेदान्तको रामानुजीय

विशिष्टाद्वैतवादसे पृथक् सिद्ध करनेको छह हेतु दिये है इनमे रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादकी धारणामे दोषोद्भावना भी की गयी है

वैसे वह मुझे इतनी गम्भीर नहीं लगती परन्तु उन्हे मान कर भी चले तो मुझे यह कहनेकी तो इच्छा प्रबल ही होती है कि ये सारे दोष स्वय श्रीजी महाराजके "शारीरकाणां भगवद्गीताया च अवगम्यतां रामानुजकृतं भाष्यम्" — "मतं विशिष्टाद्वैतं मे" (यथापूर्वोद्धृत) वचनोंपर लागू हो कर उनके वचनोके प्रामाण्यको निरस्त ही कर देंगे।

इसमे प्रथम हेतु तत्त्वपञ्चककी अगीकृतिको बनाया गया हे इसका विचार तो हमने कर ही लिया द्वितीय हेतुतया रामानुजधारणाके बारेमे सर्वपल्ली श्रीराधकृष्णन्‌द्वारा उद्भावित दोषको सम्मान्य श्रीयाज्ञिक महोदयने प्रस्तुत किया हे वह दोष यह है कि रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादमे भगवान् सर्वेसर्वा है तथा जीवात्मा तथा शरीर तो उनके केवल उपकरणरूप होते है इसे श्रीयाज्ञिक महोदय भगवान्‌की परिपूर्णता लोकोत्तरता तथा अपराधीनता के विरुद्ध जाती बात मानते है और कहते है कि ऐसा दोष स्वामिनारायणीय दृष्टिमे नही खोजा जा सकता, क्योकि केवल अन्तर्यामिशक्तिके द्वारा ही यहा शरीरशरीरिभाव स्वीकारा गया है अब अपृथक्‌सिद्ध शरीरशरीरिभावके बारेमे श्रीयाज्ञिक महोदयका कहना है कि रामानुजमतमे, क्योकि, अपृथक्‌सिद्ध चिदचिच्छरीरविशिष्ट माना गया है, अत परमतत्त्वके स्वरूपमे शरीरनिर्भरतया चिदचिदतीतता सिद्ध नही हो पाती जबकि केवल अन्तर्यामितामूलक शरीरशरीरिभावमे यह दोष प्रसक्त नहीं होता मुझे इस विषयमे यो लगता है कि इस आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्तमे भी यदि सृष्टिसे पूर्व पुरुषोत्तम सूक्ष्मचिदचिच्छरीरविशिष्ट न हो तो चार या पाच ही गति अवलम्बनार्थ बच जाती है

(१)या तो सूक्ष्म चिदचित्‌को अनित्य मानना (२)या

उन्हे सूक्ष्मावस्थामे पुरुषोत्तमके अशरीरभूत किसी तत्त्वरूप या तज्जन्य मानना (३)या फिर आकाशोपम केवल आधारभूत पुरुषोत्तमके स्वरूपमे हुवा प्रकट मानना (४)या सुवर्णोपम अविकृतपरिणामि-उपादानरूप पुरुषोत्तमके स्वरूपमेसे परिणत मानना (५)या शुक्तिरजतोपम मिथ्या मान लेना

(१)अनित्य माननेपर तत्त्वपञ्चकका शाश्वत तत्व होना निरस्त हो जायेगा (२)पुरुषोत्तमके अशरीरभूत किसी तत्त्वरूप या तज्जन्य माननेपर पुरुषोत्तमकी व्यापकता इस तरह निरस्त हो जायेगी कि वह अन्तर्यामी भी सिद्ध नही हो पायेगा अन्यथा पुरुषोत्तमकी परमव्यापकता उसमे शरीरितया अनुक्तसिद्ध ही रहेगी (३)कल्पमे या तो विज्ञानभिक्षुके वेदान्तमे प्रवेश गलेपतित होगा (४)कल्पमे वाल्लभ वेदान्तमे स्वामिनारायणीय मतका अनुपदिष्ट समावेश गलेपतित होगा (५)कल्पमे शाकरवेदान्तमे स्वामिनारायणीय मत पर्यवसित हो जायेगा

सृष्टिके आधारतया यहा परब्रह्मको प्रस्तुत करनेके बजाय अक्षरब्रह्मको प्रस्तुत किया गया है तथा उस अक्षरब्रह्मको भी पुन स्वरूपेण नहीं परन्तु स्थूल जगत्के स्वरूपेण परिणामि-उपादानरूप प्रकृति-पुरुषके व्यापकत्वेन तथा नियामकत्वेन शरीरिकारण माना गया है

भारमापक यन्त्रपर साक्षात् रखे बिना कोई पुरुष अपने सामानको निज कन्धोपर लाद कर अपना भार मापना चाहे तो उसमे सामानका भार क्या व्यक्तिभारके साथ जुड नहीं जायेगा। यो केवल अक्षरतत्त्वको तथा प्रकृति-पुरुषतत्त्वोको अन्तर्गडु बनानेसे भी आपत्ति टल तो नही पायेगी और टलती होगी तो रामानुजीय वेदान्तमे भी टल जायेगी क्योकि आत्यन्तिक भेद तो दोनो ही मतोमे समान है और इसी तरह विशिष्टका ऐक्य भी अत एकान्तरित द्व्यन्तरित अथवा त्र्यन्तरित शरीरापेक्षाके व्याजवश रामानुजमतका प्रत्याख्यान सम्भव नहीं लगता

इसी तरह सृष्टि स्वार्थ है या परार्थ इस समस्याके बारेमे भी मुझे तो यही लगता है कि जीवानुकम्पार्थ माननेपर भी अनुकम्पा यदि परमात्माका स्वभाव हो तो स्वार्थ ही सिद्ध होगी तथा प्रार्थित उपकारप्रदर्शन हो तो सृष्टिपूर्व वह अप्रसक्त ही होनेसे हेतु नहीं बन पायेगा

तृतीय दोषतया रामानुजमतमे चिदचिच्छरीरोकी अनिवार्यताको गिनाया गया है किन्तु वह भगवान्‌के metaphysical aspect सृष्टिकर्तृरूपमे अनिवार्य होनेपर भी theological aspect भगवान्‌के दिव्यधामस्थित स्वरूपमे वह रामानुजमतमे भी अनिवार्य मानी नही जा सकती श्रीयाज्ञिक महोदय कहते है "*Thus Visistādvaitism of Sri Svāminārāyanan* does not regard the world of matter and souls as an organic to the nature of God" (तत्रैव पृ ७) परन्तु शरीरितया अन्त प्रवेशके बावजूद ऑर्गनिक नहीं मानना वदतोव्याघात ही है हम कह चुके है कि आत्यन्तिक भेद तो उभयमतोमे मान्य है धार्यधारकभावरूपा विधृति इतरेतरव्यापृति interaction के बिना शक्य नही हो पाती तदायत्तोत्पत्तिकत्व तदायत्तस्थितिकत्व तदायत्तप्रवृत्तिकत्व आदि शरीरीके उत्पादक आधार प्रेरक हुवे बिना शक्य नही और इससे बचनेको जो उपपत्ति खोजी जायेगी उसका लाभ रामानुजीय मतको भी मिलेगा ही

श्रीयाज्ञिक महोदय कहते है कि रामानुजमतमे परस्परापेक्षा दोष है जो स्वामिनारायणीय मतमे नही मुझे लगता है कि यदि अक्षरब्रह्मको धाम माना जाता है तो पुरुषोत्तमको अपने अवस्थानार्थ उसकी अपेक्षा रहेगी ही प्रत्युत नियतधाम होनेके कारण अक्षरब्रह्ममे धर्मिरूपताकी ओर परब्रह्ममे अक्षरब्रह्मके धर्मरूप होनेकी आशका भी उठ सकती है, धर्मकी व्याख्या ही "तद्वृत्तिमत्त्वम्" (न्यायकोश पृ ३८६) मानी जाती होनेसे

अस्तु यह तो स्थालिपुलाकन्यायेन कुछ समाधान है जो मुझे

श्रीजी महाराजको मान्य विशिष्टाद्वैतकी उपपन्नताके हेतु स्फुरित होते है. आवश्यकता इस बातकी नहीं परन्तु स्वयं श्रीजी महाराजके वचनोकी ऐसे आधुनिक विधानोंके साथ क्या संगति बैठानी इसकी ही महती है.

इनके अलावा 'द भक्त भगवान्' सगोष्ठीमे साधु श्रीहरिदासजजीने अपने आलेखपत्रमे कहते है "Swaminarayan accepts the fundamental principles of Ramanuja as basis of his philosophy, but goes much beyond him" ('द भक्त भगवान् रिलेशनशिप' पृ.१८९) इस रामानुजवेदान्तातिगामिताकी सिद्धि जीवात्माओंके उद्धारार्थ ब्रह्माण्डोत्पत्तिके द्वारा आधुनिक स्वामिनारायणीय मतमे की है. जिज्ञास्य इस विषयमे यही है कि सृष्टिनिर्माण यदि जीवात्माओके प्रति करुणातिरेकवश उद्धारके गम्भीर प्रयत्नरूप मानी जाये तो पुरुषको प्रकृतिके साथ जोडना और फिर उद्धार करना "प्रक्षालनाद् हि पंकस्य दूराद् अस्पर्शनं वरम्" न्यायेन उन्मत्तपुरुषवत् दुष्क्रमावलम्बन है. इसके बजाय तो रामानुजाचार्यकी निष्प्रयोजन कन्दुकक्रीडा "न प्रयोजनवत्त्वात् लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (ब्र.सू.२।१।३२-३३) सौत्र आक्षेप और समाधान के साथ अधिक सुसगत प्रतीत होते है.

इसके अलावा रामानुजमतमे ब्रह्मपरिणामवाद अंगीकृत है जबकि आधुनिक स्वामिनारायणीय मतमे परब्रह्मप्रशासित प्रकृतिपरिणामवाद माना गया है, ऐसा साधु श्रीहरिदासजीका कहना है प्रश्न यहा यह उठता है कि क्या रामानुजमतमे अचित्प्रकृति परब्रह्मप्रशासित नही है? श्रीरामानुजाचार्यका इस बारेमे क्या कहना है यह देखना हो तो . "तस्मात् क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणं मदीया प्रकृति सत्यसंकल्पेन मया अध्यक्षेण ईक्षिता सचराचरं जगत् सूयते अनेन क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणमदीक्षणेन हेतुना जगद् विपरिवर्ततइति मत्स्वाम्यं सत्यसंकल्पत्वं नैर्घृण्यादिदोषरहितत्वम् इत्येमादिकं वसुदेवसूनो ऐश्वरं योगं पश्य" (गीताभा ९।१०) इससे कौन सी अधिक बात परब्रह्मप्रशासित प्रकृतिपरिणामवादतया कही जा रही है!

(७ साधनाप्रणाली)

वैसे श्रीजी महाराजसे ३०३ वर्ष पूर्व हुवे श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुने भी अक्षरब्रह्मके बारेमे शुद्धाद्वैतवादका अवलम्बन कर के बहोत सारी वे ही बाते स्वीकारी तथा निज ग्रन्थोमे अनेकत्र प्रतिपादित भी की है, यथा, अक्षरब्रह्म भगवद्धामरूप होता है, अद्वयज्ञानमार्गीयोपासनाद्वारा अक्षरब्रह्मसायुज्य होता है, अक्षरब्रह्मको अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोके देशकालवस्तुपरिच्छेदरहित आधारतया तथा उसके सकलकारणकलापोके उपादानकारणतया एव निजदहराकाशतया भी निहार कर उसमे परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको अवस्थित मान कर भजन करनेवाला अक्षरब्रह्मात्मक व्यापिवैकुण्ठमे अक्षरात्मक देह प्राप्त कर भगवद्भजनका मोक्षावस्थामे भी निर्वाह कर पाता है आदि-आदि अत वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिसे अक्षरब्रह्मकी स्वीकृति भगवान् पुरुषोत्तममे सुदृढ-सर्वतोधिक स्नेहके पूर्वांगरूप माहात्म्यज्ञानके अगतया अनिवार्य होनेसे सहज सम्भव है कि पुष्टिमार्गीय भक्तिके अनुसरणार्थ रामानुज मतमे इदमित्थतया अगीकृत न होनेपर भी उसे अपना लिया गया हो तथा रामानुजमतीय विशिष्टाद्वैतसे वह असगत न हो जाये एतदर्थ पुरुषोत्तमसे उसे अत्यन्त भिन्न तथा शरीररूप भी मान लिया गया हो यो रामानुज वेदान्त तथा वाल्लभ वेदान्त का एक अद्भुत समन्वय यहा करनेका प्रयास जो प्रकट होता वह अवश्य भारतीय दर्शनशास्त्रके इतिहासमे एक उल्लेखनीय अध्यायको जोडा गया माना जाना चाहिये फिर भी श्रीजी महाराजके वचनोके प्रामाण्य और आन्तरिकसगतिकी समस्याका समाधान क्या ?

(८ समाधानोपायकी सम्भावित रूपरेखा)

इस दिशामे कुछ सशोधन तथा समाधान प्राप्त हो तदर्थ "मद्रूपमिति मद्वाणी मान्या इय परमादरात्" उनकी आज्ञाको शिरोधार्य करे बिना कोई उपाय समाधानकारी प्रतीत नहीं होता क्योकि अधुनाविकसित श्रीस्वामिनारायणीय मतमे न तो श्रीवेदान्तदेशिकोल्लिखित तत्त्वविभाजनको

किसी तरहकी सैद्धान्तिक मान्यता दी जाती है और न निजाचार्यकण्ठोक्त रामानुजीयविशिष्टाद्वैतवादको ही आधुनिक श्रीस्वामिनारायणीय मतके विद्वान यथावत् स्वीकारने उद्यत हैं. कभी 'विशिष्टविशिष्टाद्वैतवाद' तो कभी 'नव्यविशिष्टाद्वैतवाद' कह कर रामानुजीय विचारीतिसे अपने-आपको पृथक्तया प्रस्थापित करनेका ही प्रयास अधिक मुखरित होता पाया जाता है. एतावता यह सिद्ध होता है कि रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादमें भी अब एतन्मतानुयायिओंको कोई गहरी विप्रतिपत्ति कहीं-कुछ खटकती होगी. वैसे यह तो, कहना पड़ेगा कि, निजाचार्यके आदेशके प्रति अनादर प्रकट किया जा रहा झलकता है!

इमामेव ततो नित्यमनुसृत्य ममाश्रितैः।
यतात्मभिः वर्तितव्यं नतु स्वैरं कदाचन॥
नेत्थं य आचरिष्यन्ति तेत्वस्मत्सम्प्रदायतः।
बहिर्भूता इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः साम्प्रदायिकैः॥
शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठोऽस्या मदुपाश्रितैः।
कर्तव्योऽनक्षरज्ञैस्तु श्रवणं कार्यमादरात्॥
वक्त्रभावेतु पूजैव कार्याऽस्याः प्रतिवासरम्।
मद्रूपमिति मद्वाणी मान्येयं परमादरात्॥
(शिक्षापत्री : २०५-२०९).

इस ऐसी आज्ञाके कारण इस दिव्यग्रन्थका अनतिसाधारण महत्त्व सिद्ध तो होता ही है. फिरभी रामानुजीय वेदान्तसे निजपार्थक्यपर भार देनेको स्वाभाविकतया वचनामृतोका अधिकावलम्बन आधुनिक अनुगामिओंके लिये जो अपरिहार्य बना है उस सन्दर्भमे अब प्रामाण्यतारतम्य जिज्ञास्य बन जाता है. क्योकि *वचनामृत* तथा *शिक्षापत्री* के बीच जहा एकरूपता न झलकती हो वहा समप्रामाण्यवश दोनो ग्रन्थोका विकल्पेन आश्रयण करना अथवा तरतमप्रामाण्यवश? यदि तारतम्यवश तो किसके आधारपर किसका व्याख्यान करना?

क्या बौद्ध धर्ममे जैसे आरुरुक्षुके अपरपर्यायरूप विनेयजन तथा आरूढके अपरपर्यायरूप विनीतजन के अधिकारिताभेदके वश दृष्टिभेदका उपदेश दिया गया, ऐसे ही व्याख्यानीति यहा भी अपनानी? अथवा जैनोंने जैसे विकलादेश तथा सकलादेश की भेदकल्पनाके द्वारा सप्तविध नय और प्रमाण के बीच आपेक्षिक भेद तथा अभेद की स्वीकृतिरूप सकलनयसमाहारके द्वारा उपदेशसामञ्जस्य बैठाया है, तद्वत् यहा श्रीजीमहाराजके दोनों ग्रन्थोमे सामञ्जस्य खोजना? अथवा वाल्लभ सम्प्रदायमे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके हस्ताक्षरोमे उपलब्ध होती श्रीविष्णुस्वामिमतानुगामिता और भगवदाज्ञप्त पुष्टिभक्तिसम्प्रदायकी स्वतन्त्रताके बारेमे जेसे भाष्यरश्मिकार श्रीगोपेश्वरजीने महाप्रभु-विरचित षोडशग्रन्थोमे [1]निर्गुणमत, भागवतसुबोधिनीमे [2]आधिदैविकमत, ब्रह्मसूत्रभाष्यमे [3]आध्यात्मिकमत, तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धमे [4]आधिभौतिकमत ऐसे चतुर्विध मतोकी कल्पना करके कथञ्चित् सामञ्जस्य बैठाना चाहा था ऐसे ही श्रीजीमहाराजको भी क्या रामानुजीय वेदान्त केवल आध्यात्मिक मततया ही अभिमत था? अर्थात् शिक्षापत्री मे उन्हे जो मत मान्य है वह आध्यात्मिक मतका उपदेश है और वचनामृत मे क्या उन्हे आधिदैविकतया मान्य किसी मतका उपदेश है? अथवा महाप्रभुके उभयविध हस्ताक्षरोसे सिद्ध उनकी उभयमतानुगामिताके बारेमे स्वय जो मुझे उचित प्रतीत होता है कि एक उनकी परम्पराप्राप्त दृष्टि थी और दूसरी उनकी स्वतन्त्रदृष्टि थी इनमे पार्थक्य होनेपर भी विरोधाभास न होनेसे उभयदृष्टियोको यथायथ स्वीकारा गया है ऐसी ही कल्पना श्रीजीमहाराजकी मान्यताके बारेमे भी करनी? अथवा एकमे कर्त्तव्योपदेशकी प्रधानता है और दूसरेमे तत्त्वोपदेशकी इस तरह पूर्वोत्तरमीमासान्याय क्या यहा अनुसरणीय है? अथवा आधुनिक पाश्चात्य आदर्शके अनुगामी चिन्तकोके जैसी कालक्रमवश विचारपरिवर्तनकी कल्पनाद्वारा यहा सामञ्जस्य बैठाना? इन विविध सम्भावनाओके बीच जो कुछ भी स्वसम्प्रदायदृष्ट्या उचित हो उसे निर्धारित करना श्रीस्वामिनारायणीय विद्वानोका मुझे अवश्यानुप्रेय कर्तव्य लगता है क्योकि क्या कारण है कि रामानुजमतीय तत्वविभाग इस मतमे अधुना स्वीकारा नहीं जाता

है? क्यो उसके स्थानपर परब्रह्म अक्षरब्रह्म ईश्वर जीव और माया रूपी पचधा तत्त्वविभाग, जो वचनामृतोंमे उपलब्ध होता है उसीपर भार दिया जा रहा है? क्यों इन पचविध तत्त्वोका कोई भी स्पष्ट सकेत शिक्षापत्रीमे नहीं मिलता? इन तत्त्वोंके अगीकारवश उपनिषद् ब्रह्मसूत्र या भगवद्गीता के वचनोंमे श्रीरामानुजभाष्योक्त अभिप्रायके विरुद्ध अर्थ तो स्वीकारना पडेगा तब या तो रामानुजभाष्योक्त अर्थको अप्रमाण या फिर इन तत्त्वपञ्चककी कल्पनाको अप्रमाण मानना पडेगा यो उभयत पाशमे बुद्धि जकड़ जाती है जो बात इन सबके अवलोकन करनेपर दुर्बोध लगती है, वह यही कि जिस तरहसे रामानुजमतके बारेमे अपनी निरुपाधिक स्वीकृति *शिक्षापत्री* मे प्रकट होती है उसे शनै-शनै *वचनामृतो* मे क्यो शिथिल होती हुयी तथा परवर्ती विद्वानोमे सर्वथा गौण ही नहीं प्रत्युत दोषोद्भावन पर्यन्त अनुपादेय बनायी जा रही है। क्यो परवर्ती लेखक अपने मतका रामानुजमतसे पार्थक्यको सिद्ध करनेमे अतीव आग्रहिल पाये जाते है? एतदर्थ निश्चय ही प्रामाण्यमीमासा अब इस सन्दर्भमे अतीव प्रासगिक मुझे प्रतीत होती है

(९ उपसहार)

तकलीफ इस बारेमे मुझे और कुछ भी नहीं सिवाय इसके कि स्वय श्रीजी महाराजके वचनोमे परस्पर समन्वय कैसे साधना। यही प्रक्रिया मुझे न केवल परेशान करती है परन्तु अपनी विनम्र जिज्ञासाको मुखरित करने भी उकसाती है इति शम्



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीस्वामिनारायणीय दर्शनसिद्धान्त और भक्तिसाधना की विकसनप्रक्रिया(२)

(साधु श्रीश्रुतिप्रकाशदासजीके समाधानात्मक आलेखपत्रकी समीक्षा)

श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा॥
सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुम ॥॥१॥
"स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम ॥
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्"॥२॥
पुरुषोत्तमोऽयं गीतोक्त सहजानन्देष्टदेवता॥
परब्रह्मतया सोऽयं श्रुतिसूत्रप्रमाणक ॥३॥
सर्वमान्येषु शास्त्रेषु यत्तु नैवोपलभ्यते॥
श्रुतिप्रकाशदासीयं ब्रह्म तत् परमं कुत ?॥
तत स्वगोष्ठिसिद्धं तत् शिष्यश्रद्धातिरेकत ॥४॥
न मतञ्चापि तत् तत्र सहजानन्दस्वामिनाम्॥
किञ्च सर्वैर्हि स्वगुरु परब्रह्मतयादृत ॥५॥
स्वगुरूक्तं परन्त्वेतै चित्रं खल्वथरीकृतम्॥
शास्त्रानुक्तं प्रमेयं चेत् परतत्त्वेन रूप्यते॥६॥
बाह्यत्वापादकं तत्स्याद् वेदान्तकपटोऽथवा॥
अस्वीकार्यस्तु सोऽयं हि गुरूक्तानादरो भृशम्॥७॥
तस्मात्सम्प्रति चैतेषां गुरोर्वाक्यविचारणात्॥
श्रुतिप्रकाशदासोक्तं साधूक्तं नावधार्यते॥८॥

(१ उपक्रम)

मेरी यह सुदृढ धारणा है कि श्रीसहजानन्द स्वामीजी रामानुजवेदान्त

और वाल्लभवेदान्त के समन्वय द्वारा निश्चय ही एक विलक्षण और नूतन वेदान्तप्रक्रिया प्रवर्तित करना चाहते होंगे, और, इसी तरह वैष्णवी एकान्तभक्ति तथा स्मार्त पञ्चदेवोपासना के भी अतीव अनूठे सश्लेषण द्वारा एक नूतन धर्मसाधनाकी प्रणालीका भी सूत्रपात वे करना चाहते होगे यो उभयवेदान्तोका एक विलक्षण समन्वित रूप ही इस उनके मतकी अपूर्वता दर्शनेतिहासमे नूतन प्रदान सिद्ध करनेका पर्याप्त था। फिरभी रामानुज वाल्लभ तथा स्मार्त सम्प्रदायोंके तत्कालीन अनुगामिओकी इस नूतनसम्प्रदायके प्रति असहिष्णुताके वश, तथा स्वय स्वामिनारायण सम्प्रदायके अनुगामिओमे भी पनपी प्रतिक्रियावादी मानसिकताके वश भी, स्वपको अलग-थलग सिद्ध करनेकी दुर्दम महत्त्वाकाक्षाने वर्तमानमे इस सम्प्रदायकी दार्शनिक तथा धार्मिक धारणाओका जो स्वरूप गढा और बहुप्रचारित किया, वह स्वय उनके श्रद्धाशील अनुगामिओको स्वय निजगुरुके कण्ठोक्त उपदेशोंसे अतीव दूर कहीं भटका देनेका एक विपरीत कार्य लगता है।

अपने इस अभिप्रायको प्रकट या प्रचारित करनेका न तो मेरे भीतर कोई निजसाम्प्रदायिक उत्साहातिरेक है और न वैसा परसम्प्रदायविद्वेष ही क्योकि श्रीसहजानन्द स्वामीजीने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण और गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण की प्रशसामे —

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दन ।
श्रीविठ्ठलेश कृतवान् य व्रतोत्सवनिर्णयम्॥
कार्यास् तम् अनुसृत्यैव सर्वएव व्रतोत्सवा ।
सेवारीतिश्च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि॥
(शिक्षापत्री ८१-८२)

ऐसे सौहार्दपूर्ण उदारभाव जो प्रकट किये है, उनके ऐसे भावोके विपरीत कृतघ्नतापूर्ण सुहृद्द्रोह करना प्रस्तुत आलेखपत्रके लेखकको दु स्वप्नमे

भी आचरणीय कृत्य नहीं लग सकता है अतएव यह सविशेष उल्लेखनीय हो जाता है कि अपने अनुगामी जन निरर्थक ही अन्यसम्प्रदायसे कहीं प्रभावित न हो जाये, ऐसी भीति रखनेवाले सम्प्रदायप्रवर्तक अनेक धर्मोपदेशकोसे विसदृश श्रीसहजानन्द स्वामीजीके जैसी निश्छल दार्शनिक तथा धार्मिक आत्मस्वीकृति सहसा उपलब्ध हो नहीं पाती।

इस देशके विभिन्न वैदिक सम्प्रदायोंके प्रवर्तक न केवल स्वयको मान्य अपितु बहुमान्य शास्त्रोंके ही आधारपर अपनी धारणाओकी सम्पुष्टि करते है उनकी जो भी आत्मस्वीकृत धारणाये हो उनके कारण इन शास्त्रोकी जिस पूर्वसिद्ध व्याख्यापरम्पराके साथ वे जुडे होते है, उस व्याख्यापरम्परासे विरुद्ध जानेवाली परम्पराओकी धारणाओका भी कई बार निज धारणाके साथ समन्वय साधते है, यदि उन्हे निजविवेकवश वह सत्य और उचित लगता हो तो भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहासमे ऐसा कई बार घटित हुवा दिखलायी देता ही है

इसे अपनी जनग्राह्यता प्राप्त करनेका छद्म मानना बहुधा साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहवाली मानसिकता भी हो सकती है अतएव श्रीसहजानन्द स्वामीजी या उनके सम्प्रदाय के प्रति किसी तरहके साम्प्रदायिक विद्वेष या सुहृद्द्रोह के रूपमे इस समीक्षाको देखनेके बजाय उनके प्रति विनम्र कृतज्ञताके प्रकाशनके रूपमे ही इसे लिया जाना चाहिये प्रस्तुत आलेखनके आरम्भमे ही यह स्पष्टीकरण दे देना मुझे मेरा कर्तव्य लगता है

विशेषमे इसलिये भी यह अपेक्षित लगता है क्योकि स्वय समादरणीय श्रीमान् ज आ याज्ञिक महोदयके साक्षात् मौखिक अत्याग्रहवश कि स्वामिनारायणसम्प्रदायके दर्शन और साधना के बारेमे, तब अहमदाबादमे आयोजित होनेवाली सगोष्ठीमे, मुझे ही आलेखपत्र प्रस्तुत करना चाहिये सो वृद्धपुरुषके आग्रहका अनादर न करनी भावनावश ही मैंने आलेखप्रत्र प्रस्तुत करना चाहा था अन्यान्य विद्वानोंके समक्ष तब उन्होंने यह

भी कहा कि "गोश्याम यदि हमारी आलोचना भी करेंगे तो भी हम उनके आलेखपत्रको पढनेको उत्कण्ठित है" अतएव मैने अपनी समझके अनुसार कुछ प्रश्न समाधानार्थ प्रस्तुत करने चाहे बादमे अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जिसके तत्वाधानमे वह सगोष्ठी होने जा रही थी उसके पदाधिकारी आदरणीय श्रीयुत श्रीप्रकाश दुबेजीने अपने पत्र (दि १२।१०।०४) द्वारा मुझे यह सूचना भेजी

"स्वामिनारायण सेश्वर वेदान्तका आपका व्याख्यान अहमदाबाद भेजा गया था, व्यवस्थाके अन्तर्गत वहा इसे पढनेके उपरान्त श्रुतिप्रकाश स्वामीने बताया कि इसमे कुछ अश ऐसे है जिनका वाचन वहाके मचसे उपयुक्त नही होगा, परम्पराके परिप्रेक्ष्यमे कुछ सशोधन अपेक्षित है उन्होंने कुछ सशोधन करके भेजे है यदि आप इन सशोधनोसे सहमत हो तो इन्हे यथावत् रखा जाय, वरना विवादमे न जा कर इस व्याख्यानको स्थगित करना श्रेयस्कर होगा"(अधोरेखाकन मेरेद्वारा योजित)

(२ समीक्षारम्भ)

यो उस विचारगोष्ठीमे शुभाशयोपेत प्रश्नोपर तथा समाधानार्थ प्रस्तुत जिज्ञासाओ पर भी प्रतिबन्ध लगा किया गया यह तो मुझे अति विस्मयजनक ही लगा। मै समझता हू कि सम्प्रति स्वामिनारायण सम्प्रदायके नूतन अनुगामी इन गम्भीर प्रश्नोका समाधान न भी सोचना या खोजना चाहते हो न सोचे या न खोजे कभी न कभी इनकी भावी पीढीको भविष्यमे तो खोजने ही पडेगे क्योंकि श्रीसहजानन्द स्वामीजीकी —

"इति सक्षेपतो धर्मा सर्वेषा लिखिता मया,
साम्प्रदायिकग्रन्थेभ्यो ज्ञेय एषान्तु विस्तर सच्छास्त्राणा
समुद्धृत्य सर्वेषा सारम् आत्मना पत्री इय लिखिता नृणाम्

अभीष्टफलदायिनी इमामेव ततो नित्यम् अनुसृत्य मम आश्रितै यतात्मभि वर्तितव्यं नतु स्वैरं कदाचन वर्तिष्यन्ते य इत्थं हि ..सिद्धिं प्राप्स्यन्ति निश्चितम्. न इत्थं ये आचरिष्यन्ति तेतु अस्मत्सम्प्रदायत बहिर्भूता इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसै साम्प्रदायिकै शिक्षापत्र्या प्रतिदिनं पाठो अस्या मदुपाश्रितै कर्तव्यो, अनक्षरैस्तु श्रवणं कार्यम् आदरात् वक्त्रभावेतु पूजैव कार्या अस्या प्रतिवासरं, मद्रूपम् इति मद्वाणी मान्या इयं परमादरात्''.(शिक्षापत्री २०३-)

इन निजकण्ठोक्त विधि-निषेधो और उनके अनुसरण या अननुसरण की उभयविध फलश्रुतिओकी अर्थापत्तिका विचार यदि किया नही गया तो भारतके एक दिव्य पुरुषके साथ निरर्थक ही अक्षम्य अन्याय हो जायेगा क्योकि परम्पराकी दुहाई दे कर समान्य साधु श्रुतिप्रकाशदासजी मेरे आलेखपत्रमे जैसे सशोधनार्थ मुझे प्रेरित करना चाहते है, वह तो सर्वथा उपपत्तिविहीन होनेसे अस्वीकार्य ही लगता है स्वय उनके शब्दोमे देखना हो तो —

(१)''शास्त्र-निरीक्षणमें बलाबलन्याय सभी दर्शनोंमें स्वीकृत है एक ही दर्शनका समस्त शास्त्रसमूह एक ही अर्थ कहता हो तो, कभी परस्पर विरोधाभास न हो तो, यह पूर्वोक्त बलाबलनिर्णय और तात्पर्यनिर्णय का प्रयास ही निरर्थक बनेगा सम्प्रदायकी विस्तृति और प्रवृत्ति में दो प्रकार सभी साम्प्रदायिक दर्शनोंमें पाये जाते है १ सम्प्रदायके विकासकेलिए अपने सम्प्रदायके पूर्ववर्ती सम्प्रदायोंके आश्रित मुमुक्षुओंकी भी रुचि उत्पन्न हो, इसलिए उनकी आस्थाको धीरेसे मोडनेकेलिए पूर्ववर्ती सम्प्रदायो सिद्धान्तों के साथ समानता रखनेवाले प्राथमिक ग्रन्थोंकी रचना होती है अन्यथा प्रथमसे ही इस सम्प्रदायसे

अपना मुह मोड़ लेता है इस प्रकारके शास्त्रोंको 'सदस्यग्रन्थ' अथवा 'साधारणग्रन्थ' कहते हैं २ सम्प्रदायमें अनुरक्त मुमुक्षुविशेषकेलिए जब सम्प्रदायके रहस्यवेत्ता, मतप्रवर्तकके साथ साक्षात् समागम करनेवाले, प्रधान शिष्योंसे मिलता है अथवा ऐसे प्रधान शिष्योंके ग्रन्थोंको अनुभवी साम्प्रदायिक विद्वानोंसे पढ़ता है तब इस प्रकारके ग्रन्थ प्राथमिक समागत मुमुक्षुकेलिए अनुपादेय बनते हैं क्योंकि ये मुमुक्षुके सामर्थ्यसे अधिक गम्भीर होते हैं ऐसे ग्रन्थोंको 'रहस्यग्रन्थ' कहते हैं (मेरे आलेखपत्रके समाधानार्थ भेजे गये पत्रमें खण्ड ४१)

(२)शिक्षापत्रीमें लिखित जनसाधारणता अर्थात् सदस्यता ग्रन्थान्तर्गत विषयोंसे जान सकते हैं यहा रामानुजीय तत्त्वत्रयका निरूपण, शंकरमताभिप्रेत पञ्चदेवपूजाकी मान्यता, वल्लभाचार्यप्रोक्त उत्सवविधानका स्वीकार, निम्बार्काचार्यस्वीकृत गोलोकधामकी अभिमति, शैवसम्प्रदायके साथ सवादिताकेलिए शिवमन्दिरदर्शन और शिवपूजा का विशिष्ट विधान इत्यादि रामानुज-निम्बार्क वगैरह पूर्वसम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंके समन्वयका हेतु समाजमेंके सभी सम्प्रदायोंके प्रति आदरभाव है कोई एक ही सम्प्रदाय अपना सिद्धान्त नहीं है हमारा रहस्यगत सिद्धान्त तो भिन्न है यही दिखाई पड़ता है (तत्रैव ४२)

(३)''यत्पर स शब्दार्थ'' इस न्यायसे जिस ग्रन्थका जो प्रधान विषय हो उसमे उसी विषयका प्राबल्य उस ग्रन्थसे निकालना चाहिये नकि विषयान्तरको शिक्षापत्री धर्म अर्थात् सदाचारविषयक ग्रन्थ है ऐसा, ग्रन्थके आदिमें अन्तमें और मध्यमें बार-बार कहा है इस प्रकार सदाचारवर्णनप्रधान इस ग्रन्थमें और तत्त्वज्ञानवर्णनप्रधान वचनामृत के बीच कोई बीजाकुरसम्बन्ध नहीं है दोनोंका

विषय ही भिन्न है दोनोंके लेखनसमयमें भेद है.. इन दोनोंमे तात्त्विक सन्दर्भकेलिए वचनामृतका ही उपयोग करना चाहिये, बजाय शिक्षापत्रीके (तत्रैव . ४२)

मैने स्वय भी अपने मूल आलेखपत्रके ८वे खण्डमे एकाधिक समाधानोपायकी सम्भावित रूपरेखा प्रस्तावित की ही थी उसमे सर्वप्रथम समप्रामाण्य और तरतमप्रामाण्य का विकल्प प्रस्तुत किया था द्वितीय तरतमप्रामाण्यके अन्तर्गत आरुरुक्षु और आरूढ अधिकारियोंके भेदके जैसी त्रिविध प्रक्रिया प्रस्तावित की थी श्रीश्रुतिप्रकाशदासजी इनमे तरतमप्रामाण्यके कल्पके अन्तर्गत विषयभेद और अधिकारिभेद के आधारपर शिक्षापत्री और वचनामृत ग्रन्थोमे प्रकट होते विरोधाभासको अनमनेसे समाहित करना चाहते है यह उपर्युद्धृत उनके वचनोके अवलोकनसे आभासित होता ही है साथ ही साथ इसे केवल विरोधाभासके रूपमे ही दरसाना चाहते है पारस्परिक विरोधके रूपमे स्वीकारना नही चाहते वैसे मेरेद्वारा प्रस्तावित विरोधाभासके निराकरणोपायतया दोनो ग्रन्थोमे बीजाकुरभावका यहा निषेध करनेके बावजूद अपने प्रत्युत्तरके उपक्रममे साम्प्रदायिक सिद्धान्तविकासमे बीजाकुरभाव भी स्वीकार कर चले है यथा "सम्प्रदाय सहसा वृक्षरूप नहीं बनता इस अकुरित अवस्थाका चित्र और विशालकाय अवस्थाके चित्रको देख कर कभी-कभी दोनोंमे विरोध दिखाई पडता है विरोध और विरोधाभास को जाननेका तरीका यह है कि १ सम्प्रदायप्रवर्तकके सभी विचारोंका सामूहिक चिन्तन २ सम्प्रदायप्रवर्तककी गुरुपरम्पराके विचारोंका चिन्तन ३ समकालीन अथवा शिष्यसमूह जिन्होंने साक्षात् अपने सम्प्रदायप्रवर्तकको सुना, अनुभव किया हो ऐसे विद्वानोंके ग्रन्थोंका आकलन और चिन्तन" (तत्रैव १ उपक्रम) अत सर्वप्रथम तो यह मुझे कथनीय लगता है उल्लिखित दोनो ग्रन्थोमे जब विरोध ही न हो तो प्रामाण्यमे तारतम्य क्यो स्वीकारना चाहिये? दोनो ग्रन्थोका समप्रामाण्य उपपादित करना ही उचित होता परन्तु यह एक कटुतर वास्तविकता है कि स्वामिनारायणपन्थके आधुनिक

अनुगामिओंको अब शिक्षापत्रीकी शब्दावली, अपनी वैचारिक धारणाके वश पर्याप्त प्रतिकूल दिखलाई पड़ती है. इस विषयको आगे चल कर अधिक स्फुट किया जायेगा. अस्तु.

साधु श्रुतिप्रकाशदासजी (इत पर 'सा.श्रु जी' नामसंक्षेपेण उल्लेख्य) के ऊपर दिये तीन उद्धरणोंमें चार-पांच धारणायें उभर कर सामने आती है : [1] शिक्षापत्री साधारणग्रन्थ है जबकि वचनामृत रहस्यग्रन्थ है. [2] शिक्षापत्री अन्यान्य सम्प्रदायके अनुयायिजनोंको अपना शिष्य बन जानेको ललचानेके हेतु दिया गया उपदेश है जबकि वचनामृत अपने शिष्योंको शुद्धभावसे दिया गया उपदेश है. [3] शिक्षापत्री स्वहस्तालेखित होनेपर भी तत्त्वविचारार्थ अनुपयोगी सदाचारपरक ग्रन्थ है जबकि वचनामृत श्रीसहजानन्दजीके अनन्य भक्तोंद्वारा आलेखित अपने गुरुके तत्त्वविचारोंका प्रतिपादक ग्रन्थ है [4] शिक्षापत्रीमें उल्लिखित प्रयोजनवश तत्कालमें प्रचलित अन्यान्य सम्प्रदायोंके प्रति केवल अविरोधात्मक आदरभाव दिखानेके हेतु दिया गया उपदेश है जबकि वचनामृत अपने अन्तरंग भक्तोंके बीच ऐसे प्रयोजनसे रहित स्वमतके उपदेशोंका संकलन है

१.अनुपपत्ति :

उपर्युद्धृत श्रीसहजानन्दजीके वचनोंमें अधोरेखाकित अंशोका थोड़ीसी सावधानीके साथ अवलोकन करनेपर ये समाधान कुशकाशावलम्बन या अकाण्डताण्डव ही लगते है "[1]सर्वेषां, [2]सच्छास्त्राणा समुद्धृत्य सर्वेषां सारम् आत्मना, पत्री इयं लिखिता, [3]इमामेव ततो नित्यम् अनुसृत्य मम आश्रितै यतात्मभि वर्तितव्यं नतु स्वैर कदाचन, [4]न इत्थं ये आचरिष्यन्ति तेतु अस्मत्सम्प्रदायत बहिर्भूता इति ज्ञेयं, [5]मद्रूपम् इति मद्वाणी मान्या इयं परमादरात्"

स्पष्ट है कि श्रीसहजानन्द स्वामीके अनुसार 'शिक्षापत्री निज पन्थमें आरुरुक्षु और आरूढ दोनोंकेलिए अर्थात् सभीकेलिए

लिखी गयी है. यहां "उद्दिधीर्षितव्यानां प्राथमिकानां" पदप्रयोगके बजाय 'सर्वेषां' पदका प्रयोग यही सिद्ध करता है. साथ ही साथ 'यह शिक्षापत्री श्रीसहजानन्द स्वामीने तत्त्वरूप और धर्मरूप उभयवस्तुके प्रतिपादक सच्छास्त्रोके निजाभिमत सारका स्वय आत्मकृत समुद्धरण है. यह शिक्षापत्री इन्ही सच्छास्त्रोपर अवलम्बित होनेवाले इतर व्याख्यातृसम्प्रदायोके सिद्धान्तोके प्रति केवल समादरभाव प्रकट करनेवाली सूक्तियोका संकलन नहीं. 'श्रीसहजानन्द स्वामीपर आश्रित उनके सम्प्रदायके साधारण और रहस्यवेत्ता सभीकेलिए यही शिक्षापत्री नित्य श्रोतव्य मन्तव्य निदिध्यासितव्य उपदेश है नकि रहस्यबोधके बाद उपेक्ष्य या अननुसरणीय उपदेश इस शिक्षापत्रीमे 'उपदिष्ट कर्तव्योके विपरीत आचरण करनेवालेको निजसम्प्रदायसे बहिर्भूत माननेका स्पष्ट विधान यहा किया गया है अन्तमे 'अन्य वचनामृत आदि तथाकथित रहस्यग्रन्थ चाहे श्रीसहजानन्दजीकी शाब्दिक काया हो या न हो पर इसे अपनी शब्दमयी कायाके रूपमे ही परमादरास्पद दिखलाना वे चाहते है अत इसके बारेमे गौणप्रामाण्य होनेका दुराशय स्वय निजाचार्यके वचनो और व्यक्तित्व के प्रामाण्यके अवमूल्यनमे ही पर्यवसित होगा

२.अनुपपत्ति :

शिक्षापत्रीमे तत्कालीन अन्यान्य सम्प्रदायोके अनुगामिओको निजाभिमुख बनानेके हेतु, उन सम्प्रदायके सिद्धान्तोके प्रति दरसाया गया आदरभाव, सदसद् शुभाशुभ या श्रेयस्कराश्रेयस्कर के बारेमे उपदेशकर्ताके स्वय निजी विवेक और विश्वास के अनुसार मान्य था अथवा केवल अन्यसम्प्रदायानुगामिओके प्ररोचनार्थ या प्रतारणार्थ ही? यदि प्रथम कल्प मान्य रख कर चले तो शिक्षापत्रीको इतरसम्प्रदायके सिद्धान्तोका सकलन मानना असगत हो जायेगा. क्योकि अन्यथा मासभक्षण मद्यपान

व्यभिचार स्तेनकर्म द्यूतक्रीडा परनिन्दा सदृश निषिद्धाचरण श्रीस्वामीने जैन-बौद्धोके मतोके सकलनार्थ यहा योजित किये ऐसा भी मानना पडेगा क्योकि ये उनके यहा भी निषिद्धाचरणतया वर्णित है यदि इन्हे वहासे लिये नही मानते तो तत्त्वत्रयनिरूपण, पञ्चदेवपूजा, उत्सवविधान, गोलोकधाम या शिवमन्दिरदर्शन रामानुज शाकर वाल्लभ नैम्बार्क या शैव मतोके सकलनार्थ या समादरणार्थ न हो कर निजाभिप्रेत ही स्वीकारने पडेगे, निजाचार्यद्वारा सर्व आप्तजनमान्य तत्त्वप्रतिपादक एव सदाचारप्रतिपादक शास्त्रोको अभिप्रेत पदार्थके रूपमे अभिमत होनेसे ही द्वितीय कल्पमे तो जैसाकि श्रीधर्मकीर्ति और श्रीकर्णगोमी कहते है "आगमभ्रशकारिणा आहोपुरुषिकया तद्दर्शनविद्वेषेण तत्प्रतिपन्नखलीकरणाय धूर्तव्यसनेन अन्यतो वा कुतश्चित कारणात् अन्यथारचनसम्भवात्"–"यथा महायानविद्विष्टाना महायानप्रतिपन्नखलीकरणाय महायानप्रतिरूपकसूत्रान्तररचन तत्प्रतिपन्नखलीकरणाय व्यसनम् इद धूर्ताना यत् पर खलीकर्तव्य" (प्रमा वार्ति ३।३३२) वैसा ही कुछ आरोप श्रीसहजानन्दजी स्वामीजीपर भी लगने लगेगा। मुझे तो यह सर्वथा आपत्तिजनक लगता है अत शिक्षापत्रीगत उपदिष्ट वचनोमे आधुनिक अनुगामिओकी श्रद्धाका ह्रास इसमे प्रमुख हेतु लगता है मूल उपदेशकके चरित्र या गुणो मे अकारण ऐसी दुर्दम शिष्येषणाकी निम्नस्तरीयता खोज निकालना अच्छी बात नही होती।

३ अनुपपत्ति •

क्योंकि ऐसी धारणाओको बहुप्रचारित करनेपर तो इस पथको विश्वके अन्यान्य भूभागोसे कल अधिक अनुगामी जनता मिल जानेपर "श्रुत्यादि आर्ष शास्त्रोको भी केवल भारतीय जनसाधारणको आकर्षित करनेको मान्य रखा गया

था'' ऐसा न कहा जायेगा उसकी क्या निश्चिति? क्योंकि तब भी यह कहा जा सकेगा इस मतको 'वेदान्त' भारतीय मुमुक्षुजनोंको अपनी और आकृष्ट करनेको ही कहा गया था हमारे तो 'सत्सगिजीवन' आदि ही प्रमुख रहस्यग्रन्थ है उपनिषद् आदि नहीं।

४.अनुपपत्ति :

कल यदि वडताल या मणिनगर के पीठाधीशोमे कोई 'वचनामृत' और 'सत्सगिजीवन' ग्रन्थोपर जनसाधारणके बीच प्रवचन कर, श्रीसहजानन्द स्वामीजीको पुरुषोत्तमतया अपना उपास्य बता कर, जनताको भलीभाति अपना भक्त बना लेनेके बाद रहस्यगोष्ठीमे स्वयको श्रीसहजानन्द स्वामिरूप अवतारका भी अवतारी घोषित करने लगे तो क्या करना? गेष्ठोके भी मानमोह-रहित निरपेक्ष अन्तरग भक्त वैसी साक्षात् अनुभूतिकी शपथ भी खाने लगे तो क्या करना? क्या स्वामिनारायणपन्थमे तब उन्हे पूर्णतम पुरुषोत्तम स्वीकारा जाना उचित होगा कि नही? यदि हा तो श्रीसहजानन्द स्वामीजीको भी ''रामकृष्णाद्यवताराणा कारण परमेश्वरम्'' (सा श्रु जीकृत उक्त आलेखपत्रमे मगलाचरण) स्वीकारनेका कुछ औचित्य सिद्ध होगा अन्यथा ऐसा कृत्य यदि स्वामिनारायण सम्प्रदायमे उचित न हो तो श्रुत्यादिप्रमाणैकगम्य वेदान्त या श्रुत्यादिसे अविरूद्ध पाञ्चरात्रादिके भी प्रमाणोसे गम्य वैष्णव सम्प्रदाय मे भी श्रीसहजानन्द स्वामीजीकी भी सकलावतारावतारिता अनुचित ही कहलायेगी उदाहरणतया मान लो कि सोखड़ावाले स्वामीजी यदि जनोपयोगी बडे-बडे आयोजनोमे विशाल जनमेदनीके समक्ष स्वयको श्रीयोगीजी महाराजके एकान्ती भक्त तथा वास्तविक उत्तराधिकारी होनेका दावा करने लगे तो क्या बोचासणवासी अक्षरपुरुषोत्तम सस्थाको वह मान्य हो पायेगा?

व्यभिचार स्तेनकर्म द्यूतक्रीडा परनिन्दा सदृश निषिद्धाचरण श्रीस्वामीने जैन-बौद्धोंके मतोंके संकलनार्थ यहां योजित किये ऐसा भी मानना पड़ेगा. क्योंकि ये उनके यहा भी निषिद्धाचरणतया वर्णित है यदि इन्हे वहासे लिये नहीं मानते तो तत्त्वत्रयनिरूपण, पञ्चदेवपूजा, उत्सवविधान, गोलोकधाम या शिवमन्दिरदर्शन रामानुज शाकर वाल्लभ नैम्बार्क या शैव मतोंके संकलनार्थ या समादरणार्थ न हो कर निजाभिप्रेत ही स्वीकारने पड़ेगे, निजाचार्यद्वारा सर्व आप्तजनमान्य तत्त्वप्रतिपादक एवं सदाचारप्रतिपादक शास्त्रोंको अभिप्रेत पदार्थके रूपमे अभिमत होनेसे ही द्वितीय कल्पमे तो जैसाकि श्रीधर्मकीर्ति और श्रीकर्णगोमी कहते है "आगमभ्रंशकारिणां आहोपुरुषिकया सद्दर्शनविद्वेषेण तत्प्रतिपन्नखलीकरणाय धूर्तव्यसनेन अन्यतो वा कुतश्चित् कारणात् अन्यथारचनसम्भवात्"-"यथा महायानवि-द्विष्टानां महायानप्रतिपन्नखलीकरणाय महायानप्रतिरूपकसूत्रान्तरर-चनं तत्प्रतिपन्नखलीकरणाय.. व्यसनम् इदं धूर्तानां यत् पर खलीकर्तव्य" (प्रमा वार्ति ३।३३२) वैसा ही कुछ आरोप श्रीसहजानन्दजी स्वामीजीपर भी लगने लगेगा। मुझे तो यह सर्वथा आपत्तिजनक लगता है अत शिक्षापत्रीगत उपदिष्ट वचनोमे आधुनिक अनुगामिओकी श्रद्धाका ह्रास इसमे प्रमुख हेतु लगता है मूल उपदेशकके चरित्र या गुणो मे अकारण ऐसी दुर्दम शिष्येपणाकी निम्नस्तरीयता खोज निकालना अच्छी बात नही होती।

३ अनुपपत्ति :

क्योंकि ऐसी धारणाओको बहुप्रचारित करनेपर तो इस पन्थको विश्वके अन्यान्य भूभागोसे कल अधिक अनुगामी जनता मिल जानेपर "श्रुत्यादि आर्य शास्त्रोको भी केवल भारतीय जनसाधारणको आकर्षित करनेको मान्य रखा गया

था'' ऐसा न कहा जायेगा उसकी क्या निश्चिति? क्योकि तब भी यह कहा जा सकेगा इस मतको 'वेदान्त' भारतीय मुमुक्षुजनोको अपनी ओर आकृष्ट करनेको ही कहा गया था हमारे तो 'सत्सगिजीवन' आदि ही प्रमुख रहस्यग्रन्थ है उपनिषद् आदि नही।

४.अनुपपत्ति :

कल यदि वडताल या मणिनगर के पीठाधीशोमे कोई 'वचनामृत' और 'सत्सगिजीवन' ग्रन्थोपर जनसाधारणके बीच प्रवचन कर, श्रीसहजानन्द स्वामीजीको पुरुषोत्तमतया अपना उपास्य बता कर, जनताको भलीभाति अपना भक्त बना लेनेके बाद रहस्यगोष्ठीमे स्वयको श्रीसहजानन्द स्वामिरूप अवतारका भी अवतारी घोषित करने लगे तो क्या करना? ऐसोके भी मानमोह-रहित निरपेक्ष अन्तरग भक्त वैसी साक्षात् अनुभूतिकी शपथ भी खाने लगे तो क्या करना? क्या स्वामिनारायणपन्थमे तब उन्हे पूर्णतम पुरुषोत्तम स्वीकारा जाना उचित होगा कि नही? यदि हा तो श्रीसहजानन्द स्वामीजीको भी "रामकृष्णाद्यवताराणा कारण परमेश्वरम्" (सा शु जीकृत उक्त आलेखपत्रमे मगलाचरण) स्वीकारनेका कुछ औचित्य सिद्ध होगा अन्यथा ऐसा कृत्य यदि स्वामिनारायण सम्प्रदायमे उचित न हो तो श्रुत्यादिप्रमाणेकगम्य वेदान्त या श्रुत्यादिसे अविरुद्ध पाञ्चरात्रादिके भी प्रमाणोसे गम्य वैष्णव सम्प्रदाय मे भी श्रीसहजानन्द स्वामीजीकी भी सकलावतारावतारिता अनुचित ही कहलायेगी उदाहरणतया मान लो कि सोखडावाले स्वामीजी यदि जनोपयोगी बडे-बडे आयोजनोमे विशाल जनमेदनीके समक्ष स्वयको श्रीयोगीजी महाराजके एकान्ती भक्त तथा वास्तविक उत्तराधिकारी होनेका दावा करने लगे तो क्या बोचासणवासी अक्षरपुरुषोत्तम सस्थाको वह मान्य हो पायेगा?

५ अनुपपत्ति :

दिनानुदिन विश्वव्यापी होती इस सस्थामे कोई ईसाई या मुसल्मान अन्त प्रविष्ट हो कर, सदस्यग्रन्थके रूपमे सत्सगिजीवनादि साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका पारायण-प्रवचन करे और अपने अन्तरग श्रोताओको यह समझाना शुरु करे कि श्रीसहजानन्द स्वामीजी स्वय ईसा मसीह या महम्मद पयगम्बर के अवतार थे और ऐसी दिव्य रहस्यानुभूति भी अपने अन्तरगजनोको प्रदान करे तो क्या उसे स्वामिनारायण सम्प्रदायमे मान्य करनी कि नहीं ? जो यहा समाधान होगा वही स्वय स्वामिनारायण सम्प्रदायपर भी लागू होगा

६ अनुपपत्ति :

साधारणग्रन्थ और रहस्यग्रन्थ की विभाजकरेखा आप्तमान्य श्रुत्यादिशास्त्रोंमे निरूपित तत्त्वव्यवस्था और धर्मव्यवस्था से भिन्न तो नही हो सकती "यत्पर स शब्दार्थ" न्यायेन इन श्रुत्यादि शास्त्रोके तात्पर्यविषयतया सर्वथा अकल्पनीय "रामकृष्णाद्यवताराणा कारण परमेश्वरम्" (पूर्वोल्लिखित) रहस्यकी भी यही गति दिखलायी देती है वैसे इसके अलावा और क्या रहस्य स्वामिनारायणीय सिद्धान्तका हो सकता है? अत यह रहस्य यदि इन आप्तजनमान्य श्रुत्यादि शास्त्रोका तात्पर्यगोचर हो तो उन्ही ग्रन्थोके व्याख्यानद्वारा स्वामिनारायणीय रहस्यकी स्वीकार्यता प्रतिपादित करनी चाहिये थी फिर सत्सगिजीवन या श्रीहरिलीलामृत सदृश अत्यन्त साम्प्रदायिक ग्रन्थोके आधारपर नही अन्यथा इस पन्थको वेदान्त या वैष्णवधर्म मानने के बजाय वेदादिशास्त्रबाह्य सिद्धान्त और अवैष्णव धर्म ही मानना चाहिये, यदि इनके आरूढ अनुगामिओको लुभानेका दुर्भाव हृदयमे आरूढ न हो तो वैसे सा श्रु जीका यह विधान कि "इन दोनोंमें तात्त्विक सन्दर्भकेलिए वचनामृतका

ही उपयोग करना चाहिये, बजाय शिक्षापत्रीके" (पूर्वोल्लिखित) यह तो एक महान् अकाण्डताण्डव ही है

क्योंकि ऐसा कहनेपर जिज्ञास्य हो जाता है कि

"शारीरकाणा भगवद्गीतायाः च अवगम्यता रामानुजाचार्यकृत भाष्यम् आध्यात्मिक मम एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य (+) वृषस्य च अत्युत्कर्षपराणि स्युः मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येव इतरवाक्यत धर्मेण सहिता कृष्णभक्ति कार्या इति तद्रह "(शिक्षाप १००-१०२)

तुलनीय

"श्रीरगक्षेत्रमें रामानन्दस्वामीने स्वप्नमें साक्षात् रामाजाचार्यसे दीक्षा वैष्णवी दीक्षा प्राप्त की थी इसलिये रामानन्दस्वामीके गुरु रामानुजाचार्य है उन रामानुजाचार्यके हम शिष्य है ऐसी गुरुपरम्परा जाननी चाहिये क्योंकि समस्त अवतारोंको धारण करनेवाले स्वय श्रीकृष्ण भगवान् ही है उन श्रीकृष्ण भगवान्ने उद्धवके प्रति गुणविभागके अध्यायमें कहा है कि 'मैं निर्गुण हू तथा जो मेरे सम्बन्धको प्राप्त होते है वे भी निर्गुण हो जाते हैं "(वचना वरता १८।२१८)

"रामानुज स्वामीने जिस प्रकार क्षर अक्षरसे परे पुरुषोत्तम भगवान्का निरूपण किया है उन पुरुषोत्तम भगवान्की तो हम उपासना करते हैं गोपियोंके समान उन पुरुषोत्तम भगवान्की हम भी भक्ति करते ह यही हमारा अभिप्राय तथा रुचि है"(वचना लोया १४।१२२)

अत यह केवल रुचि न हो कर अभिप्राय भी है अत

इन दोनो ग्रन्थोकी इस विषयमे इतनी गाढ इतरेतरसवादिताकी उपेक्षा भी सम्भव नहीं इसका जब अवलोकन करते है तो न तो सदाचारव्यवस्था और न तत्त्वव्यवस्था मे किसी तरहका विसवाद झलकता दिखलायी देता है अब इनके अलावा भी तीसरे-चौथे या अन्य अनेक ग्रन्थोंके वचन सामने ला कर इन दोनो ग्रन्थोके परस्परसवादबलसे मिलते तात्पर्यका भी अन्यथानयन करना ही हो तो वह तो स्वगोष्ठ्येक उपदेश्य धर्म या तत्त्व सम्बन्धी धारणा कहलायेगी 'वेदान्त' या 'वैष्णवधर्म' नहीं

(३ शिक्षापत्रीकी तात्पर्यनियामिका षड्गमीमासा)

श्री सा शु जी कहते है ''शिक्षापत्री धर्म अर्थात् सदाचारविषयक ग्रन्थ है ऐसा, ग्रन्थके आदिमें अन्तमें और मध्यमें बार-बार कहा है'' (यथापूर्वोल्लिखित)

कौन नही जानता कि शिक्षापत्रीके (उपक्रमोपसहारौ) उपक्रम और उपसहार दोनों ही श्रीजी महाराजने श्रीकृष्णास्तुतिसे सम्पन्न किये है (अभ्यास)इस ग्रन्थमे निरन्तर (कमसे कम ३५ बार) 'श्रीकृष्ण' पदका पुनरावर्तन श्रीकृष्णकी ही एकान्तभक्तिके अभ्यासरूपेण किया गया है (अपूर्वता)श्रीरामानुजार्योपदिष्ट विशिष्टाद्वैतवादके अङ्गीकारपूर्वक लक्ष्मीनारायणरूप और राधाकृष्णरूप मे अभेददृष्टि रखते हुवे उपास्यरूपतया श्रीकृष्णकी भक्तिका अपूर्व उपदेश इस ग्रन्थकी विशिष्टाद्वैतवादानुसारिणी श्रीकृष्णमाहात्म्यपरकता सिद्ध करता है अतएव ''हृदये जीववद् जीवे यो अन्तर्यामितया स्थितो ज्ञेय स्वतन्त्र ईशो असौ सर्वकर्मफलप्रद स श्रीकृष्ण पर ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम उपास्य इष्टदेवो न सर्वाविर्भावकारणम् स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभु, रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायण सहि ज्ञेयो अर्जुनेन युक्तो असौ 'नरनारायण'भिध बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामा उच्यते सहि'' (शिक्षाप १०७-११०) कारिकाओंमे रामानुजीय तत्त्वत्रयान्तर्गत ईश्वरको ही पर ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और सर्वाविर्भावकारण कहा गया है अत यह ग्रन्थ केवल सदाचारपरक न हो कर स्वयको

अभिमत तत्त्वप्रतिपादक एव धर्मप्रतिपादक सच्छास्त्रोका साररूप उपदेशपरक ग्रन्थ है और अतएव मीमासकीय इस अपूर्वताके निकषपर भी इसमे उपदिष्ट तत्त्वस्वरूपका स्वार्थमे प्रामाण्य अक्षुण्ण ही सिद्ध होता है (स्तुत्यर्थवाद) तदुपरान्त श्रीकृष्णभक्तिके उपदेशक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी 'सर्ववैष्णवराज'तया स्तुति भी इसके श्रीकृष्णमाहात्म्योपदेशपरक होनेका डिडिमघोष है श्री सा शु जी यहा भी लुकाछिपी खेलना चाहते होनेसे अपनी मनोवृत्तिको उजागर करते हुवे केवल "वल्लभाचार्यप्रोक्त उत्सवविधानका स्वीकार" (पूर्वोल्लिखित) की बात कर रहे है वैसे शिक्षापत्रीकार अपने आधुनिक अनुगामिओको तो बडी दु स्वप्नोम आज्ञा यहा "सेवारीति च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि" (शिक्षाप ८२) भारपूर्वक कह रहे है अत इसका सदाचरविषयक भी केवल प्रामाण्य स्वीकारे तो पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीके विपरीत मनगढत सेवाप्रणाली प्रस्तुत करनेवाले इस सम्प्रदायके आधुनिक मन्दिरोको असदाचरणरूप अपराधका सार्वजनिक प्रदर्शन मानना पडेगा। किम् अतोऽधिक चित्रम्!! इसी तरह (निन्दार्थवाद) "कृष्णभक्तो स्वधर्माद् वा पतन यस्य वाक्यत स्यात्, तन्मुखाद् नैव श्राव्या कथावार्ता च वा प्रभो कृष्णकृष्णावताराणा खण्डन यत्र युक्तिभि (यथा सा शु आदीना लेखनेषु) कृत स्यात् तानि शास्त्राणि न मान्यानि कदाचन" (शिक्षाप २५,२९) वचनोद्वारा निन्दार्थवाद भी इस ग्रन्थमे जो उपलब्ध होता है वह और श्रीकृष्णमाहात्म्यके विलोपकोकी निन्दा भी श्रीकृष्णमाहात्म्यकी ही अकाट्यता सिद्ध करती है यह प्रस्तुत ग्रन्थके तत्त्वोपदेशपरक होनेका प्रमाण है अन्तमे मीमासकीय छठ्ठा अग (उपपत्ति) "वेदा च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिध पुराण तथा श्रीभगवद्गीता एतानि अष्ट मम इष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि स्वहितेच्छुभि एतानि मच्छिष्यै सकलैरपि श्रोतव्यानि अथ पाठ्यानि कथनीयानि च तत्र आचारव्यवहृतिनिष्कृताना च निर्णये ग्राह्या मिताक्षरोपेता याज्ञवल्क्यस्य तु या स्मृति श्रीमद्भागवतस्य एषु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्धये" (शिक्षाप ९३-९८) इन शब्दोमे प्रमाणोपपत्ति भी उन्होंने स्फुट कर दी है

अत जिस सदाचारपरक ग्रन्थ होनेका हेतु पुरस्कृत कर श्री सा.श्रु.जी इस शिक्षापत्रीको तत्त्वार्थनिर्णयमे अनियामक दिखला रहे है वह तो नही सिद्ध हो पाता है क्योकि ग्रन्थकार स्वय इन आठो सच्छास्त्रोमे श्रीकृष्णमाहात्म्यके बोधार्थ श्रीमद्भागवतके पचम और दशम स्कन्धोंकी सर्वातिशायी ज्ञेयताका प्रतिपादन कर रहे है. अत तत्त्वव्यवस्थाके भी परिज्ञानार्थ यही सर्वसन्देहवारक शास्त्र है. इसके विपरीत अन्य ग्रन्थोका इससे ज्येष्ठ या श्रेष्ठ प्रामाण्य स्वीकारना असदाचार असदालाप और असन्मति का प्रमाण बन जाना चाहिये. अत उन्हे अश्राव्य असच्छास्त्र ही जानना चाहिये यह सब स्वय श्रीसहजानन्द स्वामीजीके शब्दोसे सिद्ध हो रहा है

(४ दृष्टान्तसन्दर्भसमीक्षा)

श्री सा श्रु जी "यश्चोभयो· समो दोषः परिहारश्च ययोः समः" न्यायेन एक विलक्षण युक्तिवादके प्रयोगद्वारा मेरे मूल आलेखपत्रमे उठाये गये मुद्देके बारेमे मेरे मुखमुद्रणार्थ समुद्यत है अतएव अपने समाधानपरक आलेखपत्रमे 'दृष्टान्तसन्दर्भ'के शीर्षकके अन्तर्गत शाकर रामानुज वाल्लभ आदि सम्प्रदायोमे भी समानरूपेण पूर्वापर धाणाओमे अननुरूपता खोजना चाहते है

मेरी अपनी समझ इस बारेमे कुछ इस तरहकी है कि परमगुरु श्रीगौडपादाचार्य तथा उनके प्रशिष्य श्रीशकराचार्य के बीच खोजी जाती असमानता कि परमगुरुको सगुण-निर्गुण भेदवाले दो तरहके ब्रह्म मान्य नही थे या प्रशिष्यद्वारा प्रस्थापित विवर्तवादके बजाय उन्हे तो अजातिवादकी धारणा ही अभिमत है वैसे तो केवलाद्वैतवादिओने बहुत पहले ही इसका समुचित समाधान दे रक्खा है कि "कृपणधी परिणामम् उदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तता स्थिरमति पुरुष पुनर् ईक्षते व्यपगतद्वितीयं परमं पदम्" (सक्षे शारी २।८९) जिसे देखनेपर कितने छोटेसे तिलका ताड बनाया जाना यहा सरलतासे समझा जा सकता है क्योकि

प्रतिभास व्यवहार और परमार्थ मे प्रभेद करनेकी प्रक्रियाके आधारपर दोनो ही प्रतिपादनशैलियोका चरम पर्यवसान तो सर्वविध द्वैतके पारमार्थिक निषेधमे ही फलित हो जाता है

फिरभी अनुगामिओ द्वारा गुरुवचनोमे अनुपलब्ध ऐसी किसी धारणा या प्रक्रिया की प्रस्तुति गुरुग्रन्थोके व्याख्यानतया अथवा अपने स्वतन्त्र ग्रन्थोमे नियततया निजगुरुकी अभिमतिसे विपरीतमति नही मानी जा सकती है "सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदै सूत्रानुसारिभि स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदु" आदर्शके अनुसार इसे तो भाष्यकारका विशेषाधिकार ही माना गया हे

इसके विपरीत परन्तु "उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते तं ग्रन्थं 'वार्तिकं' प्राहु" नीतिको अपना कर लेखनमे प्रवृत्त होनेवाले वार्तिककार बहुधा सूत्रकारके प्रति अपने हृदयमे निश्छल आदरभाव रखनेके बावजूद उन्हे परब्रह्म सर्वकारणकारणरूप सर्वज्ञ परमेश्वर भगवान् पुरुषोत्तमके रूपमे भजनेका उत्साहातिरेक या श्रद्धातिरेक प्रदर्शित नहीं करते फिरभी भाष्यकारकी तरह ही वार्तिककार भी सूत्रग्रन्थको एक वृक्षकी तरह ही विकसित करनेकी प्रक्रिया सम्पन्न करनेवाले चिन्तक तो माने जाते है जैसी प्रक्रिया द्वारा वार्तिककार सोत्री धारणाओको पल्लवित पुष्पित या फलित करते हे, वह सूत्रोपदिष्ट पदार्थका अपने उक्तोपपत्तिरूप सिंचन द्वारा किये गये विकासके रूपमे समादृत होता है वेसे ही अनुक्तचिन्तनकी खाद डाल कर वार्तिककार उसे पोषित भी करते ही है साथ ही साथ जहा उन्हे सूत्रोमे प्रतिपादित पदार्थविशेषरूपी कोई शाखा समग्र सूत्रप्रतिपाद्य सिद्धान्तवृक्षके हितके विपरीत जानेवाला दूरोहण या दुरुक्त जैसा लगता है, तब उस दुरुक्तकी कलम काट कर भी वृक्षकी आयुष्यको वे वृद्धिगत करते ही है कोई वार्तिककार, परन्तु, जिस भूमिपर कोई वृक्ष उगा हो उसे भूमिके माहात्म्यगान करके वृक्षोच्छेदन करता हुवा कभी देखा नही गया।

यह तो सहज ही समझमे आनेवाली बात है कि जब किसी उद्यानके रखवालेको ऐसे किसी वृक्षके प्रोहकी भीति सताती हो तब उस वृक्षविशेषके उच्छेदनकी भी उपयोगिताका भी उसे अधिकार होता ही हे ऐसी स्थितिमे, परन्तु, दार्ष्टान्तमे वार्तिक लिखनेके बजाय खण्डनात्मक वादग्रन्थ लिख देनेकी रीति ही अभीष्ट मानी जाती है।

स्वामिनारायणीय दार्शनिक सिद्धान्त और धर्मसाधना के औत्तरकालिक स्वरूपमे न तो भाष्यशैली अपनायी गयी दृष्टिगत होती है और न वार्तिकशैली ही अपने सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्यको परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ होनेके सिहासनपर पधरा देनेके बाद जो भी उन्होने निजकण्ठसे विधान या निषेध किये उनसे सर्वथा विपरीत ही (अनुक्त नहीं प्रत्युत निजाचार्योक्तिको दुरुक्तकी कोटिमें पदावनति कर देनेवाली।) प्रक्रिया यहा अपनायी गयी हो, ऐसा स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

रामानुजीय वेदान्त और वाल्लभ वेदान्त के बारेमे श्री सा श्रु जीके अवलोकनोंके बारेमे भी मै यही बात दोहराना चाहूगा क्योकि रामानुजीय सम्प्रदायकी दार्शनिक या धार्मिक धारणाओमे पूर्वापरमे अनुक्तकी अगीकृतिवाली अननुरूपता ही श्री सा श्रु जी दिखा पाये है पूर्वाचार्योक्ति या पूर्वग्रन्थोक्ति को दुरुक्तमे पर्यवसित कर देनेवाली अननुरूपता वे दिखा नही पाये मुझे जबकि आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्त और साधना के बारेमे सोचनेपर ऐसा लगता है कि ये मूलग्रन्थोमे अनुक्तसे कही आगे बढ कर मूलग्रन्थोको दुरुक्तिमे पर्यसित करनेवाली धारणाये है मुझे अत अपनी जिज्ञासाका सन्तोषप्रद समाधान श्री सा श्रु जीके स्पष्टीकरण द्वारा मिल नहीं पाया

वेदचतुष्टयीकी सहिताओमे 'ब्रह्म'पद परम तत्त्वके वाचकतया प्रयुक्त हुवा हो या नही, परन्तु, उन सहिताओमे उपलब्ध होते इन्द्र या प्रजापति सदृश परमेश्वरके जैसे रूप, जैसे गुणधर्म, अथवा जैसे क्रियाकलाप

निरूपित हुवे है, उनसे विपरीत उपनिषदोंमे ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं हुवा है क्योकि "इन्द्र मित्र वरुणम् अग्निम् आहु अथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यम मातरिश्वानम् आहु" (ऋक्सहि २।३।२२।४६) किसी एकमेवाद्वितीय तत्त्वका सकेत सहितामे मिल ही रहा है अतएव निरुक्तकार भी कहते है "महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्य आत्मनो अन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति अपिच सत्त्वाना प्रकृतिभूमिभि ऋषय स्तुवन्ति इति आहु प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च" (निरु निघ ७।४।५) इसी कारणसे सर्वदेवोंके तथा नाम-रूप-कर्मभेदसे प्रकट होनेवाले निखिल सद्द्रव्योंके प्रकृतिरूप ब्रह्मका वेदान्तरूप उपनिषद्मे भी ब्रह्मतया निरूपण किया गया है इसी एकमेवाद्वितीय ब्रह्मकी अनेकविध आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदेविक अभिव्यक्तिओंके निरूपक इतिहास-पुराण एकायन देवविद्या या ब्रह्मविद्या जैसे शास्त्रोका उल्लेख उपनिषद्मे भी "ऋग्वेद भगवो अध्येमि यजुर्वेद सामवेदम् आथर्वण चतुर्थम् इतिहासपुराण पञ्चम वेदाना वेद एकायन देवविद्या ब्रह्मविद्या " (छान्दो उप ७।१।२) मिलता ही है उपनिषदोंमे अनुपदिष्ट तत्त्व या अविहित कर्तव्य इन विविध शास्त्रोमे मिलते होनेपर भी महाभारत, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र, पुराणो या शैव/वैष्णव तन्त्रोंके दक्षिणागमोमे भी उपनिषद्विरुद्ध कोई तत्त्व या कर्तव्य उपदिष्ट हुवा नही है उल्लेखनीय है कि अतएव उपनिषद्वाक्यार्थोकी मीमासाके रूपमे प्रकट बादरायणीय सूत्रमे ब्रह्मको *'श्रुतियोनित्वात्'* कहनेके बजाय *'शास्त्रयोनित्वात्'* (ब्र सू १।१।३) ही कहा गया है

अत इन शास्त्रोंके अन्तर्गत 'इतिहास-पुराण' या 'एकायन' अथवा 'देवविद्या-ब्रह्मविद्या' पदोद्वारा अभिप्रेत कौन कौनसे शास्त्र है, इस बारमे विभिन्न भाष्यकारोंमे मतभेद सम्भव है परन्तु सभी इतना तो मान कर ही चले है कि वेदशास्त्र अनेकविध विद्यास्थानोंसे उपबृहणीय है (दृष्ट ब्र सू शा भा १।१।३) श्रीमध्वाचार्य तो "ऋग्यजुस्सामाथर्वाश्च भारत पञ्चरात्रक मूल रामायण चैव 'शास्त्रम्' इति अभिधीयते यच्च

अनुकूलम् एतस्य तच्च शास्त्र प्रकीर्तितम् अतो अन्यो ग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्र कुवर्त्म तत्'' (ब्र सू मा भा १।१।३) ऐसा स्कन्दपुराणीय वचन भी 'शास्त्र'पदकी अर्थव्याप्ति दिखलानेको देते है यो सर्वशिष्टजनो या आप्तजनो द्वारा मान्य इन शास्त्रोंके अभिप्रायोंके इतरेतर-समन्वित अभिप्रायसे अविरुद्ध ही कोई अश्रुतपूर्व पदार्थ भी मान्य हो सकता है विरुद्ध तो, परन्तु, कुछ भी मान्य नहीं हो पाता, किसी मतको 'वेदान्त'पदवाच्य बनना हो तो (दृष्ट शिष्टापरिग्रहाधिकरण ब्र सू २।१।४) एक मतको मान्य किसी बातको दूसरा कोई अमान्य घोषित करे तो प्रथम मतकेलिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह दरसाये कि उसकी बात कैसे इन शास्त्रोके समन्वित प्रामाण्यके आधारपर प्रमाणित होती है वेदान्तके सभी सम्प्रदायोमे यही विचाररीति स्वीकारी गयी है अत इस विषयमे छूटछाट स्वामिनारायणमतको मिल नहीं सकती, यदि उसे स्वयके वेदान्त होनेका दावा आगे रखना हो तो

इस सन्दर्भमे यह अवधेय हो जाता है कि इन शास्त्रोके अन्तर्गत किसी एक शास्त्रमे उक्तका प्रतिपादन या पुनरावर्तन ही यदि अपर शास्त्रमे भी मिलना अनिवार्य निकष होता तो अनधिगतार्थाधिगमकत्वरूप प्रामाण्य ही उसका सिद्ध ही नही हो पायेगा अत शिष्टादृत किसी एक शास्त्रमे अनुक्त किसी पदार्थका अपर शिष्टादृतशास्त्रोक्त पदार्थके साथ समन्वय कर दिखानेके वैचारिक प्रयासमे अन्तर्विरोध खोजना अपनी शिष्टादृत परम्पराका अज्ञान है अत इस तरहकी उपपत्ति/अनुपपत्तिओको प्रस्तुत कर श्री सा श्रु जी प्रस्तुत चर्चाको कैसा मोड देना चाहते है यह स्पष्ट नही हो पाता क्योकि शास्त्र या आगम तो जैन-बौद्ध आदिके भी है ही इन विभिन्न धर्म सम्प्रदायोमे मान्य इन बाह्यागमो और आर्षशास्त्रो के बीच विभाजकरेखा अविच्छिन्नपरम्पराका सातत्य ही स्वीकारा गया है

अतएव वैदिक परम्परामे मान्य शास्त्रोमे अवतारतया निरूपित

ऋषभदेव या भगवान् बुद्ध को अवतारतया मान्य रखनेके बावजूद इनके उपदेश शिष्टादृत शास्त्रवचनोसे विरुद्ध जाते होनेके कारण प्रमाणतया मान्य नहीं किये गये है इस परम्परासे बहिर्भूत आगम इन्ही शास्त्रोमे उपदिष्ट तत्त्व अथवा कर्म का ही उपदेश यदि करते हो तो, उदाहरणतया विविध देवरूपोका, या शारीर आत्माका, उसके मोक्षका, अथवा मुक्त्यर्थ अभीष्ट साधनाओका, तो उन्हे स्वय अपने पारम्परिक शास्त्रोसे अधिगत अर्थके ही ज्ञापक होनेके कारण तत्प्रतिपाद्यत्वेन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता ऐसी स्थितिमे स्वामिनारायणपन्थ यदि अविच्छिन्नसम्प्रदायपरम्परासे कट कर श्रीसहजानन्द स्वामीकी पुरुषोत्तमताके दावेको प्रस्तुत करना चाहता हो तो उसके सिद्धान्तको 'वेदान्त' कैसे माना जा सकता है ?

मान लो कि यदि कोई पश्चिमी यहूदी ईसाइ या इस्लामी चिन्तक स्वयके बारेमे तत्त्वपञ्चकान्तर्गत पुरुषोत्तम होनेके दावेके साथ अपने आधीन अवशिष्ट चार तत्त्व ब्रह्म ईश जीव और माया जेसे पदोंके वहाकी किसी भाषामे पर्यायवाचक पदोके द्वारा अपने रहस्यग्रन्थरूप वचनामृतोंमे निरूपण करता हो तो उसे 'स्वामिनारायणीय वेदान्त' मानना कि नहीं ? यदि 'हा' तो श्रीसहजानन्द स्वामीका एकाकी पूर्णपुरुषोत्तमत्व निरस्त हो जायेगा और यदि 'ना' तो उसके अस्वीकारार्थ जो हेतु उपस्थापित किये जायेगे वे श्रीसहजानन्द स्वामीपर भी लागू होगे ही

इन प्रश्नोमे उलझी समस्याकी गम्भीरताके किसी तरहके सगाकलनके बिना धाधली करनेपर जैसे पहले भी एक बार "Is 'Akshar' an unsolved riddle ? " आलेखपत्रमे विद्वान् लेखकने भी "The same Aksharbrahman simultaniously express itself in personl and impersonal aspects This is stated in shrutis and puranas "'ध्रुव' इति द्वे वाहू द्वे एते अक्षरे" (बृह उप ५।५।३), "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं च अमृत च" (बृह उप २।३।११), "'घृणि'

इति द्वे अक्षरे'' (नृसिं.पू.ता.उप.४।२) . All these shruti statemednts speak of (a)Aksharbrahaman as personal i.e. the form of Aksharbrahaman with qualities..." (इन् 'अक्षर' एन् अन्सॉल्व्ड रिडल्? पृ.१३५) ऐसा हास्यास्पद श्रौत प्रमाण प्रस्तुत कर दिया! क्योंकि प्रथम वचनमे १='भु' + २='व' जैसे दो अक्षरोंका निरूपण है नकि धामरूप और मूर्तरूप दो अक्षरोका. द्वितीय वचनमे जैसे ब्रह्मके मूर्तामूत दो रूप प्रतिपादित किये है वैसे ही 'मर्त्यामृत' रूप भी वर्णित हुवे है इनमे वायु-अन्तरिक्षसे भिन्नको मूर्त माना है और वायु-अन्तरिक्षको अमूर्त माना है ऐसी स्थितिमे अमूर्त अक्षरधाम मायाप्रकृतिजन्य भौतिक वायु-अन्तरिक्षरूप सिद्ध होगा और मूर्ताक्षर पृथ्वी-जल-तेजोरूप मायिक ही सिद्ध होगा, मायातीत नहीं. नृसिहपूर्वतापनीयोपनिषद्के अविकल वचनमे तो "'घृणि' इति द्वे अक्षरे, 'सूर्य' इति त्रीणि, 'आदित्य' इति त्रीणि" पाठ मिलता हे तो सब मिला कर आठ अक्षरब्रह्म सिद्ध होगे! किमाश्चर्यम् अत परम्! अत एसी धाधली न की जाये तो एक अच्छी बात होगी अत वेदान्तशास्त्रीय प्रमेय या साधना का शिष्टादृत शास्त्रोके आधारपर प्रतिपादन ही उचित होता है नकि साम्प्रदायिक रहस्यग्रन्थोके आधारपर अस्तु

अतएव स्वय श्रीसहजानन्द स्वामी भी अधोनिर्दिष्ट वचनोमे—

"श्रीमन्नारायणस्मृत्या सहिता [क]शास्त्रसम्मता .. वेदानां च न कर्तव्या निन्दा श्रव्या नच क्वचित्"(२१) [ख]"वर्णाश्रमधर्मो य स हातव्यो न केनचित् परधर्मो नच आचर्यो नच पाखण्डकल्पित "(२४) [ग]"सस्कारा च आह्निक कार्यं स्व-स्वगृह्यानुसारेण कर्तव्य" (९१) "[घ]'वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधं पुराण भारतेतु श्रीविष्णो नामसहस्रकं तथा श्रीभगवद्गीता नीति च विदुरोदिता श्रीवासुदेवमाहात्म्यं स्कान्दवैष्णवखण्डगम् [ङ]धर्मशास्त्रान्तर्गता च याज्ञवल्क्यऋषे

स्मृति एतानि अष्ट मम इष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि" (९३-९५) (घ)"शारीरकाणां भगवद्गीतायाः च अवगम्यताम् रामानुजकृतं भाष्यम् आध्यात्मिकं मम"(१००) "मतं विशिष्टाद्वैतं मे" (१२१) (ङ)"सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारम् आत्मना पत्रीयं लिखिता नृणाम् अभीष्टफलदायिनी"(२०४) (शिक्षापत्री)

यहा शिष्टादृत शास्त्रोको मान्य करना चाहते है जैसाकि (क)अशमे प्रस्तुत शिक्षापत्रीका प्रणयन शिष्टादृत सकलशास्त्रोको सम्मत सनातन धर्मके उपदेशार्थ हे नकि देशमे उस समय प्रचलित सम्प्रदायोकी अनुगामी जनताको अपने सम्प्रदायकी ओर खींचनेको किया जाता छद्म, यह ग्रन्थोपक्रममे ही ग्रन्थकारने स्पष्ट कर दिया है (ख)अशमे उन शिष्टादृत शास्त्रोमे निरूपित धर्मसे विपरीत जो कुछ हो उसे 'पाषण्ड' कह कर उसी बातपर अधिक भार डाला गया है (ग)अशमे शिक्षापत्रीके आधारभूत आठ शास्त्रोसे अतिरिक्त अन्य भी शिष्टादृत शास्त्रोकी व्यवहारनियामकता दरसायी है (घ)अशमे यह शिक्षापत्री केवल सदाचारपरक शास्त्रोक्त धर्मोके उपदेशार्थ प्रवृत्त ग्रन्थ न हो कर तत्त्वोपदेशपरक शास्त्रोक्त तत्त्वोके उपदेशार्थ भी प्रवृत्त ग्रन्थ है यह दरसा दिया गया है (ङ)अश सदाचारपरक शास्त्रोपर आधारित कर्तव्योके उपदेशार्थ भी है यह दरसाया (च)अश इन प्राचीन शास्त्रोसे सीधे स्वय जुड जानेके बजाय अविच्छिन्न बादरायणसूत्र और भगवद्गीता पर अवलम्बित होनेवाले रामानुजसम्प्रदायकी परम्परासे अपना सम्बन्ध स्वीकार कर तदीय ग्रन्थ और तदुक्त सिद्धान्त दोनोके प्रति अपनी निष्ठा दरसायी है (छ)अश उपसहारमे भी उपक्रमोक्त बातोकी ही पुनरावृत्ति की गयी है

यों पुन पुन भारपूर्वक उल्लिखित वैदिक ऋषियोकी अविच्छिन्न परम्परामे समादृत शास्त्रोंके ही साथ अपने सम्बन्धका निर्देश श्रीसहजानन्द स्वामीजी कर रहे है यह तो ठीक ही है कि उपदेशकालमे या विविदिषावस्थामे श्रीसहजानन्द स्वामी अपनेको मान्य आठ शास्त्र ही

सकल शास्त्रोंके अन्तर्गत प्राधान्येन अवलम्बनीय मान कर चले है क्योकि शिक्षापत्रीरूप ग्रन्थ इन शास्त्रोंके साररूपेण उन्होंने स्वय सकलित किया है क्योकि स्वय इस ग्रन्थके आन्तरिक साक्ष्यके आधारपर भी अष्टबहिर्भूत 'स्व-स्वगृह्यसूत्र'का प्रामाण्य भी उन्हे सर्वथा अभिमत तो सिद्ध होता ही है इस निकषको भलीभाति या तो हृदयगत न कर पानेके कारण अथवा किसी तरहकी कुछ वैचारिक उलझनके कारण श्री सा शु जीके समाधानमे स्वामिनारायणीय दर्शनसिद्धान्त और धर्मसाधना के बीच दर्शनसिद्धान्तके बोधार्थ शिक्षापत्रीकी गौणता दिखलायी गयी है

वस्तुत तथाकथित प्रस्थानचतुष्टयका एक बवडर सा जो आधुनिक लेखकोंने वेदान्तके आधारभूत शास्त्रोके बारेमे उठा रखा है, उसके बारेमे यह कथनीय है कि तथाकथित वेदादि प्रस्थानचतुष्टयीमे जिन स्वेतर शास्त्रोको प्रमाणतया मान्य किया गया है, उनके अविरोध या समन्वय के बिना प्रस्थानचतुष्टयीका प्रामाण्य भी अक्षुण्ण नहीं रह पाता! अत ऐसी विचाररीति न्यायसिद्धाञ्जनकार श्रीवेदान्त देशिकके शब्दोमे कुछ कहना चाहे तो "अश्रुतसिद्धान्तस्य पुस्तकनिरीक्षणाद् अय दोष" कहना ही उचित होगा

रही बात महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी स्वयकी वेदान्तव्याख्या और स्वयको सुहाती साधनाप्रणाली तथा कुलपरम्परागत श्रीविष्णुस्वामीकी वेदान्तधारणा और साधनाप्रणाली के बीच रहे प्रभेदके मुद्देकी श्री सा शु जीने स्वय महाप्रभुके वचन, उनके आधारभूत उपजीव्य श्रीभागवतपुराण, उनके परवर्ती व्याख्याकारोके विधान और सर्वदर्शनमेसे भी वचनो को उद्धृत कर श्रीविष्णुस्वामिमत और वाल्लभमत के बीच परस्पर अन्तर्विरोध सा दिखलानेकी चेष्टा की है—

"इतने सैद्धान्तिक भेदके रहनेपर 'विष्णुस्वामिमतानुवर्तित्व'का

क्या अर्थ करना चाहिये? क्या वल्लभस्वामी अपने पूर्ववर्ती आचार्यसे विरुद्ध अथवा भिन्न विचार रखते थे? अथवा विष्णुस्वामिमतानुवर्तित्व ही गलत है? चिन्तकोंका कहना है कि भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा स्वप्नमें 'सिद्धान्तरहस्य' का ज्ञान होनेपर ही भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्यता अथवा शुद्धाद्वैतमार्ग का प्रारम्भ हुवा इसके पहले विष्णुस्वामीके सिद्धान्त ही सम्प्रदायमें मान्य थे'' (समा पत्र २ ३वल्लभमत)

सर्वप्रथम तो जिन चिन्तकोकी बात श्री सा थु जी कर रहे है, उन्होंने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके मतके बारेमे आरामकुर्सीपर बैठ कर अपना स्वतन्त्र चिन्तन किया है या महाप्रभुके ग्रन्थोके गम्भीर और विशद अवगाहनके रूपमे चिन्तन किया हे, इसे जाननेकी न तो मुझे कोई उत्कण्ठा है और न मेरे पास कोई आधारप्रद सूचना ही फिरभी इतना अवश्य कह सकता हू कि स्वय महाप्रभुने ऐसे किसी स्वप्नकी बात कहीं कही नही है साम्प्रदायिक इतिहासग्रन्थोमे भी कही ऐसी किसी बातका कोई उल्लेख मिलता नहीं है स्वय महाप्रभुकी कण्ठोक्ति जाननी हो तो ''श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्या महानिशि साक्षाद् भगवता प्रोक्त तदक्षरश उच्यते'' (सिद्धा रह १) वचन मिलता हे ऐतिह्यग्रन्थोके आधारपर एकादशीको महाप्रभुके रात्रिजागरणके नियमके कारण 'महानिशि'पदका भी अर्थ स्वप्न तो हो नही सकता है अत यह तो निरी गप्प ही लगती है

यह घटना भी आपके तीस वर्षकी आयुमे घटित हुयी ऐसा इतिहासग्रन्थोके आधारपर सिद्ध होता है जबकि आपका शुद्धाद्वैतवादानुसारी चिन्तन तो इससे बहुत पूर्व प्रकट हो ही चुका था अत अब द्वैतवाद या अद्वैतवाद के मतभेदके बारेमे भी कुछ अवधेय हो जाता है स्वय महाप्रभुने जहा श्रीविष्णुस्वामीके मतको 'तामस' कहा है और अपने मतको निर्गुण', वहा वह न तो श्रीविष्णुस्वामीके मतकी

निन्दाके लिये कहा है और न वह श्रीविष्णुस्वामीके मतकेलिये स्वमकी अस्वीकृति दरसानेके अभिप्रायवश कहा है जिन व्रजभक्तोंको आपने अपनी भक्तिके लिये गुरूपम माना उन्हे भी 'तामसलीलाके भक्त' ही कहा है

रही बात दोनो दृष्टिकोणोंके बीच रहे भेदकी तो उसके बारेमे भी महाप्रभुने स्वय ही उसी स्थलपर अपना यह उद्गार भी प्रकट किया है कि "भेद पारमार्थिक इति शास्त्र पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्त (भगवता भागवतान्य) तमोरजस्सत्त्वै भिन्नो, अस्मत्प्रतिपादित च नैर्गुण्य एव चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादित" (सुबो ३।३२।३७) अत भूलना नही चाहिये कि इस विधानमे 'च'कार चतुर्थ मतपरिगणनाके पूरणार्थ है नकि इतरमतोकी निजाभिप्रेततताके वारणार्थ क्योंकि महाप्रभुके भी मतमे इतर मतत्रयीकी तरह भेद अपारमार्थिक नहीं प्रत्युत पारमार्थिक ही माना गया है अत इस अशमे उनके साथ वैमत्य हो नहीं सकता है हा, भगवान्के सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसकल्पसामर्थ्य के वश वह पारमार्थिक भेद महाप्रभुको कृत्रिम लगता है, स्वाभाविक नही अत स्वाभाविक और पारमार्थिक का प्रभेद कभी भूलना नही चाहिये भेदको स्वाभाविक माननेमे इतर मतोके साथ वैमत्य अवश्य है पर पारमार्थिक माननेमे नही, यह सावधानतया अवधेय है, यदि महाप्रभुके मतको भलीभाति बुद्धिगत करना हो तो अतएव "यदि ब्रह्म तावन्मात्र भवेत् तदा अय दोष तत् पुन जीवाद् जगत च अधिकम् कुतो? भेदनिर्देशात्।" (अणुभा २।१।२२) इस विधानमे महाप्रभुने बेझिझक पारमार्थिक भेदको स्वीकारा ही है जहा तक अधिकरणसग्रहकारके उद्धृत वचनके अभिप्रायकी बात है तो वह भी यह नही कह रहे है कि इन तीनोके साथ महाप्रभुका इस विषयमे किसी तरहका विरोध है क्योकि वाल्लभ सम्प्रदायमे ऐसा कोई कहना भी चाहे तो स्वय उसका ही वचन अप्रमाण हो जायेगा, महाप्रभुकी इस स्पष्ट स्वीकारोक्तिके चलते अत अधिकरणसग्रहकार तो यही कहते से प्रतीत होते है

कि श्रीविष्णुस्वामी प्रभृति आचार्योंके अनुसार सेव्यसेवकभाव, जड़जीवात्मकसृष्टि-तदुपादानभूतब्रह्म और इनके बीच अभेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिमे परस्पर विरोध प्रकट होता है, जबकि उस दिखलायी देते विरोधका उपशमन महाप्रभुने अपने निर्गुणमतके आधारपर कर दिखाया है अत पारमार्थिक भेदको अकृत्रिम स्वाभाविक मानना ओर उसे आत्मलीलार्थ प्रकट कृत्रिम मानना, ये दो विभिन्न बाते है न तो भेदको पारमार्थिक माननेसे वह अकृत्रिम बन जाता है ओर न कृत्रिम मान लेनेसे वह अपारमार्थिक ही सिद्ध होता है इन दोनो धारणाओंके बीच रही सूक्ष्मरेखा न समझनेके कारण ही यहा यह अकाण्डताण्डव प्रकट हुवा है।

इसके बाद विचारणीय बनती है श्रीविष्णुस्वामीके श्रीनृसिहोपासक होनेकी और महाप्रभुके श्रीकृष्णोपासक होनेकी कथा इस विषयमे भी यह भलीभाति समझ रखना चाहिये कि पुष्टिमार्गमे महाप्रभुके कालसे अद्यावधि भगवान् श्रीनृसिहकी उपासना सभी आचार्यवशजोके गृहमे श्रीकृष्णकी भक्तिभावोपेत सेवाके अन्तर्गत ही अनुष्ठित होती आयी है श्रीकृष्णके चार पुष्टि-अवतारोमे श्रीनृसिह श्रीवामन श्रीराम और श्रीबलराम को माना ही गया है प्रधानपीठमे बिराजमान भगवान् श्रीनाथजीके विग्रहकी पीठिकामे वेदादिशास्त्ररूप शेष(=बलराम) श्रीनाथविग्रहकी सकलशास्त्रप्रतिपाद्यताके द्योतनार्थ है इसी तरह श्रीनाथविग्रहकी क्षराक्षरातीताके द्योतनार्थ नृसिहाकृति उत्कीर्ण है इसी तरह स्वय वाल्मीकिरामायणका भी प्रामाण्य, तथाकथित प्रस्थानचतुष्टयसे बहिर्भूत होनेपर भी, श्रीमद्भागवतकी तरह समाधिभाषारूपेण ही महाप्रभु स्वीकारते है "अस्य व्यासो विस्तार पूर्वम् अनेकै उक्त साम्प्रत वाल्मीकि समाधौ उपलभ्य सर्वम् उक्तवान् अत सुतरा इदानीन्तन प्रमाणम्" (दृष्ट त दी नि प्र २।८१)

श्री सा श्रु जी कहते है—

"लेकिन भागवतके सभी शब्द समानरूपसे उपादेय

है, ऐसा कह सकते हैं? ऐसा कहेंगे तो श्रीकृष्णको कृष्णकेश कहनेवाला सन्दर्भ कलावतार कहनेवाला सन्दर्भ क्षीरसागरवासी विष्णुके अवतार कहनेवाला सन्दर्भ का 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय' का इस सन्दर्भसे विरोध पड़ेगा क्या भागवतमतप्रवर्तक व्यासजी स्वय विरुद्ध बात कर रहे है? सभी व्याख्याकारोंने कुछ न कुछ समाधान दे कर समझौता किया है मतलब यह कि मतप्रवर्तक अपने मतमें पूर्वप्रवर्तित शास्त्र अथवा विचारधारा को सम्प्रदायानुकूल अर्थ कर के ही स्वीकारते हैं" (समा पत्र वल्ल २ ३)

श्रीसहजानन्द स्वामीका भी यदि ऐसा अभिप्राय होता तो वे "एतानि अष्ट मम इष्टानि श्रीमद्भागवतस्य एषु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्धये" (शिक्षाप ९८) ऐसे वचन वे कभी लिखते नही। उन्होने अपना मत इन शास्त्रोके अनुकूल गढना चाहा है नकि इन शास्त्रोका अपनी मान्यताके अनुकूल मनमाना अर्थ निकालना चाहा है अत यह तो श्रीसहजानन्द स्वामीके उपास्य इष्टदेवके माहात्म्यके अवमूल्यन करनेको ही केवल उनके आधुनिक अनुगामी होनेका दावा करनेवालोके हृदयका निगूढ मनोभाव लगता है फिरभी मै तो यही कहना चाहूगा कि जो भी कोई अपने सिद्धान्तको वेदान्त मानता हो तो उसे यह बात यो नही कहनी चाहिये, प्रत्युत यो कहनी चाहिये कि *"पूर्वप्रवर्तित शास्त्र अथवा विचारधारा को सम्प्रदायानुकूल अर्थमे नही परन्तु अपने साम्प्रदायिक मतको पूर्वसिद्ध शास्त्रीय अर्थके अनुकूल ढाल कर प्रस्तुत करना चाहिये"* अतएव महाप्रभु कहते है "नहि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचार कर्तुं शक्यो ब्रह्म पुन यादृश वेदान्तेषु अवगत तादृशमेव मन्तव्यम्" (ब्र सू वाल्ल भा १।१।१) अन्यथा कल कोई स्वय स्वामिनारायण सम्प्रदायका अनुगामी ही इस सम्प्रदायके रहस्यग्रन्थाको अपने अनुकूल अर्थके अभिप्रायको प्रकट करने

स्वतन्त्र हो जायेगा कि श्रीसहजानन्द स्वामी ईसा मसीह या महम्मद पयगम्बर के भारतीय जनोके उद्धारार्थ प्रकटे अवतार थे। तब इस निकषको माननेवालोके पास ऐसोको रोकनेका कोई उपाय बच नहीं जायेगा

श्रीकृष्णके अनेकानेक अवतार हुवे है स्वय श्रीकृष्ण भी सभी कल्पोमे पूर्णपुरुषोत्तमतया प्रकट न हो कर कभी अशावतार, कभी कलावतार, कभी आवेशावतार, और कभी उनकी सकामोपासना की जानेपर क्षुद्रदेवतया भी प्रकट होते है ऐसी स्थितिमे पुराणोमे मिलते श्रीकृष्णचरित्रसम्बन्धी विविध निरूपण तो उस एकमेवाद्वितीय तत्वके अनेकविध रूप-नाम-कर्मोके सहित अनेकविध प्राकट्यका ही प्रमाण मानी जाती है यही तो उनके परब्रह्मत्वका लिग बनता है अतएव महाप्रभु कहते है "प्रत्यब्द वृक्षवत् कल्पा भुवनद्रुमरूपिणो अन्यकल्पोक्तरीत्यापि कथितो भगवान् स्वयम्" (त दी नि २।५८-५९) वैसे ऐसा विचित्र विधान करनेसे पूर्व श्री सा शु जी स्वय श्रीसहजानन्दजीका इस विषयमे जो अभिप्राय है उसे भलीभाति हृद्गत कर लेते तो अच्छी बात होती

> "स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभु, रुक्मिण्या रमया उपेतो लक्ष्मीनारायण सहि, ज्ञेयो अर्जुनेन युक्तो असौ नरनारायणाभिधो, बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामा उच्यते सच अतश्च अस्य स्वरूपेषु भेदो ज्ञेयो न सर्वथा, चतुरादिभुजत्वन्तु द्विबाहो तस्य चैच्छिक, तस्यैव सर्वथा भक्ति कर्तव्या मनुजै बुधै, नि श्रेयस्कर किञ्चित् ततो अन्यद् न इति दृश्यता कृष्ण तदवतारा च ध्येया तत्प्रतिमापि च" (शिक्षाप १०९-११५)

खैर, महाप्रभु तो कहते ही है कि "नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन य क्रीडति, यो जगद् भूत्वा क्रीडति;

यतो जगत् क्रीडति'' (द्रः : त.दी.नि.प्र.१।१).

वस्तुत तो श्री सा.श्रु.जीके भीतर — 'चतुर्भुज विरु.द्विभुज', 'वैकुण्ठ विरु. गोलोक', 'लक्ष्मीपति विरु. राधापति', 'श्रीकृष्ण विरु.श्रीनृसिहादि अवतार' — ऐसे अनेक विरोधोंके निहारते रहनेकी मनोग्रन्थि इतनी कस कर उलझ गयी है कि उन्हें स्वयं उनके आचार्यके सुस्पष्ट विधान भी याद नही आते। जो हम ऊपर उद्धृत कर आये. श्रीसहजानन्द स्वामीके इन शब्दोके अगम्भीर अवगाहनद्वारा भी हमारे कथ्यकी प्रामाणिकता परखी जा सकती है. यदि शिक्षापत्रीका ही, किन्तु, तत्त्वनिरूपणमे प्रामाण्य अभिमत न हो तो, कोई गति फिर बच नही जाती!

खैर, संक्षेपमे श्रीविष्णुस्वामिमतका अनुगामित्व महाप्रभुको कुलपरम्परासे प्राप्त ही था, उनका जन्म ही इस वैष्णवसम्प्रदायके अनुगामी ब्राह्मणके कुलमे हुवा था. अतएव जैसे उन्होने वैदिक-स्मार्त वर्णाश्रमधर्मका त्याग किये बिना तदविरोधी सर्वाधिकारक वैष्णव भक्तिमार्ग और प्रपत्तिमार्ग का भी भगवदाज्ञा और मान्य सकलशास्त्रोसे अविरुद्धतया अवगत होनेपर प्रवर्तन किया, ठीक उसी तरह कुलपरम्पराप्राप्त तान्त्रिक वैष्णवसम्प्रदायका भी त्याग किये बिना तदविरोधी अपना उक्त पुष्टिभक्तिसम्प्रदाय उन्होंने प्रवर्तित किया. अतएव महाप्रभुने यह खुलासा स्वयं भी दिया ही है कि —

१.''भगवच्छास्त्रम् आज्ञाय विचार्य च पुन.पुन यद् उक्तं हरिणा पश्चाद् सन्देहविनिवृत्तये : एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम् एको देवो देवकीपुत्रएव मन्त्रोऽपि एक. तस्य नामानि यानि कर्मापि एकं तस्य देवस्य सेवा. इति आकलय्य सततम् ..''(.त.दी.नि १।३-५).

२.''विशिष्टरूपं वेदार्थ फलं, प्रेम च साधनं, तत्साधनं नवविधा भक्ति., तत्प्रतिपादिका गीता, संक्षेपत तस्य वक्ता

स्वयम् अभूद् हरि तद्विस्तारो भागवत सर्वनिर्णयपूर्वक व्यास समाधिना सर्वम् आह कृष्णोक्तम् आदित मार्गो अय सर्वमार्गाणाम् उत्तम परिकीर्तितो यस्मिन् पातभय नास्ति मोचक सर्वथा यत वर्णाश्रमवता धर्मे मुख्ये नष्टे छलेनतु क्रियमाणे न धर्म स्याद् अत तस्माद् न मोचनम् बुद्धिमान् आदर तस्मिन् छले साध्येऽपि दु खत त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत् विरुद्धकरण नास्ति प्रक्रिया न विरुद्ध्यते कल्पितैरेव बाध स्याद् अवोचाम प्रमाणताम् नात्र श्रुतिस्मृतिविरुद्धाचारो, नापि प्रमेय वेदविरुद्धम् अतो नात्र विरुद्धसम्भावनापि " (त दी नि प्र २।२२०-२२६)

यहा सुस्पष्टतया हम देख सकते है महाप्रभु श्रुत्यादि शास्त्रोसे अविरुद्ध होनेकी कसोटीपर खरे उतरनेकी निश्चितिके साथ ही नूतन श्रीकृष्णसेवाभक्ति-शरणागतिके सम्प्रदायप्रवर्तनकी शपथ ले रहे है स्वय अपनेको दिखलायी दिये स्वप्न या मनोभ्रम के आधारपर नही

इस मार्गकी उक्त सकल शास्त्रोके सिद्धान्तसे अविरुद्धता सिद्ध करनेको शास्त्रार्थप्रकरणके केवल उपदेशकालमे प्रमाणचतुष्टयका समन्वितप्रामाण्य प्रस्तावित किया है, शिष्टादृत अन्यान्य शास्त्रोके अप्रामाण्यको मान कर या उसे इगित करनेको नहीं अतएव इसी निबन्धके अन्तमे "अर्थो अयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यै रामायणै सहितभारतपञ्चरात्रै अन्यै श्च शास्त्रवचनै सह तत्त्वसूत्रै निर्णीयते सहृदय हरिणा सदैव सर्वेषा प्रमाणानाम् अत्र एकवाक्यता अन्येषु वाक्याभासाएव अन्यथा चतुर्दशविद्याना सरस्वतीरूपत्वाद् एकनिष्ठता न स्यात्" (त दी नि प्र १।१०४) ऐसे उद्गारद्वार सकल शास्त्रोके समन्वयमे ही, अर्थात् एकवाक्यता सिद्ध करनेपर ही शास्त्रप्रामाण्यको स्वीकारनेपर भार देते है, नकि केवल भागवतके प्रामाण्यके अन्धानुकरणपर अत महाप्रभुको भागवतका सर्वोपरि ओर अन्यान्य शास्त्रोका गौणप्रामाण्य मान्य नहीं है, जैसाकि श्री सा शु जी

सोच रहे है महाप्रभु तो सुस्पष्ट शब्दोमे, अतएव, कहते है "एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्न सत् प्रमाजनकम् एव पूर्णज्ञानोदयावधि यद् ग्राह्य प्रमाणत्वेन, तद् निरूप्य तदनन्तर यत् प्रमाण तद् आह 'अथवा सर्वरूपत्वात् नामलीलाविभेदतो विरुद्धाशपरित्यागात्, प्रमाण सर्वमेव हि" (त दी नि प्र १।७-९) अतएव तत्त्वार्थदीपनिबन्धके अगले सर्वनिर्णयप्रकरणमे प्रामाण्यके इस प्रमाणचतुष्टयरूप निकषके साथ बधे रहना महाप्रभुने आवश्यक नहीं समझा एतावता सिद्ध होता है कि इस तरहके प्रभेदोको समझे बिना ही श्री सा शु जीने भागवतके श्रुत्यादिशास्त्रोपजीवी सर्वसन्देहवारक चरमप्रामाण्य और अन्यान्य अनेकशास्त्रोसे उपबृहणीय श्रुतिके सर्वोपजीव्य प्रथमप्रामाण्य के प्रभेदको समझनेका तनिक भी कष्ट नही उठाया है और न यही कष्ट उठानेका प्रयास किया है कि प्रस्तुत प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशि केवल विविदिषाकाल या उपदेशकालीन प्राथमिकी व्यवस्था है, नकि शास्त्रके असम्भावना-विपरीतभावनारहित पूर्णबोध हो जानेके बादकी

हम देख सकते है कि स्वय श्रीसहजानन्द स्वामीने भी इन चारके बजाय आठ शास्त्रोकी शिक्षापत्रीके उपदेशकालमे जो सच्छास्त्रतया प्रमाणतया उपादेयता स्वीकारी है, वह अपनेको मान्य सकलशास्त्रोकी अन्तिमेत्थ परिगणना नही है फिरभी निजसम्प्रदायके रहस्यके परिज्ञानार्थ इनके भी प्रामाण्यका त्याग या उपेक्षा कर केवल साम्प्रदायिक ग्रन्थोके प्रामाण्यपर अवलम्बित होना स्वगोष्ठ्येकरम्य कथा हो सकती पर शास्त्रविद्वद्गोष्ठिमान्य नहीं अस्तु

(५ क्या शिक्षापत्रीमे भी तत्त्वपञ्चक अर्थाक्षिप्त माना जा सकता है ?)

श्री सा शु जी कहते है "फिरभी जब शिक्षापत्रीमेसे ही तात्त्विक विचारोंको प्रधानोपादेय मान कर कोई आक्षेप करते हैं, तब शिक्षापत्रीमेंसे भी प्रत्युत्तर मिल सकता है ब्रह्मनिरूपण "निजात्मान ब्रह्मरूप देहत्रयविलक्षण विभाव्य तेन कर्तव्या भक्ति कृष्णस्य सर्वदा'-'तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा

मुक्तिः च गम्यताम्' यहां 'श्रीकृष्ण' पदसे परमात्मा, 'निजात्मा'पदसे जीवात्मा और 'देहत्रय'पदसे मायाका निरूपण है लेकिन 'ब्रह्मरूप'शब्दान्तर्गत ब्रह्म क्या तत्त्व है? यह प्रश्न होता है. 'सति कुड्ये चित्रम्' इस न्यायके अनुसार... इस ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानकेलिये साम्प्रदायिक ग्रन्थ 'वचनामृत' 'सत्संगिजीवन'...आदि ग्रन्थोंको देखना पड़ेगा."(समा.पत्र.४.३.१वल्ल.).

वेसे साम्प्रदायिक ग्रन्थो द्वारा मतरहस्यको समझ लेनेमे तो कोई आपत्तिकी बात हो ही नही सकती परन्तु जब वे स्वयं शिक्षापत्रीके दुरूह रहस्योको समझानेके बजाय उसके विपरीत या उसका प्रत्याख्यान ही करने लगे तब तो उन्हे कदापि नही देखने चाहिये, स्वयं श्रीसहजानन्द स्वामीके "मद्रूपम् इति मद्वाणी मान्या इयं परमादरात्"-"कृष्णाभक्तो.... पतनं यस्य वाक्यत स्यात् तन्मुखाद् नवै श्रव्या"-"कृष्णाकृष्णावताराणां खण्डनं यत्र तानि शास्त्राणि न मान्यानि कदाचन"-"इमामेव ततो नित्यम् अनुसृत्य मम आश्रिते यतात्मभि. वर्तितव्यं नतु स्वैरं कदाचन... नेत्थं ये आचरिष्यन्ति तेतु अस्मत्सम्प्रदायत बहिर्भूता. इति ज्ञेयम्" ऐसे कठोर निषेधकी भीति हृदयमे रखते हुवे

जहा तक अक्षरब्रह्मके मूर्त ओर अमूर्त ऐसे दो रूपोके स्वीकारको स्वामिनारायणीय सिद्धान्तका अनितरसाधारण स्वरूप कहा जा रहा है, तो वह तो इतरदर्शनोके भलीभाति अवलोकन किये बिना किया गया विधान है देखिये

१ "परं ब्रह्मतु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहद् द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणम्" (सिद्धा.मुक्ता.३).

२."प्रकृति पुरुष च उभौ परमात्मा अभवत् पुरा यद् रूपं समधिष्ठाय तद् अक्षरम् उदीर्यते... प्रभुत्वेन हरे. स्फूर्ती लोकत्वेन तदुद्भव . प्रभु वैकुण्ठवासी, लोको वैकुण्ठो, जीवजडाकारेण प्रादुर्भवति इति अर्थ.. अतएव वैकुण्ठवासिनो

मुक्ता . ततोऽपि पुरुषोत्तमो महान्'' (त दी.नि.प्र २।९८-१०२).

३.''ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन... शरीरेण... परप्राप्ते मुक्तिरूपत्वाद् अक्षरब्रह्मण. पुरुषोत्तमायतनरूपत्वात् तदात्मकमेव शरीरं तस्य वक्तुम् उचितं नतु प्राकृतम् . यत्र कर्मवादी जैमिनि. एवं मनुते, अन्येषाम् एवम् अङ्गीकारे किम् आश्चर्यम् इति ज्ञापनाय तन्मतोपन्यासएव कृत'' (ब्र सू वाल्ल भा ४।४।१२).

४.''भगवदुक्तवर्णाश्रमधर्माचरणेन परोपकारादिधर्माचरणेन च वैष्णवान्नभक्षणेन अन्याश्रयत्यागपूर्वकभगवदाश्रयेन प्रतिबन्धकपापनाशे भगवत्प्रसादे च क्रियमाणाया श्रवणादिरूपाया पोषे बीजभावदार्ढ्ये व्यसनभाव पूर्णो भवति. ततो वृद्धौ क्रमेण गुणानां नाशो लीलासृष्टिस्थानां 'दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमस परं सत्यं ज्ञानम् अनन्तं यद् ब्रह्मज्योति सनातनम्'' (भाग पुरा १०।२५।१४-१५) इति वाक्याद् व्यापिवैकुण्ठलोकात्मकाऽक्षरानुभव ; तथा, अत्र पूर्वोक्तरीत्या सेवया गुणनाशे ब्रह्मभाव'' (प्रमे रत्ना फलविवे)

एतावता सिद्ध होता है कि स्वामिनारायण मतमे प्रमेयरूप तत्त्वोंकी पाच सख्या जुटानेपर भी कोई असाधारण दार्शनिक प्रदान प्रकट होता नहीं है अर्थात् इसमे कुछ भी स्वामिनारायणीय सिद्धान्तका अनूठापन झलक नही पाता हम देख चुके है रामानुजीय वेदान्त और वाल्लभ वेदान्तके समन्वयका जो प्रयास श्रीसहजानन्द स्वामीने किया वह अवश्य नूतन विभावना थी परन्तु इसे आधुनिक अनुगामी स्वीकारनेसे कतराना चाहते है अतएव शिक्षापत्रीगत ब्रह्मरहस्यको वचनामृतके आधारपर समझनेका प्रयास करनेपरभी कोई रामानुजीय वेदान्तसे भी नूतन कोई बात उभर कर सामने आती नहीं है क्योकि —

''परमम् अक्षरं प्रकृतिविनिर्मुक्तम् आत्मस्वरूपं

अनात्मभूतम् आत्मनि सम्बध्यमानं भूतसूक्ष्मतद्वासनादिकं .-तदुभयं प्राप्यतया त्याज्यतया च मुमुक्षुभि ज्ञातव्यम् ",' ' 'य प्रयाति त्यजन् देहं सा याति परमा गतिम्' इत्यत्र 'परमगति'शब्दनिर्दिष्टो अक्षर प्रकृतिसंसर्गवियुक्तस्वरूपेण अवस्थित आत्मा" "अचित्सर्गवियुक्त स्वरूपेण अवस्थितं मुक्तास्वरूपं परमम् नियमनस्थान, तच्च अपुनरावृत्तिरूपम् अथवा प्रकाशवाची 'धाम'शब्द ", " 'अक्षर'शब्दनिर्दिष्ट कूटस्थ आत्मा अचित्ससर्गवियुक्त स्वेन रूपेण अवस्थितो मुक्तात्मा", "पर ब्रह्म उपासीनान् आत्मान च प्रकृतिवियुक्त ब्रह्मात्मकम् उपासीनान् आतिवाहिको गणो नयति इति सिद्धम्', "प्रत्यगात्मन पर ज्योति उपसम्पद्य निवृत्ततिरोधानस्य स्वरूपाविर्भाव ब्राह्मेण अपहतपाप्मत्वादिना इति अर्थ " (गी रा भा ८।३,८।२१,१५।-१६ तथा ब्र सू रा भा ४।३।१५,४।४।५)

यही तो सब श्रीसहजानन्द स्वामी वचनामृतमे भी कह रहे है यथा—

"भगवान्को अतिप्रसन्न करनेकी इच्छा हो, तो एक उपाय यह है कि अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके सम्बन्धमे अचलनिष्ठा, आत्मनिष्ठाकी अतिशय दृढ़ता, एकमात्र भगवान्के सिवा अन्य समस्त पदार्थोंके प्रति अरुचि और भगवान्में माहात्म्यसहित निष्कामभक्ति रखनी चाहिये इन चारों साधनों द्वारा भगवान्को अतिशय प्रसन्नता होती है ऐसा ऐकान्तिक भक्त देह त्याग कर तथा मायाके समस्त भावोसे मुक्त हो कर अर्चिमार्ग द्वारा भगवान्के अक्षरधाम जाता है उस अक्षरके दो स्वरूप हैं - इनमें एक तो निराकार एकरस चैतन्य है उसे 'चिदाकाश' और 'ब्रह्मधाम' कहते हैं

तथा दूसरे रूपसे पुरुषोत्तम नारायणकी सेवामें रहता है उस अक्षरधाममे जानेवाला भक्त भी अक्षरब्रह्मके साधर्म्यभावको प्राप्त होता है और अखण्ड सेवामें रहता है इस अक्षरधाममें श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम नारायण सदैव(नकि स्वामिनारायण पन्थके बहुजनमान्य न होनेकी अवधिमें ही) विराजमान रहते हैं " (वचना ग प्र २०)

"ब्रह्म तो पुरुषोत्तम भगवान्का किरणरूप है किन्तु स्वय भगवान् तो सदैव साकार मूर्ति ही है "(ग म १०)

पता नही कि इस पन्थका आधुनिक अनुगामी बोचासणवासी दल वचनामृतकी रहस्यार्थदीपिकाका प्रामाण्य स्वीकारते है या नही? उन्हे जो कुछ मान्य हो परन्तु उसमे इस वचनामृतका रहस्य वस्तुत अद्भुत प्रकट किया गया है रहस्यार्थदीपिकाकार कहते है "ननु भगवत्तेजोरूपस्य धाम्नो भगवति श्रीस्वामिनारायणे स्वामिसेवकभावो विद्यते नवा? इति चेत् सूर्यप्रकाशस्य सूर्ये वह्निज्वालाया च वह्नौ यथा नैव अस्ति स्वामिसेवकभाव तथैव भगवत्तेजोरूपाक्षरधाम्नो भगवत्स्वामिनारायणे नैव अस्ति स्वामिसेवकभाव यत इद तेजस्तु मूर्ते कार्यभूतम् इति नैव अस्ति ततो भिन्न किन्तु कार्यकारणभाव शरीरशरीरिभाव चैव विद्यते ननु अक्षरधाम्नो भगवद्भिन्नत्वाभाव चेत् तर्हि तस्यैव द्वितीयरूपेण भगवत्सेवाया वर्तमानत्व यद् उक्त तत्र द्वितीय रूप कथ ज्ञेयम्? सेवा च का? इति चेद् भगवत्तेजसएव अक्षरधामत्वम् तस्यैव च मूर्तिमन्मूलाक्षरशरीरित्व तद्व्यापकत्व तद्द्रष्टृत्व तदात्मत्व तदाधारत्व च इति रहस्यार्थत्वात् च" (वच रह दीपि ग प्र २२।४) मुझे तो रहस्यार्थदीपिकाके ऐसे विधानका अवलोकन करनेपर महाप्रभुके "प्रथमम् अक्षरम् आह जीवाना चिद्रूपाणा चिद्रूपे स्वयोग्ये ब्रह्मणि प्रवेश ननु आनन्दाशतिरोभावे जीवत्वमेव स्याद् इति आशङ्क्य आह ब्रह्मकूटस्थाव्यक्तादिशब्दै वाच्यो निरन्तर तथापि न पुरुषोत्तमाद् भिन्नतया अवस्थित किन्तु निरन्तरएव तस्यैव कारणत्व ज्ञापयितु तत्रैव कार्यस्थितिम् आह सर्वावरणयुक्तानि

तस्मिन् अण्डानि कोटिश मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थित'' (त दी नि प्र २।१८-१०२) वचन याद आ जाते हे अब स्वय रहस्यग्रन्थकी भी रहस्यार्थदीपिका अक्षरब्रह्मको भिन्नतया प्रकाशित न करती हो तो क्या करना! यह भी हम यहा देख सकते है कि अक्षरब्रह्मको भगवत्तेजोरूप श्रीरामानुजाचार्यने भी स्वीकारा ही हे उसे व्यापिवैकुण्ठात्मक धामरूप महाप्रभुने और अधिक माना है, प्रकाशरूपताके साथ-साथ इन दोनो मतोको समन्वित कर एक नूतन विभावना मूलरूपेण स्वामिनारायणीय वेदान्तकी थी आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्त किन्तु इनका त्याग करना चाहता है

वैसे तो चित्रनिर्माणकेलिये कुड्यान्वेषण या कुड्यनिर्माण के प्रयोजनवश वचनामृतका पान करने जानेपर भी "उपनिषद् वेदान्त श्रुतियों और स्मृतियों मे जिनको परोक्षरूपसे ब्रह्म ज्योति स्वरूप ज्ञानरूप तत्त्व सूक्ष्म निरञ्जन क्षेत्रज्ञ सर्वकारण परब्रह्म पुरुषोत्तम बताया गया '' (वचना ग म ३९) इस वचनामृतमे 'ब्रह्म' और 'पुरुषोत्तम' पदोको पर्यायवाची पानेपर रहस्यार्थदीपिका द्वारा प्रस्तुत व्याख्यान अकाण्डताण्डव तो नहीं लगता है अत न तो धामात्मक अमूर्त अक्षरब्रह्म कोई पृथक् तत्त्व सिद्ध होता है ओर न उस भगवद्धाममे पहुचे मुक्तात्मगण ही कोई पृथक् सिद्ध होते है क्योंकि वे भी तत्त्वत्रयीके अन्तर्गत जीवात्माकी बद्धावस्था और मुक्तावस्थारूप केवल अवस्थाभेद ही सिद्ध होगे तत्त्वान्तर नही रही बात ईश्वरतत्त्वकी तो जिसके बारेमे श्री सा शु जी कहते है—

> ईश्वरनिरूपण" 'सम्भवव्यभिचाराभ्या स्याद् विशेषणम् अर्थवत्' शिक्षापत्रीमे 'ज्ञेय स्वतन्त्र ईशो असौ सर्वकर्मफलप्रद ' यह विशेषणविशिष्ट पद क्यों दिया है? क्या परतन्त्र कोई ईश्वर है? यदि है तो यही एक भिन्न तत्त्वके रूपमे प्रतिष्ठित है नहीं तो 'ईश'पदका 'स्वतन्त्र' विशेषण निरर्थक है" (समा पत्र ४ ३ २)

कितने छोटेसे तिलका कितना लम्बा ताड़ यहां बनाया जा रहा है! स्वयं श्री सा.शु.जीके "गुणातीतो अक्षरं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम." मंगलाचरणमे ही 'अक्षरब्रह्म' विशेष्यके साथ 'गुणातीत' विशेषण जोड़ा गया है, तो यहा भी क्यो पूछा नहीं जा सक्ता कि अक्षरब्रह्मके भी क्या गुणातीत और गुणान्त पाती ऐसे दो प्रकार मंगलाचरणमे ध्वनित हो रहे है? यदि 'हां' तो पुन एक ही ब्रह्मके दो अवस्थाभेद क्यो नही मान लेने? ऐसा मान लेनेपर अन्वयव्यतिरेकोपदेशरूप वचनामृत (ग.प्र.७) के साथ सुसंवाद भी हो जायेगा. वाल्लभ वेदान्त तो अपने प्रारम्भिक कालसे ही ब्रह्मके अन्वय-व्यतिरेकभावपर बहुत भार देता रहा हे "तत्र 'सर्व भगवान् कथम्?' इति आकांक्षायाम् अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् इति. सर्वत्र भगवतो अन्वयो अस्ति—'घटः सन्'-'पट. सन्', 'भासते' इति, 'प्रियम्' इति च सर्वत्रैव एकस्य अन्वय. अन्यथा एकशब्दानुवृत्ति प्रतीत्यनुवृत्तिः न स्यात्. विशेषेण अतिरिच्यते इति व्यतिरेक... एवं सर्वत्र यत् सर्वं सत् सर्वस्माद् अतिरिच्यते तद् ब्रह्मैव" (सुबो.२।९।३५). अत जेसे जीवात्मा मायागुणोंमे फंस कर गुणान्त पाती होनेपर भी शास्त्रोपदिष्ट साधनाओंके अनुष्ठान द्वारा गुणातीत हो पाती है, वैसे ही परब्रह्म पुरुषोत्तम अपने लीलासकल्पके अनुरूप गुणान्त पाति और गुणातीत भी होता है यह पुन श्रीसहजानन्द स्वामीको अतिशय मान्य श्रीमद्भागवतके वचनोका स्वारसिक वृत्तान्त है. अत ऐसा स्वीकार लेनेपर वाल्लभ वेदान्तमे अन्तर्भूत हो जानेकी व्यर्थभीति भी सतानी तो नही चाहिये क्योकि स्वय श्रीजीमहाराज भी पूर्वोक्त वचनामृतके उपक्रममे "शास्त्रोंमें जहां-जहां अध्यात्मवार्ता आती है, उसे कोई समझ नहीं पाता और भ्रान्ति हो जाती है. इसलिये हम अध्यात्मवार्ताके यथार्थ स्वरूपका वर्णन करते हैं" (वचना ग प्र.७) ऐसा अत्यन्त स्पष्ट शब्दोमे इस धारणाकी महत्ता समझा ही रहे है इसे परन्तु न माननी हो औस न अक्षरब्रह्मको भी गुणातीत एव गुणान्त पाति यो उभयव्यपदेशार्ह ही मानना हो तो, जैसे यह विशेषण निरर्थक हो सकता है, ऐसे ही 'स्वतन्त्र' विशेषण भी क्यो निरर्थक

हो नहीं सकता? यदि सोचा जाये कि श्री सा शु जी निरर्थक विशेषणका प्रयोग कर सकते है परन्तु श्रीसहजानन्द स्वामी नही, तो जब वे "शास्त्रसम्मता सदाशिष"-"मनसेप्सितानां सुखानाम्" (शिक्षाप ६-२१२) वचनोमे 'शास्त्रसम्मत' और 'मनसेप्सिताना' विशेषणोसे विशिष्ट आशिष और सुख की बात कह रहे हे, तो क्या श्रीजीमहाराज शास्त्रसे असम्मत आशिष भी अपने भक्तोको कभी-कभी देते रहते थे क्या? अथवा सुख भी क्या मनोभीप्सित और मनोनभीप्सित ऐसे दो तरहके स्वामिनारायणीय सिद्धान्तमे कही दरसाये गये है क्या? वैसे श्री सा शु जी सम्भवत विशेषणको एकविध ही मानते लगते है अन्यथा विशेषण तो 'व्यावर्तक 'विधेय ओर 'हेतुगर्भ यो तीन प्रकारके माने गये है अत प्रत्येक विशेषणविशिष्ट उल्लेखमे इतरव्यावर्तनरूप कुड्चकी खोज अनिवार्य नहीं होती। "स कीचकै मारुतपूर्णरन्ध्रै" (रघुव २।१२) इस कालीदासके वर्णनमे 'मारुतपूर्णरन्ध्र' विशेषण जैसे किचकोका हेतुगर्भ विशेषण है, वैसे ही 'स्वतन्त्र' विशेषण ईश्वरका भी हेतुगर्भ विशेषण क्यो नही हो सकता? शैव मतमे जैसे "पाशबद्ध पशु ज्ञेय पाशमुक्त सदाशिव" कहा तद्वत् एक ही ईश्वर अवस्थाभेदवश आत्मलीलया स्वतन्त्र और परतन्त्र उभयविध क्यो नही हो सकता?

श्रीसहजानन्द स्वामीके सर्वकारणकारणरूप उपास्य इष्टदेव श्रीकृष्णको, अक्षरधामके स्वामी होनेके पदसे च्युत कर स्वय श्रीसहजानन्द स्वामीको उस पदपर अभिषिक्त कर देनेको ही तो कही यह सारा युक्तिप्रपञ्च रचा नही जा रहा है। सचाई यदि यही हो तो शिक्षापत्रीके ही केवल नहीं प्रत्युत वचनामृतके अवलोकन करनेपर भी कितना निजाचार्योपदेशके प्रति आधुनिक अनुगामिओका निरादरका भाव प्रकट है, यह देख लेना भी उचित होगा

उससे भी पहले यह एक और स्पष्टीकरण मुझे आवश्यक लगता है कि यह वैकुण्ठ-गोलोक आदि सभी धामोसे ऊपर जो अक्षरधाम

(वस्तुत तो वचनामृतका प्रामाण्य निःसन्दिग्ध हो तो "मायाके तमसे परे जो गोलोक है उसके मध्यभागमें स्थित अक्षरधाम " (वचना व १८) ऐसे पदप्रयोगवश कुछ दूसरा ही चित्र उभरता है) कहा जा रहा है उसके स्वामी होनेके पदपर श्रीसहजानन्द स्वामीको अभिषिक्त करनेके श्रद्धातिरेककी मानसिकता भारतीय धर्म-सम्प्रदायोंके इतिहासमे कोई नूतन अध्याय या नूतन रहस्यकथा नहीं हे वह तो अतिसाधारण या सर्वसाधारण सदाचारकी केवल कथा हे इसीमे किन्तु एक रहस्य यह अवश्य अन्तर्निगूढ हे जो सर्वमूल श्रुतिवचनने यथायथ ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-सन्यास यो चारो आश्रमिओको एक साधारण सदाचारके रूपमे "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव" (तैत्ति उप १।११) समझाया है यहा माताआदिके साथ "आचार्यो देवो भवति" ऐसा इतरनिरपेक्ष देवत्व नही कहा अर्थात् आचार्यको उद्देश्य बना कर देवत्वका विधान करनेके बजाय *"आचार्यो देवो यस्मै यस्य वा"* यो बहुव्रीहीके प्रयोग द्वारा शिष्यसापेक्ष देवत्व ही दिखलाया है

सहज सम्भव है कि सच्छास्त्रकी इस पुरातन परिपाटिके अनुसरणार्थ श्रीसहजानन्दजी भी अपनी अक्षरधामस्वामिताका उपदेश कर रहे होगे सच्छास्त्रोमे उनकी अतिशय धर्मनिष्ठाके आधारपर "स्वय उनके पुरुषोत्तम होने"के विधानकी यह व्याख्या उपपन्न होती है परन्तु जहा वसुदेव-देवकीसुत श्रीकृष्णको "अक्षरधामके अधिपति पुरुषोत्तम" कहा गया है वहा उनके श्रीमुखसे निकले वचनोको ही उद्धृत किया गया होनेसे उसकी अन्यथोपपत्ति शक्य ही नहीं, यदि वाक्यार्थमीमासाका लेशमात्र भी ज्ञान हो तो फिरभी वचनामृतके श्रोताओने श्रद्धाजाड्यवश अन्यथार्थ ही विचारा! खैर, श्रुतिके अलावा स्मृतिओमे भी ऐसी सावधानी "आचार्यो ब्रह्मणो मूर्ति"-"आचार्यो ब्रह्मलोकेश" (मनुस्मृ २।२२६-४।१८२) जैसे वचनोमे बरती गयी है क्योकि पिता-पुत्रभावकी तरह आचार्य-शिष्यभाव भी इतरेतरसापेक्ष ही होता है देवदत्तरूप शिष्यका यज्ञदत्त आचार्य आवश्यक नही कि ब्रह्मदत्तकेलिये भी आचार्य ही हो अतएव यही विवेक

श्रीमद्भागवतपुराणमे भी "आचार्यं मा विजानीयाद् नावमन्येत कर्हिचित् न मर्त्यबुद्ध्या असूयेत सर्वदेवमयो गुरु"-"आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति" (भाग पुरा ११।१७।२७-तत्रै ११।२९।६) जैसे उपदेशोमे मिलता है यहा भी लक्ष्यमे रखने लायक बात यही है कि 'ब्रह्म' न कह 'ब्रह्ममूर्ति' कहा एव "आचार्यो अह भवामि" न कह कर "मा विजानीयाद्" कहा इसी तरह "क्षराक्षरातीतवपुषा स्वगति व्यनक्ति" न कह कर "चैत्यवपुषा स्वगति व्यनक्ति" कहा

इसे यथोपदेश लेनेके बजाय जिस देव, ब्रह्म, क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम, श्रीकृष्ण, श्रीहरि, घनश्याम, या नीलकण्ठ आदि देवोकी बुद्धि आचार्यमे करनेको कहा जाय, स्वय उस घनश्याम या नीलकण्ठ देवके बारेमे अथवा तो ब्रह्म या क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तमके बारेमे लोकश्रद्धाके निर्मूलन द्वारा स्वय आचार्यको उस तरहसे मान लेना या बिरदाने लग जाना सर्वथा अनुचित है। जिस सविधानके प्रावधानविशेष द्वारा किसी व्यक्ति या समुदाय को मानवीय गौरवानुरूप अधिकार किसी राष्ट्रमे रहनेका मिलता हो उसे पा लेनेके बाद राष्ट्रीय सविधानकी अवहेलना करनेको अपने नियमोकी सर्वोपरिता दिखाने जैसी यह उद्दामवादी कूटनीति खेली जाती लगती है। अस्तु

स्वय श्रीसहजानन्द स्वामीजी इन सच्छास्त्रोपदिष्ट आदर्शोमे कितनी अविचल निष्ठा रखते थे यह तो उनके न केवल शिक्षापत्री प्रत्युत वचनामृतमे भी बच पाये अनेकानेक वचनोके आधारपर निसदिग्धतया प्रकट होता ही है सर्वप्रथम तो शिक्षापत्री जैसे पत्र अपने अनुगामिओको उन्हे क्यो लिखने पडे? इसके पीछे रहे कारणोके जिज्ञास्य होनेपर यह वर्णन मिलता है

"वे गादीतकियापर उदास बैठ गये उन्होंने न तो किसीको बुलाया और न किसीके सामने देखा उसी

स्थितिमें उनके नेत्रोंसे आंसू पडने लगे... इसके पश्चात् बोले 'हमने शुष्कज्ञानियोंका मत जाननेकेलिये उनके शास्त्रका श्रवण किया. उसके श्रवणमात्रसे हमारे अन्तःकरणमें उद्विग्नता हो गयी, क्योंकि शुष्कवेदान्तके श्रवणसे जीवकी बुद्धिमेंसे भगवान्‌की उपासनाकी भावना लुप्त हो जाती है... इसलिये अन्य देवोंकी भी उपासना हो जाती है... उनकी बुद्धि बिलकुल भ्रष्ट हो जाती है...' इस प्रकार वे बहुत दैर तक उदास रहे और अपने हाथोंसे नेत्रोंके आंसू पोंछ कर ऐसा बोले कि भगवद्गीतापर जो रामानुजभाष्य है उसकी कथा सुन कर रात्रिमें सो रहे थे तब हमने एक स्वप्न देखा कि हम गोलोकमें गये, जहां भगवान्(नहीं कि स्वयं)के अनन्त पार्षदोंको देखा... हमें ऐसा विचार हुवा कि परमेश्वरकी ऐसी प्रेमभक्ति तथा परमेश्वर(नहीं कि स्वयं)की ऐसी उपासनाका परित्याग करके जो मिथ्याज्ञानी ऐसा मानता है कि हम भगवान् हैं वह महादुष्ट है... जिस प्रकार धर्म तथा भगवान् की भक्तिसे किसी भी तरह विचलित न हों तथा अपने इष्टदेव श्रीकृष्णनारायण(नहीं कि स्वयं)से किसी भी प्रकार बुद्धि डिगे नहीं, इस आशयका एक पत्र लिख कर देशभरके सत्संगियोंके पास भेजें... जो पुरुष हमारी इस आज्ञाका दृढतापूर्वक पालन करेगा, उसको श्रीकृष्णनारायण(नहीं कि स्वयं)में नारद जैसी दृढ भक्ति हो जायेगी... जो हमारे इस वचनका उल्लंघन करेंगे, उनकी भक्ति वेश्या जैसी व्यभिचारिणी हो जायेगी' संवत् १८७८ में मार्गशीर्ष कृष्ण चतुर्दशीको यह पत्र लिखा" (वचना.ग.म.१९).

अब पता नहीं चलता कि वचनामृतोको सारतम माननेवाले आधुनिक अनुगामी इनकी शिक्षापत्रीको "असाररूपा अल्पसाररूपा साररूपा अथवा

सारतररूपा'' के बीच क्या मानते है। अरे हा! श्रुति-सूत्र जिनमे अक्षराधिपति पुरुषोत्तमका निरूपण मिलता नही उसे असाररूप, गीता-भागवतमे मिलता होनेपर भी श्रीसहजानन्द स्वामीका अक्षराधिपतिके रूपमे वर्णन न मिलता होनेसे उन्हे अल्पसाररूप, इन सच्छास्त्रोके सारतया शिक्षापत्रीको स्वय श्रीजीमहाराज बिरदाते होनेसे उसे साररूप, और, सारतररूप जो भी कोई अन्य ग्रन्थ हो, इस अर्थमे तो कही वचनामृतको सारतम नहीं माना जा रहा है।

खैर, जिस-किसी अर्थमे वह माना जाता हो इतना तो निश्चित है कि इस सारतम उपदेशको भी श्री सा शु जी अपने समाधानपत्रके मगलाचरणमे पुन अस्वीकार कर रहे है— ''रामकृष्णाद्यवताराणा कारण परमेश्वरम्'' विधान द्वारा और अतएव आज भी शायद श्रीसहजानन्दजीके मनको उद्विग्न, मुखको उदास और नयनोको अश्रुपरिपूरित ही कर रहे है।

इस सारतम वचनकी तुलनामे ही कुछ अन्य भी सारतम वचन देखने लायक है

> १ ''जो यह एकरस तेज है, उसे 'ब्रह्म' तथा 'अक्षरधाम' कहते हैं उस प्रकाशमे जो भगवान्‌की मूर्ति दिखायी पडती है, उसे 'आत्माका तत्त्व' 'परब्रह्म' तथा 'पुरुषोत्तम' कहते है वे ही भगवान् अपनी इच्छासे जीवोका कल्याण करनेकेलिये रामकृष्णादिके रूप धारण करके युग-युगमें प्रकट होते हैं यद्यपि वे भगवान् इस लोकमें मनुष्यसदृश दिखायी पडते है तथापि वे मनुष्यवत् नहीं हैं वे तो अक्षरधामके स्वामी है यही बात श्रीकृष्ण भगवान्(नहीं कि श्रीजीमहाराज)ने गीतामें कही है —'न तद् भासयते सूर्य तद् धाम परम मम' अतएव श्रीकृष्ण भगवान् यद्यपि

मनुष्यवत् दिखायी पडते थे तथापि वे(नहीं कि श्रीजीमहाराज) अक्षरातीत कैवल्यमूर्ति ही हैं... इस प्रकार श्रीजीमहाराजने अपने भक्तजनोंको शिक्षा देनेकेलिये अपने(यह 'अपने' पद यहां अचानक कैसे आ गया?) पुरुषोत्तम होनेकी वार्ता परोक्षरूपमें कही. यह बात सुन कर समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों ने यह मान लिया(अर्थात् श्रीजीने कहा हो या न कहा हो) कि 'तेजपुंजमें जिस मूर्तिके रहनेकी बात कही गयी है उसके प्रत्यक्ष प्रमाण ये श्रीजीमहाराज हैं.(वचना.ग.म.१३).

२.''श्रीजीमहाराजने बडे-बडे परमहंसोंसे पूछा कि हमने श्रीमद्भागवतके पञ्चमस्कन्ध दशमस्कन्ध का अतिशय प्रतिपादन किया... दशमस्कन्धका रहस्य यह है कि उपनिषद् वेदान्त श्रुतियों और स्मृतियों में जिनको परोक्षरूपसे ब्रह्म ज्योतिःस्वरूप ज्ञानरूप तत्त्व सूक्ष्म निरञ्जन क्षेत्रज्ञ सर्वकारण परब्रह्म पुरुषोत्तम वासुदेव विष्णु नारायण और निर्गुण नामोंसे बताया गया वे ही ये प्रत्यक्ष वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण वासुदेव हैं'' (वचना.ग.म.३९).

३.''अन्य अवतारोंके समान श्रीकृष्ण भगवान् अवतार नहीं अवतारी(तो श्रीजीमहाराजके अवतार क्यों मानते हो?) हैं. ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान् हैं वे अपने इष्टदेव हैं. उन श्रीकृष्ण भगवान्(नहीं कि श्रीजीमहाराज)के चरित्रोंका सम्पूर्ण वर्णन श्रीमद्भागवतपुराणके दशमस्कन्ध किया गया है. इसलिये हमने अपने उद्धवसम्प्रदायमें दशमस्कन्धको अत्यन्त प्रामाणिक माना है... भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम(नहीं कि श्रीजीमहाराज) तो राजाधिराज तथा अखण्डमूर्ति हैं. वे(नहीं कि श्रीजीमहाराज) अपने अक्षरधामरूपी सिंहासनपर सदैव(नहीं कि श्रीसहजानन्द स्वामीके प्रसिद्ध होनेसे पूर्व ही) विराजमान रहते हैं''(वचना.ग.म.६४).

४.''सत्संगिजनको कौन-कौन सी वार्ता आवश्यक रूपसे

जान रखनी चाहिये पहली बात अपना उद्धवसम्प्रदाय है दूसरी बात गुरुपरम्पराका ज्ञान रामानन्दस्वामीके गुरु रामानुजाचार्य है उन रामानन्दस्वामीके हम शिष्य है, ऐसी गुरुपरम्परा जाननी तीसरी बात हमारे सम्प्रदायमें अतिप्रमाणरूप जो शास्त्र हैं वेद व्याससूत्र श्रीमद्भागवतपुराण महाभारतका विष्णुसहस्रनाम भगवद्गीता विदुरनीति स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डका वासुदेवमाहात्म्य याज्ञवल्क्य-स्मृति चौथी बात सत्सगजिनोके नियम पाचवी बात अपने इष्टदेव श्रीकृष्णभगवान् मायाके तमसे परे जो गोलोक है उसके मध्यभागमें स्थित अक्षरधाममे श्रीकृष्ण भगवान् राधिकाजी एव लक्ष्मीजी के सहित "(वचना-व १८)

आश्चर्य होता है कि इन सारतम उपदेशोमे न जाने कितनी बार अपरोक्षरूपमे भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णको ही अक्षरधामका स्वामी माना है

"श्रीकृष्ण जैसा सर्वशक्तिसम्पन्न कोई अन्य अवतार नहीं हुवा क्योंकि अन्य जो सब उनकी अनन्त मूर्तिया भिन्न-भिन्न रूपसे रही है, उन सबका भाव श्रीकृष्ण भगवान्(नहीं कि श्रीजीमहाराज)ने अपने स्वरूपमें दिखाया सर्वप्रथम देवकीकी कोखसे जन्म लिया तब चतुर्भुजरूपमें लक्ष्मीपति वैकुण्ठनाथका भाव माता यशोदाको अपने मुखमें विश्वरूप दिखाया इसम सहस्रशीर्षरूप द्वारा अनिरुद्धभाव अक्रूरको यमुनाकी धारामें शेषशायिभाव अर्जुनको विश्वरूप दिखलाया कि 'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश' इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड दिखला कर पुरुषोत्तमभाव बताया तथा स्वय श्रीकृष्ण(नहीं कि श्रीजीमहाराज)ने कहा कि 'यस्मात् क्षरम अतीतो अहम् अक्षरादपि

च उत्तमो अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम.' इस प्रकार श्रीकृष्णने स्वयं अपना पुरुषोत्तमभाव दिखाया. गोलोकवासी राधिकासहित श्रीकृष्ण भी स्वयमेव थे... श्वेतद्वीपवासी वासुदेवने स्वयं यह अवतार धारण किया था... इसलिये यही अवतार(नहीं कि श्रीजीमहाराज) सर्वोपरि है... श्रीकृष्णके स्वरूपमें जिसकी अचलमति सदैव बनी रहती है, वह मति कभी भी व्यभिचारके दलदलमें नहीं फंसती. यदि किसी कुसंगवश कभी कुछ अनुचित आचरण हो गया हो तो भी उसका कल्याणमार्गसे पतन नहीं होता. उसका कल्याण ही होता है. इसलिये आप सब परमहंस हरिभक्त भी यदि इस प्रकार भगवान्(नहीं कि श्रीजीमहाराज)में उपासनाकी दृढता रखते रहेंगे तो कदाचित् कोई अनुचित आचरण हो जानेपर भी अन्तमें कल्याण ही होगा. (इन वचनोंको सुन कर कोई भी औसत बुद्धिवाला विवेचक भी अधिकाधिक श्रीसहजानन्द स्वामीको श्रीकृष्णका अवतार मान पायेगा परन्तु श्रीसहजानन्दोपास्य भगवान्के प्रति निगूढ द्वेष या असूया के भावके कारण वचनामृतके श्रोताओंने जो निर्णय लिया वह यों है) इस वार्ताको सुन कर समस्त साधुओं तथा हरिभक्तो ने श्रीजीमहाराजमें सर्वकारणभाव जान कर उपासनाकी दृढता की"(वचना प.६).

अत यहा *"एकग्रन्थशकलास्वारस्य बहुग्रन्थस्वारस्याय ग्राह्य"*न्याय उचित होता परन्तु वह न भी माना जाये तो भी इस सन्दर्भमें यह तो उल्लेखनीय ही होता है कि यदि इस वचनामृतमे 'श्रीकृष्ण'नामके प्रयोग द्वारा श्रीसहजानन्द स्वामी स्वय अपनी अक्षरधामाधीशता इगित करना चाहते हो तो *"स्वय श्रीकृष्णने कहा कि 'यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमो अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम' इस प्रकार श्रीकृष्णने स्वय अपना पुरुषोत्तमभाव दिखाया. गोलोकवासी राधिकासहित श्रीकृष्ण भी वे स्वयमेव थे"* वचनके आधारपर अक्षरब्रह्मरूप

धाममे केवल श्रीगुणातीतानन्द स्वामी या श्रीमुक्तानन्द स्वामिसदृश पुरुष ही रहते है स्त्रीजन नहीं, इस धारणाको तिलाजली देनी पडेगी। अन्यथा श्रीसहजानन्द स्वामीपर मिथ्याभाषणका आरोप लग जायेगा।

जितनी बार भगवान् श्रीकृष्णको अक्षरधामका स्वामी अपरोक्ष निरूपण द्वारा माना, उसकी तुलनामे तो बहुत कम बार श्रीसहजानन्द स्वामीने स्वय अपने बारेमे अक्षरधामके स्वामी होनेका भाव परोक्षरूपमे इगित किया है फिरभी श्रीसहजानन्द स्वामीके इष्टदेव और उनके साक्षात् उपदेशोमे ऐकान्तिकी अश्रद्धाके कारण ही उन्हे गम्भीरताके साथ न तो समझने और न स्वीकारने की ही मनोवृत्ति वचनामृतके श्रोताओ और सकलनकारो मे प्रकट होती है अत केवल चार-छह बार जो परोक्षरूपमे कहा उसका झडा ऊचे फहरा दिया जाता है। श्री सा श्रु जीका कहना है "शिक्षापत्री भगवान् स्वामिनारायणने लिखी है इसलिये प्रामाणिक है इसी प्रकार वचनामृतका ग्रन्थ भी सवत् १८७७ मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया के दिन भगवान् स्वामिनारायणने स्वय देखा तब ११५ वचनामृत सकलित थे इनके पश्चाद्भव वचनामृत भी भी इन ११५ की पद्धतिसे प्राप्त होनेसे इनका भी सर्वतोमुख प्रामाण्य स्वामिनारायण सम्प्रदायमे है बल्कि तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमे शिक्षापत्रीसे भी अधिक प्रामाण्य है"(समा पत्र ४ ३ २)

मुझे लगता है कि जिन ११५वे वचनामृतके बाद इसी पद्धतिसे वचनामृत सकलित होनेकी बात श्री सा श्रु जी कह रहे है, उन बादवाले वचनामृतोमे ही शिक्षापत्रीसे विरुद्ध वचन अधिक मिलते है अत सहज सम्भव हे कि वह श्रीजीमाहाराजके अवलोकन न कर पानेके कारण सकलनकारोकी मनमानी छूट लेनेके कारण ही हुवा होगा इस एक तथ्यको जाचनेपर ही अन्य भी विरोध श्रीजीके अनवलोकनके परिणाम क्यो नही माने जा सकते? यदि श्रीसहजानन्दजी स्वामीके रामानुज सम्प्रदायके दीक्षित अनुगामी अनुगामी होनेकी कथा अप्रामाणिक

हो तो वह भी ११५वे वचनामृतके बाद आते वचनामृत होनेसे रामानुजसम्प्रदायकी प्रसिद्धिका लाभ ले लेनेको ही संकलनकारोद्वारा प्रक्षिप्त क्यों नहीं मान लेनी चाहिये? ऐसा मान कर भी चले पर इसमे बाधा एक ही दिखलायी देती है कि तब स्वयंके अक्षरब्रह्मधामके स्वामी होनेके भी वचनामृत सम्भवत ११५वे वचनामृतके बाद ही अधिक मुखरित हुवे है और इन्हे अप्रामाणिक कह पाना अब दु शक बन गया होनेसे मौनसेवन किया जा रहा है। वैसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जिन वचनामृतोके बारेमे श्री सा.श्रु जी "सर्वतोमुख प्रामाण्य स्वामिनारायण सम्प्रदायमें हैं. बल्कि तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें शिक्षापत्रीसे भी अधिक प्रामाण्य है"(समा.पत्र.४.३.२) ऐसा बढा-चढा दावा प्रस्तुत कर रहे है वे वचनामृत स्वयं "हमारे आश्रित... को हमारी लिखी हुयी शिक्षापत्रीका नित्य पाठ करना चाहिये. जिसे पढना न आता हो उसे नित्य शिक्षापत्रीका श्रवण करना चाहिये. जिसे उसका श्रवण करनेका योग नहीं आवे, उसे प्रतिदिन शिक्षापत्रीकी पूजा करनी चाहिये. इस प्रकार हमने-शिक्षापत्रीमें भी लिखा है. यदि किसीको इन तीनों नियमोंका पालन करनेमें विघ्न पड जाये उसे तो उसे एक उपवास कर लेना चाहिये" (वचना ग.अ १) यो शिक्षापत्रीकी सर्वातिशायिता इन शब्दोमे प्रतिपादित कर रहे है मुझे यह अवगत नही कि ऐसी सर्वातिशायिता वचनामृतकी कहा उपदिष्ट हुयी है? और वह कही उपदिष्ट न हो तो यह स्वयमे इस तथ्यका प्रमाण है कि श्रीसहजानन्द स्वामीके आधुनिक अनुगामिओंका उनके उपदेशमे श्रद्धाका कैसा करुण ह्रास हुवा है!

यद्यपि शिक्षापत्री और वचनामृत दोनोमे ही श्रीसहजानन्द स्वामी स्वयका रामानुजसम्प्रदायके अनुगामी होना भारपूर्वक घोषित कर रहे है, फिरभी श्री सा श्रु जी अपने समाधानपत्रमे न केवल अनेक तथाकथित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके आधारपर बल्कि वचनामृतकी भी कोई सद्योलब्ध प्राचीन(!) हस्तप्रतिके आधारपर भी श्रीजीमहाराजके रामानुजमतानुगामी

होनेकी कथाको अप्रामाणिक मान रहे है (दृष्ट. : समा.पत्र.४.४-४.४.१).

यह यदि ऐतिहासिक तथ्य हो तो फिर स्वयं श्री सा.श्रु.जीकी घोषणा कि "वचनामृतका प्रामाण्य स्वामिनारायण सम्प्रदायमें नि.सन्दिग्धतया स्वीकृत है... वचनामृतमें अप्रामाण्यका गन्ध देखेंगे तब तो वैष्णव सम्प्रदायके मान्य भगवद्गीता श्रीमद्भागवत इत्यादि ग्रन्थ भी अप्रामाणिकताके लक्ष्य बन जायेंगे... वचनामृतके सम्पादक इतने नि.स्पृह और प्रामाणिक थे इसलिये ग्रन्थ नि सन्देह प्रामाणिक ही है" (समा.पत्र.४.३.२) इस विधानको क्या निरस्त मान लेना? क्योकि ऐसी स्थितिमे या तो श्रीसहजानन्दजीका अपने-आपको रामानुजके शिष्यके रूपमे बिरदाना केवल लोकप्रतारणार्थ मिथ्याभाषण सिद्ध होगा या मनुष्यभावोचित उनमे भी विस्मृतिशीलता सिद्ध होगी अथवा गुरुरूप रामानन्दस्वामीको रात्रिकालीन स्वप्न तो शिष्यरूप श्रीसहजानन्द स्वामीजीको क्या दिवास्वप्न देखनेके मानसिकरोगका शिकार मानना? मुझे तो ऐसी कल्पना करनेमे भी अपराधबोध होता है।

मैंने वचनामृतकी प्रामाणिकताके बारेमे सन्देह प्रकट किया तो वह मेरा यदि स्वामिनारायण सम्प्रदायकी परम्पराके बारेमे अज्ञानका प्रदर्शन हो तो क्यो श्री सा श्रु जी स्वामिनारायणसम्प्रदायके परम्पराविद् होनेपर भी मेरी तरह ही वचनामृतके प्रामाण्यमे सन्देह कर रहे है? यदि वस्तुत आर्य ग्रन्थागारमे उपलब्ध वचनामृतकी कोई प्राचीन हस्तप्रति उन्होंने खोज ली है तो क्या उसके आधारपर वे उपलब्ध वचनामृतके कलेवरको अप्रामाणिक सिद्ध कर नही रहे है? इसे सच मान कर चले तो भी मन तो शकाकुल हो ही जाता है कि भविष्यमे इससे भी अधिक प्रामाणिक कोई प्राचीन हस्तप्रति किसी अन्य खोजीको मिल नहीं जायेगी इसकी क्या निश्चिति। हो सकता है कि उस प्राचीनतम हस्तप्रतिमे ऐसा भी कोई उल्लेख कही मिल जाये कि उपलब्ध सारेके सारे वचनामृत श्रीसहजानन्दजीके शिष्योंने मनगढत लिख

लिये है. ऐसा श्रीसहजानन्द स्वामीजीका वचनामृत मिल नही सकता, इसकी निश्चिति अब कैसे पानी? अत वचनामृतकी इस अधुनालब्ध किसी हस्तलिखित प्रतिके आधारपर ऐसे प्रसंगोको मिथ्यावचन मानने पडते हों तो प्रचलित वचनामृतग्रन्थका प्रामाण्य या तो संकलनकर्ताओके मिथ्याभाषणके दोषवश अथवा उत्तरकालीन अनुलिपिकारोंके मिथ्याप्रक्षेपके दोषवश सन्दिग्ध तो बन ही जायेगा।

अत श्री सा.शु.जीका "यहां रामानन्दस्वामीके दीक्षागुरु रामानुजाचार्य थे ऐसी कोई बात नहीं है" (समा.पत्र.४.४) विधान भी सन्देहकी परिधिसे बाहर रह नही पाता है. किञ्चित् धैर्यके साथ इस विषयमे यह विचारणीय बनता है कि क्या कारण है कि विगत दो सो वर्षोसे अतिप्रचारित 'शिक्षापत्री' और 'वचनामृत' ग्रन्थोकी ही प्राचीन हस्तप्रत अब मिलनी शुरु हो गयी है? इनमे इन दोनो ग्रन्थोके वर्तमान स्वरूप और अभिमति से पृथक् स्वरूप और अभिमति मिलने लगी है क्या कारण है कि 'गुरुप्रसाद' 'सत्सगिजीवन' 'सत्सगिभूषण' 'हरिचरित्रामृतसागर' 'भक्तचिन्तामणि' 'हरिलीलाकल्पतरु' आदि ग्रन्थ जो श्रीसहजानन्द स्वामीजीके किसी पूर्ववर्ती या किसी उत्तरवर्ती सन्तोने लिखे है, उनमे जो स्वय श्रीजीमहाराजने जो कहा-लिखा उसे ही सुधारनेवाली अथवा उनका अन्यथा आशय दिखलानेवाली विधान मिलने लगे है। (दृष्ट : समा पत्र.५ ३) श्री सा.शु.जी कहते है कि "परमहंसोंके ग्रन्थोंकी प्रकाशनयोजनामें भी विशिष्टाद्वैती विद्वानोकी सहायताके कारण भी विशिष्टाद्वैतका माहात्म्य ज्यादा प्रक्षिप्त हो गया" (समा पत्र 'विशिष्टाद्वैत अभिमति एक शिष्टाचार' शीर्षक). इसका मतलब एक तो यह हो सकता श्रीजीमहाराज और उनके अनुगामिओंने अपने ग्रन्थ स्वयं न लिख कर विशिष्टाद्वैती विद्वानोंको वुला कर लिखवाते रहे होंगे सस्कृतभाषाविद् न होनेके कारण. अतएव वे जब लिख रहे थे तब इतनी भी सावधानी ये असंस्कृतज्ञ बरत नही पाये कि ये भाडूती विद्वान् श्रीजीमहाराजका मत लिख रहे है या स्वयं श्रीरामानुजाचार्यका। इतने विश्वासके अतिरेकके

पीछे भी केवल श्रीजीमहाराजकी कोई न कोई कडी विशिष्टाद्वैतियोंके साथ जुडी होनेके तथ्यको पुन उजागर कर देगी अन्यथा अपने सम्प्रदायमे ग्रन्थलेखक विद्वानोके अभावमे माध्व वाल्लभ चैतन्य या नैयायिक आदि विद्वानोको भी एगेज तो किया जा ही सकता था। वैसे सचमुचमे यदि रामानुज विद्वानो द्वारा सस्कृत लिखवाये जानेकी आशकाको सत्य मानते है तो श्रीरामानुजाचार्यको 'सर्ववैष्णवराज' न कह कर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके बारेमे ऐसे पदका प्रयोग भी विचारणीय बन जाता है

अत सिद्ध होता है कि अधुनालब्ध ग्रन्थोंके लेखक जिनकी बरातमे जुटे है, उस वरराजाके गीत गानेके बजाय, उसे ही प्रामाणिक वचनके उपदेशक होनेके घोडेपरसे नीचे पटक कर, अपने वचनोंके प्रामाणिक होनेके दावेके घोडेपर सवार हो जाना चाहते है। इन ग्रन्थोकी कोई प्राचीन हस्तप्रत क्यो मिल नही रही हे? इसका मतलब मतप्रवर्तक उपदेशकके वचनोकी तुलनामे तत्पूर्ववर्ती या तदुत्तरवर्ती मतानुगामियोंके वचनोमे अधिक विश्वसनीयता आधुनिक मतानुगामी मान रहे है।

निष्कर्षतया यह स्पष्टीकरण दे देना मेरेलिये उचित होगा कि स्वामिनारायण मतमे तत्त्वत्रयी मानी जाय या तत्त्वपञ्चक एतावता इस विमर्श द्वारा जो मुद्दा मै उठाना चाहता हू उसमे कोई अन्तर नहीं पडता क्योकि स्वय विशिष्टाद्वैतवेदान्तमे भी सिद्धित्रयकार तत्त्वत्रयी मान कर चले है परन्तु श्रीवेदान्तदेशिक स्वय 'न्यायसिद्धाञ्जन' नामक ग्रन्थमे ''अशेषचिदचित्प्रकार ब्रह्म एकमेव तत्त्वम्'' (न्या सि जडद्र परि) जैसे प्रतिपादित करते है वैसे ही 'तत्त्वमुक्ताकलाप' नामक ग्रन्थमे ''क द्रव्या उ ऽद्रव्यप्रभेदाद् मितम् उभयविध तद्विदस् तत्त्वम् आहु द्रव्य क-१/अ आ अव्यक्तकाली, द्वेधा विभक्त क १ जडम् क २ अजडम् इति प्राच्यम् क २/आ पराक् च प्रथमम् उभयधा तत्र अन्त्य क २/अ प्रत्यक् क २आ १ नित्या भूति क २/आ २ मति च इति क २/अ/१ २ जीवेशभेदात्

अपरम् इह जडाम् आदिमा केचिद् आहु" (तत्वमु १।६) यो सप्तविध तत्त्वोकी परिगणना भी करते है अत स्वामिनारायण-सम्प्रदाय भी उनके अनुगामी होनेके बावजूद पञ्चविध तत्त्व—

क १/अ अव्यक्त=माया, "'माया'-'अविद्या'दिशब्दे प्रकृति अभिमता" (तत्वमु ३।४१) तुलनीय "श्रीजीमहाराजबोले कि जब जीव, जगत्के कारणीभूत पुरुष प्रकृति काल तत्त्वोको जान लेता है मुक्त हो जाता है" (वचना ग प्र ११)

क २/अ १ जीव, "मुक्तौ देहाद्यभावे मुकुलितविषयो जक्षदादिप्रवाद तत्सत्त्वे च अशरीरश्रुतिविहति अत का चिकित्सा इति चेत् न, इच्छात स्याद् अवस्थाद्वयम् उभयविधश्रुत्यबाधाद् विमुक्तौ कर्मायत्तै वियोग परम् इह कथित तस्य देवोपमस्य" (तत्वमु २।६२) तुलनीय "जब इस जीवके अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है तब इसका तीनों मायिक देहके साथ सग छूट जाता है बादमें यह जीव केवल चैतन्यसत्ताभाव रह जाता है इसके पश्चात् भगवान्की इच्छासे ही इस जीवके लिये भगवान्की भूमि आदि आठ प्रकृतिसे भिन्न चैतन्यप्रकृतिजन्य देहका निर्माण होता है उस देहसे युक्त हो कर वह भगवान्के धाममे रहता है" (वचना ग म ६६)

क ३/आ ईश=पुरुषोत्तम + ईश्वर, "युक्ति प्रश्नोत्तरादे नहि पुरुषभिदा बुद्धिभेद च मुक्त्वा तस्माद् व्यूहादिभेदे कतिचनपुरुषा स्यु परेण अनुबद्धा तन्न; स्वच्छन्दलील स्वयम् अभिनयति स्वान्यता सर्ववेदी " (तत्वमु ३।७४) तुलनीय "जब श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेको मायाके

अन्धकारको दूर कर भूमापुरुषसे ब्राह्मणके पुत्रको ले आये श्रीकृष्ण भगवान् दिव्यमूर्तिमान् थे भगवान्की मूर्तिके प्रतापसे मायिक पदार्थ भी अमायिक बन गये भगवान्के ऐसे स्वरूपको मूर्ख पुरुष मायिक समझता है जबकि एकान्तिक सन्त भगवान्की मूर्तिको क्षरातीत तथा मूर्तिमान पुरुषोत्तम भगवान्को ब्रह्मरूप अनन्तकोटिमुक्तों तथा ब्रह्मधाम की आत्मा मानता है" (वचना ग प्र ६६)

क २/अ १ नित्यभूति नित्याक्षरधाम "तस्य अप्राकृतत्वम् आह स्थानम् इति श्रूयते 'तद् विष्णो परम पद पश्यन्ति सूरय' तद् इद सदा पश्यत्सूरिविशिष्टस्थानविधानार्थम् इति वेदार्थसग्रहे स्थापितम्" (तत्वमु ३।६१), "दशोत्तराधिके यत्र प्रविष्ट परमाणुवत् लक्ष्यते अन्तर्गत च अन्ये कोटिशो अण्डराशय तद् आहु 'अक्षर ब्रह्म' सर्वकारणकारण विष्णो धाम पर साक्षात् पुरुषस्य महात्मन =अत्र मूलप्रकृतौ प्रविष्ट परमाणु दृश्यते एवविध च अन्ये अण्डराशयो कोटिश प्रविष्टा परमाणुवद् दृश्यन्ते सर्वेषा कारणाना महदादीनामपि कारण मूल प्रधान महात्मन पुरुषस्य विष्णो धाम=शरीरम् आहु, 'यस्य अव्यक्त शरीरम्' इति श्रुते एव परमात्मन कथ काल प्रभु स्याद्? इति आशय" (भाग वीराघ ३।११-।४०-४१) तुलनीय "भगवान्का धाम सनातन नित्य अप्राकृत सच्चिदानन्द अनन्त तथा अखण्ड है" (वचना ग प्र १२)

क २/अ २ मतिके बारेमे तो श्रीवेदान्तदेशिक भी अपने एकदेशीके मतके अनुसार जड़ होनेकी बात कह रहे है सो वहा या जीवमे भी अन्तर्भाव शक्य है सातवे ७ अद्रव्यके अन्तर्गत तो अवर्गीकृत द्रव्यके गुणधर्मोकी ही गणना की गयी होनेसे द्रव्योके त्रिविध भेदोमे अन्तर्भाव शक्य है ही

इस तरह देखनेपर स्वामिनारायणीय तत्त्वपञ्चकवादी वेदान्तका तत्त्वसप्तकवादी रामानुजीय वेदान्तमे भी अन्तर्भाव सुखेन सोचा जा सकता होनेसे तत्त्वपञ्चकका स्वीकार भी क्यो शक्य नही? अवश्य किया जा सकता है विवाद यहा नही है इस सारे विषयविवेचन द्वारा मुझे जो विचिकित्सित है, वह तो केवल इतना ही है कि श्रीसहजानन्द स्वामीके नामपर प्रसिद्ध ग्रन्थोमे एकवाक्यताका प्रतिष्ठापक कोई व्याख्याशास्त्रीय प्रामाणिक निकष खोजना आवश्यक है अन्यथा सुन्दोपसुन्दन्यायेन दोनो ही ग्रन्थोका प्रामाण्य सन्दिग्ध बन जायेगा

क्योकि श्री सा श्रु जीके ऐसे अनिर्णायक समाधानपत्रके बाद अब यह और अधिक जिज्ञास्य बन गया है कि स्वामिनारायणपन्थमे साम्प्रदायिक ग्रन्थोका प्रामाण्य श्रीजीमाहाराजद्वारा घोषित [१]"सच्छास्त्राणा समुद्धृत्य सर्वेषा सारम् आत्मना पत्री इय लिखिता" (शिक्षाप २०४) विधानके अनुसार प्रमाणतया सकलशिष्टादृत श्रुत्यादिशास्त्रोपर अवलम्बित है? अथवा [२]"साम्प्रदायिकग्रन्थेभ्यो ज्ञेय एषानु विस्तर" (शिक्षाप २०४) विधानके अनुसार केवल शिक्षापत्री और वचनामृत सत्सगिजीवन आदि ग्रन्थोंके सार-विस्ताररूप अथवा आरुरुक्षु-आरूढभेदभिन्न साधारणोपदेश-रहस्योपदेशरूप अन्योन्याश्रित प्रामाण्य है? यदि प्रथम कल्प स्वीकारते है तो वेदोपनिषद्गीताभागवतोक्त श्रीकृष्णके अक्षरब्रह्मधामाधिपति होनेके तथ्यसे विरुद्ध श्रीसहजानन्द स्वामीके अवतार होनेकी कथा स्वमूलोच्छेदिका होनेसे अप्रामाणिक सिद्ध होगी यदि द्वितीय कल्प स्वीकारते है तो श्रीसहजानन्द स्वामीके मूलवचन तथा उनके शिष्योके रहस्यस्फोटक वचनोमे परस्पर विरोधाभासका परिहार मूलवचनोके प्रामाण्यका त्याग करके ग्रहण करना अथवा मूलवचनोके स्वारसिक अर्थका त्याग करके? अथवा उनके भक्तोंने उनके वचनोका परोक्षरूपेण विवक्षित जो कुछ तात्पर्य समझा तदनुसार करना? इस तरहकी किम्बोद्धव्यविमूढ़ता मुझे सता रही है श्री सा श्रु जी तो श्रुतिकल्प श्रीजीवचन और स्मृतिकल्प उनके सत्सगिओंके वचनमे जहा भी विरोध या विरोधाभास झलकता है

वहा "स्मृतिरेव बलीयसी" आदर्शका अनुसरण किस सीमा तक कर रहे है, यह अब आनेवाले निरूपणमे हम देखनेका प्रयास करेगे

यहा यह पुन उल्लेखनीय हो जाता है कि शिक्षापत्रीके श्लोकोकी सख्या, वचनामृतोंकी सख्या, उनके लेखनकाल, उनके सकलनकारोंकी सख्याके बारेमे इस परम्परामे मिलते आन्तरिक मतभेद चाहे सैद्धान्तिक दृष्टिसे अधिक महत्त्वपूर्ण नभी हो पर ऐतिह्यकी दृष्टिसे मनको शकाकुल तो बनाते ही है क्योंकि यदि सकलनकारोंके बीच ही स्वय अपने बारेमे विवाद हो कि ये वचनामृत हम चार—मुक्तानन्द गोपालानन्द नित्यानन्द और शुकमुनि—ने सकलित किये या ब्रह्मानन्द भी हमारे साथी थे। तो विश्वास कैसे किया जाये कि इन्ही व्यक्तिओंने सकलित किये या इनके नामसे अन्य किसीने सकलित या सकल्पित कर लिये है यद्यपि इस ऐतिह्यगत विसवादिताका सिद्धान्तसे कुछ लेना-देना नही फिरभी ग्रन्थके विश्वनीय सूत्रोद्वारा सकलित होने या न-होने का सिद्धान्तपर भी कुछ न कुछ असर तो मानना ही पडता है विशेषमे तब कि जब वह स्वहस्ताक्षरालेखित शिक्षापत्रीके वचनोंके साथ ही नही अपितु उससे सवाद रखनेवाले वचनामृतोके भीतर भी एक वचनके भी स्वारसिक अर्थसे अन्य वचन विरुद्ध जाता हो। और खास कर तब कि जब इसे श्रीसहजानन्द स्वामीके भक्तोद्वारा लिखे विधानोके आधारपर ही केवल स्वीकरणीय मान लिया जाता हो

अत समाधान प्रदान करनेकी इस दिशामे प्रयास करनेके बजाय श्री सा श्रु जी मानो स्वय वैष्णव न हो ऐसी मुद्रा अपना कर जब विभीषिका दिखाते है कि "वचनामृतमें अप्रामाण्यका गन्ध देखेंगे तब तो वैष्णव सम्प्रदायके मान्य भगवद्गीता श्रीमद्भागवत इत्यादि ग्रन्थ भी अप्रामाणिकताके लक्ष्य बन जायेगे" (यथापूर्वोक्त) तो ऐसी विभीषिकासे स्वय श्री सा श्रु जी ही हमे त्राणोपाय दिखाये! क्योंकि यदि सारेके सारे वैष्णवशास्त्र अप्रामाणिक हो जायेगे, तो क्या श्रीसहजानन्द स्वामीजीको

अतिशय प्रमाणतया आदृत सच्छास्त्र भी असच्छास्त्र सिद्ध नही हो जायेगे? अत कोई न कोई समाधान तो श्री सा श्रु जीको भी खोजना ही पडेगा वह केवल हमारा ही उत्तरदायित्व हो ऐसी बात तो नही उनका भी कुछ उत्तरदायित्व है ही सो जो समाधान वे खोजे वह हमे भी बता दे! हम भी उनका खोजा समाधान सुन कर उनके कृतज्ञ बन जायेगे। और तो इस बारेमे क्या कहा जा सकता है? वैसे यह तो ऐसी बात कह दी है कि किसीके शरीरमे गरदन या पीठ पर कोई गाठ उभर आये, और कोई शल्यचिकित्सक उसे काट देनेकी सलाह देता हो, और तब शरीरविज्ञानमे नितान्त अनभिज्ञ परिवारके स्नेही जन अनिष्टशकाके कारण ऐसा कहे कि "गरदन या पीठ की गाठ काटनेकी बात करनेपर तो बिमारके सारे शरीरको भी काटा जा सकेगा!"

हमे भूलना नहीं चाहिये कि वैष्णवशास्त्रोका प्रामाण्य वैष्णववेदान्तके सभी सम्प्रदायोका प्रतितन्त्रसिद्धान्त है जबकि तत्तत् सम्प्रदायके साधारणग्रन्थ या रहस्यग्रन्थ एकदेशीके अधिकरणसिद्धान्त होते है, समानतन्त्रसिद्धान्त नही अत वाल्लभ सम्प्रदायके निबन्ध षोडशग्रन्थ आदि ग्रन्थोके प्रामाण्यके बारेमे कोई शका या आक्षेप करने लगे तो तावता वेद गीता ब्रह्मसूत्र भागवत महाभारत या पाञ्चरात्र आदि वैष्णवशास्त्रोका प्रामाण्य सन्दिग्ध या निरस्त नही हो जाता

(६ "मत विशिष्टाद्वैत मे", "भाष्यम् आध्यात्मिक मम" तथा विशि -स्वा ना दर्शनोंमे साम्य-वैषम्य की समीक्षा)

समाधानपत्र(के खण्ड ४ ४, ४ ४ १)मे "स्वामिनारायण सम्प्रदायकी पूर्व गुरुपरम्परा" शीर्षकके अन्तर्गत श्रीजीमहाराजसे पूर्ववर्ती व्यक्ति और ग्रन्थो के उद्धरणोंद्वारा स्वय रामानन्दस्वामीने रामानुजसम्प्रदायको त्याग दिया था ऐसा भी एक वृतान्त दिया है और साथ ही साथ रामानुजसम्प्रदायमे शिष्य हुवे ही नहीं क्योकि श्रीकृष्णभक्तिकी परम्परामे ही वे दीक्षित

थे ऐसा दूसरा वृत्तान्त भी यों दो परस्पर विरोधाभासी ऐतिह्य दिये है अब इन वृत्तान्तोको प्रामाणिक भी मान लेते है तो अनन्तकोटिब्रह्माण्डके परमेश्वर तथा सर्वज्ञ श्रीसहजानन्द स्वामीको क्या इन वृत्तान्तोसे अनभिज्ञ मानना? या रामानन्दस्वामीके रामानुजके शिष्य होनेकी स्वीकृतिको क्या मिथ्याज्ञानमूलक मानना? अथवा शिष्येपणाके अतिरेकवश श्रीसहजानन्द स्वामीको सब कुछ जानते हुवे भी क्या कपटवचनके प्रयोग करनेवाले मानना? उस विश्ववन्द्य पुरुपको इन तीनोमेसे ऐसा कुछ भी माननेको मेरा हृदय तो गवाही नही देता।

अत इस विषयमे मुझे इससे अधिक कुछ भी विवक्षित नहीं अब इसके बाद आती है "मतं विशिष्टाद्वैतं मे" विधानकी श्री सा शु जी द्वारा दी जाती व्याख्याकी बात यहा श्री सा शु जी इतरेतरनिरपेक्ष तीन विकल्प प्रस्तावित करते हे १ 'मत' पदका अभिप्राय सर्वाशमे रामानुजीय विशिष्टाद्वैतके स्वीकार्य या अनुसरणीय होनेके बजाय उस मतके किसी पक्षविशेपके प्रति विशेपरुचिके रूपमे लेना, २ विशिष्टाद्वैतवादोक्त शरीरशरीरिभावकी प्रक्रिया तत्त्वपञ्चकके सन्दर्भमे मान्य होनेके अर्थमे लेनी, ३ विशिष्टाद्वैतियोको तो गोलोक मान्य नही जो इसी श्लोकके अगले पादमे उल्लिखित है अत यही यह सिद्ध हो जाता है कि सर्वाशमे विशिष्टाद्वैतवाद श्रीसहजानन्द स्वामीको मान्य नही है

१ कल्पके बारेमे ये प्रश्न उठते है श्रीसहजानन्द स्वामीजीको सच्छास्त्रतया अभिमत शारीरकशास्त्र और भगवद्गीता पर श्रीरामानुजाचार्यकृत भाष्योमे ओर तत्प्रतिपाद्य विशिष्टाद्वैतवादमे रुचि इन भाष्य और तत्प्रतिपादित सिद्धान्त के प्रामाणिक होनेके कारण है या उन्हे अप्रामाणिक मान कर भी? प्रथम कल्पमे श्रीरामानुजाचार्य द्वारा व्याख्यात सिद्धान्त अनुल्लघ्य बन जायेगा द्वितीय कल्पमे "कही अप्रामाणिक तो कही प्रामाणिक मान कर रुचि है" ऐसा मान लेनेपर यह आवश्यक हो जाता है कि जिस अशमे उन्हे आत्मस्वीकृत प्रामाण्यसे बधना है उसके बारेमे

स्वय उनके द्वारा दिये गये स्पष्टीकरणको ही विनिगमक मानना पडेगा, यद्वा-तद्वा समझको नही जैसेकि "एतेषु यानि वाक्यानि, श्रीकृष्णस्य वृषस्य च उत्कर्षपराणि स्यु तथा भक्तिविरागयो , मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येव इतरवाक्यत धर्मेण सहिता कृष्णभक्ति कार्या इति तद्रह" (शिक्षाप १०१-१०२) इसे ही विनिगमक मानना पडेगा वह माननेपर तो श्रीकृष्णकी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्योपदिष्ट भक्तिकी रीतिसे विरुद्ध जानेवाले विशेषत ११५ वे वचनामृतोके बादके अनवलोकित वचनामृतोमे परोक्षवृत्तिके रूप शिष्योंद्वारा मान लिये गये मनगपडत रहस्योके आधारपर अशतो-अप्रामाण्य निर्धारित नही हो पायेगा क्योकि ऐसा करनेपर तो "मत विशिष्टाद्वैत मे"-"रामानुजाचार्यकृत भाष्यम् आध्यात्मिक(शास्त्र) मम" (शिक्षाप १२१-१००) वचनोका प्रामाण्य निरवकाश ही हो जायेगा ऐसी स्थितिमे "सावकाशनिरवकाशयो निरवकाशो बलीयान्" न्यायेन पुन इन्ही वचनोका बलवत्तरप्रामाण्य स्वीकारना पडेगा

२ कल्पके बारेमे यह कथनीय है कि तत्त्वत्रयी मानो या तत्त्वपचक मानो, किसी भी सूतमे उन अध्यात्मशास्त्र(दृष्ट शिक्षाप १००)के विषयरूप(दृष्ट वचना ग प ७) 'ईशजीवमाया' / 'पुरुषोत्तमाक्षरेश्वरजीव-माया' तत्त्वोका स्वरूप शारीरकसूत्र-भगवद्गीताके भाष्योमे श्रीरामानुजार्यद्वारा प्रतिपादित इन तत्त्वोके स्वरूपसे विरुद्ध होनेपर प्रामाणिकतया मान्य नही हो पायेगा स्वय उनके "रामानुजस्वामीने जिस प्रकार क्षर-अक्षरसे परे पुरुषोत्तम भगवान्‌का निरूपण किया है, उन पुरुषोत्तम भगवान्‌की तो हम उपासना करते है (अर्थात् हम स्वय पुरुषोत्तम नहीं है) गोपियोके समान उन पुरुषोत्तम भगवान्‌की हम भी भक्ति करते है" (वचना लो १४) सदृश वचनामृत भी अनुसधेय बनते है अत एतदविरोधेन तो श्रीसहजानन्द स्वामीके ही नही प्रत्युत श्रीश्रुतिप्रकाशदासजीके भी अनन्तकोटिब्रह्माण्डके आधारभूत अक्षरधामके स्वामी होनेका विधान भी माननेमे किसीको आपत्ति हो नही सकती अन्यथा लक्ष्मी-नारायण या राधाकृष्ण की परतत्त्वताके प्रत्याख्यानपूर्वक श्रीसहजानन्द-गुणातीतानन्दजीके परतत्त्व होनेका

कोलाहल कदापि प्रामाणिक हो नही पायेगा, यदि शिक्षापत्रीको ही अप्रामाणिक घोषित कर देनेका दु साहस न प्रकट करना हो तो!

३ कल्पमे श्री सा श्रु जी कहते है कि शिक्षापत्रीके भाष्यकारके अनुसार साकारब्रह्मका समीचीन प्रतिपादन क्योंकि रामानुजीयभाष्यमे उपलब्ध होता है, अत उतना ही अश मान्य है, सर्वांशमे नहीं इस बारेमे यह कहना चाहूगा कि ऐसा विधान स्वामिनारायणीय सम्प्रदायमे श्री सा श्रु जी स्वय वदतोव्याघातके बिना कर नहीं पायेगे क्योकि "वचनामृतमे अप्रामाण्यका गन्ध देखेंगे तब तो " बडी विपदाकी विभीषिका वे स्वय प्रकट चुके है और ओर हम जानते है कि 'उद्धवसम्प्रदाय'शीर्षकवाले वचनामृत(ब १८)मे अवश्यागीकरणीय पाचमेसे दूसरी बातके रूपमे श्रीसहजानन्द स्वामी अपनी रामानुजानुगामिताके रहस्यपर पर भार दे रहे है अत दोमेसे किसी एकका प्रामाण्य तो छोडना ही पडेगा पुनश्च इस अशको वचनामृतम प्रक्षिप्त भी मान ले तब भी यथोपलब्ध वचनामृतोंके प्रामाण्यका त्याग तो गलेपतित ही रहेगा

यही बात रामानुजभाष्यमे उपलब्ध होते शिक्षापत्रीविरुद्ध विधानोंके विमर्शकी तो स्वय श्रीसहजानन्द स्वामीको अगीकरणीय प्रामाण्यपरिधि जिस लक्ष्मणरेखाके भीतर उन्होंने दिखलायी है, उससे बाहर जानेपर तो शिक्षापत्रीकी प्रामाणिकताकी सीताको भी अप्रामाण्यसन्देहरूपी रावण हर लेगा! भागवतपुराणपर रामानुजोकी टीका मिलती है और भागवत(१०।२७।१)मे गोलोकका उल्लेख भी है ही साथ ही साथ स्वय श्रीवेदान्तदेशिकने भी केवल विष्णुपुराणका ही प्रामाण्य स्वीकारते हो ऐसी बात भी नही है क्योकि उन्होंने तो इस विषयमे उन्हे मान्य निकष "नहि पुराणादिषु प्रधानार्थविरोधो भूयान् श्रुत्युक्तमेव अनुसरन्ति सत्त्वोत्तराणि पुराणादीनि " (तत्त्वमु ४।१२०) यो बहुवचनके प्रयोगपूर्वक स्पष्ट परिभाषित कर ही रखा है श्रीमद्भागवत सात्त्विक पुराणान्तर्गत परिगणित होनेसे उल्लिखित निकषपर खरा भी उतरता ही है अत

श्रीवेदान्तदेशिक भागवतपुराण या गोलोक की प्रामाणिकताको क्यो नही मानेगे? तत्त्वमुक्ताकलाप (३।७४) बलरामकृष्णकी भागवतवर्णित लीलाका उल्लेख करते ही है श्री सा श्रु जी कहते है कि रामानुजीय भाष्यमे पशुहिसात्मक यज्ञोकी अनुमति जिसे शिक्षापत्रीमे निषिद्ध माना गया है, अत श्रीजीमहाराजको रामानुजमतानुगामी माना नही जा सकता यह तो "आम्रान् पृष्टे कोविदारान् व्याचष्टे" जैसी कथा हो गयी श्रीसहजानन्द स्वामी अपने द्वारा सुपरिभाषित अर्थमे रामानुजभाष्योक्त आध्यात्मिक पदार्थ ईश्वर जीव और माया के बारेमे विशिष्टाद्वैतवादको अपना मत बता रहे है श्री सा श्रु जी पशुहिसाके निषेधको हेतुतया प्रस्तुत कर उसे इन्कारना चाहते है कि केन सम्बध्यते? कहा जाता है कि "देवतोद्देशेन द्रव्यत्याग याग" तदनुसार यजनक्रियाके कर्मरूप पशुकी हिसाके बारेमे इतनी पापपुण्यके विवेककी चिन्ता करनी पर "दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसयमै श्रेयोभि विविधै च अन्यै कृष्णे भक्ति हि साध्यते" (भाग पुरा १०।४७।२४) वचनोक्त सारे यज्ञादि धर्मोके एकमात्र सम्प्रदानभूत तथा श्रीसहजानन्द स्वामीके भी उपास्य इष्टदेव भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी परतत्वताके अस्वीकार द्वारा उनकी की जाती हिसाकी चिन्ता क्यो नही सताती!

श्रीसहजानन्द स्वामी सुस्पष्ट शब्दोमे "याज्ञवल्क्यस्य च स्मृति धर्मो ज्ञेय सदाचार श्रुतिस्मृत्युपपादित" (शिक्षाप ९९-१०३) कहते है अब याज्ञवल्क्यस्मृतिमे तो "मेदसा तर्पयेद् देवान् अन्वह शक्तितो द्विज"-"प्राणात्यये तथा श्राद्धे प्रोक्षित द्विजकाम्यया देवान् पितृन् तथा अभ्यर्च्य खादन् मास न दोषभाक्" (याज्ञव स्मृ आचाराध्याये २।४७-७।१७८) ऐसी आज्ञा-अनुज्ञा दोनो मिलती ही है तो क्या स्वामिनारायण सम्प्रदायमे इस विरोधाभासके बहाने याज्ञवल्क्योपदिष्ट सकल धर्मोको अननुसरणीय माना जा सकता है? क्या ब्रह्मचारी साधु या परमहस विवाह कर सकते है? क्योकि "ब्रह्मचर्यव्रतत्यागपर वाक्य गुरोरपि तं न मान्यम्"-"न प्रवेशितव्या च स्यायासे स्त्री कदाचन"

(शिक्षाप १८०-१९०) निषेध भी याज्ञवल्क्यस्मृतिके "मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टशुक्तस्त्रीप्राणिहिंसन भास्करालोकनाश्लीलपरिवादान् च वर्जयेत्" (याज्ञव स्मृ - आचाराध्याये २।३०) वचनपर आधारित है तो याज्ञवल्क्योपदिष्ट मांसभक्षणके निषेधद्वारा क्या श्रीजीमहाराजने ब्रह्मचर्यके वचनका बन्धन भी अमान्य कर दिया है क्या? क्या ऐसा युक्तिवाद शक्य है? यदि नही तो उसी तरह ईश्वर जीव माया रूपी आध्यात्मिक तत्त्वोका स्वरूप रामानुजीय ब्रह्मसूत्रभगवद्गीताभाष्योमे प्रतिपादित रीतिके अनुसार औत्सर्गिक रूपेण स्वीकार करना ही पडेगा उस परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम वासुदेव श्रीकृष्णकी सेवाभक्ति भी अपवादरूपेण महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यनिर्दिष्ट रीतिसे श्रीसहजानन्द स्वामीजीने नियत बना दी है इन बातोको केवल रुचिप्रदर्शनका गोणकल्प नही बनाया जा सकता

तद्वत् ही देवाराधानार्थ पशुहिंसा या मांसभक्षण भी याज्ञवल्क्यस्मृति द्वारा अनुमोदित होनेपर भी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा "एव क्रियायोगो वैदिको यज्ञात्मक प्रशस्त =तेषु ब्राह्मणवाक्यानि अतिप्रशंसकानि भवन्ति नतु द्वादशाहीनवत्(??) निन्दितान्यपि भवन्ति तत्रापि हिंसाप्रचुर न कर्तव्यम् अल्पहिंसा इध्माबर्हिषाम् अर्थे आलम्भेऽपि तादृक्पशुसद्भावे अल्पहिंसा भवति 'मृत्यवे वा एष नीयते' इति श्रुते अतो नातिहिंसेण इति उक्तम्" (सुबो ३।२१।१५) यो अधिकारिभेदवश कर्ममार्गीय अतिहिंस्रकर्मोका श्रुतिविहित भी अनुष्ठान भक्तिमार्गीय अधिकारीका उत्सर्गत प्राप्त होना चाहिये था परन्तु भागवतपुराण उसे कर्ममार्गमे अनुज्ञप्त मान कर भी भक्तिमें श्रेयस्कर नहीं मानता अत अपवादरूपेण अप्रसक्त ठहराता है ऐसा महाप्रभुने स्पष्टीकरण दिया है इसी मार्गदर्शनके अनुसार श्रीसहजानन्द स्वामी भी वेदप्रामाण्यके विलोपन किये बिना अपने भक्तिमार्गीय सम्प्रदायमे "देवतापितृयागार्थमपि अजादे च हिंसन न कर्तव्यम् अहिंसैव धर्म प्रोक्तो अस्ति यद् महान्" (शिक्षाप १२) वचन द्वारा याज्ञवल्क्यस्मृतिके "महोक्ष वा महाज वा श्रोत्रियाय उपकल्पयेत् सत्क्रिया सेवन स्वादु भोजन " (याज्ञव स्मृ आचाराध्याये ५।१०८) के इस वचनसे प्रसक्तका

भी प्रतिपेध कर रहे है, अप्रसक्तका तो प्रतिपेध अकल्पनीय ही होता है

रामानुजीय आल्वार सन्त श्रीपरकालसूरिके चरित्रका प्रश्न उठाया गया है शिक्षापत्रीमे उपदिष्ट सात निपेधोके आधारपर उनके आचरणको निषिद्ध कृत्य मान कर उन्हे गुरुपरम्परामे न स्वीकारनेकी समस्या खडी की गयी है तो इस बारेमे मुझे लगता है कि स्वय श्री सा श्रु जीके अनुसार शिक्षापत्री साधारणधर्मोपदेशपरक ग्रन्थ है, रहस्यरूप धर्मका उदेशक नही ऐसी स्थितिमे श्रीपरकालसूरिके चरित्रको साधारणधर्मसे विपरीत होनेपर भी रहस्यरूपधर्मकी कसौटीपर कसना चाहिये था वचनामृतमे कहा ही है कि "यद्यपि अर्जुनने युद्धमें अनेक हिंसात्मक कार्य किये फिरभी वे मनमें लेशमात्र क्षुब्ध नहीं हुवे क्योकि उन्हें भगवान्‌के आश्रयका सबल था"-"जो पुरुप स्वरूपनिष्ठा रखता है उसकी धर्मनिष्ठा भी सहजभावसे बनी रहती है यदि उसने एकमात्र धर्मनिष्ठा ही रखी तो स्वरूपनिष्ठा शिथिल पड जायेगी" (वचना ग म ९-ग म १६) इन वचनोसे तो चरित्र अविरुद्ध ही लगता होनेसे श्रीपरकालसूरिको गुरुपरम्परामे मान्य रखनेमे आपत्ति प्रस्तुत नहीं करनी चाहिये थी भला "नैकानह विनिन्दामि नाह निन्द्योऽस्मि केनचित्" तो साधुनीति नही होती

(६ तात्त्विकभेद, साम्प्रदायिक-धार्मिकभेद, दर्शनभेद तथा विशिष्टाद्वैताभिमति एक शिष्टाचार की समीक्षा)

समाधानपत्रके इन खण्डो (५ १-५ २-५ ३) मे श्री सा श्रु जीने रामानुजीय और स्वामिनारायणीय मतोंके बीच परस्पर वैमत्यकी लबी तालिका दी है इसमे करीबन ६६ मुद्देकी सकलना है इन मुद्दोको ६६ से बढा कर ६६६ की सख्यामे भी गुणित किया जा सकता है। पर अन्तमे वह सब स्वय श्रीजीमहाराज द्वारा अध्यात्मशास्त्रीय ग्रन्थोंके नामनिर्देशपूर्वक स्वयकी 'अभिमति' कहो या 'रुचि' कहो, जो कुछ भी कहो, उसके बारेमे जो स्वीकारोक्ति घोपित की, उस विधानके

प्रामाण्यकी अपहारिका ही होगी। ऐसी अनुपपत्ति स्वय उनके वचनोमे सदोषता ही प्रकट करेगी क्योकि इतना वैपरीत्य होनेपर भी उन्हे रामानुजीय ग्रन्थोक्त मतमे रुचि क्यो है यह तो जिज्ञास्य होगा ही! क्योकि निर्गुण-निराकारवादका खण्डन तो माध्वग्रन्थोमे भी उतना ही उपलब्ध होता है और वाल्लभ ग्रन्थोमे भी तो इनमे क्यो रुचि नही है? श्री सा शु जी कहते रामानुजमत दक्षिण तथा उत्तर दोनो देशोमे प्रसिद्ध था अत उसके प्रति अपना आदरभाव प्रकट किया परन्तु श्रीजीमाहाराजने तो गुजरातमे ही अपने मतका प्रचार अधिक किया जहा वाल्लभ सम्प्रदाय अधिक प्रबल था उसमे क्यो रुचि नहीं दिखायी? अर्थात् यह भी शक्य था वाल्लभ वेदान्तमे और रामानुजीय साधनाप्रणालीमे भी रुचि दिखा सकते थे। अब यह कहा जाये कि सौराष्ट्र-गुजरातकी अधिकाश जनता वाल्लभ वेदान्तसे उतनी सुपरिचत नही थी जितनी कि श्रीकृष्णकी सेवाभक्तिसे अत श्रीकृष्णभक्ति वाल्लभ सम्प्रदायसे दिखलायी तथा रामानुज सम्प्रदायके दर्शनमे रुचि दिखा दी जिससे कोई हानि तो होनी नहीं थी

इसे एक कूटनीति तो मानी जा सकती है पर अनन्तकोटिब्रह्माण्डके अधीश माने जाते श्रीसहजानन्दजीको सत्यधर्मोपदेशकी निष्ठाकी बाबतमे मानसिक रूपमे अतीव निर्बल ही सिद्ध करती है अतएव मुझे कदापि मान्य नहीं लगती

अत इन प्रश्नोका समाधान न खोज पाये, तब तक ऐसी मतभेदतालिकाके मुद्दोकी कितनी सख्या भी क्यो न हो वास्तविक समाधान मिल नही पायेगा अतएव ऐसी तालिकाकी समीक्षा भी बहुत आवश्यक नहीं लगती फिरभी स्थूणाखननन्यायेन इस तालिकाके कुछ मुद्दोको दृष्टिगत कर लेना उचित होगा

तदनुसार सर्वप्रथम रामानुजीय वेदान्ताभिमत तत्त्वत्रयी या तत्त्वसप्तक

उन शास्त्रोके आधारपर सिद्ध है, जिनका प्रामाण्य स्वय श्रीजीमहाराजको पूर्णतया मान्य है अत उन-उन वचनोका वैसा अर्थ न हो कर जैसा आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्त प्रस्तुत करना चाहता है, वैसा ही अभिप्रेत है यह सिद्ध न कर दिया जाये, तब तक ऐसी तालिकाका कोई महत्त्व सिद्ध नही होता अत तात्त्विकभेदके अन्तर्गत १-१८ तकके सारे मुद्दोको तो मै गर्भस्रावसे ही निरस्त मानता हू उदाहरणतया श्रीमद्भागवतका अतिशय प्रामाण्य शिक्षापत्री और वचनामृत दोनोमे ही स्वीकारा गया है अत इस स्वीकारोक्तिके अनुरोधवश भगवद्धाम निर्गुण है या विशुद्धसत्त्वात्मक इसका समाधान "ॐ नमो नारायणाय पुरुषाय महात्मने विशुद्धसत्त्वधिष्ण्याय " (भाग पुरा ६।५।२८), "विशुद्धसत्त्व तव धाम शान्त तपोमय ध्वस्ततमोरजस्क मयामयो अय गुणसम्प्रवाहो न विद्यते " (भाग पुरा १०।२७।४) इस वचनमे सुस्पष्टतया विशुद्धसत्त्वात्मक धामको 'मायातीत' कहा गया है अत रामानुजीय वेदान्ताभिमत धारणाकी तो यहा भागवती सम्पुष्टि हो जाती है परन्तु आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्तकी प्रामाणिकताके आधारभूत शास्त्रवचन क्या है और कोइ हो भी तो इन भागवतवचनोके साथ उनकी एकवाक्यता कैसे साधनी? "तस्मै स्वलोक भगवान् सभाजित सदर्शयामास पर न यत्पर व्यपेतसक्लेशविमोहसाध्वस स्वदृष्टवद्भि विबुधै अभिष्टुत प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयो सत्त्व च मिश्र नच कालविक्रम, न यत्रा माया किमु उत अपरे हरे अनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिता श्यामावदाता शतपत्रलोचना पिशङ्गवस्त्रा सुरुच सुपेशस सर्वे चतुर्बाहव श्री यत्र रूपिणी उरुगायपादयो करोति मान बहुधा विभूतिभि प्रेङ्खश्रिता " (भाग पुरा २।९।९-१३) इस भागवतके वचनमे रामानुजीय परमधामकी प्रामाणिकता स्वय श्रीजीमहाराजको अतिशय प्रमाणतया अभिमत भागवतपुराणके आधारपर सिद्ध होती है इसे अस्वीकार करनेपर तो स्वय श्रीजीमहाराजके वचन अप्रमाण हो जायगे परन्तु आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्ताभिमत परमधामके समर्थनम स्वय श्रीजीमहाराजको अभिमत सच्छास्त्रामसे एक वचन भी उद्धृत कर पाना सर्वथा असम्भव कथा ही लगती है

इसके बाद आते है मुद्दे १९-३८ इनके अन्तर्गत तुलनार्थ प्रस्तुत मुद्दोंमे जहा भी वैष्णवतन्त्रोके वचन उद्धृत किये गये है उन मुद्दोमे तो शास्त्रवचनके बलपर ही रामानुजीय मतकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जायेगी अपने-आपको उसके प्रतिपक्षी दरसानेपर आधुनिक स्वामिनारायणीय सिद्धान्तकी अप्रामाणिकता भी स्वय श्री सा श्रु जी स्वीकार लेते हो तो अधिक कहनेको कुछ अवशिष्ट रह नही जाता फिरभी नितान्त साम्प्रदायिक धारणा कि "श्रीसहजानन्दजी परब्रह्म है और प्रत्येक गुरु अक्षरब्रह्म है" इसे सिद्ध कर पाये ऐसे शिष्टादृत शास्त्रोंके वचन यदि प्रस्तुत नही किये जाते तो काव्यकल्पना ओर तत्वशास्त्रीय धारणाओमे प्रभेद ही दुष्कर हो जायेगा

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड होनेकी धारणा शिष्टादृत शास्त्रोक्त है वह स्वामिनारायणीय चिन्तनकी एकस्वीकृत धारणा नहीं है हमने देख ही लिया कि वह भागवतकी 'वीरराघवी' रामानुजीयव्याख्यामे स्वीकारी ही गयी है अन्यथा भी ऐसी धारणा जहा-जहा शास्त्रमे प्रतिपादित है उन शास्त्रोके प्राभाण्य स्वीकारनेमात्रसे भी वह अर्थापत्तिस्वीकृत हो जाती है

यही बात सृष्टिकी उत्पत्ति केवल लीलामात्र है, यह सिद्धान्त भी स्वय श्रीसहजानन्द स्वामीजीको "वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभि-धम्" (शिक्षाप ९३) वचनमे शिरसा मान्य "सर्वं नैव रेमे तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्"-"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"-"क्रीडार्थम् आत्मन इद त्रिजग् कृत ते" (बृह उप १।४।३-१०, ब्र सू २।१।३३, भाग पुरा ८।२२।२०) आदि श्रुतिसूत्रपुराणोकी एकवाक्यताके आधारपर सिद्ध है इसे अस्वीकार करनेपर या इसके विपरीत मनघडत कल्पना करनेपर स्वामिनारायणीय सिद्धान्त या तो वेदान्त होनेकी योग्यता खो देगा या वदतोव्याघातके गर्तमे पड जायेगा सो रामानुजमत ही सर्वथा प्रामाणिक होनेसे उसके साथ तुलनाई ही नहीं रह जाता

रामानुजमतमे भक्तिप्रपत्ति दोनो ही प्रधान है उसमे कहने लायक कोई कथा ही नही

३८ वे मुद्देमे श्री सा शु जी कहते है कि "रामानुजमतमे वेदान्त आगम और द्रविडप्रबन्ध का प्राधान्य है जबकि स्वामिनारायणीय सिद्धान्तमें साख्य-योग पञ्चरात्र वेदान्त और वचनामृत का प्राधान्य है" यह भी खूब रही कि स्वय श्रीजीमहाराजके वचनामृत(प २)मे जिन साख्ययोगोमे रहे दोषोके निरसनपूर्वक उन्हे माननेकी बात कही वे तो प्रधान हो गये और निजकण्ठसे जिनमे एक भी दोष निरूपित नहीं किया और अपनी 'रुचि' या 'अभिमति' जो कहो उसे गुरुपरम्परागततया सिद्धान्तनाम और ग्रन्थनाम ग्रहणके साथ स्वीकारा, उस विशिष्टाद्वैतवादमे ६ के बजाय ६६ दोष स्फुरित हो रहे है कारण इसमे यह लगता है जो स्वय श्रीसहजानन्द स्वामीने कहा है "और साख्यमतानुयायी जब आकारको मिथ्या समझते हैं तब वे तीर्थ व्रत प्रतिमा यम-नियम ब्रह्मचर्यादि धर्म तथा ब्रह्मा-विष्णु-शिव एव रामकृष्णादि अवतारोंका खण्डन करते हैं इसलिये ये आधुनिक साख्य-योगमतानुयायी इन दोनो मार्गोको छोड कर कुमार्गगामी हो गये है इस कारण वे नारकी होते हैं" (वचना प २) शिष्टादृत शास्त्रप्रतिपादित भगवान्के रूपोका अवमूल्यन कर अपने केवल गुरु और उनके भक्तो की महिमा बढानेके हेतु रामानुजवेदान्तको मान्यता देना अब अनपेक्षित हो गया है

वैसे इनमे द्राविडप्रबन्ध जैसे स्वामिनारायण पन्थको मान्य नही, ऐसे ही वचनामृत आदि ग्रन्थोको रामानुजसम्प्रदाय क्यो प्रमाणकोटिमे मान्य रखेगा अत अवशिष्ट रहे ग्रन्थोमे पौराणिक साख्य-योग तो रामानुजमतमे भी मान्य होगे परन्तु बादरायणसूत्रोमे निराकृत उनके तत्तद् अश यदि स्वामिनारायणीय पन्थमे मान्य हो तो वह वेदान्त नहीं रह जायेगा एतावता सिद्ध होता है कि जो भी उभयमान्य शास्त्र है, उनमें तो स्वामिनारायणीय सिद्धान्त निरूपित नहीं हुवा प्रत्युत विरुद्ध

होनेके कारण रामानुजवेदान्तकी तुलनामे प्रमाणवत्ता सन्दिग्ध ही ठहरती है

सर्वाधिक आश्चर्य तो श्री सा शु जीके इस विधानपर होता है कि "स्वामिनारायणदर्शनके उद्गमके समय विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय न केवल दक्षिणभारतमें किन्तु पूरे भारतमें प्रसिद्ध था फिरभी भगवान् स्वामिनारायणको अपने-आप विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त स्वीकारनेकी आवश्यकता नहीं थी यदि विशिष्टाद्वैत ही अपना स्वीकृत सिद्धान्त होता तो दक्षिणभारतमें सुप्रसिद्ध तोताद्रिमठके प्रमुख जीअर स्वामीने भगवान्को चक्रांकित कर दीक्षा दी थी, 'वानमामलै तोताद्रि रामानुजदास' नाम भी रखा था उसी समय तोताद्रिमठसे ही विशिष्टाद्वैतका प्रचार करते होते लेकिन पाच तत्त्वोका सिद्धान्त और स्त्रीपुरुषमर्यादा(?) इत्यादि अपने विचारके अनुरूप व्यवस्था तोताद्रिमें नहीं देख कर वहासे चल पडे गुजरातमें रामानन्द स्वामीके सम्प्रदायमें अपने विचारके अनुरूप सिद्धान्त देख कर यहा ही स्थिर हो कर सम्प्रदायप्रवर्तन किया" (समा पत्र "विशिष्टाद्वैत-अभिमति एक शिष्टाचार"शीर्षक) इस नूतन ऐतिह्यका स्रोत अभी श्री सा शु जीने प्रकट नही किया है यह तो, किन्तु, आत्मविसगतिकी पराकाष्ठा हो गयी! क्योकि बिचारे श्रीसहजानन्द स्वामी स्वय नही प्रत्युत अपने गुरु रामानन्दस्वामीको श्रीरामानुजाचार्यसे स्वप्नमे मिली दीक्षाके आधारपर भी अपने-आपको रामानुजसम्प्रदायानुगामी घोषित कर रहे है जबकि उन्हे अनन्तकोटिब्रह्माण्डके नायक परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् माननेवाले श्री सा शु जी उसे अप्रामाणिक सिद्ध करनेको कहते है कि श्रीजीमहाराजके गुरु नही प्रत्युत स्वय श्रीजीमहाराज ही रामानुजसम्प्रदायमे दीक्षित होनेपर भी रामानुजी नही थे! क्या जीअर स्वामीने श्रीजीमहाराजके हाथ-पैर बधवा कर बलात् उन्हे रामानुजी दीक्षा तो दी नहीं होगी! ऐसा यदि उन्होंने किया भी हो तो अनन्तकोटिब्रह्माण्डके नायककी सर्वशक्तिमत्ता उस समय कहा विलुप्त हो गयी थी! यदि स्वयकी अनुमति भी तब अज्ञानवश श्रीजीमहाराजने प्रकट कर दी, ऐसा मानते है तो सर्वज्ञता कहा विलुप्त हो गयी थी! ऐसी स्थितिमे तो रामानन्द स्वामी भी

कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नही थे, केवल गुजरातमे उनकी जनश्रुतिवश प्रसिद्धि थी अतएव श्रीजीमहाराजने अपने-आपको रामानन्द स्वामीका शिष्य घोषित कर दिया ताकि लोगोको अपनी ओर अभिमुख कर पाये। ऐसी भी कोई प्राचीन हस्तप्रत किसी ग्रन्थागारमे कहीं उपलब्ध न हो जाये इसकी निश्चिति अब रह नही जाती

ऐसी बाते करने-सोचनेसे "सत्य वद। धर्मं चर" के स्थानपर "असत्यमेव वद। स्वशिष्यसमुदायबहुलीकरणायैव चरैवेति" ऐसी श्रीसहजानन्द स्वामीकी मानसिकता कोई मानने लग जायेगा जिसने 'शिक्षापत्री'का (और बहुलाशमे तो) 'वचनामृत'का भी तटस्थ अध्ययन किया हो वह ऐसी निर्मूल धारणाओको कभी स्वीकार नहीं पायेगा कमसे कम मे तो ऐसा स्वीकारने कथमपि उद्यत नही इन ग्रन्थोमे उपदिष्ट धर्मभावनोपेत बातोका अपनी बुद्धिसामर्थ्यके अनुसार विवेचन करनेपर मुझे तो ऐसी किसी दुर्मनोवृत्तिकी लेशमात्र गन्ध भी उनके चरित्रमे सम्भावित नही लगती

अतएव इसी शीर्षकके अन्तर्गत यह जो कहा गया कि श्री जी एस् भट्टके 'विष्णुस्वामी एड् वल्लभाचार्य' निबन्धमे ऐसी ही दुर्मनोवृत्ति निबन्धकारने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके बारेमे भी सोची है, उसे भी स्वीकारने मै तो उद्यत नही क्योकि महाप्रभुने अति स्पष्टवादिताके साथ अपना श्रीविष्णुस्वामिमतानुवर्ती होना निजग्रन्थोकी इतिश्रीमे लिख कर और उज्जयिनी तथा श्रीबद्रीनाथ के तीर्थपुरोहितोको दिये निजहस्ताक्षरोमे लिखित वृत्तिपत्रोम भी घोपित किया है साथ ही साथ श्रीविष्णुस्वामीकी तामसभक्तिके तथा निजोपदिष्ट निर्गुणभक्तिके प्रकारोको भगवत्प्रतिपादित चार भक्तिके अन्तर्गत घोपित किया है उसे देखते हुवे कथमपि ऐसी दुर्मनोवृत्ति महाप्रभुमे भी सिद्ध नहीं हो पाती श्री सा श्रु जीका यह कहना तो इतिहासके अवलोकनसे भी उपपन्न ही है कि महाप्रभुके समयमे विष्णुस्वामिसम्प्रदाय मान्य ग्रन्थ या आचार्यादि पीठ के रूपम

विद्यमान नहीं था वर्तमान समयमे भी सौर गाणपत्य एव स्कान्द सम्प्रदायोंके मन्दिरो एव भक्तो के बचे रहनेपर भी साम्प्रदायिक ग्रन्थ एव आचार्यपीठ की परम्परा उच्छिन्न हो गयी है, तद्वत् महाप्रभुके पूर्वज उस अल्पप्रसिद्ध सम्प्रदायके कुलपरम्परासे अनुगामी थे, यह तो उनके ग्यारहवर्षके लेखपत्रके आधारपर भी प्रकट होता है फिरभी ऐसा सोचा जाये कि स्वय महाप्रभुको तब उतनी प्रसिद्धि नही मिली थी, इसलिये उन्होंने विष्णुस्वामीके सम्प्रदायके साथ अपना मिथ्या सम्बन्ध अपना जोड था इसे सच माने तो प्रसिद्धि मिल जानेके बाद उस अनुगामिताका अस्वीकार न तो महाप्रभुने और न अनुगामिओंने आज तक किया। करीब सित्तर-अस्स वर्षपूर्व एक बार यह विवाद अवश्य जोरशोरसे सम्प्रदायमे छिडा था कि महाप्रभु द्वारा प्रस्थापित शुद्धाद्वैतवाद या भगवदाज्ञया प्रवर्तित पुष्टिभक्तिमार्ग वस्तुत उन्होंने स्वय प्रवर्तित किये थे कि ये भी विष्णुस्वामीके ही सम्प्रदायवश उन्हे कुलपरम्परागत थे? देहाभिमानमूलक श्रौत-स्मार्त वर्णाश्रमधर्मकी गायत्रीमन्त्रदीक्षा और तन्मूलक वर्णाश्रमधर्मको भगवदाज्ञप्त होनेके कारण अवश्यानुष्ठेय मानना पडता है उसे भगवद्भक्ति या भगवत्प्रपत्ति के व्याजसे छोडा नहीं जा सकता यहा इतना ही अवधेय है कि भगवान्‌की भक्ति-प्रपत्तिको आत्मधर्मतया उत्कृष्ट अवश्य माना जाता है इसी तरह भेदवादमूलक विहितभक्तिमे पर्यवसित होनेवाली श्रीविष्णुस्वामिसम्प्रदायानुगत गोपालमन्त्रकी दीक्षाकी तुलनामे भी पुष्टिमार्गीय प्रेमलक्षणा भक्ति या प्रपत्ति मे पर्यवसित होनेवाली शरणदीक्षा और आत्मनिवेदनदीक्षा को उत्कृष्ट अवश्य माना जाता है क्योंकि इनका आधार महाप्रभुके शुद्धाद्वैतवादमूलक ब्रह्मजीवका तादात्म्य है पर एतावता इस श्रीविष्णुस्वामिमतानुगामिताको न महाप्रभुने, न उनके परवर्ती ग्रन्थकार वशजोने, न अन्य विद्वानोंने और न भक्तकवियोंने ही कभी अस्वीकार किया "श्रीव्रजराज शिरोमणि सुदर भूतल प्रकटे वल्लभचन्द, अवगाहत श्रीविष्णुस्वामिपथ नवधा भक्तिरत्न रसकन्द", "वन्देऽह त विमलहुताश श्रीलक्ष्मणसुत विष्णुस्वामिपथ श्रुतिवचमण्डन कहे विष्णुदास" ये दोनो ही भक्तकवि महाप्रभुके साक्षात् शिष्य थे

और निजगुरुमुखसे सुन कर ही गुरुपरम्पराको जान पाये होगे महाप्रभुके प्राकट्योत्सवके दिन आज भी इन पदोका गान होता ही है अत महाप्रभुके स्तुतिगान या इतिवृत्त मे भी इन्कारा गया नही हे अपनी कुलपरम्परागत विष्णुस्वामिमतानुगामिताको त्यागे बिना जो शुद्धाद्वैतमूलक पुष्टिभक्तिका प्रवर्तन महाप्रभुने किया उसका पार्थक्य या उसकी बढ-चढ कर प्रशसा तो स्वय महाप्रभुने भी की हे और उनके परवर्तिओने भी की है इससे कई बार अनुपासितगुरुओको स्वय ही यदृच्छादृष्टिपथागत ग्रन्थोद्धरणोके अवलोकनवश भ्रान्ति होती रहती है कि वाल्लभ मत वस्तुत विष्णुस्वामिप्रवर्तित वैष्णवसम्प्रदायानुगामी है कि नही? वास्तविकता यह है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यसे लेकर अद्यावधि हम सभी विष्णुस्वामिसम्प्रदायमे उसी तरह दीक्षित होते है जैसे वल्लभसम्प्रदायमे तदनुसार विष्णुसम्प्रदायागत गोपालमन्त्र-श्रीनृसिहमन्त्रदीक्षा भी प्राय सभी लेते है वल्लभसम्प्रदायानुगतिप्राप्त अष्टाक्षर-ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा अनिवार्यतया लेते देहाभिमानमूलक वर्णाश्रमानुरोधी गायत्रीदीक्षाकी तरह वैष्णव सम्प्रदायानुगामिताके वश जैसे वैदिकी गायत्रीमन्त्रदीक्षाका त्याग हम उचित नही मानते वैसे ही यहा भी जान लेना आवश्यक है

(७ साम्प्रदायिक-धार्मिक भेदकी समीक्षा)

अत जिस रामानुजसम्प्रदायमे श्रीसहजानन्द स्वामी दीक्षित थे उस सम्प्रदायके प्रति जब इस पन्थके अनुगामिओके ऐसे विरोधी भाव हो, तो महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण और उनके आत्मज श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण के बारेमे कोई बात छेडने लायक नही रह जाती अन्यथा यह कहा जा सकता है कि इन पिता-पुत्रोके प्रति, अथवा वस्तुत तो उनके द्वारा उपदिष्ट साधनाप्रणालीके प्रति ही श्रीसहजानन्द स्वामीके हृदयमे हार्दिक लगाव एव आदरविशेष का भाव था वचनामृतका अवलोकन करनेपर इतना तो स्पष्ट होता ही है

जैसे रामानुजीय वेदान्तमे शुद्धाद्वैतवाद अर्थात् जड़जीवात्मक सृष्टि

और ब्रह्म के बीच तादात्म्य स्वीकारनेवाले सिद्धान्तको "इत्थं ब्रह्मापि जीवः परिणमति विहृत्यर्थम् इत्यपि असारं स्वानर्थकप्रवृत्तेः प्रसजति च तदा सर्वशास्त्रोपघातः" (तत्त्वमु.३।३०) ऐसे उद्गारो द्वारा मायावादसे भी अधिक गर्ह्य पक्ष माना है. ऐसे ही अपनी रामानुजमतानुगामिताको अक्षुण्ण निभाते हुवे श्रीसहजानन्द स्वामीने भी विशिष्टाद्वैतवादके अनुसार इस श्रुतिकी व्याख्या की. वचनामृतमें आता है कि "नृसिंहानन्द स्वामीने पूछा... 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुतिवाक्यका... प्रलयकालमें एकमात्र भगवान् थे, वे ही स्वेच्छासे सृष्टिकालमें समस्त जीव-ईश्वररूप हो गये, यह बात तो मूर्ख ही मानता है... भगवान् तो अच्युत हैं वे च्युत हो कर जीव-ईश्वररूप नहीं हो सकते... इसलिये आप श्रुतिवाक्यका अर्थ कहिये... श्रीजीमहाराज बोले ये सब श्रुतिका जैसा अर्थ बताते हैं वैसा नहीं है... एकमात्र पुरुषोत्तम भगवान् अन्तर्यामिरूपसे इन सबमें प्रवेश करके रहे हैं किन्तु जीव-ईश्वरभावको स्वयं ग्रहण करके अनेक रूपोंमें नहीं हुवे, इस प्रकार श्रुतिवाक्यका अर्थ समझना चाहिये" (वचना ग.प्र.४१). एतावता सिद्ध होता है कि श्रीजीमहाराजको वाल्लभ साधनाप्रणाली ही मान्य थी और वह उनकी श्रीकृष्णके प्रति अनन्यनिष्ठाके अनुरूप भी थी. वाल्लभ वेदान्त परन्तु उन्हे सर्वथा अमान्य था अपनी रामानुजमतानुगामिताके अनुरूप ही अतएव स्वामिनारायणीय तीन दीक्षामन्त्रोमे से दो मन्त्र तो सर्वथा वल्लभसम्प्रदायकी आत्मनिवेदनदीक्षा और शरणदीक्षा शब्दोंका ही थोडा सा शाब्दिक हेरफेर है

(८.श्रीकृष्णकी उपास्यताके विमर्शकी समीक्षा)

समाधानपत्रके इस खण्डमे उछाले गये मुद्दोके बारेमे कुछ भी आलोचना लिखनी मुझे उचित नही लगती क्योंकि यदि महाप्रभुसे प्रभावित हुवा बिना स्वय अपनी पूर्वसिद्ध कुलपरम्परा एवं गुरुपरम्परा के कारण श्रीजी महाराजको श्रीकृष्णके प्रति लगाव था ऐसा मान कर चले तब भी श्री सा.शु.जीकी यह धारणा कि "गुजरातमें... अन्य वैष्णव सम्प्रदायोंकी संख्या बहुत थी. आगन्तुक अनुयायिओंमें

अपने-आपको 'सर्व अवतारसे परे अवतारी' कहनेपर सम्प्रदायमें और बाहर अपना कार्य दुष्कर बन जाता इस हेतुको देख कर भगवान् स्वामिनारायणने कहीं-कहीं राधाकृष्णकी बात कही थी अनुयायी वर्गमें भगवान् स्वामिनारायणके प्रताप और माहात्म्य पर अधिक विश्वास बैठनेके बाद भगवान् स्वामिनारायणने अपने अधिक प्रभावकी बात कही थी'' (समा पत्र ६ श्रीकृष्णकी उपास्यताका विमर्श) मेरे हिसाबसे अप्रामाणिक सिद्ध हो जाती है

वैसे पता नही इस इतिवृत्तमे ऐतिहासिक तथ्य कितना है और अब अधिक प्रसिद्ध हो जानेके कारण अकस्मात् पनपी धृष्टता कितनी है? किसी भी सूरतमे श्रीकृष्णभक्तिको एकस्वीकृत करनेकी मनोग्रन्थि बाधनी अनुचित है अत अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्‌को सनातन सर्वव्यापी सर्वोपादान सर्वेश्वर सर्वोद्धारक सर्वज्ञ कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तु सर्वसमर्थ मानता होनेके कारण वाल्लभ सम्प्रदायकी ओरसे इस विषयमे मौन रखना ही उचित मानता हू उस सर्वसामर्थ्यमे अविश्वास प्रकट करना मेरेलिये महान् अपराधकल्प है अत श्रीकृष्ण श्रीसहजानन्द स्वामीके या उनके सम्प्रदायके उपास्य इष्टदेव न रही हमारे परमाराध्य इष्टदेव होनेके कारण ही इसका प्रत्युत्तर देना अनावश्यक लगता है क्योकि जीवात्माओंके उद्धारकी ठेकेदारी यदि परमात्मा किसी एक आचार्य या एक धर्म-सम्प्रदाय को देता हो, तो ऐसा परमात्मा मुझे विश्वात्मा नही लगता अत हमारे सम्प्रदाय या अन्य किसी सम्प्रदायके बारेमे ऐसा कोई दावा करे तो मुझे हास्यास्पद कथा ही लगती है मेरी श्रद्धा है कि विविध धर्म-सम्प्रदाय मुमुक्षु जीवात्माको सच्चा मार्ग तो बता सकते है परन्तु उसपर चल पानेकी सामर्थ्य जिसे परमात्मा प्रदान करता है उसकी ही होती है वह अनेकविध सम्प्रदायोकी साधनाओं द्वारा मिल सकता है, उसे मिलना हो तो और नही भी मिलता, उसे न मिलना हो तो परमात्माको किसी एक धर्म-सम्प्रदायकी साधनाका

मोहताज मानना उसकी निरुपाधिक अनुग्रहशीलता निरंकुशमुक्तिदानसामर्थ्य सर्वज्ञता सर्वव्यापिता और सर्वेश्वरता जैसे गुणधर्मोंका अस्वीकार है इन गुणधर्मोंको इन्कारनेपर तो उसे परमात्माके रूपमे मान्य करना भी आवश्यक नही रह जाता

अत स्वामिनारायण सम्प्रदाय अपनी आरम्भिक अवस्थामे अथवा अब विकसित विश्वव्यापी अवस्थामे वाल्लभ साधना या वाल्लभ सम्प्रदायके आराध्य श्रीकृष्णको न स्वीकारना चाहता हो तो उसका उसका उद्धार नहीं हो सकता है, इतना असमर्थ और सकुचित मनोवृत्तिवाला अपने आराध्य श्रीकृष्णका स्वरूप हो तो, स्वामिनारायण सम्प्रदायके सम्प्रदायके आधुनिक अनुगामिओंकी धारणाके बजाय मुझे स्वय श्रीकृष्णकी परब्रह्मता अप्रामाणिक लगने लगती है थोडा-बहोत जो इन बातोपर मैने ध्यान आकृष्ट किया वह स्वय श्रीसहजानन्द स्वामीके वचनोंके अभिप्रायकी स्वारसिक मीमासाके रूपमे ही नकि परब्रह्म या परमेश्वर के रूपमे एकमात्र श्रीकृष्णके स्वरूपकी अपरिहार्यताके अर्थमे क्योकि मुझे लगता है कि आज नही तो कल, कल नही तो आगामी शतकमे, जब भी अपने आचार्योके प्रति वफादारीका भाव इस सम्प्रदायम जाग्रत होगा तो मेरे उठाये गये मुद्दोंपर ध्यान तो देना ही पडेगा

पद्मपुराणोक्त भागवतमाहात्म्यमे "उत्पन्ना द्रविडे साह वृद्धि कर्णाटके गता क्वचित्-क्वचित् महाराष्ट्रे गुर्जरे क्षीणता गता" (१।४८) ऐसा विधान मिलता है यह भक्तिके अर्थमे कदाचित् सत्य होनेपर भी गुर्जरदेशिओकी स्नेहप्रधान मनोवृत्तिको देखते हुवे कुछ इस वचनका अभिप्राय मीमास्य लगता है किसी शायरने कहा है कि "अपनी कुए-वफासे डरता हू आशिकी बन्दगी न हो जाये" इसी तरह गुर्जरदेशवासिओकी स्नेहमयी मनोवृत्ति कब भक्तिमयी वृत्ति बन जाती है इस बारेमे कोई भविष्यवाणी कर ही नही सकता! स्वभावत असाधारणरूपेण गुर्जरप्रजा स्नेहप्रधान दृष्टिगोचर होती है

अपने वल्लभसम्प्रदायमे भी कहा जाता है कि महाप्रभुके पौत्र श्रीगोकुलनाथचरणके गुर्जरदेशी शिष्य उन्हे अनन्तकोटिब्रह्माण्ड नायक मानते थे उनकी ऐसी हरकतोसे तग आ कर उनके पितृचरण गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीने कहा कि तुम्हारे शिष्य बहुत तकलीफ देते है इसपर क्षुब्ध हो कर श्रीगोकुलनाथजीने अपने शिष्योको गोकुलसे निकाल देनेको एक नाव मगायी और उन्हे आज्ञा दी कि इसमे बैठ कर श्रीयमुनाके उस पार मथुराकी ओर सब चले जाओ। इसपर सभी शिष्योंने गुरुमे श्रद्धाहास या क्षोभ का भाव प्रकट किये बिना भजन गाना शुरु किया कि "व्हाले म्हारे जीवता पार उतार्या रे। के व्हाले म्हारे करुणा करि निस्तार्या रे।" इसपर खीज कर उन्होने अपनी चरणपादुका उन्हे प्रताडित करनेको निशाना ताक कर नदीमे जा रही नावकी तरफ फेकी और प्रभाव इसका भी विपरीत ही हुवा कि भक्तगण गाने लगे "व्हाले म्हारे पादुकाजी पधराव्या रे। पधार्या पुरुषोत्तम भवनीकामा, हा रे अमने जीवता पार उतार्या रे।" इस श्रद्धातिरेकका उनके पास भी कोई उपाय नहीं था केवल इतना लिख कर रह वे रह गये कि "मेरे सेवक मुझे ही साक्षात् पुरुषोत्तम मानते है - इससे पुष्टिफलके लाभसे तो उन्हे वचित ही रहना पडेगा" पर उस पादुकाको प्रकट पुरुषोत्तम मान कर शिष्योंने पावडियापन्थ तथा भड्रूचीपथ चला दिया।

उसके बाद पुन वल्लभसम्प्रदायके अन्तर्गत इन गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीके ही भतीजे गोस्वामी श्रीजयगोपाललालको भी उनके शिष्योंने परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णसे भी अनन्तकोटि सामर्थ्यवान मान कर 'जयगोपाल-पन्थ' चला दिया उसके बाद तो सारे सौराष्ट्र-गुजरातमे हम वल्लभवशज गोस्वामी आचार्योको प्रकटपुरुषोत्तम मान कर न जाने क्या-क्या उत्पात नही हुवे। इधर सो-डेढ़ सो वर्षोसे हम वल्लभवशज आचार्योका का प्रभाव क्षीणसे क्षीणतर होते देख कर एक अन्तर्धारा वाल्लभ सम्प्रदायमे नूतन वल्लभपथकी और चल पड़ी है इसमे

अनन्तकोटिब्रह्माण्डोंके नाथ पुरुषोत्तम महाप्रभुके केवल एक रोममें विराजते हैं, ऐसी अन्धश्रद्धा भरे उपदेशोंसे जनताको ये वल्लभपंथी बरगलाते रहते हैं. इनके अनुसार महाप्रभुके उपदेशोंको मानने या अनुसरने की कोई आवश्यकता नही. क्योंकि ये उपदेश तो हीनाधिकारी जनोंके लिये दिये गये उपदेश हैं!

स्वयं मेरे पितृचरणके कुछ शिष्य उनको प्रकट पुरुषोत्तम मान कर चरणोंमें तुलसीपत्र समर्पित कर जाते थे. इससे रुष्ट हो कर वे उन्हे अपने पास आने नही देते थे. तो वे जब बिचारे निद्राधीन होते तब चुपकेसे उनके चरणोमे तुलसीपत्र वे मूढ लोग समर्पित कर जाते। इससे उन्हे इतना मानसिक सन्ताप होता कि बहुधा अभद्र गालीप्रदान तक करने लग जाते, अपने वैदुष्यकी गरिमाको भूल कर! बिचारे दोनो पैरोमे केंसर होनेसे खडे तो हो नही पाते तब परन्तु उनका मानसिक त्रास देखा नही जाता था. मुझे लगता है कि श्रीसहजानन्दजीके सम्प्रदायमे हमारे यहाके ऐसी मनोवृत्तिवाले ही कुछ लोगोंने घुस कर अपने नूतन गुरु श्रीसहजानन्द स्वामीकी भी हमारे जैसी ही गति बना दी है "गुरु साक्षात् परब्रह्म"का आदर्श यद्यपि भारतीय संस्कृतिका एक प्रमुख चरित्र है पर गुरुवचनोंकी अवहेलना या अनादर कर के उनका यद्वा-तद्वा आशय मनगढत निकाल लेना अपनी इस संस्कृतिका दुर्गुण भी है

स्वयं मै जब इसी विषयपर एक दिन अपने वैष्णवोंकी सभामे प्रवचन कर रहा था तब श्रोतामेसे किसीने एक चिट भेजी कि "आप मिथ्याभाषण कर रहे हो हम तो आपको साक्षात् पुरुषोत्तम ही मानते है।" मुझे तो अपने प्रभावशाली उपदेशक होनेका गर्व ही ध्वस्त हो गया लगा मेरे भीतर भक्तिभावोंकी मन्दता और धर्मनिष्ठाकी शिथिलता के अन्तर्निरीक्षण करनेपर इस देहके अवसानके बाद भी अक्षरात्मक व्यापिवैकुण्ठ या गोलोकमे प्रवेश भी पा सकूंगा ऐसा प्रतीत

तो होता नही।

वैसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका उपदेश है कि आराध्य भगवन्मूर्ति साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही होती है और उनका सेवास्थल व्यापिवैकुण्ठरूप ही होता है, ऐसे सिद्धान्तमे दृढश्रद्धा होनेपर भी उनकी सेवाभक्तिमे वैसी निष्ठा न पनप पानेके कारण अपराधबोध ही रहता है अत किस अर्थमे पुरुषोत्तम हो सकता हू यह समझमे नही आता मानवसुलभ कयी कमजोरिओसे अपने-आपको सदा ग्रस्त पाता हू फिर भी श्रीसहजानन्द स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम हो या नहो उनके वचनोका जैसा आशय मुझे अपनी समझके अनुसार उचित लगा उसे यहा निबद्ध मैने किया है क्योकि यदि प्रक्षिप्त न हो तो उन्होंने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके लिये जो पदप्रयोग किये उसके आधारपर न केवल उन्हे परन्तु उनके अनुगामिओको भी अपने सुहृद माननेके कारण मै सोचता हूं कि "स किंसखा योहि हितं न वक्ति।"

सकलान्तरात्मा श्रीहरि प्रसन्नो भवतु।



ब्रह्म या ब्रह्माण्ड और मनुष्यके अस्तित्वकी खोज

(एक वाल्लभ दृष्टि)

किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ?
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।।
(ऋगवेद १०।८१।४)

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।।
(तै ब्रा २।८।९।७)

प्रश्न: वह कौन सा वन था, वह कौन सा वृक्ष था जिसे काट-छाट कर ये आकाश और पृथ्वी लोक बनाये गये? विद्वानो! कभी अपने-आपसे पूछ कर तो देखो कि इन भुवनोको धारण करनेवाला कहा खडा है, उसका आधार क्या है?

उत्तर: वह वन ब्रह्म था, वह वृक्ष भी ब्रह्म था जिसे काट-तराश कर ये आकाश और पृथ्वी लोक बनाये गये है विद्वानो! अपने (सच्चे) मनसे एक रहस्य तुम्हे कहता हू इन भुवनोको धारण करनेवाला ब्रह्मपर खडा हुआ है ब्रह्म ही उसका आधार है।

मानवीय चिन्तनके समग्र इतिहासमे मनुष्य अपने चारो और फैले हुये इस अनन्त ब्रह्माण्डके साथ स्वयका क्या सम्बन्ध है यही खोजता रहा है इस खोजका व्यष्टि पक्ष है आत्मजिज्ञासा—ब्रह्म या ब्रह्माण्ड के साथ व्यक्तिका क्या सम्बन्ध है? और इस खोजका

एक समष्टिपक्ष भी है· परमात्मजिज्ञासा यह ब्रह्माण्ड क्या एक निरुद्देश्य - निराधार - निष्कारण अनन्त घटनाओका प्रवाह है या ब्रह्माण्डकी इन अनन्त घटनाओको जोडने वाला कोई एक सूत्र भी है? इन घटनाप्रवाहोका कोई एक कारण - आधार - उद्देश्य भी है या नही? ब्रह्माण्डका कोई ब्रह्म भी हे या नहीं? यदि ब्रह्म है तो क्या वह किसी मानवीय प्रयोजनवश सृष्टिनिर्माण करता है? क्या अलौकिक ब्रह्ममे लौकिक प्रयोजनोकी उद्भावना सगत नही?

प्रश्नोका उत्तर सरल होता यदि स्वयम् प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनोमे ही अन्त स्फूर्त आस्था और बाह्यारोपित तर्कका अन्तर्द्वन्द्व न होता तो

मानवीय चेतना या प्राणिमात्रकी चेतना मे प्रथम प्रादुर्भाव आस्थाका होता है कि तर्कका? कुछ लोग चेतनाकी प्रथम उपलब्धि - 'आस्था'की व्याख्या जड यान्त्रिक नियमोमे करना चाहते है यहा तक कि डार्विनके विकासवादी सिद्धान्तके प्रकट होनेसे पहले यूरोपीय चिन्तनमे मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियोमे प्रमुख अन्तर यही माना जाता रहा कि मनुष्यमे आत्मा होती है, क्योकि वह बुद्धिमान - विचारशील प्राणी है, जबकि मनुष्येतर प्राणियोमे नही! मनुष्येतर प्राणियोका व्यवहार एक स्वयचालित यन्त्रकी तरह होता है (Animals are mere machines, they are bodies animated but soulless, they lack concious perception and application though not the appearance of them) इस तरह मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियोमे भेदद्वारा मनुष्यमे आस्थासे पहेल तर्ककी उपस्थिति स्वीकारी जाती है

अतएव, यूनानी दार्शनिकोने इस ब्रह्माण्डमे मनुष्य ही अकेला तार्किक प्राणी है, विचारशील प्राणी है, अत उसकी विचारशीलतामे ही उसका अस्तित्व खोजना चाहा (Man is rational animal)

भारतीय चिन्तन मनुष्यको मनुष्येतर प्राणियोसे उसकी धार्मिकताकी विशेषताके कारण पृथक् मानता हे. मनुष्य-एक धार्मिक पशु है "धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः" वैसे "पशुनां समजोऽन्येषां समाजः" में पशुसमुदाय 'समज' तथा मानवसमुदाय 'समाज' कहलाता है. यों मनुष्यको एक सामाजिक पशुके रूपमें मनुष्येतर प्राणियोंसे पृथक् अवश्य किया गया परन्तु परिभापाके रूपमें मनुष्यकी इस विशेपता - सामाजिकताको अधिक महत्त्व न दिया गया. "मनुष्य एक सामाजिक पशु हे" वाली परिभापा भारतीय हृदयको स्पर्श नहीं कर सकी. उन्हें तो मनुष्यकी धार्मिकता ही अधिक महत्त्वपूर्ण लगती थी.

बाइबलके अनुसार ईश्वरीय सृष्टिमें मनुष्यका निर्माण सृजन - प्रक्रियाका 'Climax' - चरमबिन्दु था. मनुष्य ही सृष्टिका प्रयोजन है - केन्द्र है, क्योकि समग्र सृष्टि मनुष्यकेलिये है. सूर्य - चन्द्र - तारे आदि सभी कुछ भगवानने मानवकी सुविधाके हेतु बनाये है अपने अलावा सभी प्राणियोका उपयोग मनुष्य अपनी भूख मिटाने या अन्य सुविधाओ केलिये कर सकता है। मनुष्यको (आदमको) भगवान्ने अपनी आकृतिके अनुरूप गढ़ा था. ईश्वरके अनुरूप मनुष्यका ज्ञानी बनना, परन्तु ईश्वरको स्वीकार्य न था. आदमको ज्ञानफल चखनेकी मनाही थी. उस अज्ञानावस्थामे शैतानने ईवके द्वारा आदमको भरमा दिया. वस्तुत नैतिक उत्तरदायित्वमे स्वतन्त्र आदम अभी सदसद् - विवेकप्रद फलको चख नही पायाकी ईश्वरीय आज्ञा अथवा शैतानी प्रेरणामे, अतएव, सदसद्विवेक सम्भव न हो पाया. सर्वज्ञ - दयाल ईश्वरने अपने प्रिय आदमको उस उद्यानमे, जहां शैतान भी प्रविष्ट हो सकता था, उन्मुक्त छोड दिया और शैताननें आदमको भरमा ही दिया. यो आदमने ज्ञानफल चख लिया. परिणामत आदममे १. सदसद् विवेक (Knowing good & evil) २. इच्छास्वातन्त्र्य - नैतिक उत्तरदायित्व (Moral autonomy) ३. आत्मनिर्भरता (Relience on self rather than on God) ये विशेपताएं प्रकट हुई. इनमे भगवदिच्छा या भगवल्लीला हेतु नही थी किन्तु

मनुष्य विरोधी एक शैतानी प्रेरणाके वशीभूत होकर ईश्वराज्ञाका उल्लङ्घन ही हेतु था. ये विशेषताएं मानो उस अपराधके दण्डरूप प्रकट हुई थी. अतएव अब न तो निष्पाप जीवन ही सम्भव रह गया और न स्वर्गीय अमरता ही. आदमका स्वर्गसे अध पात भूलोकपर हुआ, नरकपातकी भूमिकाके रूपमें आदमके महापतनमें हेतुभूत आदमीकी एकमात्र महत्ता - विचारशीलता!

यूनानसे विरासतमे मिली मनुष्यके एकमात्र विचारशील प्राणी होनेकी धारणा ईसाइयताके साथ अपना तालमेल न बैठा पायी. बुद्धिमत्ता जो वरदानरूप मानी जाती रही, एक अभिशापका रूप लेने लगी ज्ञानके फलका स्वाद मीठा था या कडवा यह निश्चय न हो पाया "मनुष्य एक विचारशील प्राणी है" की धारणा शनै-शनै "मनुष्य एक पापशील प्राणी है" मे रूपान्तरित होने लगी

मनुष्यके सम्पूर्ण अस्तित्वकी व्याख्याका मूलाधार आदमका मूलपाप बन गया 'Orginl Sin' - मनुष्यका पापी होना उसकी नियति बन गई यदि इस ब्रह्माण्डमे कही कोई पापी प्राणी है तो वह मनुष्य ही - पापी होना मनुष्यका निजी एकान्त स्वरूप बन गया. वैसे कहनेको शैतान भी पापी है परन्तु उसे नरक यातना देना या खत्म करना ईश्वरके सामर्थ्यकी बाहर बात है, या फिर सर्वसमर्थ ईश्वर शैतानको खत्म करना नही चाहता. शैतानमे शैतानियत ईश्वरीय अनुज्ञापर मानो निर्भर हो और मनुष्यमे शैतानियत ईश्वरावज्ञापर. मनुष्यके छोटे - छोटे अपराध, जिनका उत्स कही न कहीं ज्ञानफलमे ही होता है, का दण्ड मनुष्यको मिलता है, शाश्वत नरकाग्निमे दाह (The eternal fire of hell) के रूपमे. वस्तुत यदि इन छोटे - छोटे अपराधोसे ईश्वरको इतना कष्ट पहुंचता हो तो शैतानकी जहां पहुच हो ऐसे उद्यानमे मनुष्यको एकाकी उन्मुक्त नहीं छोडना चाहिये था बिचारे आदमके शैतानी प्रभावमे आ जाने पर उसे ऐसे प्रभावसे मुक्त करनेके बजाय

ईश्वरने शैतानकी बलिवेदीपर न केवल आदमकी परन्तु उसकी सारी भावी पीढीकी भी बलि दे दी। *मार्क्विस द सेद* कहता है कि ईश्वरके इस प्रथम पापकी प्रतिक्रिया ही सारे मानवीय पाप हे. " and human sin contincus to be mans answer to divine sin". हताश एक शायर कहता है:

जिन्दगी क्या है, गुनाहे आदम।
जिन्दगी है तो, गुनहगार हू मै॥

यद्यपि ईश्वरके समक्ष एक अपराधी बने रहनेमे अपनी सत्ताको खोजनेके बजाय या तो स्वयका मिट जाना अधिक उचित प्रतीत होता है, या फिर उस ईश्वरको मिटाना, जिसके समक्ष अपराधी बने रहना हमारी एक नियति हो दयालुता या कृपालुता आदि समस्त दिव्य गुण भी निर्भर करते हे ईश्वरके स्वभावपर नही परन्तु आदमीके हीनभावपर - आदमीके गुनहगार होनेपर—

उम्मीदे जुर्म पर ही करमका जहूर था।
बन्दा अगर कसूर न करता कसूर था॥

परेशान है बिचारे सूफी सन्त कि आदमीके गुनाहके कारण ईश्वर दयालु है या ईश्वरकी दयालुताके कारण आदमीको गुनहगार बनाया गया है खय्याम कहता है

ना कर्दा गुनह दर जहा कीस्त बिगो
उन कस कि गुनह ना कर्द चू जीस्त बिगो।
मन बद कुनम् ओ तू बद् मुकाफात दिही
पस फर्क मियाने मन ओ तू चीस्त बिगो॥

इस जगतमे कौन ऐसा है कि जिसने गुनाह न किया हो? आखिर बिना गुनाह किये तो आदमी जी भी नहीं सकता हा, मे बुरे काम करता हू, पर तू भी तो बुरा दण्ड देता है। अब बता कि मेरे ओर तेरे बीचमे फर्क क्या रहा? खय्याम यह पूछनेकी

जुर्रत कर लेता है पर सरमद बिचारा कहता है

अज जुर्म फजु याफ्ताअम फज्ल तुरा।
ईं शुद सबबे मासीअते बेश मरा॥
हर चन्द करम बेश गुनह बेशतरस्त।
दीदम हमाजा औ आजमूदम हमाजा॥

मेरे अपराधोकी अपेक्षा तेरी कृपा मुझे अधिक मिली मेरे अधिक अपराधी होनेका हेतु, तेरी अधिक कृपा है जितनी अधिक कृपा तू करता जाता है उससे अधिकतर अपराध मै करने लगता हू यह मैने सर्वत्र देखा है और यही मैने सर्वत्र आजमाया है

यद्यपि ईश्वरका दयालु होना आदमीके गुनाहोंकी चिकित्सा थी परन्तु इलाज बढता चला गया तो मर्ज और ज्यादा बढ गया। सन्त अगस्ताईन परमेश्वरकी दृष्टिमे सद्योजात शिशुको भी पापी मानते है

"आदमीके पापोको धिक्कार। तुमने आदमीको बनाया, परन्तु आदमीके अन्दर रहते पाप तुम्हारे बनाये हुए नही है कोई भी मनुष्य तुम्हारी दृष्टिमे पवित्र नही, वह शिशु भी नहीं जिसे जन्म लिये हुए अभी केवल एक दिन ही बीता है (Woe to sins of men! you have made him but the sin that is in him you have not made for in your sight no man is clean, not even the infant who have has lived but a day upon earth)

इस तरह यूरोपमे मानवीय चेतना बाल्यावस्थामे पापी होनेके बोध भारको एक मूक-असहाय शिशुकी तरह झेलती रही विद्रोह होना परन्तु कभी न कभी अनिवार्य था अतएव मनुष्यने अपने अस्तित्वको ईश्वरके प्रति विद्रोहमे खोजना चाहा ईसाईयत कहीं न कहीं मनुष्यके

अस्तित्वकी व्याख्या *"मै पापी हू अत मेरा अस्तित्व है"* मे खोजती रही - परन्तु विद्रोहकी वाणी कहना चाहती थी कि *"मै विद्रोह करता हू अत मेरा अस्तित्व है"*

विद्रोहकी यह सुपुप्त चिनगारी मानवीय चेतनामे सर्वदा भय - अनिश्चय - श्रद्धा - दमनकी राखमे ढकी हुई सुलगती रही आधुनिक अस्तित्ववादी दार्शनिक *ज्या पॉल सार्त्र* अपने 'ल मोश' (the Fly) नामक नाटकमे इस मानवीय विद्रोह और उसके कारणका एक विलक्षण चित्र प्रस्तुत करते हे

अर्गोस नामक राज्यके राजाकी हत्या स्वय रानी और उसके प्रेमी एजीस्थिअस कर देते है राजकुमार ओरेस्टसको एक वफादार नौकर बचाकर ले जाता है और पालपोस कर बडा करता है वह राजकुमार अपने पिताके बधका प्रतिशोध लेने अर्गोस लौट आता है यहा अर्गोसमें प्रेमी - प्रेमिका अपना अपराध प्रकट नहीं करते अत अपराधीका पता न चलनेके कारण समूचा राज्य शाश्वत शोक एव प्रायश्चित करता रहता है राज्यके मान्य देवता जीअसको राजकुमारकी प्रतिशोध - भावना पसन्द नहीं आती अत रानीके प्रेमी एजीस्थिअसको, इस नये अपराधीको दण्डित करनेकेलिये प्रेरित करता है

"मै निष्फल अपराध पसन्द नही करता मुझे तुम्हारा (एजीस्थिअसका) अपराध ठीक लगा था क्योंकि वह एक बेहूदी - भद्दी हत्या थी वह एक ऐसा अपराध था कि जिसमे किसी प्रकारकी सावधानी नही थी - मानों एक पुरातन भावनासे किया गया कृत्य वह मनुष्यके कृत्यके बजाय एक विपत्ति ही अधिक प्रतीत होता था एक क्षण मात्रकेलिये भी तुम मेरे विरुद्ध नहीं गये, तुमने भय और क्रोध के उन्मादमे तुम्हारे रकीब राजाको मार डाला पर जब वह उन्माद शान्त हुआ और तुमने अपने कृत्यको घृणा

भरी दृष्टिसे देखा तो तुम्हारेलिये उसे स्वीकारना एक कठिनाई हो गई फिर भी मुझे कितना लाभ हुआ। एक मृत व्यक्तिकेलिये बीस हजार जीवित व्यक्ति प्रायश्चित्तमलिन हो रहे है। हा, वह एक अच्छा सौदा पटा था अभी वह (राजकुमार) अपनी योजना शान्तिपूर्वक विधिवत् और बडे प्रसन्न होकर घड रहा है मुझे ऐसे निश्चित, निर्लज्ज और शान्त हत्यापराधसे क्या लाभ जो हत्यारेकी चेतनामे एक हलके गोखरूसा चिपका रहे? नही, मै ऐसे अपराधको चलने नही दूगा नई पीढीके ऐसे सारे अपराधोंसे मुझे तीव्र घृणा है ये अपराध कृतज्ञतारहित - उर्वरतारहित एक सूखे हवाके झोकेसे होते है हा, वह युवक तुम्हारी हत्या करेगा - जैसे कोई मुर्गीके बच्चेको काटता हो - वह खूनसे सने हाथोको और अपने साफ दिलको लेकर बाहर निकल आयेगा नीचा, परन्तु, तुम्हारी जगह मुझे देखना पडेगा बुलाओ तुम्हारे आदमियोंको (वह तुम्हे मारनेका यत्न करे, उसके पहले) उसे उचित दण्ड दे दे"

मनुष्यको केवल पापी और ईश्वरको न्यायप्रेमी क्षमावान व्यक्ति माननेके सिद्धान्तकी अन्तिम परिणति, परमेश्वरके ऐसे (अ)स्वाभाविक विकासमे होती हे

ओरेस्टस आता है - अपने पिताकी हत्याका प्रतिशोध लेता है मुमूर्षु एजीस्थिअस उससे पूछता है कि वह अपने इस अपराधका प्रायश्चित्त करेगा कि नही राजकुमार जवाब देता है कि उचित कृत्यका प्रायश्चित्त नहीं किया जाता एजीस्थिअस कहता है, किसी भी कृत्यका औचित्य ईश्वरीय विधानपर अवलम्बित होता है, मानवकी स्वैर कामनाओंपर नहीं राजकुमार कहता है, "मुझे क्या परवाह परमेश्वर जीअसकी? न्याय तो दो मनुष्योके बीचकी बात है और वह ईश्वरसे नहीं सीखना है तुम्हारे जैसे धूर्त पशु (एजीस्थिअस)को खत्म करना मेरेलिये उचित कृत्य है - अर्गोस राज्यकी प्रजाको उसकी

मानवीय महत्तासे मण्डित करना सर्वथाही उचित कृत्य है"

जीअस भगवान् आते है और राजकुमारको अपने दुष्कृत्यका प्रायश्चित्त करनेकेलिये समझाते है भूकम्प, सूखा, बिजली - गिराना, समुद्र - सुखाना जैसी डरावनी धमकी देते है राजकुमार डरता नहीं वह सारे दण्डोंको सहर्ष भुगतनेकेलिए तैयार है वह कहता है कि जीअस देवताओंका शासक हो सकता है, मनुष्यका नहीं जीअस चिढ़कर पूछता है "तुम्हे किसने बनाया?" राजकुमार उत्तर देता है "तुमने, परन्तु यह मत भूलो कि तुमने मुझे स्वतन्त्र बनाया है शायद यह तुम्हारी गलती हो सक्ती है पर मनुष्य बनाया गया है स्वतन्त्र ही!" जीअस कहता है कि मनुष्यको स्वतन्त्र इसलिये बनाया कि स्वतन्त्रतया ईश्वराराधन कर सके परन्तु राजकुमार उत्तर देता है कि मनुष्यकी यह ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्रता अब ईश्वर विद्रोहमें काम आ रही है और न ईश्वरके पास कोई उपाय है न मनुष्यके पास।

"ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नमे स्वतन्त्र मनुष्य + शैतानकी तुलनामे निर्बल मनुष्य + ईश्वरकी दृष्टिमे पापी मनुष्य + न्यायप्रेमी दयालु परमेश्वर = विद्रोह" एक गणितके नियमो सी ध्रुव नियति दिखलाई देती है

ये वचन रखे गये है, सम्भवत , 'जीसस' ध्वनिसाम्यवश, 'जीअस'के मुखमे अन्यथा लक्ष्य यहा यहूदी - ईसाई परम्पराके परमेश्वर ही है यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि प्राचीन यूनानी धार्मिकता आश्चर्यजनक रूपमे प्रकृतिके प्रति कृतज्ञताका भाव व्यक्त करती है मूल पापके मूलमे वहा शैतानी शक्ति नही परन्तु एक भारतीय कामदेव जैसी दैवी शक्ति 'इरोज' काम कर रही होती है विराट् प्रकृति या जीवनके परिप्रेक्ष्यमे मानव निश्चय ही एक श्रेष्ठ आदर्श दिखलाई देता है बादमे जब विरोधी लोग यूनानमे प्रबल हो गये तो धर्म भी भयाक्रान्त हो गया और ईसाईयतके आगमनकी तैयारिया होने लगी

"ईसाई आस्था प्रारम्भसे ही बलिदानकी भावनापर आधारित रही है - स्वतन्त्यका बलिदान, पराधीनता, आत्मोपहास और आत्मोच्छेद की वृत्ति यहा बहुत प्रबल है आज युरोपीय नास्तिकताका सन्दर्भ है परमेश्वरके 'परमपिता', 'परमन्यायी' तथा 'परम कृपालु' होनेका अस्वीकार, मनुष्यके इच्छास्वातन्त्यको परमेश्वर पूर्णतया मान्य करना नही चाहता, मान्य कर भी ले तो परमेश्वरके पास मनुष्यके सहायक बन पानेकी जानकारी नही है सबसे खराब बात यह है कि परमपिता परमन्यायी परमदयालु परमेश्वर अपनी बात साफ-साफ मनुष्यपर जाहिर नही कर पाता वह अपने आपमे भी स्पष्ट नहीं है कि वह क्या चाहता है ये बाते अक्सर चर्चमे प्रश्नोत्तरके रूपमे उभरती है और यूरोपीय ईश्ववादकी अवनतिका कारण बनती है यह निश्चित है कि यूरोपमे धार्मिक भावना या भूख तो बढती जा रही है परन्तु ईश्वरवादकी ओरसे जो कुछ समाधान दिया जाता है, उसे एक गहरे अविश्वासपूर्वक अस्वीकारनेकी वृत्ति भी स्पष्ट दिखलाई देती है" (बियोंड गुड एड ईविल नीट्शे)

पुनर्जागरण कालका चिन्तन जाने-अनजाने इसी अविश्वासके शखनादका था कई व्यक्तियोने यह शखनाद कई तरहसे किया यहा ध्यान देने लायक बात यह है कि १ प्रारम्भिक यूनानी धर्म और दर्शन २ मध्यकालीन ईसाई धर्म और दर्शन तथा ३ आधुनिक विज्ञान और दर्शन ये तीनो ही परस्पर विरोधी स्वभाव प्रकट करते रहे है

१ प्रारम्भिक यूनानी दृष्टिमे एक सौन्दर्यबोध था वह उनके धर्म और दर्शन दोनोमे ही परिलक्षित होता था यद्यपि धर्म और दर्शन मे आपसी टक्कर वहा भी कई बार बहुत जोरदार हुई इसके बावजूद दोनो दृष्टिकोणोमे एक समान स्वभाव जो यूनानका अपना एक राष्ट्रीय स्वभाव था, छाया हुआ रहा ब्रह्माण्डकेलिये प्रयुक्त 'COSMOS शब्द ही शृङ्गारवाची भी है ब्रह्माण्ड उनकेलिये एक कलात्मक सर्जन

था. ऐसे ब्रह्माण्डके सामने मानवकी दृष्टि, सराहनाभरी - आदरभावयुक्त विस्मयकी थी. मानो एक प्रसन्न क्रीडारत बालककी दृष्टिमें जब अपने नये खिलौनेकेलिये अकस्मात् जिज्ञासाका भाव उदित हो जाये कुछ ऐसी दृष्टिसे यूनानी चेतनाने ब्रह्माण्डको निरखना चाहा. ब्रह्माण्डको परखना भी चाहा तो एक कलाप्रेमी या कलासंग्राहक की ही दृष्टिसे. यह ठीक है कि भारतीय चेतनाकी तरह बौद्धिक विश्लेषणके बजाय ध्यान - समाधिद्वारा सत्यके साक्षात्कारकी वृत्ति नही थी, परन्तु यह विश्लेषण ब्रह्माण्डका एक प्राण रहित जड शवके विश्लेषण सा नहीं था. वह विश्लेषण भी एक कलाविश्लेषण था, कलाके गुण-दोषोंको परखनेकी वृत्तिसे किया गया विश्लेषण.

यह समग्र ब्रह्माण्ड मानो एक महती यूनानी नाट्यशाला(थियेटर) थी, जिसमे सभी तरहके नाटक दु.खान्त और सुखान्त चल रहे थे ओर यूनानी चेतना एक सम्वेदनशील दर्शककी तरह उन घटनाओमे अपना तादाम्य - अपना प्रतिबिम्ब देख पाती थी. व्यक्तिचेतना और ब्रह्माण्ड - समष्टिमे एक सवाद था तादाम्य था - शुद्धाद्वैत था.

२ मध्यकालीन ईसाई धर्म तथा दर्शन ने ब्रह्म या ब्रह्माण्ड के साथ मानवीय चेतना या अस्तित्व के बीच इस शुद्धाद्वैत या तादाम्य की स्थितिको मिटानेका भरसक प्रयास किया ब्रह्माण्डसे कटकर - ब्रह्मसे भिन्न होकर जब हम ब्रह्माण्डका केन्द्र बनना चाहते है तब जडके प्रति रही तुच्छ भावना तथा मानवीय देहका जडरूप या भौतिक होना हमारे अन्दर आत्मग्लानि ओर अपराध का भाव जगाता है इस भौतिक देहमे आत्मचेतनाकी अभिव्यक्ति या धरातलपर मनुष्यका अशुभ आगमन स्वर्गसे अध पातके रूपमे चित्रित होता है. इस अध पातका नैतिक उत्तरदायित्व पुनः हमपर थोपना आत्मग्लानिको अधिकाधिक गहरी बनाता है. स्वय अपने और इस सृष्टिके प्रति हमारे भावोमे एक विकराल मानसिक द्वैत उत्पन्न हो जाता है. एक ओर हम कहते

है कि ईश्वर सर्वकर्ता सर्वसमर्थ और एक सर्वशुभ शक्ति है और अतएव जो कुछ हमे इस ब्रह्माण्डमे श्रेष्ठ लगता हो वह हमारे कारण नही परन्तु परमेश्वरके कारण है दूसरी ओर शैतानकी तुलनामे मनुष्यका निर्बल परन्तु स्वतन्त्र होना एक साथ जगतकी सारी खराबियो - बुराइयोकी जिम्मेदारी हमपर थोप देनेके बराबर होता है परमेश्वर सर्वसमर्थ होनेपर भी शैतानको न तो रोक सकता है और न खत्म ही कर सकता है परम शुभ होनेके कारण अपनी सृष्टिमे किसी भी प्रकारकी शैतानियत परमेश्वर चाहता भी नही। फलत अपने इस अन्तर्द्वन्द्वका 'दण्ड' परमेश्वर अपने प्रिय आदमको शैतानके साथ भिडाकर रोमके नीरो बादशाहकी तरह मनुष्यकी शैतानी शक्तिद्वारा पाशविक और खूखार चीरफाड देखनेमे मजा लेकर दे देता है

३ ब्रह्म या ब्रह्माण्ड और व्यक्तिचेतनाके द्वैत तथा परमेश्वर और शैतान के द्वैत की मोहनिद्रासे जगना अनिवार्य था अत यूरोपीय मानवको जगाने वालोके कई नाम हमारे सामने आते है

मार्टिन लूथर (१४८३ - १५४६) कोपरनिकस (१४७३ - १५४३) गेलेलियो (१५६४ - १६४२) बेकन (१५६१ - १६२६) देकार्ते (१५९६ - १६५०) न्यूटन (१६४२ - १७२७) डीड्रो (१७१३ - १७८४) डार्विन (१८०२ - १८८२) कार्लमार्क्स (१८१८ - १८८३) फ्रायड (१८५६ - १९३९) इत्यादि मध्यकालीन अनेक मोहोको तोडनेका श्रेय इन्हीं महानुभावोको प्राप्त होता है समूचा पुनर्जागरण व्यक्ति और ब्रह्माण्ड तथा परमेश्वर और शैतान की द्वैतवादी निद्राको छोडकर कहीं आख खोलना, कहीं अगडाई लेना, कहीं बैठना, कही खड़े होना और कहीं चलने लगनेकी सी बात है जाने - अनजाने जगत् और मानवीय चेतना, जगत और जगदीश तथा अन्तत परमेश्वर और शैतान के बीच एक तादात्म्य, एक शुद्धाद्वैतकी स्थापनाकी ओर प्रयास है आधुनिक विज्ञान और वैज्ञानिक दर्शनका यूरोपीय धार्मिक

मान्यताओंके साथ संघर्ष देखकर और इस संघर्षमे विज्ञानकी बौद्धिक विजय देखकर हमारे धार्मिक पक्षपातको आघात लगता है कहीं न कहीं हमारे मनके अंधेरे कोनेमें कोई चोर सा छिपता हुआ प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष विजय प्राप्त करनेवाले विज्ञान और श्रद्धावश टिके रहने वाले धर्मके बीच हमे किस पक्षको अपनाना चाहिये? परन्तु हमारे उपनिषदोंने "द्वैत भयका मूल है" कहकर हमे पहले सावधान कर दिया था अत द्वैतखण्डन एक अन्य पक्ष है ओर धार्मिक सहजवृत्ति एक दूसरा ही पक्ष हे इनके विवेकको खोना नही चाहिये विज्ञान धार्मिक वृत्तिका खण्डन नही कर सकता वह तो खाने - पीने - सोने - जगने - घूमने - विचार करने-स्नेह करने जैसी ही एक अन्यतम सहज और स्वाभाविक वृत्ति हे आधुनिक विज्ञानने खण्डन किया है उस द्वैतवादका जिसे सहज धार्मिक वृत्तिवश यूरोपीय चेतनाने स्वीकार लिया विज्ञान खण्डन करता है इसी द्वैतवादका जिसे हमारे यहा भी ब्रह्म ओर माया या जगत् और जगदीशके द्वैतके रूपमे चित्रित किया जाता है

आधुनिक विचारोंद्वारा किये गये इसी द्वैतवादके क्रूर खण्डनका अब हम कुछ खाका खीचना है

पोपकी निरंकुश कल्पना, इच्छा और आज्ञा के विरोधमे सर्वप्रथम एक सशक्त वाणी मार्टिन लूथरमे मुखरित हुई इस विद्रोहकी वाणीको दबाया न जा सका, सारे दमन और अत्याचार के प्रकारोके बावजूद एक दिन इस विद्रोहकी वाणीने कोपरनिकससा वक्ता पाकर एक और रहस्य खोल दिया कि ब्रह्माण्डके केन्द्रमे पृथ्वी नहीं है! मानवीय अहम्की प्रतीक पृथ्वी अस्थिर हो गई - सूर्यके इर्दगिर्द चक्कर काटनेवाले हमारे अहम्को ब्रह्माण्ड - केन्द्रसे पदच्युत कर सूर्य उस पदपर आरूढ हो गया अब यह मानना कठिन हो गया कि सूर्य मनुष्यके दिनको प्रकाशित रखनेकेलिये बनाया गया था गैलेलियोको भी वैज्ञानिक रहस्य

प्रकाशनके अपराधमे दण्ड भुगतना पडा था इधर विगत वर्षोंमे उसका केस पुन खोला गया और उसे अधिकृत रूपमे क्षमादान मिल गया। परन्तु खोती चली गई मध्यकालीन मान्यताए वैज्ञानिक उपलब्धियोकी ओटमे। बेकनके द्वारा जब नये तर्क शास्त्रका प्रादुर्भाव हुआ तो देकार्तेको सन्देह होने लगा—प्राचीन स्वीकृत सिद्धान्तो पर, सन्देह होने लगा समग्र ब्रह्माण्डके क्रिया कलापो एवम् नियमो पर भी एक नवीन चिन्तनयात्राका आरम्भ बिन्दु बना सन्देह, सर्वग्रासी सन्देह— *"द ऑम्निबस ड्युबितान्दम्"*

अब ईश्वरीय शास्त्रवचनोके आधारपर न तो ब्रह्माण्ड सिद्ध हो सकता था और न मनुष्यका उसमे अस्तित्व स्वयम् ईश्वरीय शास्त्र भी सन्दिग्ध होने लगे और ईश्वरीय सत्ता भी सन्देहके इस विस्फोटमे जो ढह न सका वह था सन्देहकर्ता मनुष्यका अस्तित्व यदि स्वय मै नही तो सन्देह किसे हो रहा है? मै सन्देह करता हू अत मेरा अस्तित्व है शास्त्रप्रामाण्यके भवनमे भी इसी सन्देह विस्फोटका धुआ भर जानेसे ईश्वर भी अब सन्देहकर्ताके अस्तित्वके खण्डहरमे छिपनेकी कोशिश करने लगा, *कोजीतो एर्गो सुम,* मै सन्देह करता हू अत मेरा अस्तित्व है मेरे अस्तित्वकी धारणा जितनी स्पष्ट है उतनी स्पष्टता यदि ईश्वरकी धारणामे भी दिखलाई पडती हो तो ईश्वरका अस्तित्व भी सम्भव है

इस खण्डहरके नव निर्माणमे आस्थाके लचीले नियम काममे नही लाये गये, किन्तु तर्कके कठोर नियम ही लाये गये फलत मनुष्यकी चेतनामे ब्रह्माण्ड एवम् प्राणिजगतका चित्र भी एक स्वत चालित यन्त्रकी सी कठोरता लिये हुए उभरा स्वत चालित यन्त्र जब स्वयमेव चल सकता है तो प्राकृतिक नियम क्यों स्वत चालित नहीं हो सकते? न्यूटनके हिसाबसे बिना किसी चेतन सहायकके कोई भी जडपिण्ड तब तक चलता रहता है जब तक उसके मार्गमें कोई अवरोध

न आ जाये पृथ्वी भी सूर्यके इर्द गिर्द स्वत घूम रही है ओर कोई व्यवधान उपस्थित न होनेपर घूमती ही रहेगी ब्रह्माण्ड एक स्वत चालित यन्त्र है इसे चलानेवाली शक्तिकी कोई अपेक्षा नहीं "The prime mover" की भी अपेक्षा नही वैज्ञानिकोके अनुसार यह ब्रह्माण्ड फिर भी Chaos - घाघली नही है परन्तु Cosmos एक नियमबद्ध स्वत चालित तन्त्र है हा, बिना किसी चालकके यह ब्रह्माण्डकी गाडी चल रही है, पर कहा पहुचायेगी यह हमे, इसका गन्तव्य स्थल कौनसा है? प्रयोजनवश चलना चेतन स्वभावकी प्रक्रिया है ब्रह्माण्ड तो स्वयमेव चल रहा है अत इसके चलनेमे न तो कोई प्रयोजन है ओर न यह कही पहुचना या पहुचाना ही चाहता है इसकी नियति है केवल चलना, नियमबद्ध चलना, क्योकि नियमबद्धता ओर गतिशीलता यह जडपिण्डका स्वभाव है जड यहा चेतन बन गया ओर चेतन बन गया जड जड और चेतन मे द्वैत समाप्त हो गया। वैज्ञानिकोंकि ब्रह्माण्डमे व्यवस्था (Order) है परन्तु प्रयोजन (Purpose)का विचार अब फैशनेबल नही रहा

परमेश्वर वैज्ञानिकोसे पूछ रहा था "क्या मै आपकी कुछ सहायता कर सकता हू? (May I help you)" ओर वैज्ञानिक कहना चाहता है "धन्यवाद! हमारा स्वयञ्चालित ब्रह्माण्डयन्त्र ठीकसे काम दे रहा है! (No thanks! It is O K)" डीड्रोके विश्वकोषमे एक भी लेख परमेश्वरपर नही लिखा गया था फ्रास नरेश परेशान था कि ऐसा क्यो! मगर डीड्रोका उत्तर बहुत सक्षिप्त था, "आवश्यक न था!"

हम सभी इस निष्प्रयोजन चलते यन्त्रपर सवार हो गये है पता नहीं कहा जाना है पता नहीं यह हमे कहा ले जा रहा है तथ्य हमे केवल यही अवगत है कि यह स्वत चल रहा है निकट दूरीपर कहीं कोई टकराव नही, दुर्घटनाकी सम्भावना नहीं सभी कुछ आसपासमे स्वत चलित यन्त्रसा निश्चित नियमानुसार चल

रहा है, क्योकि चलना स्वभाव है - परन्तु कही पहुच गया तो रुक जायगा - जीवन प्रणाली भी रुक जायगी - रुक जाना इस स्वचालित यन्त्रके सर्वनाशकी निशानी होगी

" आखिर ऐसे निरुद्देश्य भागते यन्त्रमे अपने प्रिय आदमकी सन्ततिको उस परमदयालुने क्यो बिठाया होगा ?" दुर्घटनाकी आशङ्कासे त्रस्त मानवीय चेतना पूछना चाहती थी मगर डार्विनने बीचमे ही टोक दिया, ईश्वर नहीं बिठाता तुमने यन्त्रमे सवार बने रहनेको दुर्धर्ष सघर्ष किया तुमने सघर्ष ठाना, तुम सघर्षमे विजयी हुए, तुम जीवित रहे, अत तुम स्वयम् बैठे हो जो लड नही पाये वे जीत नही पाये, जो जीतते नही वे जीवित रहनेके अधिकारी नही है। जो मर गये उनके अवशेष अश्मीभूत (Fossils) हो गये यदि भविष्यमे कभी तुम भी हार जाओगे तो तुम्हारे अवशेष भी पथरा जायेगे निरन्तर सघर्ष तुम्हारे अस्तित्वकी पहचान है मनुष्य एक सघर्षशील पशु है अत उसका अस्तित्व है, मै सघर्ष करता हू अत मेरा अस्तित्व है "Struggle for survival" विकास और जीवन का रहस्य है सघर्ष मानवीय अस्तित्व एक लम्बे सघर्षतन्त्रका जड विकासवादी जाल निकला।

अब आदमका मॉडल परमेश्वर नहीं था किन्तु 'वानर' ही थोडेसे सीधे खड़े होकर चलनेके प्रयत्नमे 'नर' बन गया। "मनुष्य एक तार्किक पशु है" का तर्क विकासके विविध क्रमोमे न जाने कहा खो गया। मानवीय आत्माकी अमरताका चिन्ह धूधला पड़ने लगा अमर आत्मा मरने लगी। कोई बता भी न पाया कि अपने विकास क्रममे - बन्दर - ओस्टेलोपिथेकेस - पिथकेनथ्रोपस - हीडलबर्गीन - नीएन्डरथाल - क्रोमार्म्नान मेसे सर्वप्रथम, आत्मधारी वानर या नर कौन था। कौन प्रथम विचारशील बन्दर था, आदम किस बन्दरकी औलाद था या किस बन्दरियाको शैताननें भरमा दिया था ?

विज्ञानके अनुसार बन्दरमे तर्कशक्ति न तो आत्ममूलक है और न परमात्ममूलक तर्कशक्तिका प्रादुर्भाव प्रकृति एवम् अन्य हिंस्र पशुओंके साथ चले आते, अमीबासे मनुष्य तकके विविध विकास सोपानोंके, क्रूर सघर्षका फल था, जिसे किसी एक आदमीने नहीं, अपितु अनेक प्राणियो, अनेक वानरोकी जातियो एव अनेक प्रागैतिहासिक मानव समूहोने खाया आत्मरक्षणके विविध उपायोको खोजनेका तर्क मानवेतर प्राणियोमे भी चलता ही रहा है

इस तरह ब्रह्माण्डमे केवल मनुष्य ही सामाजिक प्राणी है, ब्रह्माण्डमे केवल मनुष्य ही विचारशील प्राणी है, ब्रह्माण्डमे केवल मनुष्य ही पापशील प्राणी है, ब्रह्माण्डमे केवल मनुष्य ही सन्देहशील प्राणी है—से अब स्वत चलित ब्रह्माण्डकी यन्त्रवादी व्याख्याके अनुसार तथा जीवनार्थ सघर्ष (Struggle for suvival)के क्रूर विकासवादी नियमोके अनुसार मानवीय चेतना या अस्तित्वका बोध इस निरुद्देश्य भागते हुए यन्त्र पर अधिकाधिक अधिकार (Control) प्राप्त करने या प्रकृतिके साथ सघर्षरत रहनेमे ही निहित होने लगा समूचा वैज्ञानिक विकास प्रकृतिके बारेमे रहे इस हीन भाव और निष्प्रयोजन जड प्राकृतिक नियमोको अपने वशमे लानेकी एक यौद्धिक महत्वाकाक्षामे रहा हुआ है न्यूटन और डार्विन के सिद्धान्तोंने जगत् और जगदीश का भेद तो मिटाया पर जो स्वरूप जगदीशका उन्हे विरासतमे मिला था वह जगदीशके बजाय जगतके बारेमे माना जाने लगा

विद्रोहवाद जैसे ईश्वरके प्रति मानवके चले आ रहे विद्रोहभावमे मानवका अस्तित्व खोजता रहा, ठीक उसी तरह यहा अब हम इस प्रयोजन ब्रह्माण्डके क्रूर एव जड नियमोके साथ मानवीय चेतनामे छिपे सघर्षभावमे अपना अस्तित्व खोजने लगे मनुष्येतर प्राणी भी सघर्ष तो कर रहे है, परन्तु उनका सघर्ष केवल जीवनकेलिये है, वह एक प्रतिरक्षात्मक (Defensive) सघर्ष है जबकि डार्विनके विकासवादने

एक नवीन आशा हमे प्रदानकी कि प्रकृतिके साथ मनुष्यका सघर्ष अब आक्रामक (Offensive) स्तरपर पहुच गया है अत अब केवल 'जीवन'केलिये नही अपितु जड प्रकृतिपर 'विजय' प्राप्त करनेकेलिये सघर्ष होना है मनुष्येतर प्राणियोपर एक वानर समूहकी विजयके इतिहासने प्रकृतिपर भी विजय प्राप्त करनेकी उद्दाम भावनासे वैज्ञानिकोको भर दिया। अब यह सघर्ष एक निर्णायक मोडपर आ चुका है यदि इस स्वचालित ब्रह्माण्डयन्त्रको मनुष्य अपने काबूमे न ला पाया तो यह मनुष्यको खत्म कर देगा न्यूटन और डार्विन का ब्रह्माण्ड, परन्तु, बहुत छोटा था और आदमी अपनी कल्पनाकी दौडमे विजयी होनेके अदम्य उत्साहसे भरा हुआ था उसने अपना मोर्चा साधा पृथ्वीके इस सुरक्षित किलेमे ऊची पहाडोकी चोटियो पर उसने भीमकाय दूरवीक्षण यन्त्र बैठाये, अपनी शत्रु प्रकृतिसेनाकी सख्या (Quantity) और गुण (Quality) का अन्दाज लगानेकेलिये अकस्मात् एक दिन उसे पता लगा कि जिन प्रकाश पिण्डोकी गणना वह एक क्षुद्र तारेके रूपमे कर रहा था वह तो एक अन्य स्वतन्त्र ब्रह्माण्ड है। और ध्यानसे इधर-उधर देखने पर ऐसे एक नही अनेक ब्रह्माण्ड निकले। मनुष्य पुन विजयोत्साहके शिखरसे लुढककर धरातलपर आ गिरा। कही ब्रह्माण्डके छोरपर दूसरी और मुझसे भी अधिक विकसित समर्थ प्राणी तो नहीं जो मुझे कभी यहा आकर जीत ले। जिन दूरियोपर मुनुष्यका जाना ही सम्भव नही उन सुदूर ब्रह्माण्डके क्षेत्रोपर मनुष्यके विजय प्राप्त करनेकी आशा धूमिल होने लगी। प्रकृतिपर विजय-अभियानकेलिये चली मानव चेतना अभी अधिक दूरी तय करनेसे पहले ही जबर-उल-तरीक योद्धाकी तरह सौरमण्डलके छोटेसे जिब्रालटर टापू पर रो रही है कि मेरे विजय अभियानकेलिये भूमि नहीं बची।

यह स्वयचालित यन्त्र कल्पनातीत विशाल दिखलाई पड़ने लगा कि जिसे अपने अधीन करनेकी बात बचकानी लगती है और इस

करोडो प्रकाशवर्ष विस्तार वाले ब्रह्माण्डमे हमारे सूर्यकी जब कोई गणना नही, हमारी पृथ्वी एक रजकणकी भी हैसियत न रखती हो तो वानरोद्भूत यह तार्किक पशु कब तक सघर्ष कर पायेगा, कितना सघर्ष कर पायेगा। इस विशाल ब्रह्माण्डसागरमे अपनी पृथ्वीकी छोटीसी डोगीपर सवार यह मानव - मछुआरा असहाय एकाकी सघर्षरत हो गया यह अपनी मछली पकड़ना चाहता है पर निश्चित नही कि पकडी हुई मछली - वैज्ञानिक उपलब्धिको वह सुरक्षित रख पायेगा कि नहीं यह भी निश्चित नहीं कि वह एकाकी इस सघर्षमे विजयी हो पायेगा कि नही पर अर्नेस्ट हेमिग्वे हमे आश्वस्त करता है "मनुष्य पराजयकेलिये नही जन्मा है मनुष्यको खत्म किया जा सकता है, पराजित नहीं (But man is not made for defeat A man can be destroyed but not defeated)" मानवकी सारी उपलब्धियोको खत्म किया जा सकता है पर मानवके स्वप्नोको नही। हेमिग्वेका बूढा मछुआरा अपनी पकडी हुई मछलीके क्रूर शार्कोके द्वारा चट किये जानेके बावजूद निश्चिन्त लेटा हुआ - आफ्रिकाके शेरोके साथ युद्धके सपने देखता है इन सपनोको कोई खत्म नहीं कर सकता।

सघर्षमे थकानकी घड़ियोमे इस बूढे मछुआरेको लगता था कि उसे अकेले ही इस सघर्षमे नही कूदना चाहिये था (ज्ञान या वयमे) वृद्ध मछुआरा अपनी डोगीसे भी बडी मछलीको धीरजयुक्त परीक्षण - निरीक्षण और लम्बी (साधनोकी) रस्सीसे पकड लेता है, परन्तु सागरकी क्रूर शार्क मछलियोसे सुरक्षित रख सके इतनी बडी डोगी ही उसकी नहीं है। वह महामत्स्यकी उपलब्धि व्यर्थ जाती है मछुआरेको लगता है, इतनी दूर अकेले आकर उसने अच्छा काम नही किया स्वयके हितमे भी नहीं ओर अपनी उपलब्धिके हितमे भी नहीं युगानुयुग सघर्ष जर्जरित मानवचेतनाको अपने वार्धक्यकी अनुभूति कचोटने लगती है वह थक रही है, बाह्य और आतरिक रूपसे। (I should nt have gone out so far, oldman said

Neither for you nor for me I am sorry you are tired oldman! he said, you are tired inside)

संघर्षका नियम तो केवल एक यही है कि मारो या मरो हर बडी मछली हर छोटी मछलीको निगलना चाहती है संघर्षका व्रत एक महाहिंसाका अनुष्ठान है जो कर पाता है वही जीवनाधिकारी है जो नही कर पाता सो मिट जायेगा परन्तु सीमा? इस अनन्त विस्तारवाले ब्रह्माण्डमे संघर्षशील मानवचेतनाको संघर्षसीमा दिखलाई नही पड सकती जिस दूरी तक मानव आ पहुचा है वहासे सुरक्षित लौट पाना भी अब एक समस्या है और बूढा मछुआरा कहता है "तुमने अपने भाग्यके साथ खिलवाड किया इतनी दूर निकल आकर! (No he said you violated your luck when you went too far aside)" उसे लौटना पडेगा पर क्या लेकर वह लौटेगा? थके पिटे मानवकी सारी उपलब्धिको विशाल सागरकी क्रूर शार्क रातके अंधियारेमे चट कर जायेगी - निहत्था बूढा आदमी कुछ कर भी नही पायेगा (But what can a man do against them in the dark without a weapon?) हताश वह सागरमे थूक देता है, कहता है "खा जाओ! और सपना देखो कि तुमने एक मनुष्यका वध कर दिया"

क्या सचमुच मनुष्यको एक दिन खत्म होना पडेगा? वैज्ञानिक कहते है, सूर्य एक दिन ठण्डा पड जायेगा आन्तरिक दबावसे उसमे विस्फोट हो जायेगा और फिर मानव इससे बहुत पहले खत्म हो चुका होगा या अन्य ग्रहोपर एकाध कोई भाग पायेगा कि नही कुछ भी निश्चित नहीं क्योकि निकटतम तारा सौर लोकसे बाहर निकलने पर चार प्रकाश वर्षकी दूरी पर है।

पास्कल कहता है कोई चिन्ताकी बात नही "यदि ब्रह्माण्ड

मनुष्यको कुचल भी देगा तो भी मनुष्यको मारनेवाले ब्रह्माण्डके बजाय मनुष्य ही श्रेष्ठ है क्योकि मनुष्यको अपनी मृत्युका बोध सम्भव है परन्तु ब्रह्माण्डको अपनी विजयका बोध सम्भव नहीं (When the universe has crushed him man will still be noble than that which kills him, because he knows that he is dying and of its victory the universe knows nothing)"

परन्तु सघर्ष यदि केवल जड ब्रह्माण्डके साथ होता तो मानवकी चेतनामे मृत्युबोध भी उसके अस्तित्वका चिह्न बन जाता "मुझे मृत्युबोध है अत मेरा अस्तित्व है।" सघर्ष यदि एक कदम आगे बढकर परस्पर मानवमे ही घटित हो जाये तो श्रेष्ठताका बोध कैसे सम्भव हो पायेगा?

मार्क्स कहता है कि मानवीय इतिहासकी भी एक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या हो सकती है यदि जड प्रकृतिके नियमोसे ही सघर्षमे हमारे अस्तित्वकी पहचान होती तो बात सरल थी हमे तो मनुष्य-मनुष्यके बीच सघर्ष करना है मानवीय इतिहास वर्गसघर्षका इतिहास है सामन्तवादी वर्गके साथ पूजीवादी वर्गका सघर्ष औद्योगिक क्रान्तिको तथा पूजीवादी वर्गके साथ श्रमिक वर्गका सघर्ष समाजवादी क्रान्तिको जन्म देता है मार्क्सके हिसाबसे यही नियति मानव इतिहासकी होनी चाहिये जिस रोज सम्पूर्ण विश्व सामन्तवाद - पूजीवाद - समाजवादके क्रमानुसार अन्तमे साम्यवादी व्यवस्थाको अपना लेगा उस रोज सघर्ष खत्म हो जायेगा परन्तु हिन्दी फिल्मी कहानीकी तरह "और दोनोका व्याह हो गया और वे सुखी हो गये" जितनी मानवीय इतिहासकथा सरल नही लगती। जिस युद्धको मार्क्स पूजीवादीकी देन मानता था वह युद्ध आज दो साम्यवादियोमे भी सभव हो गया

सघर्ष, वर्गसघर्ष ही नहीं अपितु समान वर्गमे भी सम्भव है

संघर्ष तो एक व्यक्तिके चेतन, अवचेतन और अचेतन मनमें भी फ्रायड सम्भव मानता है संघर्ष तो सर्वत्र है, पर संघर्षका प्रयोजन स्पष्ट न होनेपर विवेकका प्रयोग सम्भव नही रह जाता बर्ट्रेड् रसेल् कहते है कि

> "Mankind, owing to science and scientific technique, are unified for evil but are not unified for good They have learnt the technique of worldwide mutual destruction but not the more desirable technique of worldwide cooperation" (Protraits from Memory)" अर्थात्, विज्ञान और वैज्ञानिक तकनीकी के विकासद्वारा जो कुछ बुराइया हो सकती है उनकेलिये तो मानव संघटित हो गया है परन्तु अच्छाइयोकेलिये नहीं वह यह तो सीख गया है कि विश्वव्यापी विनाश किन बातोसे सम्भव है, परन्तु यह नही सीख पाया कि विश्वव्यापी सहयोग कैसे सम्भव है

अत सेम्युअल बैकेटका मनुष्य प्रतीक्षा कर रहा है एक 'गोदो'की, जो कुछ भी हो सकता है स्वर्ग, परमेश्वर, शोषणरहित समाज, स्वतन्त्रता इत्यादि-इत्यादि इनके मसीहा रोज-बरोज आते है और गोदोपर अपने एकाधिकारका दावा भी करते है आश्वासन देते है मनुष्यको "आज सन्देश लेकर हम आये हे और कल गोदो आयेगा" मनुष्य इस ब्रह्माण्डमे-इस पृथ्वीपर प्रतीक्षा कर रहा है, 'गोदो'की। वही केवल प्रतीक्षा कर रहा है अत उसका अस्तित्व है "मे 'गोदो'की प्रतीक्षा करता हू इसलिये मेरा अस्तित्व है" प्रतीक्षा प्रतीक्षा और प्रतीक्षा! कब तक प्रतीक्षा?

हमने ब्रह्माण्डमे ब्रह्म और माया (या शैतान)का द्वैत गढ़

लिया जगत् और जगदीश के भेदका परिणाम श्रेयस्कर नहीं हुआ. बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।१-५) इस तथ्यको बहुत अच्छे ढंगसे अभिव्यक्त करता है—

"पहले केवल परमात्मा ही था वह सोचने लगा कि मेरे अलावा और कोई है ही नहीं उसने "मै हूं" कहा और वह 'अहं' नामधारी हो गया आज भी पूछनेपर व्यक्ति 'मैं' कहकर ही दूसरा नाम—यज्ञदत्त, देवदत्त इत्यादि—बतलाता है क्योंकि सर्वप्रथम हुआ अत उसने सभी पापोंको जला दिया पापोंको पहले जलाया अत उसे 'पुरुष' कहा गया जो इससे पहले होना चाहता है वह भी सारे पापोंको जला देता है वह भयभीत था अतएव आज भी एकाकी व्यक्ति भयभीत रहता है उसने सोचा कि जब मेरे अलावा और कोई है ही नहीं तो मै किससे भयभीत हू और उसका भय निकल गया आखिर किससे डरना था? सारा भय अपने अलावा किसी अन्यके कारण होता है परन्तु वह एकाकितया रमण नहीं कर पाता था अतएव आज भी एकाकी कोई रमण नहीं कर पाता उसे दूसरेकी इच्छा हुई उसने स्वय अपनेको दो भागोंमे बाट लिया, पति और पत्नी बन गया अत पुरुष केवल अधूरा है यह अधूरापन स्त्रीसे ही पूरा किया जा सकता है उस स्त्रीके साथ मैथुनसे मनुष्य उत्पन्न हुये उस स्त्रीने सोचा कि मुझे उत्पन्न कर मेरे साथ ही यह मैथुन करता है तो मै छिप जाऊ वह गाय बन गयी तब वह पुरुष वृषभ बन गया दोनोंके मैथुनसे फिर भी अनेक बछडे पैदा हुये तब वह घोडी बन गयी और वह पुरुष तब घोडा बन गया इसी प्रकार गधी-गधा, बकरी-बकरा, अवि-मेष इस तरह जितने रूप स्त्री लेती गयी उतने रूप पुरुष भी लेता गया और मैथुनी सृष्टि उत्पन्न हुयी चींटी तककी सारी सृष्टि रची गई उस पुरुषने सोचा मै ही यह सारी सृष्टि हू, मैंने

ही यह सारी सृष्टि रची है वह स्वयं सृष्टि बन गया जो इस सृष्टिके रहस्यको जान लेता है वही सृष्टिमे बन जाता है."

पूरी सृष्टिमे कही कोई पाप-माया-शैतानकी कारस्तानी नही, कहीं कोई ग्लानि नही. सारी सृष्टि एक सहज लीला है, प्रयोजनरहित. एकका अनेक रूपोमे परिणत होना, स्वयका स्वयंके साथ एक आंखमिचौनीका खेल है. खेल अकेले सम्भव नही अत दो हिस्सोमे अपने आपको विभाजित करना पडता है. एक हिस्सा छिप जाता है और दूसरा हिस्सा उसे खोज लेता है, सृष्टिक्रम-सृष्टिक्रीडा आगे चलती रहती है. जो इस छिपनेवाले और खोजनेवाले के द्वैतमे एक मौलिक अद्वैतको पहचान जाता है, वह सारी सृष्टि और उसके कारणके बीच तादात्म्यको पहचान जाता है. वही इस सृष्टिमे निर्भय रमणका अधिकारी है. 'तादात्म्य'का अर्थ है दोमे अभेद एकाकीके अभेदमे रमण सम्भव नही, अत यदि शैतान और भगवान्, माया और ब्रह्म अथवा जगत् और जगदीश मे कोई अमिट भेद खडा किया गया तो वह भेद ही भयका-सघर्षका, एक दूसरेके प्रति अपराधका, पापका-कुण्ठा और त्रासका कारण बन जायेगा. परन्तु एकके अनेक होनेमे भय और अरति दोनोका समाधान मिल जाता है. केवल द्वैत और केवलाद्वैत के झगडेका भी समाधान शुद्धाद्वैतमे मिल जाता है.

ऐसे ब्रह्माण्डमे ब्रह्मको खोजना बहुत आसान है महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य इस सन्दर्भमे दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तसूत्र हमे प्रदान करते है

१. जगतकी ओर जब ज्ञानकी दृष्टिसे देखो तो साफ-साफ यह पहचाननेकी कोशिश करो कि ब्रह्म ही जगतरूप हुवा हे अत जगत् भी ब्रह्मरूप है. स्नेहकी दृष्टिसे देखना हो तो एकाग्र होना पड़ेगा. स्नेह यदि फैल जाता है तो वह स्नेह नहीं रह पायेगा, ज्ञान बन जायेगा. ज्ञान यदि सिमट गया तो स्नेह बन जायेगा (माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु

सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेह) अत ब्रह्मसे स्नेह करना है तो जगतको - ब्रह्माण्डको - ब्रह्मके व्यापक अक्षररूपको छोडदो, वह तो गणितानन्द है जिसे ज्ञानदृष्टिसे प्राप्त किया जा सकता है यदि अगणितानन्द हासिल करना है तो स्नेहदृष्टिसे ब्रह्मको देखना पडेगा, ज्ञानको सिमटकर एकाग्र - एकान्त होना पडेगा

२ अगणितानन्द ब्रह्मके प्रियतम रूपकी प्राप्तिकेलिये चित्तमे भगवत्प्रेम सम्पादित होना चाहिये प्रेमसवलित चित्तसे भगवानको खोजनेकी आवश्यकता नही होगी क्योकि स्नेहदृष्टिके लाभमात्रसे भगवानका छिप सकना सम्भव नही रह पायेगा चित्तमे भगवत्प्रेम सम्पादित होना चाहिये प्रेमसवलित चित्त सर्वत्र स्वयमेव विद्यमान भगवानको खोज लेता है भक्त्याविष्ट चित्त स्वयमेव भगवानको ग्रहण करता है' हमे लोकमे जो कुछ भी आनन्द अनुभूत होता है वह परमात्माके परमानन्दका अश है मनुष्यके विभिन्न विपयानन्दोसे लेकर ब्रह्मानन्दपर्यन्त जो भी परिगणित आनन्द है वे परमात्माके भजनानन्द - स्नेहानुभवकी आशिक अभिव्यक्तिया है जिसे जितना अश आनन्द प्रदान किया गया है उसे उतना अनुभूत होता है पुत्र, पत्नी, घर, धन, वैभव आदि सभी विपयोमे हमारे स्नेहका - सुखका स्रोत आत्माकी ओरसे प्रवाहित होता है ये (प्रत्येक) व्यक्तिगत आत्माये उस परमात्माकी आशिक अभिव्यक्तिया है अत स्वय अपनी आत्मामे हमारे स्नेह - सुखका स्रोत परमात्माकी ओरसे वह रहा है और स्नेहसरितामे इसी स्रोतकी तरफ एक बार पुन तैरा जाय तो उस व्यापक, अक्षर, अचिन्त्य तत्त्वको अपने स्वभाव और स्नेहभाव प्रयुक्त आकार दिया जा सकता है इस आकारको काल्पनिक मानना स्नेहके सामर्थ्य एव ब्रह्मके सामर्थ्य के साथ अपरिचय है

अपने "Process and Reality" नामक ग्रन्थमे ए एन् व्हाइटहेड कहते है—

Coupled with God's primordial nature is his consequent nature His consequent is derivative It expresses the reaction of the world upon God The consequent nature is thus in part the subject to process of actualization in the actual world As consequent God is conditioned by the world The primordial nature is free, complete, eternal, actually deficient and unconscious " परमेश्वरके दो प्रकारके स्वभाव कहे जा सकते है १ मौलिक स्वभाव और २ परिणत स्वभाव परिणत स्वभाव व्युत्पन्न होता है, जगतकी जगदीशके प्रति प्रतिक्रिया (Reaction) मे अभिव्यक्त होता है इस तरह परिणतस्वभाव अशत एक वास्तविकतया आर्विभावकी प्रक्रियाका अङ्ग होता है इस वास्तविक जगतमे परिणत स्वभावके रूपमे परमेश्वर विश्वोपाधिक है ईश्वरका मौलिक स्वभाव निरपेक्ष, पूर्ण, सनातन किन्तु वास्तविकतया अपूर्ण और अचेतन होता है

कुछ इसी तरह व्यापक निराकार ब्रह्म भक्तोके अनुसार आकार ग्रहण करता है यह आकार निरपेक्ष नहीं परन्तु भक्तभावसापेक्ष सर्वथा और वास्तविक होता है, कल्पित या मिथ्या नहीं

इस तरह हमने देखा कि शुद्धाद्वैत न तो मनुष्यको ब्रह्माण्डका केन्द्र या प्रयोजन मानता है और न उसे केवल पापी या हीन ही उसके सामर्थ्य, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, कृति एव फल सबमे ब्रह्म अनुगत है सब कुछ ब्रह्म है, सब कुछ ब्रह्मकी इच्छासे हो रहा है, सब कुछ उस परब्रह्म परमात्मा भगवान् कृष्णकी लीलाकी आशिक अभिव्यक्ति है समग्र जड पदार्थ ब्रह्मकी परम सत्ताकी आशिक अभिव्यक्ति

है. चेतन्य चाहे जीवानुगत हो या वृक्षगत, जलचरगत हो या स्थलचरगत—पशु, पक्षी, सरीसृप, मनुष्य सभीमें उस परमचेतनका ही चैतन्यांश प्रकाशित हो रहा है. सारा प्राणिजगत् किसी अव्यक्त आनन्दकी अनुभूति करता ही है "को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्?". अतएव जीवित है और जीवित रहना चाहता है. मैं आनन्दकी अनुभूति करता हूं अतः मेरा अस्तित्व है!

टिप्पणी :

१. *चित्ते भगवत्प्रेम सम्पादनीयं, ततः प्रेमसंवलितं चित्तं सर्वत्र स्वयमेव विद्यमानं* भगवन्त विषयीकरोति, भक्त्याविष्ट चित्त भगवन्त गृहणाति. सुबो.



धर्म दर्शन विज्ञान और कला में रसदृष्टिका पक्ष

(रसो वै स)

:: भूमिका ::

स्थूलके भीतर रहनेवाले सूक्ष्मको जान पानेको मानवकी बुद्धिमे चलता मन्थन दर्शन या तत्त्वज्ञान (Philosophy) होता है सूक्ष्मको जान लेनेके बाद बुद्धिको जचते साचेमे स्थूलको ढालनेका मन्थन विज्ञान (Science) होता है स्थूलके भीतर रहनेवाले सूक्ष्मकी अनुभूति पा लेनेको मानवके हृदयकी चहल-पहल धर्म (Religion) होता है सूक्ष्मकी अनुभूतिके अव्यक्त आनन्दको अभिव्यक्त करनेको हृदयको लुभानेवाले साचेमे स्थूलको गढनेकी चहल-पहल कला (Art) होती है

दर्शन सूक्ष्मको जाननेवाला द्रष्टा प्रकट करना चाहता है धर्म सूक्ष्मका आनन्द ले पानेवाला द्रष्टा प्रकट करना चाहता है विज्ञान बुद्धिको जचते साचेमे स्थूलको गढनेवाला स्रष्टा प्रकट करना चाहता है काव्य आदि कला हृदयको जचते साचेमे स्थूलको गढनेवाला स्रष्टा प्रकट करना चाहती है

सूक्ष्म और स्थूल, जानना और आनन्दित होना, मन्थन और चहल-पहल जैसे विरोधाभासोकी बाबतमे बृहदारण्यकोपनिपद्मे एक महान् वैचारिक सूत्र उपलब्ध होता है उपनिषद् कहता है "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृत च, स्थित च यत् च, सत् च त्य च" (बृह उप २।३।१) अर्थात् ब्रह्म(परमात्मा)के दो रूप होते है — मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमृत, स्थायी-सचारी और प्रत्यक्ष-परोक्ष

सूक्ष्म-स्थूल, मूर्त-अमूर्त, जड-चेतन, नश्वर-अनश्वर, सुख-दु ख, द्वैत-अद्वैत आदिके आपसी विरोधाभासोकी बात सुन कर जब महान् तत्त्व-चिन्तकोकी भी मति चकरा जाती है, उन्हे ऐसे सभी विरोधाभास मिथ्या-मायिक-भयकर लगने लगते है, तभी उपनिषद् कितनी सहजता सजो कर ऐसे परस्पर विरोधी लगनेवाले दोनो रूपोको एक ही ब्रह्मके विभिन्न दो रूपोकी तरह बिरदा देते है "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे।"

एक प्रश्न और उपनिषद् उपस्थापित करता है मूर्त-अमूर्त जैसे विविध विरोधाभासी रूप जो ब्रह्मके केवल दो रूप ही हो तो स्वय ब्रह्मको क्या या कैसा मानना चाहिये?

इस गूढ प्रश्नका समाधान प्रकट करते समय उपनिषद् मानवके हृदय या बुद्धि मेसे किसी एकको फुसलाना या फेक देना नहीं चाहते अतएव अद्भुत साहजिकताके साथ वह कह पाते है "अथात आदेशो 'न' इति-'न' इति'—'नहि एतस्माद्' इति 'न' इति अन्यत् परम् अस्ति।" (तत्रैव) केवल मूर्तको ब्रह्म मान लेना उपनिषदोको उचित नहीं लगता, इसी तरह केवल अमूर्तको ही ब्रह्म मानना भी उसे रुचता नही है, अतएव तो वह "'न'इति-'न'इति।" कहना चाहते है इसी तरह केवल मर्त्यको अथवा केवल अमृतको ही ब्रह्म नही मान लेना चाहिये केवल कूटस्थ-अविकारीको अथवा केवल आगमापायी-विकारीको ही सत्य मान लेना भी उसे अनभिप्रेत है केवल सत् (व्यक्त-प्रत्यक्ष) को अथवा केवल त्यत् (अव्यक्त-परोक्ष) को ही कभी सत्य उपनिषद्के अनुसार माना नही जा सकता है

तब प्रश्न उठता है कि किसे सत्य माना जाये? उपनिषद् समाधान प्रकट करते है "अथ नामधेय सत्यस्य सत्यम् इति" (तत्रैव) जब सत् (व्यक्त) और त्यत् (अव्यक्त) दोनो मिल कर एककाय जहा बन पाते हो, वही "सत्+त्यत्-सत्य" प्रकट हो पाता है

सत्‌से त्यत्‌को अथवा त्यत्‌से सत्‌को पृथक् कर निहारनेपर कभी भी सत्य उपलब्ध नही हो पाता।

इसी तरह मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमृत और स्थायी-सचारी के युगलोको भी एक-दूजेसे जुदा करके कुछ समझना चाहेगे तो उपनिषद् हमे आदेश दे देगा "अथात आदेशो 'न' इति-'न' इति।"

ऐसे विविध विरोधाभासोकी समग्रता या समष्टि ही ब्रह्म हो पाती है समग्र तत्त्व सत्य होता है परन्तु उसके विभिन्न अगोपाग या पक्ष अर्धसत्य होते है, असत्य नहीं

अमूर्तको मूर्तमे, अमृतको मर्त्यमे, गतिको स्थितिमे अथवा अव्यक्तको व्यक्तमे जान लेनेको किये जाते वैचारिक मन्थन द्वारा, जिस समग्रता या जिस सत्यकी खोज दर्शन और विज्ञान करना चाहते है, उसी समग्रता या सत्य को धर्म और काव्य आदि कला द्वारा भी खोजा जाता है सत्यको खोजनेकी या समग्रताको प्राप्त करनेकी दिशा धर्म और काव्य आदि कलाओकी भिन्न-भिन्न हो सकती है मूर्तका अमूर्तमे, नश्वरका अनश्वरमे या मर्त्यका अमृतमे, स्थितिका गतिमे, और, व्यक्तका अव्यक्तमे हृदयकी चहल-पहल द्वारा आनन्द उठा कर धर्म और काव्य आदि कला समग्रताको प्राप्त करना चाहते है, सत्यको खोजना चाहते है

कोई दार्शनिक हो या धार्मिक अथवा कोई वैज्ञानिक हो या कलाकार, जो समग्रताके बोध या स्वीकृति के हेतु सक्षम नही हो पाता, उसे न तो सत्य उपलब्ध होता और न वह उसे प्रकट ही कर पाता है जिसके समक्ष सत्य प्रकट नहीं हो पाता, वह ब्रह्मको पहचान नहीं पाता जो ब्रह्मको पहचान नहीं पाता, ऐसे दार्शनिकके दर्शनमे, धार्मिकके धर्माचरणमे, वैज्ञानिकके विज्ञानमे, या कलाकारकी कलामे रस प्रकट नही हो पाता, क्योंकि रस स्वय ब्रह्म

है "रसो वै स" (तैत्ति उप २।७) जिसे रसानुभूति नही हो पायी वह आनन्दी नहीं बन पाता "रस ह्येव अय लब्ध्वा आनन्दी भवति" (तेत्ति उप २।७)

यहा यह प्रश्न उठता है कि इस रसको प्रकट कैसे किया जाये? रसनिष्पत्तिके उपाय या प्रकार क्या? रसानुभूतिका अधिकारी कौन?

(१)वेदोके सहिता ब्राह्मण आरण्यक ग्रन्थोमे, इसी तरह, स्मृति धर्मसूत्र पुराण तन्त्र आगम आदि ग्रन्थोमे भी मिलते धर्मनिरूपणमे, या (२)उपनिषद् ब्रह्मसूत्र गीता भागवत आदि ग्रन्थोमे मिलते तत्त्वचिन्तनमे, या (३)आयुर्वेद ज्योतिष भाषाविज्ञान योगशास्त्र वास्तुविज्ञान आदि विज्ञानकी विकसित शाखाओमे, अथवा उसी तरह (४)रामायणसे प्रारम्भ कर मध्यकालीन प्रत्येक प्रान्तीय भाषाओंके साहित्य या सगीतकला नृत्यकला या मूर्तिकला आदिमे व्यक्त होनेवाली रसदृष्टिमे अपवादरूपेण ही अपनी भारतवर्षीय आर्ष परम्परामे कही-कभी नैल्यावरोध (glaucoma) की बाधा प्रकट हुई है।

परन्तु आधुनिक युगमे पाश्चात्य सस्कृति द्वारा उच्छ्वसित अगारक (carbon) वायु अब अपने धार्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और ललितकलाजगत्के वातावरणमे भी बढ रहा है अत प्रदूषण (Polution) भी बढ रहा है परिणामरूपेण अपनी भारतीय सस्कृतिकी प्राणोपमा रसदृष्टिमे प्राणवायुका अनुपात भी घटता हुवा सा दिखलायी देने लगा है धार्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और ललितकलाके क्षेत्रोमे उस वातावरणको पुन शुद्ध और स्वच्छ बनाना हो तो, उस रसदृष्टिको पुन भलीभाति पहचानना और प्रतिष्ठापित करना आवश्यक लगता है

धर्ममें अपनी रसदृष्टि

किसी भी वस्तुका भलीभाति ज्ञान पाना हो तो, उसकी परिभाषा

और उसके प्रमाण का ज्ञान होना प्राथमिक आवश्यकता है

अपने यहा धर्मके स्वरूप परिभाषा और प्रमाण यो दिये गये "धर्मार्थकाममोक्षाणा निमित्तानि अविरोधत" (भाग पुरा ३।७।३२) "यतो अभ्युदय-नि श्रेयससिद्धि स धर्म तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्" (काणा सू १।१।१) अर्थात् धर्म अर्थ काम और मोक्ष के स्वरूप परस्पर अविरुद्ध होने चाहिये अत जिसके कारण अभ्युदय और नि श्रेयस् दोनो सिद्ध होते हो उसे धर्म समझना चाहिये इस अभ्युदय और नि श्रेयस् के उपायोके उपदेशके कारण ही वेद आदि आम्नायोके वचनोका प्रामाण्य माना गया है

अभ्युदय आधिदैहिक होता है जबकि नि श्रेयस आध्यात्मिक होता है जीवनको खिलानेकी कलासे अभ्युदय सिद्ध होता है आत्माको खिलानेकी कलासे नि श्रेयस सिद्ध होता है शारीरिक पारिवारिक एव सामाजिक जीवनमे उन्नति तथा समरसता जब प्रकटती हे तब अभ्युदयकी सिद्धि मिली मानी जा सकती है जीवनावधिमे परिच्छिन्न न होनेवाले स्पृहणीय आदर्शोका भलीभाति निर्वाह नि श्रेयस्की सिद्धि है

अतएव मृत्युके अधिदेव यमराजको, अपने यहा, प्राण या जीवन के अधिदेव सूर्यके पुत्ररूपेण मान्य किया गया हे अपने भीतर रहनेवाली काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य की दुर्वृत्तिओपर मृत्युपर्यन्त जिसे धर्मवृत्ति द्वारा क़ाबू पानेमे सफलता नहीं मिलती, उसे मृत्युके समय मृत्युके अधिदेवके दर्शन *यमराज* के रूपमे होते है काम क्रोध लोभ आदिकी अपरितुष्ट कामनाये जब जीवनको लबाना चाहती हो, तब अकस्मात् ही उनका नियमन यमराज कर देते है परन्तु जिसने धर्ममय जीवन व्यतीत किया हो, उसे तो मृत्युके अधिदेव *यमराज* नहीं पर *धर्मराज* ही लगेगे अतएव यमराजको 'धर्मराज' भी कहा जाता है

कोई जीवनमे अभ्युदय तो साध सकता हो परन्तु उस अभ्युदयकी सिद्धिके मूल्यरूपेण यदि उसे आत्मिक आदर्शोंका हनन करना पड़ता हो तो उसे 'धर्म' नहीं कहा जा सकता इसी तरह आत्माके नि श्रेयस्के हेतु जिसे अभ्युदयकी सर्वथा उपेक्षा ही करनी पड़ती हो तो उसे भी 'धर्म' नही कहा जा सकता

जीवनको जीनेकी और अन्तमे मरनेकी भी जो कला हमे हमारे वेदादि शास्त्रोंने सिखायी है, वे शास्त्र धर्मके सच्चे स्वरूपको समझनेके साधन या प्रमाण है "वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्म तद्विपर्यय" (भाग पुरा ६।१।४०) यह इस बारेमे दी गयी व्यवस्था है जो धर्मका स्वरूप समझना हो तो वह श्रुतिओके आधारपर समझना चाहिये अथवा उनके अर्थोका ऋपिओंने जो निरूपण किया उन स्मृतिओके आधारपर समझना चाहिये

धर्मके स्वरूपको भलीभाति समझ लेनेके बाद, उसे जीवनमे उतारनेकी चातुरी, प्राचीन या वर्तमान महापुरुष कि जिन्होंने अपने जीवनके निर्माणमे शास्त्रीय ज्ञान और शील दोनो प्रकट किये हो उनके आचरणमेसे और स्वयकी अन्तरात्माकी प्रेरणाके आधारपर प्राप्त करनी चाहिये "वेदोऽखिलो धर्ममूल स्मृतिशीले च तद्विदाम्, आचारश्चैव साधूनाम् आत्मन तुष्टिरेव च" (मनुस्मृ २।६)

हमने कभी भी मनुष्यजीवनको एकागी दृष्टिकोणसे निहारा न था धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारोको 'पुरुषार्थ' के रूपमे मान्य करनेकी अपनी सस्कृतिके वश इस तथ्यको समझा जा सकता है ऋषि-मुनिओंने वनमे रह कर ही, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र की तरह, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का भी चिन्तन और निरूपण किया था। ऋषिओंने "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे"का सिद्धान्त भलीभाति जाना-माना था, उसका तत्त्वानुध्यान और रसावगाहन भी किया था ऋपिओके

लिये धर्म केवल एक थोथी पूजाप्रणाली नही थी अतएव गीतामे "धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि" (भग गीता ७।११) ऐसा कहते हुवे भगवान्को किसी तरहका सकोच नहीं अनुभूत होता है

आजकल 'कर्मकाण्ड' या 'पूजाप्रणाली' जैसे कई धार्मिक शब्दोका हम निन्दावाचक शब्दोके रूपमे प्रयोग करने लगे है अत अपने धार्मिक कर्मकाण्ड या पूजाप्रणाली मे निहित हमारी रसदृष्टिको समझ पानेकी मानसिकता हमने खो दी है अतएव हममे से कई यो भी कहते पाये जाते है कि पर्वत नदी वृक्ष पशु पक्षी पत्थर या धातु की मूर्तिमे देवबुद्धि रख कर पूजाका कर्मकाण्ड तो अपनी अविकसित अरण्य जगली अवस्थामे पनपी अन्धश्रद्धाके उदाहरण है।

मालिककी निगाहमे खुदको योग्य ठहरानेको, जैसे बन्दी गुलाम अपने-आपको फनाह कर देते थे, वैसे ही हम भी हमारे धर्ममे रही अपनी पवित्र श्रद्धाको अन्धश्रद्धा मान कर हम अपनी सास्कृतिक अस्मिताको नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहते है क्योकि पाश्चात्य गोरे साहब हमे *'पेगान'* की गाली देते थे।

सूक्ष्मकी स्थूलमे आनन्दानुभूति, अमूर्तकी मूर्तमे आनन्दानुभूति, अमृतकी मर्त्यमे आनन्दानुभूति, परोक्षकी प्रत्यक्षमे आनन्दानुभूति की अपनी सुन्दर सुघड और अल्हड श्रद्धा आज अतएव बुढिया रही है

जगत्के निर्माण पालन और सहार के हेतु एक ही परमात्माके तीन रूप हमे मान्य थे ब्रह्मा विष्णु और रुद्र की त्रिमूर्तिके आधिदैविक द्वैतमे एक अमूर्त ब्राह्मिक अद्वैत भी हमे मान्य तो था ही शेव और वैष्णव सम्प्रदायोमे कई बार अन्त कलह भी हुवे होगे पर उन कलहोंके कारण दोमेसे किसी भी एक सम्प्रदायने अपने इष्टदेवके रूपसे भिन्न दूसरे देवोंके रूपको कभी शैतान या माया के रूप

तो नहीं माने थे. शैवोके लिये विष्णु जैसे परमात्माका अवर (गौण) रूप था, वैसे ही वैष्णवोके लिये शिव भी परमात्माका ही एक अवर गौण रूप माना गया है दोमेसे मुख्य कौन इस बारेमे कभी भक्तिके अतिरेकवश विवाद हुवे होगे पर शैवोने या वैष्णवोने शिवकी या विष्णुकी मूर्तिओको कभी पत्थरकी मान कर खण्डित तो नहीं किया स्मार्त जैसे पञ्चदेवोपासक होते थे वैसे ऐकान्तिक भक्तिसम्प्रदायोके अन्तर्गत शैव शाक्त या वैष्णव आदि एकदूसरेके मन्दिरोमे पूजा-दर्शन करने न भी जाते हो, तो भी दूसरे सम्प्रदायोके मन्दिरोको तोड़ देनेकी बात हमारे सास्कृतिक इतिहासमे मिलती नहीं हे। महर्षि यास्क कहते हे "महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्य आत्मनो अन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति प्रकृतिसार्वनाम्न्यात् च" (निघ निरु ७।१।४) अत देवताओके अनेकविध नाम-रूप-अधिकारोके द्वैतमे एक सर्वनामा सर्वरूप सर्वकर्मा परमात्माके अद्वैतको, तत्तत् साम्प्रदायिक भेदोमे एकमेवाद्वितीय परमात्माके अभेदको, मान्य रखनेके कारण ही यह सम्भव हुवा होगा। ऐसी थी अपने धर्ममे हमारी रसदृष्टि। जो धर्मों और तदाराध्य देवताओके ऐकान्तिक द्वैत या ऐकान्तिक अद्वैतको "'न'इति-'न'इति।" निषेधद्वारा उनके प्रकट(=सत्) नाम-रूप-कर्मो और अप्रकट(=त्यत्) ब्राह्मिक तत्त्व के महायोगमे सत्यको खोजना चाहती थी

भूतलके पर्वत नदी या वृक्ष आदिको पूजनेमे भी अपनी यही रसदृष्टि झलकती थी परमात्माके पालक रूप विष्णुकी पत्नीके रूपमे हम पृथ्वीका आदर करते थे "विष्णुपत्नीं महीं देवीं माधवीं माधवप्रियां लक्ष्मीप्रियसखीं देवीम्" (भूसूक्त) इस पृथ्वीपर जनमना या जीना तो ममतामयी माताकी गोदमे खेलने या आराम करने जैसी सहज-सुखद बात थी "मे माता पृथिवी महीयम्" (ऋक्सहि २।३।२०) हमारी नही यह तो गोरे साहबोकी धार्मिक मान्यता थी कि मानव स्वर्गसे अध पतनके धरातलके रूपमे पृथ्वीपर फेका गया है हमने कभी इस भूतलको इस तरह धिक्कारा नहीं था

भूतलके पर्वत हमे अपनी माता पृथ्वीके स्तन जैसे लगते थे "मध्ये श्याम स्तनइव भुव शेषविस्तारपाण्डु" (मेघदूत १८) इन पर्वतोमेसे प्रकट होनेवाली नदिओकी जलधारा हमारेलिये दुग्धोपमवारिवाहिनी स्तन्यधारा थी "नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रम् अत्यद्भुतम्, न जातु यमयातना भवति ते पय पानत" (यमुनाष्टक ६) वृक्षवल्लिओकी वनराजी, अपने बालकको स्तनपान कराते समय पुलकित होनेवाली ममतामयी माताकी रोमराजी हमे लगती थी

कोई हृदयहीन नरपशु ही इसे 'अन्धश्रद्धा' कह सकता है, क्योकि यह तो हमारी माताके लिये हमारे हृदयमे कृतज्ञतासभर हमारा निश्छल सहज स्नेह ही था

भूमिपर अपना भव किसी शैतानके द्वारा हमे भरमा दिये जानेके कारण नही हुवा था, पर भगवान् विष्णु और भगवती पृथ्वी की परस्पर प्रणयक्रीडाकी एक मधुर परिणति है अतएव भूमिके अगप्रत्यगोमे हमे पूज्यभाव और सच कहे तो, उससे भी अधिक मातृभावात्मक स्नेह ही था

यह तो अभारतीय जनोकी धारणा थी कि आरम्भमे हम अपने परम पिताके साथ स्वर्गके पवित्र उद्यानमे रहते थे बादमे शैतानने हमे भरमा कर परम पिता परमेश्वरके साथ रह पानेको अयोग्य अपवित्र पापी बना दिया इसीलिये हमे धरातलपर धकेला गया ऐसी धारणाके परिणामस्वरूप धरित्रीके अगप्रत्यगोपम पर्वत नदी वृक्षो आदिकी पूजा उन्हे जगलीपना लगे यह तो सर्वथा स्वाभाविक है पर हमारे गलेमे उनकी बात क्या-कैसे उतर गई यह समझमे नहीं आता।

पृथ्वीके गर्भमे स्थित धातु या शिला के भीतर परमात्माका वीर्य या सामर्थ्य रहा हुवा है, अतएव तो जिस शिलामयी या

धातुमयी मूर्तिमे निज इष्टदेवका आकार उभारा गया हो उसमे सच्चिदानन्द परमात्माके अस्तित्व चैतन्य और आनन्द अर्थात् अद्वैत हमे मान्य थे अत कृपालुता ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य जेसे दूसरे दिव्य भगवद्गुणोकी भी परोक्ष विद्यमानता हमे मान्य थी. यदि परमात्मा स्वय व्यापक हो और उसके ज्ञान बल ऐश्वर्य आनन्द और अद्वैत भी व्यापक हो तो, क्या मूर्तिके अपवादको छोड कर ही वे ब्रह्माण्डमे व्यापक होते होगे?

अभारतीय जनोने हमे गाली दी : "Idol-worshiper Black Indians!!" अर्थात् मूर्तिपूजक काले हिन्दुस्तानी अत लज्जित हो कर हम हमारा काला रग तो पौछ नहीं पाये, पर हमारे Ideals आदर्शों और Idols मूर्तिओ मे रही हमारी श्रद्धाको हम बुद्धिफलकपरसे पौछ कर साफ करनेमे जुट गये।

परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इस पृथ्वीपर केवल हम ही नही प्रकटे, अपने यहा तो मत्स्य कच्छप हस वाराह अश्व नृसिह आदि अनेक प्राणिओके रूपमे भी परमात्मा इस भूतलपर प्रादुर्भूत होता माना गया है अनेक रूपोमे परमात्माके अवतारकी यह बात हमारेलिये पक्की गेरेटी रूप है कि इस भूतलपर केवल मनुष्याकार देहधारीमे ही नही परन्तु प्रत्येक जाति-आकृतिके देहधारिओमे वह दिव्यता भरी हुयी है फिरभी परमाणु (Atom) मेसे ऊर्जा (Energy) प्राप्त करनेके विज्ञानमे हम इतने मशगूल बन गये है कि अब कण-कणमे कृष्ण होनेकी बात हमे अन्धश्रद्धा लगती है। उधार ली गयी बुद्धिका वैभव तो ऐसा ही होगा न।

परमात्माके ज्ञान बल ऐश्वर्य आनन्द अनुग्रह और अद्वैत की दिव्यता सूक्ष्मरूपेण प्रत्येक स्थूलमे विद्यमान है यह बात अपने शास्त्रोके समीचीन अध्ययन करनेपर जानी जा सकती है, परमात्माके माहात्म्यज्ञानके

खिल जानेपर यह बात समझी भी जा सकती है, और जीवात्मा तथा परमात्मा के बीच विद्यमान सहज स्नेहको जो असहज और उधार ली हुयी धारणाओसे ढाप न दिया दिया जाये तो मूर्तिके स्थूल रूपमे सूक्ष्मरूपेण विद्यमान ऐसी इस दिव्यताकी अनुभूति भी प्राप्त हो सकती है

परमात्मा परोक्ष रूप धारण कर, लजीली नवोढा नायिकाकी तरह, अपने प्रेमी जीवात्माके नयनोसे ओझल हो कर बैठा हुवा है। इस छिप जानेमे उसका गूढ स्त्रीभाव बाहर छलक रहा है ऐसा ध्वनित करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य रासपञ्चाध्यायीमे गोपिकाओके बीचमे छिप जानेवाले श्रीकृष्णको स्त्रीगूढभावात्मा मानते है उस छिपे हुवे श्रीकृष्णको खोजनेवाली गोपिकाओको गूढपुभाववती मानते है यह बात केवल मूर्तिमे ही केवल सीमित नही रखी गयी थी .

"[१]सूर्यो [२]अग्नि [३]ब्राह्मणो [४]गावो [५]वैष्णव [६]खं [७]मरुद् [८]जलं
[९]भू [१०]आत्मा [११]सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे.
[१]सूर्येतु विद्यया त्रय्या [२]हविषा अग्नौ यजेत मां
[३]आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये [४]गोषु अङ्ग यवसादिना[५]
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या [६]हृदि खे ध्याननिष्ठया
[७]वायौ मुख्यधिया [८]तोये द्रव्यै तोयपुरस्कृते [९]
स्थण्डिले मन्त्रहृदयै [१०]भोगै आत्मानम् आत्मनि
[११]क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम्"

(भाग पुरा.११।११।४२-४५)

इन ग्यारह पूजापदोको यहा अगणित पर अन्यत्र मान्य पर्वत वृक्ष नदी कलश चित्र आदिको भी पूजापद मान कर चले तो वस्तुमात्रकी ब्रह्मात्मकताका बोध जगाना ही इस कर्तव्योपदेशमे तात्पर्यविषयीभूत उपदेश है.

वस्तुतस्तु केवल कहा या सर्वत्र ब्रह्मभाव रख कैसे परमात्माका पूजन करना इतने से कर्तव्यमे ही धर्मकी 'अथेतिश्री' समाहित मानी नही जा सकती यद्यपि सम्प्रति वर्णाश्रम-व्यवस्था उच्छिन्नप्राय है अन्यथा स्वस्ववर्णके तथा स्वस्व-आश्रमके विशेष कर्तव्य और वर्णाश्रमेतर सामान्य मानवमात्रके भी दशविध "धृति क्षमा दमो अस्तेयं शौचम् इन्द्रियनिग्रह धी विद्या सत्यम् अक्रोधो दशक धर्मलक्षणम्" (मनुस्मृ ६।९२) कर्तव्योका निर्वाह भगवद्गीताके अनुसार "स्वे स्वे कर्मणि अभिरत संसिद्धिं लभते नर स्वकर्मनिरत सिद्धि यथा विन्दति तत् श्रुणु : यत प्रवृत्ति भूताना येन सर्वम् इदं तत स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं मानव" (भग गीता १८।४५-४६) धर्मतया ही समादृत हुवा है इन सभी प्रकारके धर्मरूप कर्तव्योके निर्वाहमे अर्थ-काम पुरुषार्थोकी वेध व्यवस्था मान्य रखी गयी साथ ही साथ मोक्षपुरुषार्थके हेतु शास्त्रविहित कर्म ज्ञान भक्ति रूप धर्मोका धर्मत्वेन ही समादर है यह खेदका विषय है कि आधुनिक धर्मोपदेशक या तो अर्चन-पूजनकी या फिर मोक्षोपायरूप कर्म ज्ञान या भक्ति रूप धर्मोकी परिधिसे बाहर धर्मश्रवणार्थी जनसाधारणको निकलने नही देना चाहते। दोष इसमे परन्तु धर्मदृष्टिका न हो कर अपनी मूल व्यवस्थामे श्रोता-वक्ता उभयत्र पनपे श्रद्धाह्रासका अधिक लगता है

प्रकृत विषयके पुन अनुसन्धानार्थ जगत्के स्थूल रूपोमे परमात्माकी अपरोक्ष अनुभूति न होनी या परमात्माका परोक्ष होना, वह तो लजीली नवोढाके जैसा परमात्माका गूढस्त्रीभाव है। परन्तु जब आज हमे स्थूलके खण्डनकी ही धुन सवार हो गयी हो तो, तब स्थूल नाम-रूपोमे छिपे हुवे परमात्माके साथ आखमिचौनी खेलनेकी मस्ती कैसे मिल पायेगी ?

हमारा धर्म हमे अपनी ममतामयी माता धरतीको धिक्कारके, विधाताके ध्यान धरनेकी प्रेरणा नही देता है जो इस धरातलपर

भगवान अवतीर्ण होते हो तो, भक्तको मुक्ति नही प्रत्युत भगवान्‌की भूतलपर प्रकट होनेवाली लीलाओके दर्शनकी प्रतीक्षा या लालसा मे निरन्तर यहा जनमते रहना अधिक सुहाता है गुजरातके भक्तकवि दयारामभाई कहते है

''हे प्राणजीवन! दीन हो कर याचना करता हूं!
मुझे अपने प्रेमरसका पान कराओ!
जो मुक्तिमार्गी हो उसे आप ज्ञान प्रदान करें।
मुझे तो वह रुचता ही नहीं है॥
जो निर्धन हो उसे खानेमे राब सुहा सकती है।
जो खानेका शोखीन हो उसे सन्तोष कब होता है!॥
हम तो आपके निजी सेवक हैं।
हमारे भीतर लेशमात्र भी मुक्तिकी लालसा नहीं है॥
हम तो अपने नटवरके रूपको ही नित्य निरखना चाहते है।
हमारे हियरामें तो इसीकी हौंस है॥
हमारे सारे मनोरथ तो आपको निरखते रहनेसे ही पूर्ण हो सकते है।
वे आपके साथ एकतालाभसे सन्तुष्ट नहीं हो पायेंगे॥''

(भक्तकवि श्रीदयारामभाई)

हमारी तपश्चर्याका फल वह परमात्मा है परन्तु यह फल हमे इसी भूमिपर ही पाना है अपने भक्तिरसके स्थायी भावके आलम्बन विभाव वे भगवान् व्रजाधीप ही है! उन्हे, परन्तु, भजना है इसी भूतलपर ही ''भगवानेव हि फल स यथा आविर्भवेद् भुवि'' (पुष्टिप्रवाहमर्यादा १७) अत भूतलपर भक्तिकी इस महोपलब्धिकी लालसामे भक्त खुल कर कह पाता है

''मुझे व्रज ही प्रिय लगता है मै वैकुण्ठ नहीं जाना चाहता।
यहा मैं नन्दकुवरको कैसे प्राप्त कर पाऊगा!''

(भक्तकवि श्रीदयारामभाई)

इस भूतलको तज कर स्वर्ग या वैकुण्ठ में जाना भी हमें तो रुचता नही है. क्योंकि भूतलपर भगवान्‌को भजना इसीमे जीवनकी सच्ची सार्थकता हे : "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा. भद्रं पश्येम अक्षिभि. यजत्रा स्थिरै. अङ्गै. तुष्टुवांसः तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायु." (प्रश्नोपनियत् : मंगला.).

परमात्माको परमपिता माननेकी तरह पृथ्वीको परममाता माननेकी हमारी धार्मिक दृष्टिके कारण, जैसे आजकल मां-बापके बीच तलाक हो जानेपर, अल्पवयस्क बालक माताके पास रहते है और वयस्क बालक अपनी मनोरुचिके अनुसार जहां चाहे रह पाते है, वैसे ही कुछ श्रीदयारामभाईने अल्पवयस्क बालककी मनोवृत्तिके वश दीन हो कर माता भूमिके पास रहना उचित मान लिया हे। वयस्कोपम ज्ञानी बनना पसद नहीं किया अतएव वे कहते है "मुक्ति मुझे नहीं सुहाती है" यह तो आधुनिक तलाक लेनेकी फेशनकी तर्जमे कुछ वर्णन हो गया। विवाहके बाद तलाककी यह कथा भी आधुनिक दाम्पत्यकी करुण गाथा है भगवान् विष्णु और भगवती पृथ्वीके मधुर दाम्पत्यके सनातन सम्बन्धमे तो ऐसा अव्यक्त भाव भी रसाभास ही प्रकट करता एक भक्तको प्रतीत होगा

यह सारा उपद्रव मनुष्यको केवल अपने अभौमिक मोक्षकी त्वरासे ग्रस्त बना देनेके एक अवैदिक षडयन्त्रसे अनुप्रेरित पलायनवादी रुचिका दुष्परिणाम प्रतीत होता है। हमारी मौलिक रसदृष्टिकी अवधारणासे सर्वथा विपरीत अभौमिक मोक्षके परम पुरुषार्थ होनेका अस्वीकार शक्य नही परन्तु धर्मपुरुषार्थ अर्थपुरुषार्थ एव कामपुरुषार्थ के सन्तुलनकी परवाह किये बिना अधिकारानधिकारके विवेक बिना सभीको मोक्षमार्गी शिष्य बना देनेकी दुर्दम गुरुपदलालसाका अतिरेकके अलावा इसे और कुछ माना नही जा सकता। जो बुद्धिमान अपनी बुद्धिके प्रयोग किये बिना हमारे धर्मकी निन्दा "भूतलसे बंधे हुवे धर्म" (Earth-bound

religion) के रूपमे करते थे, उन्हे अपने चरणोके नीचे रहा धरातल अब खिसकता सा लगने लगा है अतएव Inter Religious Dialogue की आवश्यकता उन्हे सर्वाधिक सताने लगी है। एतावता अब इसे प्रस्तुतयुगीन आवश्यकताके रूपमे हमे अपने धर्ममे रही हुयी रसदृष्टिको मुखरित होने देना चाहिये ताकि अपने धर्ममे रही हुयी गहन दार्शनिक चेतनाको निर्भयताके साथ बाहर प्रकट होनेका अवसर मिले।

दर्शनमे अपनी रसदृष्टि :•

दार्शनिक चिन्तनके नामपर अब जो कुछ चिन्तन हमे रुचने लगा है, वह यह कि विविध धर्म, देव, दर्शन और सम्प्रदायोंके भेद मिथ्या है परमात्माके विविध देवरूपोके भेद, गुणभेद, लीलाभेद या साधनाप्रणालीके भेदोको आज सत्य कहने या मानने लगे तो हमारी गणना सम्प्रदायवादिओमे होने लगती है हम अति-अद्वैतवादकी ऐसी भयकर मनोग्रन्थिसे पीडित है। आजसे सौ-सवासौ वर्ष पहले यूरोपमे अद्वैतवादकी आधी प्रबल हुयी थी। वह वहा तो थम गयी, परन्तु हम अपने देशमे उसे अपना विश्वको प्रदान मान लेनेकी भ्रमणामे रचपच गये है।

द्वैत और अद्वैत दोनोको पारमार्थिक माननेवाली हमारे उपनिषदोकी प्राचीन दृष्टिसे हमारा तत्त्वचिन्तन वञ्चित होता जा रहा है हमे अर्धसत्य जैसा केवल अद्वैत ही, तत्त्वदृष्टिमे न सही परन्तु धर्मदृष्टिमे तो निश्चयेन, अधिक सुहाने लगा है क्योकि सारे द्वैतोको मिथ्या मान लेनेपर सारी देवमूर्तिओसे, सारे साम्प्रदायिक बन्धनोसे अर्थात् विधिनिषेधोंसे, सारी साधनाप्रणालिओंसे अथवा तो स्वस्वधर्मोमे रहनेवाली ऐकान्तिक निष्ठाओंके गढोमे से भग छूटनेकी एक वैचारिक सुरग मिल जाती है

अत सम्प्रदायभेद, साधनाप्रणालीके भेद, तत्तत् देवताओंके रूपभेद,

गुणभेद लीलाभेद के नामपर होनेवाले अन्तरसाम्प्रदायिक कलहका बहाना बना कर भेदकी निन्दा करनेकी एक फेशन हमने शुरु कर दी है जबकि हकीकत यह है कि ऐसे तमाम भेदोमे अपनी निष्ठा तोड़ देनेके बावजूद, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, प्रान्तीय, राष्ट्रीय और उपमहाद्वीपीय क्षुद्र मुद्दोंके कलह तो हमने बढाये ही है घटानेके बजाय। इन कलहोमे पक्ष-प्रतिपक्षके पक्षपातद्वारा एकदूजेको तबाह कर देनेवाली निष्ठुर हिंसा घटी नहीं, बढी ही है हकीकतमे तो ऐसे झगडे धर्म-सम्प्रदायोंके कारण होते नहीं थे परन्तु मानवकी झगडालू मनोवृत्तिके कारण होते थे उस मनोवृत्तिको सुधारनेमे अति-अद्वैतवादकी दृष्टि सर्वथा विफल ही रही परन्तु द्वैतके मिथ्या होनेके प्रचुर प्रचारके वश अपने-अपने विभिन्न धर्म-सम्प्रदायो, आचार्यग्रन्थो ओर इष्टदेवो की साधनाप्रणालीमे से आधी-अधूरी श्रोताओकी श्रद्धा या निष्ठा को तोड देनेमे अच्छी-खासी सफलता अति-अद्वैतवादको अवश्य ही प्राप्त हुयी है।

अत सभी धर्मोके चालाक वक्ता अपने-अपने धर्मों और ग्रन्थो को विश्वधर्म और विश्वग्रन्थ सिद्ध करनेको नित्य नई युक्ति खोज निकालने लगे है पहले जो धर्मोपदेशक स्वयके धर्मको सत्य ओर दूसरेके धर्मको असत्य सिद्ध करनेकी स्पर्धामे आत्मगौरव समझते थे, अब वे ही सच्ची या खोटी किसी भी युक्तिका सहारा ले कर, अधिकाधिक श्रोताओमे स्वयका धर्म विश्वधर्म है, ऐसी छाप खडी करनेकी स्पर्धामे उतर गये है आजकल दूसरे सम्प्रदायके ग्रन्थोंके ऊपर प्रवचन कर, ग्रन्थके मूल लेखकने जिस बातकी कल्पना भी न की हो ऐसी व्याख्या उनपर थोप बिठानेकी फेशन लोकप्रिय हो गयी है आज अपने विचारोके वैश्विक (Universal) होनेकी छाप खडी कर के, परमतके मान्य ग्रन्थ, देवरूप, साधनाप्रणालीमे उसके अनुयायिवर्गकी निष्ठाके खण्डनका क्रूरताण्डव अति-अद्वैतवादके नामपर चलाया जाता है इस क्रूर ताण्डवके कार्यक्रममे जो व्यक्ति दर्शक या श्रोता के रूपमे सम्मिलित न हो, उसे सकीर्ण सम्प्रदायवादी वृत्तिका मनुष्य

मान लेनेकी एक अद्भुत वैचारिक सकीर्णता जोर पकडती जा रही है वैसे वैचारिक सकीर्णताको घटानेमे ऐसी अति-अद्वैतवादवाली दृष्टि सफल हो नही पाती पर "द्वयो कलहे तृतीयस्य लाभ" की कूटनीति भरे दावपेचमे निश्चय पर्याप्त कामयाब हो जाती है।

उपनिषदोका तत्त्वचिन्तन द्वैतको मिथ्या मान कर अद्वैतको पुरस्कृत करनेका नही था, मूर्तको मिथ्या मान कर अमूर्तकी खोजमे भटकते रहनेका भी नहीं था, मर्त्यके बारेमे निर्मम-निष्ठुर हो कर अमृतकी खोजके उन्मादमे दौडते रहनेका भी नही था, स्थितिको भ्रान्ति मान कर गतिके दुश्चक्रमे या गतिको भ्रान्ति मान कर स्थितिकी जडतामे फस जानेका भी नही था, वह चिन्तन स्थूल या प्रत्यक्ष को धिक्कार कर, सूक्ष्म या परोक्षकी नीरस खोजमे मर-मिटनेका भी नहीं था

उपनिषदोकी दृढ विभावना थी कि एक ही ब्रह्ममे अनेकविध विरोधाभासी गुण रहते है अतएव कहा गया है

[१] अजायमानो बहुधा विजायते
[२] अणोरणीयान् महतो महीयान्
[३] आसीनो दूर व्रजति शयानो याति सर्वत
[४] यस्य अमत मत तस्य मत यस्य न वेद स,
अविज्ञात विजानता विज्ञातमविजानताम्
[५] भीषा अस्माद् वात पवते भीषा उदेति सूर्य ,
भीषा अस्माद् अग्निश्च इन्द्रश्च मृत्यु धावति पञ्चम इति
सैषा आनन्दस्य मीमासा भवति
(कठोप २।२०-२१,केनोप २।३,तैत्ति उप २।७)

अत अज-नन्दात्मज, अणुपरिमाण-व्यापक, कूटस्थ-भूतलविहारी, अमत-मत, अविज्ञात-विज्ञात, भयकर-आनन्दरूप ऐसे अनेक रूप एक

ही ब्रह्मके हो सकते है जैसे एक ही रतिके स्थायी भावमे रूपगर्व-मान-प्रणयकलह-चिन्ता आदि विविध सञ्चारी भाव प्रकट होते है, ऐसे ही सत्यसकल्प परमात्माके अद्वैतमे सर्वभवन सामर्थ्यके कारण अनेकविध नाम-रूप-कर्मके प्रकट हो सकते है "एकमेव अद्वितीय तद् ऐक्षत बहु स्या प्रजायेय" (छान्दो उप ६।२।१-३) इस सृष्टिरूपी नाटकका कुशल अभिनेता ब्रह्म अनेक नाम अनेक रूप और अनेक कर्मो को धारण कर हमारे सामने प्रकट ही है "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन यद् आस्ते" (चित्यु १२।७) अत द्वैत और अद्वैत एक ही ब्रह्मके दोनो वास्तविक रूप हे "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे"(यथापूर्व) अत ब्रह्मज्ञानके सन्दर्भमे उपनिषद् जेसे केवलद्वैतवादका "'न'इति-'न'इति" द्वारा निषेध करता है वेसे ही केवलाद्वैतवादका भी निषेध फलित होता ही है

ऐकान्तिक द्वैत और ऐकान्तिक अद्वैत दोनों ही अर्धसत्य सिद्ध होते है *ब्रह्म इन दोनो अर्धसत्योसे कुछ अधिक ऐसा दोनोका योग है* गुलाबका फूल उसकी सारी पखुड़िओके न केवल योग होता प्रत्युत उससे कुछ अधिक ही अन्यथा उन्हीं पखुडिओको नोच कर उनके ढेर लगानेपर भी गुलाबका फूल सिद्ध होना चाहिये था पखुडिओके आकारमे काट कर बाधी गयी रगीन कागदकी कतरन भी गुलाब नही होता और न शीशीमे भरा हुवा रुहे-गुलाब ही। गुलाबकी वास्तविक पखुडिया ओर उनका विशेष आकृतिमे सयोजन गुलाब होता है इस गुलाबके फूल और उसकी पखुडिओंके बीच द्वैत होता है या अद्वैत इस समस्याका समाधान यदि केवलद्वैतवादके अनुसार देना चाहेगे तो कहना पडेगा कि गुलाबको अपनी पखुडिओकी अपेक्षा नही है यदि केवल गुलाब या पखुडिओ मेसे किसी एकको परमार्थ सत्य मान कर केवलाद्वैतवादका अवलम्बन करेगे तो गुलाबकी पखुडिओके ढेरको गुलाबी रगके कागदकी कतरनोके गुलाबके आकारमे सयोजनको भी हठात् गुलाबका फूल मानना पडेगा

चित्रफलक और रगो मे जैसे चित्रका विश्लेषण शक्य नही, सितार और उसके सात सुरो मे जैसे ललित रागके लालित्यका विश्लेषण शक्य नही हो पाता, वैसे ही द्वैत और अद्वैत मे, या मर्त्य और अमृत मे, या सक्रिय और निष्क्रिय मे, या प्रत्यक्ष और परोक्ष मे ब्रह्मका विश्लेषण भी शक्य नही नेति! नेति!! नेति!!!

तब 'ब्रह्म' किसे कहना? इन विरोधाभासी रूपोकी समग्रता और उससे भी कुछ अधिक जो हो वह ब्रह्म है "स भूमि विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुल पुरुष एव इद सर्व यद् भूत यच्च भव्यम्" (पुरु सू १) ब्रह्म विरोधाभासी रूपोका ढेर नही होता परन्तु उनका एक विशिष्ट सयोजन है वह गुलाबके फूल जैसा सुगधित, सितारके सुरोके जैसा सुललित, कविके कण्ठसे निकले शब्द और छन्द जैसा काव्यात्मक और एक कुशल चित्रकार द्वारा विविध रगोसे रगे चित्र जैसा आकर्षक।

परिसख्येय नही किन्तु अपरिसख्येय विविध विरोधाभासी रूपोंके विशिष्ट सयोजन ब्रह्म है अतएव ऐसा नहीं सोच लेना चाहिये कि अपने घटक पदार्थोंसे घटित होनेके कारण निज घटकोके सघातके अलावा वह कुछ भी नहीं क्योंकि घटकतया अनुभूत होते श्रुत्युक्त पदार्थोका भेद उसमे प्रकट हुवा है नकि वह अपने घटकतया अनुभूत होते श्रुत्युक्त पदार्थोसे परमार्थतया आरब्ध या अपरमार्थतया प्रतीत्यसमुत्पन्न आभास अत अनुभूयमान घटक विरोधाभासी रूपोमे उसका विश्लेषण शक्य नहीं एक-एक पखुड़ी डठुल रग गन्ध आकृति और परिमाण आदिमे विश्लेषणद्वारा वास्तविक गुलाबके फूल और उसके प्रत्यय को बिखेर दिये जानेपर जैसे वह गायब हो जाता है, ऐसे ही, मूर्तामूर्त मृर्त्यामृत चलकूटस्थ परोक्षापरोक्ष द्वैताद्वैत आदिमे विश्लेषण कर दिये जानेपर ब्रह्मको भी जान पाना ही अशक्य हो जायेगा तो उसके आनन्द ले पानेकी तो कथा ही बच नहीं जायेगी अतएव ऋग्वेदके

पुरुषसूक्तमे कहा गया ''स भूमि विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशागुलम्'' (वही) '' 'सत्' + 'त्यत्' = 'सत्य' '' समीकरणमे दरसायी गयी समग्रता ही परम सत्यता है वह एक विशिष्ट सयोजनवश 'सत्' के बाद 'त्यत्' को उपस्थापित करनेपर 'सत्य'को प्रकट हो पाती है '' 'त्यत्' + 'सत्' = 'त्यस' '' 'सत्' ओर 'त्यत्'का ढेर खोजा जा सकता है परन्तु उसमे 'सत्य' उभर नही पाता समग्रताके बोधके हेतु पुष्प सगीत चित्र या काव्य गत रसानुभूतिके अधिकारी हृदयकर जो भाव होता है, वही यदि न हो तो, पखुडिया सुरो रगो या शब्दो को बिखेर दिये जानेपर, आत्यन्तिक अभाव ही अन्तमे सबका सिद्ध हो जायेगा अतएव भागवतपुराण कहता है कि उस परमसत्यरूप परमात्माका वपु-स्वरूप भावात्मक सयोजनमे रहा हुवा है, और उसे भावयोगद्वारा की जाती विभावनाद्वारा ही जाना जा सकता है, वह स्वरूप विश्लेषणद्वारा होते वियोजनमे शक्य नहीं ''त्व भावयोग-परिभावित-हृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुसा, यद्-यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तद्-तद् वपु प्रणयसे सदनुग्रहाय'' (भाग पुरा ३।९।११)

इस सृष्टिके आरम्भका चित्रण उपनिषद्मे अतिशय आकर्षक रीतिसे दिया गया है

> ''यह जो कुछ दिखलायी दे रहा है यह पहले केवल आत्मा ही था अतएव उसे अपनी आत्मचेतनामे अपने अलावा किसी दूसरेका भान हुवा ही नहीं अत सर्वप्रथम उस आत्माने अपने-आपको 'अह' के रूपमे पहचाना अतएव आज भी सभी चेतनाओंमें अहकारका भान प्राथमिक ही होता है इस अहन्ताके प्राथमिक बोधसे जो भी सम्पन्न होता है उसके सारे पाप भस्म हो जाते है फिरभी अपनी इस आहमिकी एकतामें उसे भीतिका भाव जगा अतएव आज भी एकाकी व्यक्ति भयभीत हो

जाता है परन्तु उसने यह सोचा कि जब मेरे सिवा अन्य कोई है ही नहीं तब भयभीत होनेका कोई कारण नहीं ऐसा सोचनेमात्रसे उसका भय निवृत्त हो गया भय तो किसी दूसरेसे ही होता है (अतएव जो इसी तरह एक तात्त्विक अद्वैतकी भावना अनेकविध नाम-रूपकर्मोके द्वैतमे कर पाता है, उसका भय निवृत्त हो जाता है!) उसे, परन्तु, अपनी एकाकिता रुचिर नहीं लगी अतएव आज भी किसीको एकाकी रहना सुहाता नहीं है उसे किसी दूसरेकी कामना हुयी (वह दूसरा कोई कहीं ब्रह्मके बाहरसे तो आ ही नहीं सकता था, क्योकि समग्र ब्रह्मके बाहर कुछ हो ही नहीं सकता) अत उसने अपने-आपको ही दो रूपोमें बांट लिया एक रूपमे वह पति बना और दूसरे रूपमें पत्नी इस तरह दो रूपोमे बट जानेपर जिस रूपमें वह पत्नी बना उस रूपने पति बने रूपसे अनेकानेक रूप बदल कर छिपना चाहा अत पति बने रूपने भी तदनुसार रूप बदल-बदल कर पत्नीरूपको खोज ही निकाला! इस तरह एकदूसरेसे छिपने और खोज निकालने के खेलमे दोनोने अनन्त रूप धारण किये वही तो इस सृष्टिका मौलिक स्वरूप है"

(बृह उप १।४।१५)

द्वैतमे भयकी सम्भावना है, परन्तु अद्वैतमे रमण असम्भव हो जाता है! अपनी आवश्यकता न तो द्वैतकी है ओर न अद्वैतकी हमारी आवश्यकता है निर्भय रमणकी जो केवल द्वैत होता तो रमण सम्भव था पर उस रमणमे भयका निराकरण नहीं हो पाता! जो केवल अद्वैत होता तो पूर्ण निर्भयता मिल सकती है पर उस निर्भयतामे रमण सम्भव नहीं! परमात्माने निर्भय रमणकी सिद्धिके हेतु द्वैत प्रकट किया एकाकितामे अनेकता उभारी गयी अमूर्तको मूर्त रूप धारण

करने पडे अमृत स्वय ही मर्त्य बन गया स्थितिमे गतिके स्पन्दन होने लगे अनेक गतिशील रूप उस एक कूटस्थ ब्राह्मिक अवकाशमे विचरण करने लग गये उस सनातन आत्मसत्तामे रहे हुवे आत्मानन्दकी सनातन आत्मचेतनामे कुछ प्रत्यक्ष तो कुछ अप्रत्यक्ष जैसा घटित हो गया अत अनिर्वचनीय आत्मानन्दके अगाध सिन्धुमे "क्वासि! क्वासि?" की विरहव्यथायुक्त वाणी तब लहराने लगी तब जो मूर्त मर्त्य प्रत्यक्ष रूप थे वे गतिशील हो कर, जो अमूर्त अमृत परोक्ष कूटस्थ अचल रूप थे उन्हे खोजने लगे अतएव शुकमुनि भागवतमे कहते ह "गोपीना तत्पतीना च सर्वेषामपि देहिना यो अन्तश्चरति सोऽध्यक्ष क्रीडनेन इह देहभाक्" (भाग पुरा १०।३३।३६) अर्थात् गोपिकाओके भीतर उन गोपिकाओके पतिओके भी भीतर और सभी देहधारिओके भीतर जो छिप कर बैठा हुवा है, वही इस सृष्टिकी लीलाका मुख्य नायक एक रूपमे छिप कर दूसरे रूपमे स्वय अपने-आपको ही खोज रहा हे

एक भाषामे लिखे गये ग्रन्थका जब किसी दूसरी भाषामे अनुवाद किया जाता है तब भाषा ही केवल बदली जाती है, भाव नही यदि अनुवादमे भाव बदल जाये तो ऐसे अनुवादको अशुद्ध माना जाता है इसी तरह रमणके भावसे मुखरित हुयी वाणीमे कभी भयके सुर भी सुनायी देने लगते है उसका अनुवाद यदि अद्वैतकी भाषामे कर दिया जाये तो हमे निर्भयता मिल जाती है ऐसा करते समय यह सावधानी रखनी आवश्यक होती है कि रमणका भाव कही खो न जाये। "सवै नैव रेमे स द्वितीयम् ऐच्छत्" (बृह उप १।४।३) की द्वैतवाली भाषाका मुख्य भाव रमणका ही था, अतएव "एकमेव अद्वितीयम्" (छान्दो उप ६।२।१) की अद्वैतकी भाषामे उसका अनुवाद करनेपर "एको अह बहु स्या प्रजायेयम्" अर्थात् एक ही तत्त्व रमणार्थ अनेक नामरूपकर्मोको स्वय धारण करता है, यह कदापि विस्मृत नही होना चाहिये निर्भय रमणके इस नाटकको जो भलीभाति निभाना

हो तो, द्वैत और अद्वैत दोनो ही भाषाओका समुचित ज्ञान आवश्यक है अन्यथा नाम-रूप-कर्मोके इस महामेलेमे निर्भय होनेकी अधी भागदौडमे मृदुतम-सुकोमल रमणका भाव कहीं कुचल न जाये।

अत उपनिषद् कहता है "इस दिखलायी देती अनेकतामे ही यदि हमे एकताके अनुदर्शन हो पाते है तो उस अनेकताके कारण होते शोक मोह कष्ट नही दे पायेगे (यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानत तत्र को मोह क शोक एकत्वम् अनुपश्यत)।" (ईशावा उप ७)

वनमे उन्मुक्त विचरते सिहके दर्शन सामान्य दर्शकमे नीरस शोक-मोह-भय पैदा करते है, क्योकि दृश्य और द्रष्टा के बीच स्वय द्रष्टाको द्वैतका स्फुरण होता है—भक्षक और भक्ष्य होनेकी भीतिके वश फिरभी केवल सिहके चित्रको देखनेमे वैसी भयकरताकी रसानुभूति नही होती, जैसी गर्जना करते और सरकसकी रिंगमे खुल्ले फिरते साक्षात् सिहको देख कर होती है, क्योकि चित्रके द्रष्टा और दर्शन के स्वय पारमार्थिक सत्य होनेपर भी पुरोवर्ती चित्रित सिह पारमार्थिक सत्य नही होता अत सिहके चित्रके द्रष्टाका केवलाद्वैत रसानुभूतिमे बाधक बन जाता है सरकसमे सिहको निहारना निश्चय ही भयरूप स्थायी भावकी रसानुभूति है सरकसके अद्वैतमे दर्शक और दृश्य सिह के द्वैत भीतिके स्थायी भावको रसानुभूतिमे पल्लवित कर देते है। सिहके भयकर होनेके शुष्क तथ्यको रिंगमास्टर एक कवि या चित्रकार की तरह जैसे रसात्मक भावमे रूपान्तरित कर देता है तोभी सरकसमे सिहको देखे बिना सिहकी भयानक कथा सुना कर जिस बालकको अस्वाभाविक रीतिसे डरपोक बना दिया गया हो तो, वह सरकसके सिहको देख कर भी अतिशय अधीर बन रोने-चिल्लाने लग जाय या घबरा जानेसे उसकी घिग्घी बध जाये तो उसमे दोष उसके गुरुजनोका ही होता है रिंगमास्टरका नही

एकताके अनुदर्शनमे, अनुवादकी तरह, अनेकतामे समभावरूप रमणका भाव बना रहना चाहिये, अन्यथा तो भ्रामक अनुवादकी तरह वह अनुदर्शन भी भ्रमपूर्ण सिद्ध होगा अद्वैतकी निर्भीक भाषामे अरतिका दोष प्रकट हो जायेगा यह सृष्टि भी वस्तुत तो एक काव्य ही है, जिसकी रचना परमात्माने की है क्योकि अतीतानागतको जान पाना या सोच पाना सर्वज्ञ या कवि दोनोमे समान ही होता है अत श्रुति-स्मृतिओमे परमात्माको 'कवि' भी कहा गया है "अनन्तम् अव्ययं कविम्" — "कविं पुराणम् अनुशासितारम्" (महाना उप ११।७ — भग गीता ८।९)

अब तो हम "रसात्मक शब्दसयोजन" जैसे सीमित अर्थमे 'काव्य' शब्दका प्रयोग करते है सस्कृतभाषाके सौन्दर्यशास्त्रमे नाटकको भी दृश्यकाव्य माना गया है थोडेसे मुक्ताग्रह हो कर, यदि सृष्टिको भी हम एक काव्यतया मान्य कर पाये तो पाचो ज्ञानेन्द्रियो (आख, कान, नाक, जीभ और त्वचा) द्वारा इस सृष्टिकाव्यको देखा जा सकता है, सुना जा सकता है, सूधा जा सकता है, चखा जा सकता है, और छुआ भी जा सकता है इतना ही नहीं, परन्तु पाच कर्मेन्द्रियो (हाथ, पग, वाणी आदि) से इस काव्यको पकडा सकता है इस काव्यमे पादविहार हो सकता है, इस काव्यका गान किया जा सकता है केवल मूक दर्शक बने रहनेकी नियति या यन्त्रणा इस काव्यमे है नही! इसमे हिस्सा लेना हो तो वह और न लेना हो तो साक्षिभाव द्वारा भी इसे देखा जा सके ऐसे दिग्दर्शकीय निर्देश इस सृष्टिनाटककी स्क्रिप्ट्मे ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो के समायोजन द्वारा किया गया है इस नाटककी कथामे हमे क्या रोल अदा करना है, क्या-कैसे सवाद बोलने है, वह सब हृदयमे बैठा हुवा अन्तर्यामी परमात्मा हमे क्षिप्रनिर्देश (Prompt) द्वारा जता रहा ही है उस अन्त प्रेरणाको अपनी बराबर जान-समझ पाये तदर्थ हमे बुद्धिरूप अन्त करण प्रदान किया गया है इस नाटकमे स्वय हमारे और दूसरेके

अभिनेताओंके अभिनयका आनन्द उठा पाये एतदर्थ हमे मन भी प्रदान किया गया है इस नाटकमे अभिनयकी तन्मयतामे किसी भी प्रकारका व्यवधान न पैदा हो तदर्थ अहन्ता ममताकी भूलभुलैयाके भीतर हमे रखा गया है यह अहन्ता-ममताका भुलावा यदि केवल अपने ही अभिनय पूर्ण करनेमे सीमित हो जाता है तो उसे 'अविद्या' कहते है पर यदि यह अहन्ता-ममता इस सृष्टिकी क्रीडाको समग्रतासे आवृत कर पाये तो उसे विद्याकी पराकाष्ठारूप 'सर्वात्मभाव' कहा जाता है

महर्षि वामदेवको, अतएव, ब्रह्मानुभूतिकी मस्तीमे अपना अहभाव अपने देहमे सीमित लगनेके बजाय समग्र ब्रह्माण्डमे व्याप रहा सा लगने लगा था "तद्धैतत् पश्यन् ऋषि वामदेव प्रतिपेदे अह मनु अभव अह सूर्य च"(बृह उप १।४।१०)

किसी भी काव्य नाटक या उपन्यास के पात्र सवाद या कथावस्तु के साथ जब पाठक या दर्शक मे साधारणीकरण (Identification) का भाव जग नही पाता तो रसका आविर्भाव अशक्य हो जाता है पात्रके सुख-दु ख जब तक पाठक या दर्शक को अपने सुख-दु ख नही लगते तब तक रस प्रकट नही हो पाता किसी पात्रके करुण रुदन द्वारा अपना हृदय यदि करुणासे भर नही जाता हम करुणरसका अनुभव कर नहीं पाते प्रणयप्रसगमे छलकती दो पात्रोके बीचकी अनुराग भरी प्रसन्नता हमे यदि गुदगुदा नहीं पाती तो शृगाररसका अनुभव हमारेलिये शक्य नहीं

नाटक और दर्शक के बीच रही द्वैतकी धारणा, यदि नाटकको देखते समय शिथिल न हो पाती हो तो ऐसे नाटकके पात्र, सवाद या कथा के साथ दर्शकके भीतर साधारणीकरण अशक्य बन जाता है यदि रामलीलाका दर्शक "रामकी सीताको रावण उठा गया उसमे मेरा क्या गया?" ऐसा द्वैतभाव साथ रामके साथ रख बैठा हो,

वह रामके हृदयको सालते सीताके विप्रयोगको समझ नहीं पायेगा. ऐसे दर्शक जब रामलीला देखनेको आ धमकते हैं तब उनके राम सचमुचमे रोते होगे! सहानुभूतिविहीन दर्शक प्रत्येक रामके लिये रावणसे भी अधिक भयंकर सिद्ध होते हैं, क्योंकि रावणको मार कर अपनी सीताको पा लेना रामलीलामें शक्य होता हे परन्तु दर्शकोंकी सहानुभूति पा लेनी शक्य नहीं! सृष्टि भी एक भगवल्लीला हे. इसमे द्वैतभाव रखेनेवाले ऐसे दर्शकोंके बारेमें उपनिषद्ने चेतावनी दी है : "द्वितीयाद् वै भयं भवति" (यथापूर्व)

दूसरी ओर रामलीलाके नाटकको मिथ्या दृश्य मान कर स्वयंको केवल पारमार्थिक द्रष्टा माननेवाले केवलाद्वैतमें गाफिल रहनेवाला दर्शक भी रामलीलामे रम नही पाता! केवल-अद्वैतवादकी झोकमे फंसे हृदयमे सहृदय दर्शक मर जाता है. अत वास्तविक रामचरित्रको भी रूपक मान लेना अधिक रुचता है ऐसे दर्शकको रामकथा कहनेको कहा जाये तो वह कुछ इस तरह ही प्रस्तुत करना चाहेगा :

> यह अपना जीवात्मा ही आत्माराम राम है उसकी सीता मिथिलाकी राजकुंवरी नही परन्तु आत्माद्वैतमे रहनेवाली शान्ति वही वास्तविक सीता है इस पाञ्चभौतिक देहकी पचवटीमेसे रागद्वेषके द्वैतभावका रावण उस आत्मशान्तिकी सीताको हर जाता है इस भयकर राक्षससे सीताको छुडाना हो तो सांसारिक मोहके सागरकी परली पार जाना पडेगा पारगत(!) होना पडेगा फिर रागद्वेषके द्वैतभावको रावणको मार कर, तुम्हारी आत्माद्वैतकी शान्तिकी सीता तुम्हे फिर मिल जायेगी!

उपनिषद् किन्तु कुछ अन्य ही बात कहना चाहते है! कोई भी ज्ञानी जीवात्मा परमात्मासे अधिक ज्ञानी तो हो नहीं पायेगा. उस परमात्माको भी यदि आत्मरमणमें परिपूर्ण रमणकी रसानुभूति न

हो पायी "स वै नैव रेमे. तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत् सह एतावान् आस स आत्मानं द्वेधा आपातयत् पति च पत्नी च अभवताम्" (यथापूर्व), तब आप महोदय इतने कितने बडे ज्ञानी बन गये कि एकाकितया इस जगत्मे आत्माराम बन कर बिराजमान रह पायेंगे ?

परमात्माकी इस रामलीलामे दर्शकके रूपमे आनेवाले जो परमात्माकी लीलामे लीलाराम बननेकी बजाय लीलासे विरत हो कर केवल आत्मदर्शनमे रमनेवाले आत्माराम बनना चाहते है, उनका भविष्य तो श्रुतिने चुपचाप बता दिया कि "तस्माद् एकाकी न रमते।" "तुम आत्माराम बन कर एकाकी रमण कर नही पाओगे" यह भविष्यवाणी कभी खोटी नही पडती

सीता और राम के प्रिया-प्रियतमके द्वैतघटित प्रणयदृश्यको मायाका मिथ्या 'कपटनाटक' कह कर अस्वीकार करनेवाले, स्वयको केवल पारमार्थिक द्रष्टा मान कर चल पडते है, परन्तु उनसे आत्मकैवल्यके ध्यानमे आवश्यक मौन निभ नही पाता। अत वे आत्माके अद्वैतपर प्रवचन प्रारम्भ कर देते है ऐसे आत्माराम बनना चाहते ज्ञानीकी वाणी सुनने जिज्ञासु श्रोतागण जुट जाते है प्रतिदिन ज्ञान प्राप्तिके हेतु श्रवणव्यसनी श्रोता सच्चे विरक्त या मुमुक्षु हो या न हो; फिरभी, वक्ताको तो आत्मीय लगने ही लगते है अन्तत यह आत्माराम साधक श्रोताराम (श्रोताओके समक्ष किये जानेवाले आत्माके अद्वैतके प्रवचनमे रगा हुवा) वक्ता बन कर रह जाता है। अत श्रुतिकी भविष्यवाणी प्रमाणिक सिद्ध हो जाती है : "उस परमात्माको एकाकी रहना सुहाया नहीं अत आज भी कोई एकाकी रह नहीं पाता।"

अत द्रष्टाकी केवलाद्वैती दृष्टि रामलीलाके रसमे रसाभास पैदा करनेवाली होती है केवलाद्वैतकी परिणति या तो केवल अरतिमे अथवा तो केवल श्रोतारतिमे पर्यवसित हो जाती है इस जगत्मे ऐकान्तिक

आत्मरमण सम्भव नही.

नाटक देखते समय द्रष्टा और दृश्य के बीच तादात्म्यके भावके ऐसे निर्झर वहने चाहिये कि जिसके प्रवाहमे हमारी चेतनामे लगे केवल-द्वैत और केवल-अद्वैत के सारे धब्बे धुल जाये। स्वयके अद्वैत स्वरूपमे भरे निजानन्दके सिन्धुमे नामरूपात्मक द्वैतकी अनेक परमानन्दरूप लहेरे परमात्माने प्रकट की है इस आधिदैविक लीलामे हमारे भीतर तादात्म्य-भाव खिल पाये एतदर्थ उपनिषदोंने जो पाठ हमे पढाना चाहा "ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वम् असि" (छान्दो उप ६।८।७) इसमे महत्त्वपूर्ण रहस्य यही हे कि दिखलायी देती जड-चेतनरूपा सृष्टि ओर उस आनन्दरूप परमात्मा के बीच घनिष्ठ तादात्म्य है सब कुछ ऐतदात्मक है वह आत्मा हे ओर तुम भी वही ऐतदात्मक हो "अह ब्रह्मास्मि" की साधनाका तात्पर्य भी अहकारास्पद जीवात्माके केवल अद्वैतमे न हो कर, जीवात्मा और परमात्मा के बीच रूपगत वास्तविक द्वैत होनेपर भी तत्वगत मोलिक अद्वैतके प्रतिपादनमे रहा हुवा है लीलाके दृश्य और द्रष्टा के बीच एक साधारणीकरणमे उपनिषद्का तात्पर्य निहित हे

आधुनिक वैज्ञानिक तत्त्वचिन्तनमे देश (Space) काल (Time) द्रव्य (Matter) और ऊर्जा (Energy) के परस्पर सापेक्ष (Relative) होनेकी धारणा प्रस्तुत हुयी है इसकी प्राय अतर्क्य व्याख्या प्रस्तुत की जाती है कि महान वैज्ञानिक आईनस्टाईनने भी देश काल द्रव्य और ऊर्जा के इनको पारमार्थिक सत्य (Absolutely Real) न मान कर केवल व्यावहारिक सत्य (Relatively Real) स्वीकारा है

सापेक्षतावादके सिद्धान्त(Theory of Relativity)की, मेरी नम्र धारणाके अनुसार, यह विपरीत व्याख्या है क्योकि इन चारो पदार्थोंके स्वरूप परस्पर सापेक्ष है, पर उनकी सत्ता समान ही है क्योकि किस निरपेक्ष

पारमार्थिक सत्ताकी अपेक्षा इन चारो पदार्थोको सापेक्ष या व्यावहारिक माननाॽ इस प्रश्नकी न तो आईन्स्टाईन्ने चिन्ता की ओर उस सिद्धान्तमे किसी पारमार्थिक सत्ताकी अपेक्षा इन्हे आपेक्षिक कहना अभिप्रेत हे ये तो परस्परसापेक्ष ह एकदूजेसे अवर या पर नहीं अत परस्पर सापेक्ष ओर व्यावहारिक सत्य ये दोनो पर्यायवाची शब्द नही है

व्यावहारिक सत्य वस्तुत सत्य नही होता केवल व्यवहारोपयोगी सत्ता ही उसकी होती है पर्देपर दिखलायी देनेवाले चलचित्रकी तरह अथवा पत्रमुद्रा (currency note) के मूल्यकी तरह जिस क्षण अपनी चेतनामे कर्ता भोक्ता या द्रष्टा होनेकी स्फुरणा समाप्त हो जाती है उसी क्षणके बाद व्यावहारिक सारे अवभास स्फुरित होने बद हो जायेगे व्यावहारिक सत्य बाधित हो जाता हे कर्ता द्रष्टा या भोक्ता होने की भ्रान्तिके निवृत्त होते ही शुद्ध चेतनाको मुक्त माना जाता है उस मुक्तावस्थामे व्यावहारिक सत्यकी स्फुरणा होती नही है ब्रह्मज्ञान प्रकट होते ही अर्थात् पारमार्थिक सत्यके साक्षात्कारवश, भगवत्पाद श्रीशकराचार्यके मतके अनुसार, देश काल द्रव्य आदिके द्वैत बाधित हो जाते है जबकि आईनस्टाईन्के मतके अनुसार सापेक्ष सत्यका कभी बाध नही होता है, चारो देश काल-द्रव्य-ऊर्जा पारमार्थिकतया सापेक्ष होते है सापेक्षतावादका सिद्धान्त देश काल द्रव्य और ऊर्जा के द्वैतको मिथ्या प्रतिभास या मिथ्या व्यवहार (Subjective) नही मानता है इन देश काल द्रव्य और ऊर्जा की सत्ता किसी जीवचेतना या ईश्वरचेतना की स्वप्नोपम मायिक कल्पना नही देश काल द्रव्य और ऊर्जा मेसे प्रत्येककी सता वास्तविक (Objective) होनेपर भी एकदूजेसे निरपेक्ष न हो सापेक्ष अर्थात् इतरेतरनिर्भर होती है इन चारोके स्वरूप ऐसे है कि चारोको एकदूजेकी अपेक्षा है आईनस्टाईन् तो इतना ही कहना चाहता था

इतरेतरसापेक्षके आधारपर द्रव्यका ऊर्जामे रूपान्तरण शक्य बना

यह व्यावहारिक सत्ताके सोपानोपर आरोहण कर पारमार्थिक सत्ताके स्तरपर पादन्यास जेसी बात नहीं क्योंकि सापेक्षतावादके सिद्धान्तके अनुसार द्रव्य ओर ऊर्जा दोनो ही सापेक्ष है अत यदि पारमार्थिक हो तो दोनो ही पारमार्थिक है ओर व्यावहारिक हो तो दोनो ही व्यावहारिक हे अत स्थूल द्रव्योके द्वैतसे सूक्ष्म ऊर्जामे अद्वैतको पानेकी कथा यहा अप्रासगिक लगती हे

ऐसे सापेक्षतावादने देश काल द्रव्य ओर ऊर्जा मे मान लिये गये केवल-द्वैत या केवलाद्वैत की सम्भावनाको सर्वथा अतर्क्य बना दिया है जो ये चारो पदार्थ भिन्न-भिन्न होनेपर भी एकदूजेकी अपेक्षा रखनेवाले — एकदूजेपर निर्भर हो तो यह सिद्ध हो जाता हे कि ये चारो ही पदार्थोके द्वैत किसी एक समष्टि (Whole)के चार अग है, पहलु हे या प्रक्रिया (Parts, aspects or functions of a Single system) है

"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे · मूर्त चैव अमूर्त च, मर्त्य च अमृत च, स्थित च यत् च, सत् च त्य च"
(यथापूर्व)

उपनिषद्‌द्वारा उपलक्षण शैलीमे दरसाये गये विविध युगलोकी वास्तविकता देश काल द्रव्य और ऊर्जा मे पहचानी जा सकती है द्रव्य मूर्त होता है और ऊर्जा अमूर्त द्रव्यसे ऊर्जामे और ऊर्जासे द्रव्यमे होते रूपान्तरणको व्यष्टिरूपेण निहारनेपर वे मर्त्य प्रतीत होते है, परन्तु, समष्टिरूपेण देखे जानेपर ऐसा लगता है कि न तो कुछ उत्पन्न हो रहा है ओर न कुछ नष्ट ही हो रहा है, केवल एक रूपमेसे दूसरे रूपमे परिवर्तन हो रहा है अर्थात् समष्टिरूपेण सब कुछ अमृत ही हे त्रि-आयामी (Three Dimensional) रूप स्थिर देशमे 'स्थित' ओर भूतसे भविष्यकी एक ही दिशामे चलनेवाले एक-आयामी (Mono Dimensional) रूप सञ्चारी कालमे 'यत्'को

पहचाना जा सकता है. इसी तरह देश काल द्रव्य और ऊर्जा के विविध व्यष्टिरूपोंको प्रत्यक्षद्वैतके रूपेण जाना जा सकता हे और इन चारोंके समष्टिरूपका अपरोक्ष अद्वैत भी माना जा सकता है. एतावता सिद्ध होता है कि "सत् च त्यं च" के युगलकी वास्तविकताका अस्वीकार सापेक्षतावादमें भी शक्य नहीं.

कुछ आधुनिक वेदान्त प्रवचनकार कहते हैं कि परस्परसापेक्ष होनेसे ही देश काल द्रव्य ओर ऊर्जा के द्वैतको पारमार्थिक सत्य नहीं माना जा सकता. उनकी धारणाके अनुसार जो निरपेक्ष सत्य हो उसे ही पारमार्थिक सत्य माना जाना चाहिये. सत्यकी ऐसी परिभाषा ही दुराग्रहपूर्ण प्रतीत होती है. क्योंकि इनकी धारणाके अनुसार ब्रह्म सापेक्ष वस्तु हो नही सकता अत निरपेक्ष ब्रह्मसे अतिरिक्त सभी कुछ मायिक या अज्ञानोपाधिक प्रतिभास या अविद्याकल्पित होना चाहिये.

अब उपनिषद् जब ऐसा कहते है कि "सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति" (यथापूर्व)तब इन विचारकोंको लगता है कि पारमार्थिक ब्रह्मकी तरह कोई एक मायिक ब्रह्म भी होना चाहिये, जिसे बहुभवनकी कामनाकी हो सकती है। इस ब्रह्मको 'मायाशबलित' कहा जाता है ब्रह्मके पारमार्थिक अद्वैतमे यो मायिक द्वैतकी कल्पना प्रस्तुत की जाती है. उपनिषदोमे भी ऐसा एक वचन मिलता माना जाता है : "अस्माद् मायी सृजते विश्वम् एतत्" (श्वेता.उप.४।९). इस वचनके आधारपर इन विद्वानोकी धारणा और अधिक बद्धमूल हो जाती है कि निरपेक्ष पारमार्थिक ब्रह्म और सापेक्ष मायाशबलित ब्रह्म अलग-अलग होने चाहिये

ऐसी व्याख्यामें सर्वाधिक आपत्तिजनक तथ्य एक यह है कि 'मायी' शब्दका अर्थ सस्कृतभाषाके व्याकरणनियमके अनुसार 'मायिक' नही होता जिसमे मायाका सामर्थ्य हो उसे 'मायी' कहा जाता है.

मायाकल्पित या मायाद्वारा भासित पदार्थको 'मायी' कहना सुसगत नही लगता

"अस्माद् मायी सृजते विश्वम् एतत्।
तस्मिन् च अन्यो मायया सनिरुद्ध ॥
मायान्तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्य अवयवभूतैस्तु व्याप्त सर्वम् इद जगत्॥"
(श्वेता उप ४।९-१०)

अविकलरूपेण यह वचन यो है यहा 'अस्माद्' पदके अनेक अभिप्राय कहे-सोचे जा सकते है किसी भी तरह परन्तु जिस मायीको 'विश्वस्रष्टा' कहा गया है वह स्वय मायामे सन्निरुद्ध या शबलित हो नही सकता मायाको इस विश्वकी 'प्रकृति' या 'उपादान' कहना और मायी महेश्वरको 'स्रष्टा' या 'कर्ता' कहना और उससे भिन्न किसीको मायामे 'सन्निरुद्ध' कहना, ये सारी बाते स्वयमे इसका प्रमाण बन जाती है कि महेश्वर मायाका नियामक या प्रयोक्ता है, नियम्य या प्रयुक्त नही उस महेश्वरके अवयवोसे जगत् व्याप्त है, ऐसा प्रतिपादन भी मायीके अमायिक होनेका प्रमाण जाना चाहिये क्योकि वह उसके अपरिच्छिन्न होनेके तथ्यको पुष्ट करता है

'माया' शब्दका अर्थ प्रकृति किया गया है अत यह स्थूल-व्यक्त जगत्की सूक्ष्म-अव्यक्त अवस्था होनी चाहिये अथवा परमात्माके अस्थूल बीजरूप अद्वैतमे पत्र-पुष्प-फलोपम द्वैतकी ही सूक्ष्म सम्भावनोको 'प्रकृति' कहा जा सकता है प्रकृतिको परमात्मासे भिन्न माने या अभिन्न माने, किसी भी सयोगमे प्रकृतिके बधनसे मायी परमात्मा स्वय बधता नही है वैसे परमात्मा स्वय महेश्वर होनेके रूपमे तो बधता नही है पर जीवात्मरूपेण बध भी जाता है ऐसी स्थितिमे सृष्टिके स्रष्टाको 'मायाशबलित' कैसा कहा जा सकता है?

उल्लेखनीय होता है कि उपनिषद् भगवद्गीता भागवतपुराण और ब्रह्मसूत्रो के समन्वितप्रामाण्यके अनुसार जगत्का उपादान परमात्मासे अव्यतिरिक्त प्रकृतिके रूपमे ही सिद्ध होता है

"ऐतदात्म्यम् इद सर्व स आत्मा तत् त्वम् असि"
(छान्दो उप ६।८।७)

"भूमि आपो अनलो वायु ख मनो बुद्धिरेव च।
अहकार इतीय मे भिन्ना प्रकृति अष्टधा॥
अपरा इयम् इतस्तु अन्या प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूता महाबाहो यया इद धार्यते जगत्॥"
(भग गीता ७।४-५)

"द्रव्य कर्म च काल च स्वभावो जीवएव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वत॥"
(भाग पुरा २।५।१४)

"प्रकृति च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्, अभिध्योपदेशात् च
आत्मकृते परिणामात्, योनिश्च हि गीयते"
(ब्र सू १।४।२३-२७)

भागवतके श्लोकमे द्रव्य (Matter) कर्म (Kinetic Energy) स्वभाव (Static Energy) काल (Time) जीव (Consciousness) इन पाचोंको परब्रह्म वासुदेवसे तत्त्वत अभिन्न गिनाया गया है आधुनिक विज्ञानसम्मत देश काल द्रव्य और ऊर्जा के वर्गीकरणसे इस वर्गीकरणमे कुछ तारतम्य दिखलायी देता है, परन्तु, जो थोडी गम्भीरताके साथ अवलोकन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि भागवतकारके मतके अनुसार द्रव्य और देश अलग-अलग पदार्थ नहीं क्योंकि इन्हे अतिरिक्त माननेमे एक द्रव्य और दूसरा उसका अभाव ऐसा आकाश ऐसा द्वैतवादी पूर्वाग्रह काम कर रहा है भागवतकार और गीताकार दोनोंके अनुसार द्रव्यात्मिका प्रकृतिम पृथ्वी जल तेज वायु आकाश मन बुद्धि

अहकार परिगणित है. यहां आकाशके रूपमे देश (Space) का समावेश कर लिया गया है अत अपने *दर्शनकी परिभाषामे जिसे 'द्रव्य'* कहा गया है वह आधुनिक विज्ञानसम्मत Matter और Space दोनोका संग्राहक है.

विज्ञानसम्मत एनर्जि या ऊर्जा के स्थानपर भागवतोक्त [1]कर्म (Kinetic Energy) और [2]स्वभाव (Static Energy) को ऊर्जा* के रूपमे गिना जा सकता है

काल (Time) तो विज्ञान और भागवत दोनो सूचिओमे आनेवाला समान पदार्थ है

जहा तक जीवके अस्तित्वकी समस्या है इस बाबतमे आधुनिक विज्ञान अभी तक मोनसेवन करता है एतावता कितने ही अधीर विचारक इसका अर्थ ऐसा निकाल लेते है कि चेतनाको अतिरिक्त पदार्थ मानना अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है उसकी पृष्ठभूमिमे रहे, परन्तु, रोचक ऐतिहासिक तथ्योपर ध्यान देना आवश्यक लगता है

अभारतीय धर्मोमे आत्मा (Soul) का अस्तित्व केवल मनुष्यरूप प्राणीमे ही स्वीकारा गया है वनस्पति वृक्ष कीट सर्प मत्स्य कच्छप पशु पक्षी जैसे प्राणिओमे नही इस भेदके वे सात हेतु गिनाते है कि जिन हेतुओके आधारपर मनुष्यकी परिभाषा ही अलग पडी गयी है.

---

*लेखोत्तरटिप्पणी : यहा यह अवधेय हो जाता है कि स्टीफेन् हॉकिंग् परिगणनासौविध्यके हेतु चार तरहकी [1]गुरुत्वाकर्षिका ऊर्जा [2]विद्युच्चुम्बकीय ऊर्जा [3]मन्द नाभिकीय ऊर्जा और [4]प्रबल नाभिकीय ऊर्जाओकी जो उत्प्रेक्षा करते हैं वह अधिक जटिल तथा गहन विश्लेषण पर आधृत है उनका, परन्तु, यथाकथञ्चित् अन्तर्भाव इन्ही दो, नाम्ना, कर्म और स्वभाव रूपी सामान्य ऊर्जामे सोच लेना भागवतीय दृष्टिकोणके बोधार्थ उपयुक्त होगा गो श्या म

(१)केवल मनुष्य ही तर्कशक्तिशील प्राणी है

Only man is descursive animal

(२)केवल मनुष्य ही यन्त्रशक्तिवान् प्राणी है

Only man is technological animal

(३)केवल मनुष्य ही राजनैतिक प्राणी है

Only man is political animal

(४)केवल मनुष्य ही सास्कृतिक प्राणी है

Only man is cultural animal

(५)केवल मनुष्य ही धार्मिक प्राणी है

Only man is religious animal

(६)केवल मनुष्य ही नीतिमान प्राणी है

Only man is ethical animal

(७)केवल मनुष्य ही सौदर्यानुभूतिशील प्राणी है

Only man is esthetic animal

मनुष्याकार प्राणीकी इस विशिष्टता उसके देहमे रही आत्माके कारण है, ऐसा यहुदी-ईसाई-मुस्लिम धर्मोका कहना है आधुनिक विज्ञानने परन्तु ऐसी धारणाको अब निरस्त कर दिया है यह विशिष्टता स्थूल रूपमे मनुष्याकार प्राणीमे उपलब्ध होनेपर भी सूक्ष्म रूपमे मनुष्येतर प्राणिओमे भी होती ही है तदुपरात आज तो अनन्त ब्रह्माण्डमे हजारो न सही पर सेकडो ग्रहलोक ऐसे हो सकते है कि जिन लोकोमे पृथ्वीकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान अथवा पृथ्वीके समान बुद्धिमान प्राणी विकसित हुवे होगे अत इस विशिष्टतापर मनुष्याकार प्राणीका एकाधिकारकी धारणाको आज सर्वथा अवैज्ञानिक माना जाता है मनुष्याकार प्राणीमे यह विशिष्टता लाखों वर्षोकी विकासशृखलाकी एक कड़ी मात्र है विकासवादी सिद्धान्तके अनुसार मानवीय शरीरकी सरचनामे और मानवेतर प्राणिओंकी शरीरकी सरचनामे किसी भी तरहका ऐसा तारतम्य सिद्ध नहीं होता

भवनोपम सचेतन शरीरकी सरचनामे ईंटोकी तरह वापरे गये प्रोटीन और न्युक्लीइक् एसीड् विज्ञानकी प्रयोगशालामे पैदा किये जा सक्ते है आजसे करोड़ो वर्ष पूर्व सरल एककोषीय अणुका विकास जिस प्रक्रियाके वश हुवा उसका कृत्रिम पुनरावर्तन करके विज्ञानकी प्रयोगशालामे आज उनका निर्माण सभव है. हाइड्रोजन् पानी एमोनिया मिथेन ओर हाइड्रोजन् सल्फाइड् के घोलमे से अल्ट्रावायोलेट् किरणोको पसारनेपर यह चमत्कार सिद्ध किया जा सकता है.

यद्यपि ईंट बनानेवाले मजदूरको भवननिर्माणका तकनीकी कौशल न भी प्राप्त हो, उसी तरह इस प्रोटीन् और न्यूक्लीइक् एसिड् के निर्माताको अभी तक मानवीय शारीरिक सरचनाकी तकनीक प्राप्त न हुयी हो वह तो स्पष्ट बात हे फिरभी जो कुछ रहस्यरूप रह गया है वह इन ईंटोसे भवनसरचनाके कौशलसे सम्बन्धित कारीगरीकी बात है, भवन स्वय किन तत्त्वोंसे बना है उस बारेमे नहीं।

इन ईंटोकी जटिल सरचनामे लाखो नही बल्कि करोडो वर्ष लगे हे इतनी लबी अवधिमे जटिलसे जटिलतर और जटिलतम बनती ऐसी सरचनाको दो या दस वर्षोंमे विकसित कर दिखाना शक्य नही, परन्तु, एतावता इस मानवदेहकी जटिलतम सरचनामे प्रयुक्त ईंटोकी पहचानको कोई कैसे झुठला सकता है? अमेरिकाके महान् वैज्ञानिक कार्ल् सेगान् कहते है कि विकासका सिद्धान्त अब वाद होनेकी कक्षासे आगे बढ़ कर तथ्यके सिहासनपर आसीन हो गया है "Evolution is fact, not a theory" (Cosmos p 27) इसका स्पष्ट प्रमाण आज देखा सकता है कि मानवनिर्मित कम्प्युटर् मानवकी बुद्धिसे अधिक प्रभावशाली रीतिसे तर्क करनेमे सक्षम बनता जा रहा है। एतावता कम्प्युटर्मे आत्माके अस्तित्वकी कल्पना की नही जा सकती इतिहास गवाही देता है कि तर्कशक्ति, यन्त्रविज्ञान, राजनीति, सस्कृति, धर्म, नीति या सौदर्यानुभूति आदि गुण पृथ्वीके प्रत्येक प्रदेशमे, प्रत्येक कालमे,

प्रत्येक मानव-समुदायमे एक जैसे, एक ही अनुपातमे विकसित हुवे हो ऐसा दृष्टिगत नही होता. तब क्या ऐसे मान लेना कि देहमे रही आत्माका परिमाण अलग-अलग होगे?

ऐसे युक्तिवादोसे केवल मनुष्याकारवाले प्राणीके देहमे विद्यमान रहनेवाली पाश्चात्य धर्मसम्मत आत्माके स्वरूप या अस्तित्व का खण्डन होता माना जा सकता है हमारे यहा तो इस बारेमे सर्वथा विलक्षण विचारसरणी ही थी हमारी आत्मविषयक विचारसरणीका खण्डन विज्ञानने अभी तक तो किया नही है, और न भविष्यमे कर पायेगा ऐसी सम्भावना ही प्रबल लगती है

हमारे धर्ममे आत्माके अस्तित्वके लिग अपनी तर्कशक्ति, तन्त्रशक्ति, राजनीति, सस्कृति, धर्म, नीति या सोदर्यानुभूति के आधारपर निर्धारित नही किये गये है, क्योकि ये सारी शक्ति देहसे सम्बन्ध रखनेवाली है हमारे यहा आत्मचेतनामे मन बुद्धि अहकार चित्त प्राण ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय आदि प्रत्येक सामर्थ्यको बाह्यारोपित माना गया है उदाहरणतया जैसे विद्युत् (Electricity) मे शब्द या ध्वनि को अभिव्यक्त या ग्रहण करने की स्वयकी सामर्थ्य न होनेपर भी स्पीकर या माइक रूपी साधनोसे वह औपाधिक सामर्थ्य आ पाती है, उसी तरह चेतनमे भी शब्दोच्चारणकी सामर्थ्य या शब्दश्रवणकी सामर्थ्य अपनी नही होती परन्तु वागिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय की उपाधिओके वश चेतना शब्दोच्चारण या शब्दग्रहण के हेतु समर्थ बन जाती है

सारे देहको पहले एक घडियालकी तरह बना कर बादमे जैसे बेटरी या सेल रखे जानेपर वह चलने लगती है अथवा टेपरेकॉर्डर्मे बेटरी रखनेसे जैसे वह बजने लगता है वैसे देहमे आत्मा रखनेपर वह चलने लग जाता हो ऐसा अपने उपनिषदोमे माना नही गया है देहमे आत्माके आगमनका एक यज्ञके रूपमे बहोत रोचक वर्णन

उपनिषद्मे दिया गया है

"१ यह लोक एक अग्नि है, उसमे सूर्य समिधा जैसा होता है सूर्यकी किरणें उस समिधामसे निकलते धुएकी जैसी है दिनका प्रकाश उस अग्निकी चमक है चन्द्रमाका प्रकाश उस अग्निके अगारे जैसा है, नक्षत्र उसके चिनगारीके जैसे होते है इस अग्निमें देवता पानीकी आहुति देते है इसके कारण सोम तत्त्वकी उत्पत्ति होती है

२ उस सोमकी आहुति मेघ रूपी अग्निमें दी जाती है वायु मेघकी समिधा जैसी होती है, बदल धूमकी तरह होते है चमकती बिजली इस धूमरूपी अग्निकी ज्वाला है नीचे गिरती बिजली उस अग्निके अगारे जैसी होती है मेघगर्जना इस मेघरूपी अग्निकी चिनगारी जैसे होते है इसमे सोमकी आहुति देनेसे वर्षा उत्पन्न होती है

३ इस वर्षाकी आहुति पृथ्वीरूपी अग्निमें दी जाती है उस पृथ्वीरूपी अग्निकी समिधाके जैसा एक सवत्सर होता है इस पृथ्वीरूपी अग्निका धुआ इस आकाशको समझ लो, रात्रि उसकी ज्वाला है, दिशायें अगाराकी जैसी होती है इस पृथ्वीरूपी अग्निमें वर्षाकी आहुति देनेसे अन्न उत्पन्न होता है

४ अन्नकी आहुति पुरुषरूपी अग्निमें दी जाती है पुरुषरूप अग्निकी समिधा वाणी है, प्राण धुआ है, जीभ पुरुषरूपी अग्निकी ज्वाला है, उसके नेत्र अगारे है श्रवणेन्द्रिय चिनगारी इस पुरुषरूपी अग्निमें अन्नकी आहुति देनेसे वीर्य उत्पन्न होता है

५ वीर्यकी आहुति स्त्रीरूपी अग्निमे दी जाती है स्त्रीरूपी अग्निमें जननेन्द्रिय (उपस्थ) समिधा जैसी होती है, शृगारिक

संकेत धुंए जैसे होते हैं. योनि ज्वाला जैसी होती है, सम्भोग अंगारोंके जैसे होते हैं, इसमें मिलता सुख चिनगारी जैसा होता है. इस स्त्रीरूपी अग्निमें वीर्यकी आहुति देनेसे अर्थात् पांचमी आहुतिके कारण मूल जलतत्त्व पुरुषाकारतया प्रकट होता है.

वह पुरुष गर्भमें दसेक मास रह कर बाहर आता है. बादमें अपनी आयुष्यके अनुरूप जीता है. मरनेके बाद वह जिन-जिन पांच अग्निओमेंसे पसार हो कर आया उन्हींमें से पसार हो कर पुनः लौट जाता है.''

(छान्दो.उप.५।३-९)

हम देख सकते है कि हमारा आत्मा पानी बरखा अन्न वीर्य और गर्भ ऐसी अनेक अनेक अवस्थाओमेसे पसार हो कर जनमता है अत आधुनिक विज्ञानकी प्रयोगशालामे हाईड्रोजन् पानी एमोनिया मिथेन और हाइड्रोजन् सल्फाईड् के घोलमे अल्ट्रावायोलेट्की किरणोको पसार करवानेसे चेतना सूक्ष्म रूपमे प्रकट हो जाती हो तो हो जाये! उपनिषद्की प्रक्रियाका इसमे प्रत्याख्यान कहाँ हुवा? इस चेतनामे तर्कशक्ति तन्त्रशक्ति राजनीति सस्कृति धर्म नीति या सौदर्यानुभूति की सामर्थ्य न हो तो हमे इसमे आपत्तिजनक कुछ भी लगना तो नही चाहिये अथवा तो मानवनिर्मित कम्प्युटर्मे मानवसे अधिक बौद्धिक सामर्थ्य तर्कशक्ति खिला कर सगणक वैज्ञानिक दिखलाते हो तो उस कम्प्युटर्मे आत्माके अस्तित्वको स्वीकारनेकी बाध्यता आवश्यक हमे नहीं लगनी चाहिये क्योकि आत्माके ऐसे स्थूल लक्षण हमने कभी घडे ही न थे

आधुनिक विज्ञानकी विविध शाखा (Soul) को खतम कर देनेका बौद्धिक उद्यम है पर आत्मा तो अजर-अमर है और रहेगी विज्ञानकी प्रयोगशालामे प्रोटीन् या न्युक्लीइक् एसिड् के अणुके निर्माणसे हमारी आत्माका प्रतिस्पर्धी जीवाणु पैदा नही होता है वह तो शुद्ध

चेतनारूप है और सर्वत्र विद्यमान है. वह तो पानीमे बद्दलोंमें बरसादमे अन्नमें और प्रत्येक प्राणीमे वनस्पति वृक्ष कीट सर्प मत्स्य कच्छप पशु पक्षी या मनुष्य सर्वत्र विद्यमान है. वह तो कहीं भी प्रकट हो सकती है. हाईड्रोजन् आदि तत्वोंके द्रवोंको स्टरलाईज् कर देनेसे जीवाणु मर जाते होगें; परन्तु, जीवात्मा मरता नही. भगवद्गीतामे कहा गया है : "अछेद्यो अयम् अदाह्यो अयम् अक्लेद्यो अयम् अशोष्यएव च नित्यः सर्वगतः" (भग.गीता.२।२४) जीवात्माको किसी पार्थिव हथियारसे काटा नहीं जा सकता, आग्नेय उपकरणसे जलाया नहीं जा सकता है, न जलीय उपायोसे भिजाया और वायवीय उपायोसे सुखाया ही जा सकता है. वह तो नित्य ओर सर्वगत है, सर्वत्र विद्यमान है.

जो नित्य हे वह न तो मर सकता है और न जनम सकता है, फिरभी कभी वह प्रकट हो सकता है तो कभी तिरोहित भी हो सकता है. अतएव विज्ञानकी प्रयोगशालामे भी वह चेतना प्रकट हो तो कोई अनहोनी नही हो जाती. गर्भमेंसे बालक प्रकट होता ही तो है, नूतन पदार्थके रूपमे पैदा थोडी होता है.

मनुष्यकी तर्कशक्ति या नीतिमत्ता आदि गुणोका जैसा स्वरूप आजके मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, नृतत्वविज्ञान, शरीरविज्ञान, रसायनविज्ञान, भौतिकविज्ञान या ज्योतिर्विज्ञान के आधारपर सिद्ध हो रहा है, वह स्वयं इसकी गवाही देते है कि जड और चेतन के बीच अतिद्वैत या अति-अद्वैत का इस सृष्टिमे कहीं भी स्थान नहीं है, केवल एक एक हठवादी दार्शनिककी बुद्धिके स्थानके अपवादको छोड कर।

उपनिषदोकी रसदृष्टिकी यह महत्ता है कि आत्मचेतना समष्टिरूपेण सर्वव्यापी और व्यष्टिरूपेण परमाणुरूप विरोधी धर्मोसे युक्त मानी गयी है. आधुनिक विज्ञान जैसे प्रकाशको किरण और तरग यो उभयरूपेण स्वीकारता है. उसी तरह भगवान्ने गीतामे आत्मचेतनामे रहे इस तरहके

दोनो गुणोको स्वीकारा है

"नित्य सर्वगत स्थाणु अचलो अय सनातन ।"
"ममैव अशो जीवलोके जीवभूत सनातन ।
मन षष्ठानि इन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।"
शरीर यद् अवाप्नोति यच्चापि उत्क्रामति ईश्वर ।
गृहीत्वा एतानि सयाति वायु गन्धानिव आशयात्॥"
(भग गीता २।३९,१५।७-८)

अर्थात् जीवात्मा समष्टिरूपेण सर्वव्यापी है परन्तु व्यष्टिरूपेण अणुपरिणाम है समष्टिरूपेण वह अचल हे, जबकि व्यष्टिरूपेण एक देहमेसे, एक लोकमेसे दूसरे देहमे अथवा दूसरे लोकमे सचार भी कर सकती है जैसे सर्वत्र व्याप्त वायु अपने इस व्यापक रूपमे पुष्पके पराग या सुगन्ध का एक स्थानसे दूसरे स्थानपर वहन नहीं कर पाती परन्तु जब उसमे कोई झोका या लहर उठे तो वह पुष्पकी सुगन्धकी वाहिका बन पाती है अतएव उपनिपद् परमात्माको व्यष्टिरूपेण अणु जीवात्माकी तुलनामे अणीयान् परमाणुरूप गिनाता है और समष्टिरूप सर्वव्यापी महान् चैतन्य की तुलनामे अधिक महीयान् महाव्यापी गिनाता है ब्रह्म अपनी जीवात्माकी भीतर रहा अन्तर्यामी परमात्मा है प्रकृतिमा व्याप रहा है और पुरुष की तुलनामे महान् पुरुषोत्तम है

काल कर्म स्वभाव द्रव्य और जीव के पञ्चविध रूप एक ही ब्रह्मकी द्विविध प्रकृति है १ अपरा प्रकृति २ परा प्रकृति

"भूमि आपो अनलो वायु ख मनो बुद्धिरेव च।
अहकार इति इय मे भिन्ना प्रकृति अष्टधा॥
अपरा इयम् इतस्तु अन्या प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥''
(भग गीता ७।४-५)

एक ही परमात्मामे अपरा प्रकृतिके विविध रूप और परा प्रकृतिके विविध रूपो के द्वैतोकी सूक्ष्म सम्भावनाये भरी रहती है, जेसे एक ही बीजमे किसी वृक्षके विविध वर्ण आकृति गन्ध और स्वाद वाले पत्र, पुष्प और फलो के द्वैतकी सूक्ष्म सभावनाये विद्यमान रहती है अतएव भागवतमे कहे ''द्रव्य कर्म च काल च स्वभावो जीव एव च'' (भाग पुरा २।५।१४) ये कुछ भी वासुदेव परमात्माकी तत्त्वदृष्टिसे देखे तो भिन्न नही होते परन्तु फिरभी रूपदृष्टिसे भिन्न दिखलायी देते है, क्योकि स्वय ब्रह्म ही इन अनेकविध रूपोको धारण कर जगदात्मना प्रकट हुवा है ''तद् आत्मान स्वयम् अकुरुत'' (तैत्ति उप २।७) अत ये विविध रूप उसी परमात्माकी सुकृति=सुन्दर कृति है ''तस्मात् तत्सुकृतम् उच्यते इति'' (तैत्ति उप २।७) यहा जो कुछ अभिव्यक्त हुवा है वह उस परमात्माकी सुकृति ही है ''यद् वै तत् सुकृतम्'' (तैत्ति उप २।७) क्योकि परमात्मा रसरूप है अत उसकी प्रत्येक कृतिमे एक विशिष्ट रस अभिव्यक्त होता है ''रसो वै स।'' (तैत्ति उप २।७) इस रसको जाने बिना इस सृष्टिमे आनन्द मिलनेवाला नहीं ''रस हि एव अय लब्ध्वा आनन्दी भवति'' (तैत्ति उप २।७) इस सृष्टिमे प्रत्येक प्राणीमे रहनेवाली जीजीविषा जीवन जीनेकी अदम्य लालसा जो दिखलायी देती है वह इस बातकी गवाही देती है कि आकाशमे भरे वायुमेसे जब हम एक श्वास अदर लेते है तब हम उस आनन्दकी अव्यक्त रसानुभूति करते होते है अन्यथा कोई निरर्थक सास क्यो लेना चाहता? ''कोह्येव अन्यात् क प्राण्यात् यदेष आकाशे आनन्दो न स्यात्?'' (तैत्ति उप २।७) वह ब्रह्म ही सचमुचमे सब प्राणिओको आनन्दित रखता है ''एष ह्येव आनन्दयाति'' (तैत्ति उप २।७)

यह थी हमारी अपने उपनिषदोकी रसदृष्टि विज्ञानने इस रसदृष्टिका

खण्डन किया नही है और कर भी नहीं पायेगा। विज्ञानके विकासके साथ इस रसदृष्टिका मण्डन होनेवाला है यदि कभी विज्ञान इस रसदृष्टिका खण्डन करनेका साहस करेगा तो वह विज्ञान तब मानवीय बुद्धिको सुहाते साचेमे स्थूलको ढालनेके उद्यमसे विरत हो कर इस सृष्टिमे केवल विनाशकारी साधनोकी खोजमे जुटानेकी प्रक्रियामे विकृत बन जायेगा

अत हमारे दर्शनमे रही रसदृष्टिको पाये बिना जो हम विज्ञानके आविष्कारोकी चकाचोधमे अधे बन जायेगे तो हमे अपने स्वयके विनाशके साधनोको ही विज्ञानके नामपर जुटानेको बाधित होना पडेगा आवश्यकता तो यही है कि जैसे हमारे दर्शनने धर्मद्वारा रसदृष्टि पायी वैसे ही विज्ञानको भी उस रसदृष्टिका उत्तराधिकार हमारे दर्शनोके द्वारा पाना उचित होगा अत अब हम विज्ञानके क्षेत्रमे रसदृष्टिके महत्व और स्वरूपको पहचाननेका प्रयास करेगे

विज्ञानमें हमारी रसदृष्टि ::

'ज्ञान' सामान्यज्ञानका वाचक शब्द हे 'ज्ञान' शब्दके आगे 'वि' उपसर्ग जोडनेसे 'विज्ञान' शब्द बनता है 'वि'उपसर्गका अर्थ है विशिष्टता विशिष्ट ज्ञान यानि विज्ञान

विज्ञानके विषय स्थूल हों या सूक्ष्म, वे सभी होते हे विशिष्ट विषय उन-उन विषयोकी विशिष्टता उन-उन विषयोके श्रेष्ठत्व या अधिक प्रामाणिक होनेके अभिप्रायवश कही नही जा रही एक सच्चे वैज्ञानिकका मानस इतना आग्रहरहित होना ही चाहिये कि उसने स्वय किये हुवे निरीक्षण या परीक्षण के आधारपर जो कुछ सिद्ध होता हो वह सत्य है या असत्य, इसमे अपना सिर खपानेके बजाय स्वय किये परीक्षण या निरीक्षण के निष्कर्षकी तटस्थ प्रस्तुति करे एक वैज्ञानिकके लिये यह प्रक्रिया अधिक वाछनीय होनी चाहिये

जिस मान्यताका परीक्षण या निरीक्षण शक्य न हो ऐसी मान्यतामे विश्वास रखनेके बावजूद वह अपनी मान्यताके वैज्ञानिक सिद्धान्त होनेका दावा कर नहीं सकता किसी एक दिशामे किये गये निरीक्षण या परीक्षण का एक निष्कर्ष निकला हो परन्तु दूसरी दिशासे किये गये उसी विषयके निरीक्षण या परीक्षण करनेपर पूर्वनिर्धारित निष्कर्षसे दूसरा कोई विपरीत निष्कर्ष भी निकालनेपर स्वयके निष्कर्षको त्रिकालाबाधित सत्य मान लेनेकी मनोवृत्ति एक सच्चे वैज्ञानिककी कभी हो नहीं सकती अत विशिष्ट ज्ञानका अर्थ इतना ही है कि कोई निश्चित एक रीतिसे किये गये निरीक्षण या परीक्षण द्वारा मिलता एक विशिष्ट निष्कर्षको 'विज्ञान' कहा जाता है

स्थूलमे सूक्ष्मको जाननेको दार्शनिक विचारमन्थनसे जो सन्देह और प्रश्न मानवीय बुद्धिमे उभरते है, उन सन्देहो और प्रश्नो के समाधान वैज्ञानिक बुद्धिमन्थनद्वारा पानेका प्रयास विज्ञान है प्रश्न दर्शन उपस्थापित करता है और उनके उत्तर विज्ञान देता है अतएव दर्शन प्रश्नकर्ता तो विज्ञान उत्तरदाता हो सकता है पर एकदूजेको सुने बिना जो दोनो अपना-अपना राग आलापने लगे तो मानवीय बुद्धिकी ससद्मे सवाद और विवाद के बजाय एक निरा कोलाहल ही सुनायी देने लगेगा दर्शन और विज्ञान के बीच विवाद छिड जानेपर कोई सवाद और उस सवादमे पुन किसी प्रकारका विवाद चलता रहे इसमे कोई आपत्तिजनक बात नही होती, परन्तु, दोनोंके बीच असम्भापणकी मनोवृत्ति होनी दोनोके लिये हानिकारक हो सकती है एकदूजेकी मर्यादाको जाने बिना या मान्य करे बिना बोलते रहनेकी मनोवृत्ति भी अवाछनीय होती है

सत्यासत्यके सामान्य निष्कर्षको निकालनेसे पहले दर्शनको विज्ञानद्वारा किये गये विशेष विषयोके निरीक्षण या परीक्षण के विशिष्ट निष्कर्षोके तथ्य ध्यानमे रखने चाहिये इसी तरह विज्ञानको भी अपने विशिष्ट

निष्कर्षोकी सफलतासे इतना अधिक फूलना नही चाहिये कि मनुष्यकी बुद्धिके सामने सामान्य प्रश्न क्या-कैसे उपस्थित है.

वैज्ञानिक निरीक्षण और परीक्षण मे संश्लेषण और विश्लेषण की प्रक्रिया अपनानेके कारण कुछ जोड-तोड चलती रहनी चाहिये. जिस एककका निरीक्षण या परीक्षण अभिप्रेत हो वह जो स्थूल समष्टि हो तो उसके घटक सूक्ष्म व्यष्टिओंका ज्ञान उस एककके विश्लेषण बिना शक्य नहीं होता. उसे तोड कर देखे बिना कोई चारा नही रह जाता है. इसी तरह जिस वैज्ञानिक निरीक्षण या परीक्षण की विषयीभूत एकक स्थूल व्यष्टि हो तो वह किस सूक्ष्म समष्टिका भाग या अग है यह जाननेको उस एककका संश्लेषण भी करना ही पडता है क्योकि जब तक एककको अन्य किसी एककके साथ उसे जोड कर देखनेका कौशल न हो तो ज्ञान मिलेगा नही

इससे सिद्ध होता है कि परीक्षण हो या निरीक्षण, विज्ञानमे विश्लेषणात्मक तर्कपद्धति और संश्लेषणात्मक तर्कपद्धति दोनोकी ही महत्ता एक जैसी होती है.

उदाहरणतया मेडिकल् साइन्स्के विद्यार्थीको शरीररचनाका ज्ञान पानेको मेढकका विच्छेदन (dissection) करना पडता है. कारण यही होता है कि शरीर एक ऐसा एकक है कि जिसे स्थूल समष्टि माना जा सकता है. शरीरके सूक्ष्म अंग-प्रत्यग शरीरके भीतर होते है. अत शरीरकी चीरफाड़ किये बिना उसकी भीतरी रचना जानी नही जा सक्ती है. युरेनियम्के अणुके विघटनके विना आणविकी ऊर्जा मिल नही सकती. क्योकि युरेनियमके अणु इलेक्ट्रॉन् न्युट्रॉन् ओर प्रोटॉन् के परमाणुओंकी समष्टि है.

मेडिकल् साइन्स्का विद्यार्थी जब किसी मेंढकके शरीरके विच्छेदन

या विश्लेषण द्वारा उसके अङ्ग-प्रत्यगोकी रचनाको समझनेका प्रयत्न करता हो तब उसका लक्ष्य इस तरहका ज्ञान पाकर अनेक रोगिओके अग-प्रत्यगोको निकाल कर अथवा उपचार कर के अथवा नये प्रत्यारोपण द्वारा उन्हे स्वस्थ बनानेका होना चाहिये ऐसा हेतु न हो तो निरर्थक हिसा क्रूर अपराध है ट्रेन या मोटर के अकस्मात्मे घायल लावारिस गरीबके ऊपर नोसिखुवे जुनियर डॉक्टर्स् कई मर्तबा सरकारी हस्पतालोमे उसके शरीरकी चीरफाड करनेको टूट पडते हे ज्ञान पानेकी उनकी भूखको मिटानेको दूसरेके साथ बरती जाती ऐसी क्रूर छलना करनेकी मनोवृत्तिमे रसदृष्टिका सर्वथा ह्रास प्रकट हो जाता है यद्यपि मेढकके विच्छेदनमे भी ऐसी ही क्रूरता रही है इसका अस्वीकार सम्भव नहीं फिरभी रसनिष्पत्तिमे साधारणीकरणकी महत्ता कितनी अधिक है यह हम देख चुके हे एक मेढक खुद कभी कितना भी भूखा क्यो न हो किसी दूसरे मेढकको मार कर खा नहीं जाता यद्यपि वह भी कीट-पतगोको तो खाता ही है वह भूखा नहीं रहता प्रकृतिमे एक मेढकके भीतर दुसरे मेढकके प्रति साधारणीकरणका बोध इतना तो स्वत सिद्ध होता हे, परन्तु, मनुष्य जातिके प्राणीने इस स्वत सिद्ध बोधको स्वयके कृत्रिम विज्ञानके वश आज दबा दिया हे अत मनुष्य मनुष्य के बीच रहा साधारणीकरण खतम सा हो गया है एकदूजेसे परिचित हो पानेके वैज्ञानिक साधनोके प्रचुर विकास होनेके बावजूद नया कुछ जान लेनेकी भागदोडमे रसदृष्टिके कुचला जानेकी हकीकत इस अकस्मात्के रूपमे प्रकट हुयी है

अपना दर्शन तो इस जगत्के कणकणके साथ रसदृष्टि विकसित करनेके प्रयोजनार्थ साधारणीकरणकी प्रेरणा देना चाहता है "सर्व खलु इद ब्रह्म" (छान्दो उप ३।१४।१) इस ब्रह्मदृष्टिको विकसित करना प्रारम्भिक दशामे शक्य न हो पानेके कारण अपना धर्म अनेकविध प्राणिओको अनेकविध पूजनीय देवताओके वाहन अथवा अन्य भी किसी प्रकारके सम्बन्धोपदेशद्वारा उनकी हिसासे हमे विरत करना चाहता हे सिह

अम्बाका वाहन, बैल शिवका वाहन, मूषक गणपतिका वाहन, गरुड विष्णुका वाहन, सर्प महादेवके आभूषण, मयूरपिच्छ कृष्णका आभूषण आदि देवपूजा अथवा वैसे प्रयोजन के बिना किसी भी वृक्षके पत्र या पुष्प को तोडने भी "अल्पीयसी हिंसा" (भाग सुबो ३।२९।१५) मानी गयी है

मनुष्येतर प्राणिओमे आत्मा न होनेके कारण उनका भक्षण किया जा सकता है इसमे कोई क्रूरता या पाप नही, ऐसा विधान हमारे धर्ममे नही प्रत्येक प्राणीमे आत्मा होती है, अत किसी भी प्राणीकी हिंसा मूलमे है तो पाप ही वैसे साथ ही साथ यह भी तथ्य अवधेय है कि प्राणधारण करनेवाले जीवनकी सरचनामे ही अन्योन्यनिर्भर भक्ष्य-भक्षकभाव एक अपरिहार्य नियतिके रूपमे कार्यान्वित हुवा है फिरभी ब्रह्मदृष्टिवश भक्ष्य और भक्षक के बीच रहे अद्वैतको कदापि भूलना नहीं चाहिये "अहस्तानि सहस्ताना अपदानि चतुष्पदा फल्गूनि तत्र महता जीवो जीवस्य जीवन, तदिद भगवान् राजन् एक आत्मा आत्मना स्वदृक् अन्तरो अनन्तरो भाति पश्य त मायया उरुधाम्" (भाग पुरा १।१४।४६-४७) अतएव तैत्तिरीयोपनिषद्मे भी अन्न और अन्नाद मे ब्रह्मदृष्टि या अभेददृष्टि का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है "अधीहि भगवो ब्रह्म इति अन्न प्राण इति यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसविशन्ति तद् ब्रह्म इति अन्न ब्रह्म इति व्यजानात् अन्नाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते प्राणो अन्न शरीरम् अनन्नादम् आपो वा अन्नम् ज्योति अन्नादम् पृथिवी वा अन्नम् आकाशो अन्नाद तदेतद् अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम् अहम् अन्नम्, अन्नम् अदन्तम्, माम् अद्मि" (तैत्ति. उप. ३।१-६) तत्त्वपरमार्थके ब्योरे उपनिषदादि शास्त्रोकी यह एक विलक्षण कालातिगामिनी दृष्टि है कि यह सृष्टि चक्रवत् आवर्तित होती रहती है जिसमे मूलतत्त्व अपने-आपको उत्पन्न पालित और सहृत करता रहता है अत महाप्रलयको महामृत्यु अथवा महाकालकवलन

के रूपमे भी देखा गया है ओर नवसृजनको पुन आत्मवत्ताके प्रकटीकरणके रूपमे : "नैव इह किञ्चन अग्रे आसीद् मृत्युनैव इदम् आवृतम् आसीत् अशनायया, अशनाया हि मृत्यु, तद् मनो अकुरुत 'आत्मन्वी स्याम्' इति" (बृह उप १।२।१)

अत जैसे आत्मैक्यमे अरतिवश रमणार्थ द्वितीयकामना एक पारमार्थिकी आत्मानन्दकी दृष्टि हे वैसी ही दूसरी दृष्टि 'अशनाया'=मृत्युको भी जीवनकी सरचनाके मूलमन्त्रमे निहारनेकी दृष्टि है फिरभी वह अशनाया, क्योकि प्रकट हुयी हे, अशनातीत आत्मैक्यमे ही अत, हिसाका अतिरेक अथवा आत्यन्तिकी अहिसा दोनो जीवनविरोधी दृष्टिकोण है अतएव जो स्मृतिकार कहते है ""न मांसभक्षणे दोषो न निद्रायां न मैथुने प्रवृत्ति एषा भूतानाम्" (मनुस्मृ ५।५६) कहते है वही ऐसा भी कहते है "स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुम् इच्छति अनभ्यर्च्य पितॄन् देवान् ततो अन्यो नास्ति अपुण्यकृत् मा स खादयिता अमुत्र यस्य मांसम् इह अधि अहम् एतद् मांसस्य मासत्व प्रवदन्ति मनीषिण" (मनुस्मृ ५।५२,५५) सर्वप्रथम स्मृतिकार यह कहते है कि जैसे निद्रा या मैथुन जैसे देहनिर्वाहार्थ स्वाभाविक है, वैसे ही, मासभक्षण भी स्वाभाविक है, अत मासभक्षणमे दोप नही वही स्मृतिकार दूसरे वचनमे यह भी कहना भूलते नहीं है कि पितृ-देवार्चनके प्रयोजनके बिना केवल अपने मासके अभिवर्धनार्थ अथवा जिह्वालोल्यवश जिसका मास आज तुम खा रहे हो आनेवाले कालमे तुम्हारा मास खायेगा 'मा'-मुझे + 'स'-वह खायेगा अत मासको 'मास' कहा जाता है दूसरे प्राणीको अपना खुराक बनानेमे प्रकट होते भयकर रसके साधारणीकरणका ही यह उपदेश है दूसरेकी भयकरता जैसे हमारे जीवनको करुण बना देती है, ऐसे ही, हमारी भयकरता दूसरोके लिये भी करुण घटना ही होगी

कर्मशृखलाकी कड़ीके रूपमे मानवेतर प्राणिओके रूपमे मानवदेहमे

जनमनेवाला जीवात्मा प्रकट हो सकता है ऐसा कह कर अपना धर्म सभी प्राणिओंके बारेमे हमारे भीतर साधारणीकरणके भाव जगाना चाहता है उसी तरह, आधुनिक विज्ञान उस कर्ममूलक चौरासी लाख योनिके चक्रकी जगह डार्विनके विकासवादी सिद्धान्तके आधारपर विकास-शृखलाकी एक कडीके रूपमे मानव और मानवेतर प्राणिओ के बीच साधारणीकरणके प्रयोजनको सिद्ध कर सकता था

प्रोटोप्लाज्म या अमीबा से ले कर मनुष्याकार शरीरकी जटिलतम सरचनामे एक सूक्ष्म समष्टिका अद्वैत-सम्बन्ध अवगत होनेपर "Man is rational animal" और "Reason is the seat of soul" मे बहुप्रशस्त 'रेशनालिटी' और 'सोल' की दुविधा आज मर मिटी है अब तो आधुनिक विज्ञानको भी 'नेचरल बेलेन्स'की महत्ता कुछ समझमे आने लगी है पर हमारी धर्मदृष्टि जैसा सन्तुलन बनाये रखनेमे समर्थ थी, उस महत्ताको पुन स्वीकार करनेमे थोडा समय वैज्ञानिक मनोवृत्तिको लगेगा ही क्रमबद्ध विकासशृखलामे जुडनेवाली एक कडीसे अधिक अनुचित महत्वाकाक्षाके वश वानरमे आत्मा नही होती परन्तु स्वयको एकमात्र बुद्धिमान मान लेनेकी भ्रमणाके वश जब नरमे आत्माका होना स्वीकार लेते है तब एक असाधारण भेददृष्टिकी भ्रान्तिसे वानर नहीं प्रत्युत नर ही दिग्भ्रान्त जाता है। अपनी तथाकथित बुद्धिमत्ताके कारण मानव या नर ने पर्यावरणको कितना प्रदूषित किया कि उसमे उसकी स्थूल बुद्धिमत्ताके भीतर भरी सूक्ष्म मूर्खता आज उघाडी पड गयी है। ऐसी मूर्खता न तो वानर न गधे और न उल्लु ही कर पाये। उनकी स्थूल बुद्धिरहिततामे एक स्वयसञ्चालित सूक्ष्म बुद्धिमत्ता काम कर रही थी।

इस देहकी चीरफाड करनेवाले आधुनिक सर्जन=शल्यचिकित्सकको उस महान सर्जक द्वारा देहमे प्रतिष्ठापित आत्मा मिलती नहीं। अत वैज्ञानिक चिन्तन अनात्मवादी होना चाहता है

रशियाने जब अवकाशमें पहला स्पुतनिक यान उछाला तब उसमें सवार यात्रीको अवकाशमें कहीं भी परमेश्वर दिखलायी नहीं दिया, अत· आधुनिक ब्रह्माण्डविज्ञानके आधारपर कितने ही लोग अनीश्वरवादी विचारधाराको अभिनन्दित करना चाहते हैं.

अपनी मानवनिर्मित संसद्में अनेक तरहके छलकपटसे निर्वाचित मनुष्योंकी पार्टिके आदेशका अनुसरण करनेवाली मुण्डगणनाकी रीतिमें वैधानिक सच्चे-झूंठेका निर्धारण शक्य हे अत हमने मान लिया कि बिना वोट्के निर्धारित किये जानेवाले शास्त्रोंके आदेशोंद्वारा निर्धारित पापपुण्यके भेद खोटे ही होगे अत सच्चे-खोटेके निर्णयमें आज बिनधार्मिक विचारसरणीके गुणगान अधिक गाये जाते हैं.

शास्त्रोने इस सृष्टिको पाञ्चभौतिक — पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश — निर्मित मानी हे रसायनविज्ञानने जलके एक "Molecule मे H_2O के रूपमे हाइड्रोजन् ओर ऑक्सिजन् के परमाणु खोज निकाले. तब लोग शास्त्रकारोको अज्ञानी मानने लगे। तबसे रसायनविज्ञानके वेज्ञानिक जगत्के मूल तत्त्वोंकी संख्या ८० परसे ९६ पर; और, ९६ परसे बढाते-बढ़ाते १०९ से भी अधिक होने जा रही थी तब भोतिकविज्ञानने रसायनविज्ञानद्वारा प्रचारित भ्रान्ति निरस्त कर दी तथाकथित मूल रासायनिक तत्त्वोंका "(p+n)e" के रूपमे प्रोटोन् न्युट्रोन् और इलेक्ट्रोन् परमाणुओमे विभाजन या विश्लेपण शक्य बन गया। एतावता क्या हाइड्रोजन्की वास्तविकताको नकारा जा सकता हे? नही तब जो कितने उत्साही शास्त्रोंमे श्रद्धारहित लोग कहने लगे कि पाञ्चभौतिक तत्त्व जेसा कुछ भी होता नही है, इसे तो ऐसा युक्तिवाद कहा जा सकता है कि मानों किसी चित्रकलाका विश्लेषण उसके रगो ओर चित्रपट मे सम्भव होनेसे हम चित्र जैसी वास्तविकताको ही नकारने लग जायें।

एक अणुरूप एककका कुछ परमाणुओमे विश्लेषण हो सकता होनेसे यदि उस अणुका स्वरूप अवास्तविक हो जाता हो तो जिसे हमने परमाणु माना है उसका भी उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतम परमपरमाणुओमे विभाजन शक्य हो ही सकता हे मनोविज्ञानका गेस्टाल्ट नामक सिद्धान्त है कि एक वर्गाकृतिका चार रेखाओमे विभाजन हो सकता होनेसे वर्गाकृति अवास्तविक नहीं बन जाती है क्योकि उन रेखाओका भी पुन बिन्दुओमे विभाजन शक्य होता ही है जैसे किसी पुस्तकका उसके पृष्ठोमे, पृष्ठोका अनुच्छेदोमे, अनुच्छेदोका पक्तिओमे, पक्तिओका वाक्योमे, वाक्योका शब्दोमे, शब्दोका अक्षरोमे और अक्षरोका स्वर और व्यजनो के सकेतोमे विभाजन कर देने या उन स्वरसकेतो या व्यजनसकेतो का भी पुन स्याहीके बिन्दुओमे विभाजन शक्य होनेसे, इसी तरह स्याहीका भी पुन रासायनिक विश्लेषण करना हो तो वह भी शक्य होता ही है ऐसे विश्लेपणोके कारण क्या किसी ग्रन्थको अवास्तविक माना जा सकता है क्या! ऐसे ही, सर्जन् अर्थात् शल्यचिकित्सकद्वारा किये गये शारीरिक विश्लेषणके आधारपर आत्माको अवास्तविक मान लेनेसे अधिक विचारशून्यता और क्या हो सकती हे? ब्रह्माण्डविज्ञानके विश्लेपणसे, अतएव, ब्रह्म भी अवास्तविक हो नही जाता हे ब्रह्माण्डविज्ञानकी जो सूक्ष्म समष्टि है, उसे भगवद्गीता और भागवतपुराण मे 'अक्षरब्रह्म' कहा गया है

"क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थो अक्षरम् उच्यते"
"आण्डकोशो बहिर् अय पञ्चाशत्कोटिविस्तृत ॥
दशोत्तराधिको यत्र प्रविष्ट परमाणुवत्॥
लक्ष्यते अन्तर्गताश्च अन्ये कोटिशो ह्यण्डराशय ।
तद् आहुर् 'अक्षर ब्रह्म' सर्वकारणकारणम्॥"
(भग गीता १५।१६, भाग पुरा ३।११।३९)

एक अक्षरब्रह्म अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड माने गये है, जिनका विश्लेषण

ब्रह्माण्ड विज्ञान(Galactical Science)मे भविष्यमे विकसित होगा उन प्रत्येक ब्रह्माण्डोमे, पुन आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान (Astronomy) के अनुसार, पुन अरबो-खरबो तारे होते हे जैसे एक ब्रह्माण्ड अक्षरब्रह्ममे परमाणु जितनी बिसात रखता है, वैसे ही किसी भी एक ब्रह्माण्डमे हमारे सूर्य जैसे विशाल तारापिण्डोंकी भी नन्हे परमाणुसे अधिक बिसात नही होती ज्योतिर्विज्ञान या खगोलविज्ञान मे एक ब्रह्माण्डका विश्लेपण उसके घटक अनेक अणूपम तारोमे किया जाता होनेसे ब्रह्माण्ड अवास्तविक नही बन जाता ऐसे ही एक विशाल तारेके अनेक ग्रह होते है अपने ही सूर्यके इर्दगिर्द बुध शुक्र पृथ्वी मगल गुरु शनि युरेनस नेप्च्युन ओर प्लुटो जैसे ग्रह चक्कर काटते रहते है यो खगोलविज्ञानका विषय तारो ओर उनके ग्रहोमे, ग्रहविज्ञानमे (Solar Astronomy) विश्लेषण कर दिखाया जाता हे इन ग्रहोम से किसी एक ग्रहके वैविध्यको जानना हो तो उस ग्रहके भूविज्ञानमे (Geology) विश्लेषण सम्भव हे

पर उस ग्रहपर यदि जीवन टिकाये रखनेवाला पर्यावरण मोजूद हो तो उस ग्रहका भी पुन जड आर जीव मे पृथक्करण हो सकता है जीवविज्ञान (Biology) क विविध शास्त्रीय विभागा जेसे कि वनस्पतिविज्ञान (Botany), प्राणिविज्ञान (Zoology), नृतत्त्वविज्ञान (Anthropology), शरीरविज्ञान (Physiology) आदिम सजीव वस्तुकी विवेचना सम्भव ह इसी तरह जडवस्तुके विज्ञानक विविध शास्त्रीय विभाग जेसे कि रसायनविज्ञान (Chemistry) भोतिकविज्ञान (Physics), यन्त्रविज्ञान (Engineering Technology) मे निर्जीव जडवस्तुके स्वरूप आर नियमो की विवेचना भी हो पाती हे

अब कोई कल्पनावादी (Idealist) विचारक सजीव वस्तुमे व्यक्त हाती चेतनाकी पूँछ पकड कर जडवस्तुको भ्रान्तिकल्पित, मायिक या Mental Construct मान कर बैठ जाये, तो वेसा दृष्टिकोण एकागी

ही कहा जायेगा ऐसे ही कोईक भातिकवादी (Materialist) विचारक भी भौतिक द्रव्य (Matter)की पूछ पकड कर आत्मा (Mind)की वास्तविकताका भौतिक विश्लेषण द्वारा अस्वीकार करे अथवा उसे अन्धश्रद्धा माने तो वह भी एकागी दृष्टिकोण है क्योकि चेतनाके छोरसे देखनेपर प्रत्येक भौतिक वस्तुका कल्पनारूप (Mental Construction) लगना तो स्वाभाविक ही होता है इसी तरह भौतिक वस्तुके छोरसे देखनेपर प्रत्येक वस्तुका भौतिक तत्त्वोसे घटित (Material Construction) लगना भी स्वाभाविक ही होता है

सजीव वस्तुके व्यवहारमे अन्नग्रहण मलविसर्जन जिजीविषा आदि जो गुणधर्म दिखलायी देते है, उन गुणधर्मोका प्रयोगशालामे किये गये प्रोटीन् या न्युक्लीइक् एसिड्के विविध सयोजनोमे विश्लेषण शक्य होनेके कारण चेतनाका तथ्य मिथ्या नही सिद्ध हो जाता इसी तरह भौतिक द्रव्योंकी इन्द्रियजन्य स्फुरणा (Sensation) या उससे घटित मानसिक प्रत्ययो (Conception)मे विश्लेषण शक्य होने मात्रसे भौतिक द्रव्यकी वास्तविकता नकारी नही जा सकती चेतनाका भौतिक द्रव्यमे और भौतिक द्रव्यका चेतनाके मानसिक प्रत्ययोमे विश्लेषण शक्य होनेसे या तो दोनोका अनस्तित्व मान लेना चाहिये अथवा तो दोनोका अस्तित्व है ऐसे मानना ही पडेगा अभौतिक अचेतन अद्वैतवाद (Neutral Monism)के समर्थक बर्ट्रेन्ड् रसेल् एक दार्शनिक चुटकुले जेसा विधान करते है "What is mind? No matter! What is matter? Never mind" अर्थात्, चेतना क्या है? यह तो कुछ विचारणीय वस्तु नहीं है वस्तु क्या है? वह कुछ विचारयोग्य नहीं

यह तो निषेधात्मक दृष्टिकोण है परन्तु जो विधायक दृष्टिकोण विकसित करना हो तो ऐसे भी कहा जा सकता है what is matter? It is mental what is mind? It is material अर्थात् चेतना भौतिक है और भौतिक वस्तु चेतनात्मक है अतएव

उपनिषदोंने कहा है · "**सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवा सर्वमया**" (नृसिंहो.उप.९). यदि कोई पूछना चाहे कि दोनो क्या हे? तो उपनिषद् उसका जवाब देता है

"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च।
मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च त्यं च॥"
(यथापूर्व).

भूतलपर जनमनेवाला विचारक प्रथम प्रकट हुवे जड-चेतनके इन दो रूपोको न स्वीकारे तो वह भूतलपर खडा भी रह न पायेगा! ऐसी थी अपनी असली रसदृष्टि जिसकी विज्ञानको भी आज अत्यन्त अपेक्षा है

'अणु'पदका अर्थ होता हे अविभाज्य अणुके लिये अंग्रेजीमे शब्द है Atom (a toman) अत 'एटम्'पदका भी अर्थ वही होता हे कोई वस्तु अविभाज्य हे या विभाज्य इसे केसे समझा जाये?

वास्तविकता यह है कि वस्तु विभाज्य भी होती हे और अविभाज्य भी अणुकी परिकल्पनामे आपने यहा मुख्य हेतु यही सोचा गया था कि जो एक राईके दानेके अनन्त विभाजन शक्य हो ओर उसी तरह एक पर्वतके भी अनन्त विभाजन शक्य हो तो दोनोका परिमाणमे भी भेद नही होना चाहिये, परन्तु, भेद तो रहता ही है अत सिद्ध होता है कि कहीं न कही राईके एक दानेके अविभाज्य अणुओकी तुलनामे पर्वतके अविभाज्य अणु सख्यामे अधिक होने चाहिये

यह तर्क गलत नही लगता, पर, 'अविभाज्य' शब्दका सच्चा अर्थ समझ लेना आवश्यक है उदाहरणतया समाजविज्ञानमे एक मानव

व्यक्तिको (Individual) कहा जाता है. इसका भी अर्थ पुन वही होता है कि जिसका विभाजन-डिविजन सम्भव न हो. यह सर्वथा सत्य है, क्योकि, यदि समाजशास्त्र एक मानवका विभाजन कर देगा तो समाज टिक ही नही पायेगा. अत समाजशास्त्रके लिये एक मानव व्यक्ति अणु (Individual) होता है फिरभी शरीरविज्ञान यदि एक मानवव्यक्तिको अविभाज्य एकक मान कर बैठा रहे तो शरीरकी बारेमे कुछ भी ज्ञान प्राप्त नही कर पायेगा ऐसे शरीरविज्ञानसे किसी जातका लाभ मानवको मिल नही पायेगा. अत शरीरविज्ञान, समाजविज्ञानमे जिसे अविभाज्य माना गया ऐसे, व्यक्तिका विभाजन-विश्लेपण उसके अग-प्रत्यंगोमे, उनके नौ या दस नाडीसस्थान रक्तसञ्चालन आदि क्रिया-कलापोमे, शरीरके विविध प्रकारकी संरचना आदिमे करता होता है अत शरीरविज्ञानके अपने अलग अविभाज्य अणु या एकक होते है, जिनसे शरीरकी समष्टि घटित होती है समाजविज्ञानकी व्यष्टि शरीरविज्ञानमे समष्टि बन जाती है. समाजविज्ञानके अविभाज्य अणु (molecule)का शरीरविज्ञानमे अनेक परमाणुओ (atoms)के रूपमे विभाजन हो सकता है.

फिरभी एतावता शरीरविज्ञान एक मानव या व्यक्ति की एक व्यष्टिरूप हेसियतको नकार नही सकता हे. क्योकि शरीरविज्ञानमे अविभाज्य एककके रूपमे मान्य करनेमे आये अग-प्रत्यगोकी सरचनाका पुन जैविकरसायनविज्ञानमे रासायनिक विश्लेपण या विभाजन तो शक्य है ही इसी तरह उस जैविकरासायनिक अविभाज्य अगरूप तत्त्वोका या अणुओका भी पुन भौतिकविज्ञानमे मान्य किये गये तत्त्वोके परमाणुओमे विभाजन शक्य है ही.

अत जलके जिस एक अणुके विभाजन करनेपर जब जल जल न रह कर हाइड्रोजन् और ऑक्सीजन् वायुके रूपोंमे प्रकट हो जाता है तब जलके वैसे नन्हे अशको जलका अविभाज्य अणु समझना

चाहिये उस अणुकी तुलनामे जो हाइड्रोजन्के दो अणु और ऑक्सीजन्का एक अणु हे उन्हे परमाणु मानना पड़ेगा जलके परमाणु जैसे हाइड्रोजन् और ऑक्सीजन् के अविभाज्य अणुओका भी पुन इलेक्ट्रॉन् न्युट्रॉन् और प्रोटॉन् के परमाणुओमे विभाजन शक्य है अत अविभाज्य और विभाज्य दोनो ही विभाज्य और अविभाज्य भी होते है।

अत उपनिषदोने अविभाज्य अणुसे अणियान् परमाणुकी बात हमे समझायी हे एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके अनेक नामरूपोमे विभाजनकी शक्यताको भी उपनिषदोंने स्वीकारा है उसमे नामरूपको केवल सत्य मानना ओर ब्रह्मको मिथ्या मानना अथवा तो ब्रह्मको सत्य मान कर नामरूपको मिथ्या मानना ये दोनो ही दृष्टिकोण एकागी है उनमे समग्र सत्यका निरूपण नदारद रहता है

ब्रह्मका विश्लेषण नामरूपोमे शक्य होनेसे या तो ब्रह्मको अथवा या फिर नामरूपको या दोमेसे किसी एकको भी मिथ्या माननेकी आवश्यकता नही है ब्रह्मके, क्योकि, अद्वैतमे नामरूपके द्वैतको विकार या मायिक मानना तो निरा वाणी-विलास है नामरूपके द्वैतका वास्तविक नामधेय तो ब्रह्माद्वैत ही होता है जैसे मिट्टीके घडेको 'मिट्टीका विकार' कहना एक वाणीविलास है वास्तविकतया मिट्टीके घडेका नामधेय 'मिट्टी' ही होता हे "वाचारम्भण 'विकारो' नामधेय 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्" (छान्दो उप ६।१।४)

बहुधा इस श्रुतिका खोटा अर्थ निकाला जाता है कि इस वचनमे "ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या" सिद्धान्त प्रतिपादित हुवा है नामरूपात्मक जगत्को मिथ्या माननेकी विचारसरणीको वस्तुत यहा जितने सशक्त रूपमे नकारा गया है उतना सशक्त निरसन श्रुतिके अन्य वचनोमे सुलभ नही। क्योकि अग्रिम "वाचारम्भण 'विकारो' नामधेय त्रीणि रूपाणि इत्येव सत्यम्" (छान्दो उप ६।४।१,२,३,४) वचनोंमें नामरूप

द्वैतको 'विकार' कहना तो निरा वाणीविलास-वाचारम्भण ही कहा गया है अत नामरूपके द्वैतका सच्चा नाम तो ब्रह्माद्वैत ही है ''सर्व खलु इदं ब्रह्म'' (छान्दो उप ३।१४।१) वचनके अनुसार पृथ्वी जल तेज से घटित जगतके पदार्थोको पृथ्वी आदिके 'विकार' कहना भी निरा वाणीविलास ही है क्योकि उनका सच्चा नामधेय तो 'पृथ्वी' 'जल' और 'तेज' की रूपत्रयी है अत तैत्तिरीयोपनिषद् तो डिडिमघोषके साथ कहता है कि दृश्यमान जो कुछ है वह सभी सत्य ही है ''यदिद किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते'' (तैत्ति उप २।६)

अत विज्ञानकी एक एक शाखा यदि दूसरी शाखाके प्रमेयका विश्लेषण करने समर्थ हो एतावता उस प्रमेयको मिथ्या मानने लगना तो सुद-उपसुद राक्षसोकी तरह दोनोके अजेय होनेपर भी परस्पर कलहवश दोनोके मर मिटनेका बचकानापन होगा। विश्लेषणद्वारा किसी पदार्थकी सरचना समझमे आ पाती है, पर, उस पदार्थके विशिष्ट स्वरूप या रस को केवल विश्लेषण द्वारा समझ पाना कठिन बात है

एक प्रोषितभर्तृका नायिकाके नयनोसे झरते अश्रुबिन्दुओका कोई रसायनशास्त्री रासायनिक विश्लेषण कर भी दिखाये तो उसे हस्तगत क्या होगा? उस विश्लेषणमे अश्रुप्रवाहमे बहनेवाली विरहवेदनाकी अन्तर्धाराका एक बिन्दु भी हस्तगत नही हो पायेगा। अत उन-उन वस्तुओके विभाजन और अविभाजन के बारेमें जब तक वैचारिक सन्तुलन प्राप्त नही होता तब तक विज्ञानमे रसदृष्टि प्रकट हो न पायेगी

आज हम देख सकते है कि आधुनिक समाजशास्त्रीय, अर्थशास्त्रीय, शरीरशास्त्रीय या मानसशास्त्रीय विश्लेषणोके अनावश्यक महत्त्वकी भ्रान्तिके कारण विज्ञान अपनी कलात्मिका अनुभूति और अभिव्यक्ति मे बाधक बनता जा रहा है अत कलाके क्षेत्रमे रसदृष्टिकी जो पुन प्रतिष्ठा करनी हो तो हमे कलामे रसदृष्टिकी आवश्यकताको स्वीकारना पडेगा

:: कलामें अपनी रसदृष्टि ::

हृदयको सुहाते साँचोमे सूक्ष्म या स्थूल को ढालनेवाले स्रष्टाको 'कलाकार' कहा जाता है.

बाह्य जगत्के प्रभाव एक कलाकारके संवेदनशील हृदयमे जेसे भलीभांति पडते हे वेसे सवेदनाहीन सामान्य मानवके हृदयमे नहीं पडते है. अत उन प्रभावोके यथार्थ चित्रणको क्या 'कलासृजन' कहना? क्या बाह्य जगत्की तनिक भी परवाह किये बिना स्वयंकी आन्तरिक प्रेरणाको अनुसरनेवाले स्रष्टाके सृजनको 'कलासृजन' कहा नही जा सकता?

चित्र मूर्ति काव्य नृत्य गीत अभिनय या वाद्यवादन आदि कलाओमे क्या अभिव्यक्तिकी ही महत्ता होती हे? क्या एक रसात्मक भावसोन्दर्यको अभिव्यक्त करनेको जो अनुभाव, जिनके कारण रसभावका सम्प्रेषण (Communication) शक्य बनता है उसकी महत्ता नहीं होती? क्या कलाकी विविध विधाओका उद्देश्य केवल कलात्मक सोन्दर्यको व्यक्त करने जितना सीमित ही होता है? क्या सोन्दर्येतर उद्देश्य जैसेकि असुन्दर शुभको या असत्य शुभको अथवा तो असुन्दर सत्यको या अशुभ सत्यको कलाकी वाणीमे मुखरित किया नही जाना चाहिये?

ऐसे अनेक प्रश्न आज हमे उन-उन कलाकृतिओके सच्चे मूल्याकनमे मतिभ्रम पैदा करते है

कभी केवल-द्वैतवादी अथवा तो कभी केवल-अद्वैतवादी हठाग्रहके कारण बाह्य और आन्तर के बीच वस्तुत जितना अन्तर होता हे उससे कही अधिक अन्तर मान कर आत्मपीडा बढाते रहते हे अत अन्तस्मे पडते बाह्य वस्तुके कलात्मक प्रभाव और आन्तरिक

प्रेरणाका अनुसरण कर प्रकट की गयी कलात्मिका अभिव्यक्तिकी जो द्विविध क्रिया है उनके बीच भी अनपेक्षित विरोधाभासकी भ्रान्ति हमे सताती रहती है

जडजगत् और चेतनजगत् के बीच एकको पराश्रित-प्रयोजनशाली (en soi) और दूजेको स्वाश्रित-प्रयोजनशाली (pour soi) मान कर मिथ्या भेद घड कर कलासृजनके प्रयोजनके बारेमे झगड पडे! कलासृजन सोद्देश्य होता है या निरुद्देश्य? हमारा वेदान्त-चिंतन जड और जीवात्मा रूपी सृष्टिको सप्रयोजन या निष्प्रयोजन स्वीकारने समुद्यत नही वेदान्तके अनुसार तो यह सृष्टि परमात्माकी लीला है

सोद्देश्यता या निरुद्देश्यता ये दोनो ही अधूरे पक्ष है लीला न तो सोद्देश्य कही जा सकती है और न सर्वथा निरुद्देश्य ही उदाहरणतया मकानकी भीतपर तीन लकीरे खीच कर उनमे विकेटकी भावना कर कई किशोर गलीमे क्रिकेट् खेलने लग जाते है उस क्रिकेट्द्वारा उन्हे हीरो बननेकी या नाम या धन कमानेकी या किसीको अपना कौशल दिखानेकी कोई कामना नहीं होती ऐसी क्रिकेट्मे टेस्ट् मेच्के जैसे नियम नही होते टेस्ट् मेच्की मर्यादा या प्रयोजन भी नही होते फिरभी निरुद्देश्य काम करनेवालेको मूर्ख मान लेनेकी युक्ति इन किशोरोपर लागू नही की जा सकती ऐसी क्रिकेट् खेली जाती है लीलाके रूपमे, जिसके बारेमे वह सोद्देश्य है या निरुद्देश्य, ऐसे सवाल एक बचकानी बात लगते है खेलनेवाले किशोरोकी क्रीडा बचकानी नहीं, परन्तु, उसमे सोद्देश्यता या निरुद्देश्यता के सवाल उठानेवाले दार्शनिकका चिन्तन वस्तुत बचकाना चिन्तन लगता है उसी तरह इस जगत् रूपी काव्यके कविने भी इस मनोहर काव्यको केवल लीलाके रूपमे ही प्रकट किया है इस सृष्टिकाव्यके भीतर कविके चरित्रका अभिनय करनेवाला कोई पात्र इस काव्यकी रचना सोद्देश्य है या निरुद्देश्य ऐसी मीमासा करने लगे तो इस सृष्टिकाव्यके

कविको भी क्या ऐसे नही लगेगा कि "अरसिकेषु कवित्वनिवेदन शिरसि मा लिख! मा लिख!"

इसी तरह कलामे तटस्थ अभिव्यक्तिकी प्रमुखता है या रसिकजन-सवेद्य अनुभावोकी भी प्रमुखता है? इस प्रश्नके बारेमे कुछ विचारणीय लगता है

पहले बाह्य जगत्की सर्वागपूर्ण अनुकृति प्रस्तुत करनेमे कलाके उत्कर्षकी भ्रान्तिमे भटकनेवालोने अनुकृतिमे परिपूर्णता लानेके अपने पुरुषार्थमे एक दिन 'केमेरा' नामक ऐसा यन्त्र खोज निकाला कि चित्रकलाकी कलात्मिका महत्ता घट कर ऐतिहासिक महत्तामे सीमित रहनेके मोडपर जा पहुची! बहोत सारे चित्रोका कलात्मक मूल्य पुरातत्त्वमूल्य (Antique value)मे विकृत होने लग गया! ऐसे ही लोग तब दौड कर दूसरे छोरपर अमूर्त कलामे ही कलाके चरमोत्कर्षकी भ्रमणामे भटकते हो गये! ये दोनो अतिवादी दृष्टिकोण थे पहले जो स्थूल-बाह्य जगत्की नीरस अनुकृतिको सर्वस्व मान बैठे थे वे इसके बाद अमूर्त आन्तर जगत्की नीरस अनुकृतिको सर्वस्व मान कर अमूर्तकलाके गुणगायक बन गये! तथ्य, किन्तु, यह है कि नवसृजन-विहीन अनुकृति बाह्यकी हो या आन्तरकी, स्थूल तथ्यकी हो या सूक्ष्मकी, मूर्तकी हो या अमूर्तकी जो अनुकृति होती है वह तो अनुकृति ही होती है, कलाकृति नही!

रसशास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान् मम्मटने कलासृष्टिकी निर्मितिके बारेमे एक सुन्दर बात कही है

"नियतिकृतनियमरहिता ह्लादैकमयीम् अनन्यपरतन्त्राम्।।
नवरसरुचिरा निर्मितिम् आदधती भारती कवे जयति।।"
(काव्यप्रका १।१)

भावार्थ कलास्रष्टा (कवि)की कलासृष्टि यड पानेकी कलाकी

अधिष्ठात्री देवी भारतीका उत्कर्ष अद्भुत है। विधाताकी सृष्टिके नियमोसे यह कलासृष्टि घडी नही जाती विधाताकी कलासृष्टि कदाचित् सुख-दु खात्मिका हो सकती है, पर, यह कलासृष्टि केवल आह्लादमयी ही होती है विधाताकी मृष्टि काल कर्म स्वभाव प्रकृति के नियमोके आधीन हो सकती है, परन्तु, कलासृष्टिमे ऐसी कोई पराधीनता नही होती विधाताकी सृष्टिमे रति रोष हास शोक उत्साह भय घृणा विस्मय उदासीनता आदि मानसिक अवस्थाओमे कोई सुहाती सुखप्रद होती है और कोई न सुहानेवाली अरुचिकर भी हो सकती है. जबकि कलासृष्टिमे रौद्र हास्य करुण वीर भयानक बीभत्स अद्भुत और शान्त रसोंके रूपमे वह सर्वदा रुचिर ही होती है. शृंगाररसमे प्रगट होनेवाली रतिकी तरह रौद्ररसमे प्रगट होते रोषमे भी रुचिरता बनी रहती है हास्यरसमे रहनेवाले हासकी तरह करुणरसमे प्रगट होते शोकमे भी रुचिरता होती है. वीररसमे झलकते उत्साहकी तरह भयानक रसमे मनको झकझोर देनेवाली भीतिमे भी रुचिरता रहती है. अद्भुत रसमे प्रगट होते विस्मयकी तरह बीभत्स रसमे प्रगट होती घृणामे भी रुचिरता निभ पाती है। कलासृष्टि ऐसी नवरसरुचिरा होती है।

इस कलासौन्दर्यकी विवेचनामे हम देख सकते है कि विधाताकी सृष्टिकी नीरस अनुकृतिमे कलासौन्दर्यका प्राकट्य स्वीकारा नही गया है इसी तरह वस्तुत काव्यात्मक होनेपर भी इस विधाताकी सृष्टिका केवल निर्वेदपूर्ण साक्षिभाव रख कर नैष्कर्म्यके अवलम्बनमे भी कलासौन्दर्य प्रकट होना माना नही गया है

उस परम कविकी काव्योपम इस सृष्टिकी केवल रसानुभूति ही प्राप्त करनी हो तो धर्म एक समर्थ और पर्याप्त विद्याकौशल है. अत बाह्य या आन्तर जगत् मे अनुभूत होनेवाले सौन्दर्यको जो वह अमूर्त हो तो एक उत्तम केमेराकी तरह लेशमात्र भी बदले विना उसे जसका तस प्रस्तुत कर देनेके दावेमे कलासृजन सिद्ध

नही होता. एक नन्हा बालक यदि बडे विद्वानोकी तरह प्रत्येक स्वर ओर प्रत्येक व्यञ्जनकी ध्वनिओका एकदम शुद्ध उच्चारण करने लगे तो उसमें हमे अहोभाव तो अवश्य जगता हे; परन्तु, ऐसे बालकके प्रति वात्सल्यभाव प्रकट होना थोडा कठिन हो जाता हे। अब यदि बालक सर्वथा गूगा हो तो भी उसके साथ हमे बहुत आनन्द आ नही पाता. अपनी तुतलाती वाणीमे कुछ अटपटे उच्चारण करनेका प्रयास करनेवाला एक नन्हा बालक हमे अतिशय प्यारा लगता है, यह अन्यथा सम्भव नही

प्रसिद्ध सितारवादक श्रीरविशकरने शास्त्रीय सगीतका आनन्द लेनेकी बहुप्रचलित प्रणाली *वाह! वाह!!* ओर *आहा!* मे रहे सूक्ष्म तारतम्य समझानेको एक अतीव सरस बात कही है वे कहते है कि किसी कलाकारने वर्षोसे रियाज कर-करके जो कठिन तानपलटे साध रखे हो उनकी सफल प्रस्तुतिको गायन या वादन मे *वाह! वाह!!* द्वारा अभिनन्दित करना चाहिये *वाह! वाह!!* यान्त्रिकी पुनरावृत्तिमे मिलनेवाली सफलताकी बधाई जेसी होती है परन्तु कभी गायक या वादक के स्वयके खयालमे न आनेवाले चमत्कारी मधुर स्वर अनजाने निकल जाते होते हे तब उस स्वरनावीन्य या स्वरमाधुर्य की बधाई *अहा! आहा!!* की ध्वनिद्वारा देनी चाहिये उसे *वाह! वाह!!* कहना उन स्वरोमे रही मधुरता या नूतनता का अनादर है

जैसे किसी सुन्दर षोडशीको 'दादी-मा' कह कर आदर देना उस षोडशीके योवन ओर लावण्य का वास्तविकतया तो अनादर ही होता है! अत यान्त्रिकी पुनरावृत्ति और नवसृजन के बीच रहे तारतम्यको पहचान पाना किसी भी कलाकृतिके वास्तविक मूल्याकनमे अतीव उपकारक होता हे अल्पसवेदनशील या अरसिकजनो द्वारा सफल पुनरावृत्तिकी *वाह! वाह!!* की बधाईके कोलाहलमे कोई अल्पसफल, परन्तु, सर्वथा नूतननिर्मिति अथवा तो पुनर्निर्मिति रसिकजनकी *आहा!!*

के अभावमे कही आहे न भरने लग जाये इसकी सावधानी रखनी आवश्यक होती है।

रसशास्त्रकारोने नाट्यकलाके सन्दर्भमे किन्तु सभी कलाविधाओंके बारेमे सामान्यरीत्या स्वीकारी जा सके ऐसी रसपरिभाषा यो दी है

"विभावानुभावसञ्चारिभावसयोगाद् रसनिष्पत्ति नाना-भावोपहिताअपि स्थायिनो भावा रसत्वम् आप्नुवन्ति नाना-भावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनस "

(भर नाट्य ६।३१)

भावार्थ विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावोके इतरेतरसयोगवश रस निष्पन्न होता है नानाभावोपहित होनेपर स्थायी भाव ही रसतया प्रकट हो जाता है नाना भावोके वाचिक आङ्गिक सात्त्विक (और आहार्य भी) अभिनय द्वारा अभिव्यक्त होनेपर रसिकजनोंके लिये वे भाव आस्वाद्य बन जाते है

इसमे विभावके दो भेद गिनाये गये है १ आलम्बनविभाव और २ उद्दीपनविभाव 'आलम्बनविभाव' का मतलब जिस व्यक्तिपर अवलम्बित हो कर अपने हृदयमे रति रोष हास शोक उत्साह भय विस्मय या घृणा आदिके मनोभाव जगते हो उसे आलम्बनविभाव माना जाता है ऐसे विविध भावोंको उद्दीप्त करनेवाली व्यक्तिकी चेष्टा या आसपासके वातावरण को 'उद्दीपनविभाव' कहा जाता है जिनके द्वारा रति रोष आदि भाव उद्दीपित होते है नाटकमे जिन कायिक वाचिक सात्त्विक (या आहार्य भी) सामग्रियोके कारण रसिकजनोको स्थायिभावात्मक रसका अनुभव होने लगे उन्हे 'अनुभाव' कहा जाता है रति या रोष आदिके भावोके स्थायी रहनेपर भी उनके बीच-बीच अस्थायिरूपेण

जो दूसरे भावोका अन्त सञ्चरण होता है उन्हे 'सञ्चारिभाव' कहा जाता है उदाहरणतया रशियाके महान् लेखक एन्टॉन् चेखोवकी करुणरससे परिपूरित बहोत सारी कहानिया हास्यरसके सञ्चारिभावकी भाषामे कही गयी है अतएव करुणरसके अन्तर्भूत हो कर प्रकट होते हासमे करुणरस अधिक करुण बन छलक जाता है अथवा बहुप्रचलित प्रिया-प्रियतमके प्रणयके उदाहरणमे रतिरूप स्थायी भावकी विद्यमानतामे ही कभी मान, कभी उदासीनता, कभी शङ्का, कभी लज्जा, कभी गर्व, या कभी विषाद आदि सञ्चारी भावोका सञ्चरण रतिके भावको प्रगाढ बनाता है

एतावता हम देख सकते है कि उपनिषद्मे ब्रह्मके बारेमे जैसी विरुद्धधर्माश्रयता स्वीकारी गयी वैसी ही विरुद्धधर्माश्रयता रसशास्त्रीय रसके बारेमे भी कही-सोची जा सकती है

क्योकि विभाव प्राय बाह्य ओर स्थूल होता है सञ्चारी भाव कभी आन्तर तो कभी बाह्य भी होते हे स्थायी भाव सूक्ष्म ओर आन्तर ही होते ह अनुभाव स्थूल ओर/अथवा बाह्य होते है कलात्मिका अभिव्यक्तिके हेतु हृदयको सुहाते साचोमे ढालनेकी चहलकदमीमे स्थूल और सूक्ष्म की महत्ता परस्पर सदृश ही होती है अतएव स्थायी भाव सूक्ष्म अमूर्त होता है तो आलम्बनविभाव स्थूल मूर्त स्थायी भाव स्थायी होता हे पर सञ्चारी भाव अस्थायी होते हे अनुभाव (expressions/acting) व्यक्त-सत् होते हे तो स्थायी भाव अव्यक्त-त्यत् कलासर्जक मर्त्य होता है पर कलासोन्दर्य अमृत होता ह! अतएव उसे ब्रह्मानन्दसहोदर माना जाता ह इससे सिद्ध होता है कि उपनिषदोकी रसदृष्टि कलाक्षेत्रमे भी अपनायी जा सकती हे

"द्वे वा ब्रह्मणो रूपे मूर्त चैव अमूर्त च, मर्त्य

च अमृत च, स्थित च यत् च सत् च त्य च" (यथापूर्व)

यह दृश्यकाव्य अर्थात् नाटकके सन्दर्भमे प्रस्तुत परिभाषा है वैसे अन्य भी कलाविधाओंके उपलक्षणतया स्वीकार लेनेपर यथायथ अन्यान्य अनुभावोको भी रसानुभावकतया मान्य किया जा सकता है अतएव भरतमुनि कहते है "यो अर्थो हृदयसवादी तस्य भावो रसोद्भव शरीर व्याप्यते तेन शुष्क काष्ठमिव अग्निना" (भर नाट्य ७।७) यह हृदयसवादी रसोद्भव केवल नाटकमे ही होता हो और कलाकी अन्य विधाओमे नही, ऐसे सोचनेका कोई भी हेतु नही उन-उन कलाओंके अनुभाव अलग-अलग हो सकते है नाट्यकलामे रसका अनुभव पैदा करनेवाले अभिनेताके आगिक वाचिक सात्त्विक और आहार्य अभिनय होते है इन चतुर्विध अभिनयोका स्थान सगीतमे स्वर राग लय और ताल ले लेते है चित्रकलामे रग और रेखाकृति ले लेती है यो अन्य भी अनुभावक बन सकते है अतएव मम्मट कहते है

> "'"रामएव अयम्', 'अयमेव राम' इति, "न रामो अयम्' इति औत्तरकालिके बाधे "राम स्याद्वा नवा अयम्' इति, "रामसदृशो अयम्' इति 'सम्यग्- 'मिथ्या- 'सशय- 'सादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन 'रामो अयम्' इति प्रतिपत्त्या "
>
> (काव्यप्रका ४।२८)

कलाओंकी अनेकविधाओमे भाषा बदल जाती है परन्तु रसोद्बोधनका भाव नहीं बदलता है जो कलाभाषा प्रयुक्त हो रही हो ओर उसके द्वारा जो बात कही जा रही हो उन दोनोके बीच तादात्म्यभाव सहज या तात्कालिक अथवा कमसे कम आरोपित तो अवश्य ही वैसे वस्तुतया तो भावित तादात्म्यभाव ही रसानुभूतिका प्राणप्रद तथ्य होता है सहज या तात्कालिक तादात्म्य तो विषयगत तादात्म्य होत है मुखमात्रक दर्शनद्वारा "यह वही व्यक्ति है" सकल शरीरमे अभेदप्रत्यभिज्ञा

सहजतादात्म्यपर अवलम्बित होती हे प्रमुखतया यह अशाशिभाव उपादेयोपादानभाव धर्मधर्मिभाव आदि उदाहरणोमे परखा जा सकता हे तात्कालिक तादात्म्य, जेसे, विद्यालय डाकघर आदि सस्थाओमे व्यक्ति या गृह मोहल्ला आदिका किसी निश्चित सख्यासे तादात्म्यीकरण सम्पन्न कर दिया जाता हे वैसे इसे आरोपित तादात्म्यसे पृथक्तया माननेका प्रमुख हेतु यही है कि निश्चित सस्था या समुदाय मे निश्चित कालावधिमे वैयक्तिक आरोपतया मान्य न हो कर सामुदायिक प्रत्यभिज्ञाका जनक बनता देखा जाता हे इसके विपरीत आरोपित तादात्म्य, उदाहरणतया, बीजगणितके सिद्धान्तोको जेसे किसी अनिश्चित सख्याके लिये अनियततया 'अ' 'ब' 'क' आदि अक्षरोके साथ तादात्म्यारोप द्वारा समझा दिया जाता है आरोपित और भावित तादात्म्योकी परस्पर तुलनार्थ यह अवधेय हे कि आरोपित तादात्म्य बोधोपयोगी तादात्म्य होता है जबकि भावित तादात्म्यारोप रसभावके उद्बोधनार्थ ही होनेसे रसात्मकता अधिगृहीत कर लेता हे इसे देवमूर्तिमे देवतादात्म्यभाव या स्त्री-पुरुषके बीच प्रिया-प्रियतमभाव या वरवधूभाव आदिके उदाहरणोद्वारा समझा जा सकता हे

ऐसी भावना जगा पानेको सक्षम कलासर्जककी विचक्षणताके कारण क्रोध भय शोक या जुगुप्सा के मनोभाव भी कलासृष्टिमे रसात्मक बन जाते है

वैसे कलासृजनमे सुन्दरता ही प्रकट होनी चाहिये असुन्दरता नही सत्यको ही व्यक्त करना चाहिये असत्यको नही, शुभका ही निर्माण होना चाहिये अशुभका नही, ऐसा हठवाद रसदृष्टिके बारेमे हमारे अज्ञानका ही द्योतन है हम जानते है कि जुगुप्साकी भी अनुभूति कलासृष्टिमे बीभत्सरसकी गौरवमयी पदवीपर बिराजती है अशुभकी अभिव्यक्ति भी करुणरसतया बिरदायी गयी हे अतिशयोक्तिपूर्ण असत्य बातोसे हँसनेकी हल्की मनोवृत्तिको हास्यरस होनेका गौरव प्रदान किया

गया है. ऐसी स्थितिमे कलासृजनके अन्तर्गत "सत्यं शिवं सुन्दरम्" का बधन पालना ही चाहिये ऐसा हठाग्रह रखना तो कलासर्जककी नवरसरुचिरा भारती देवीका अनादर है।

तैत्तिरीयोपनिपद्मे अतएव एक बडी मजेदार सुन्दर बात कही गयी है

"सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय! इति. स तपो अतप्यत. स तप. तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत. यदिदं किं च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तद् अनुप्रविश्य. सत् च त्यत् च अभवत्. निरुक्तं च अनिरुक्तं च. विज्ञानं च अविज्ञानं च. सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत् यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते... असद् वा इदम् अग्रे आसीत् ततो वै सद् अजायत. तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत. तस्मात् तत्सुकृतम् उच्यते इति. यद् वै तत् सुकृतं, रसो वै स.. रसं ह्येव लब्ध्वा आनन्दी भवति."

(तैत्ति.उप.२।६-७).

भावार्थ उसे अनेकधा अनेक रूपोमे प्रकट होनेकी कामना हुयी स्वयं उसने अनेकताका चिन्तन किया और ऐसे चिन्तनद्वारा उसने यह जो कुछ है उसका सृजन किया जो कुछ दिखलायी देता है उसे रच कर वह उसमे प्रविष्ट हो गया. इस सृष्टिमे प्रविष्ट हो कर उसने अनेक रूप धारण किये : व्यक्त-अव्यक्त, निर्वचनीय-अनिर्वचनीय, साधार-निराधार, विज्ञान-अविज्ञान, सत्य-अनृत आदि अत जो कुछ दिखलायी देता है उसे 'सत्य' कहा जाता है. कदाचित् दिखलायी देती वस्तु पहले न भी हो पर जो कुछ प्रकट हुवा वह तो सत् ही है क्योकि उसने अपने-आपको ही तो इस तरह

प्रकट किया है अत यह सृष्टि उसकी सुकृति है इस सृष्टिमे जो कुछ सरजा गया वह परमात्माकी सुकृति ही है इसमें कारण यही है कि वह परमात्मा वस्तुत रस है। इसी रसको पानेपर कोई आनन्दको पा सकता है

रसरूपेण जो कुछ प्रकट होता है वह सब आनन्दात्मक ही होता है रसरूपेण प्रकट शोक हो या मोह, क्रोध हो या भय हो, विस्मय हो या जुगुप्सा हो—सभी कुछ आह्लादक रसरूप ही होता है।

आन्तर या बाह्य, सूक्ष्म या स्थूल को अपने को सुहाते साँचेमे ढालनेको एक कलासर्जक स्वतन्त्र होता है इस पुनस्सृजनमे सत्यको असत्य ओर असत्यको सत्य बनाया जा सकता है, शुभको अशुभ ओर अशुभको शुभ इसी तरह सुन्दरको असुन्दर ओर असुन्दरको सुन्दर बनानेको भी कलासर्जक स्वतन्त्र होता है एक कलाकृतिमे सत्य-असत्य, शिव-अशिव या सुन्दर-असुन्दर की रसविवेचना हो उसमे कोई आपत्तिजनक बात नहीं लगती पर कलासर्जकके स्वातन्त्र्यको नकारना निश्चय ही आपत्तिजनक होता है अतएव अपने यहा प्राचीन ग्रन्थोमे कलासृजनकी शर्तके रूपमे कही भी *"सत्य शिव सुन्दरम्"* वचन आदर्शतया उद्धृत हुवा पाया नही जाता यह सहज सम्भव है कि किसी सस्कृतभाषाभिज्ञने अग्रेजीके "Truth, good and Beauty"का सस्कृतीकृत रूप प्रस्तावित करना चाहा हो

मुबईके समीप एलीफेटा गुफाकी प्रसिद्ध त्रिमूर्तिके तीन मुखोमे एक मुख शान्तरसको व्यक्त करते शिवका है, दूसरा शृगाररसको व्यक्त करती पार्वतीका है अत शिव और सुन्दर तो मिले पर सत्य इन तीन मुखोमे प्रकटरूपेण निरूपित नही त्रिमूर्तिके अन्तर्गत तीसरा रूप सत्यका नहीं परन्तु रौद्ररसको व्यक्त करते भैरवका मुख है

अब सत्य प्राय भयकर ही होता है, ऐसा कह कर यदि उसे सत्यके मुखतया प्रतिपादित कोई करना चाहे तो यह भी स्वीकारना ही पडेगा कि प्रत्येक उदाहरणमे सत्य शुभ या सुन्दर नहीं होता

अतएव किसी कविने महादेवकी नेत्रत्रयीमे तीन रसोकी उद्भावना करते हुवे कहा है

''एकं ध्याननिमीलनाद् मुकुलितप्रायं द्वितीयं पुन
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनभरे सम्भोगभावालसम्।
अन्यद् दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर् भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु व ॥''

भावार्थ भगवान् शम्भुद्वारा लगायी गयी समाधि साधारण योगिओंकी समाधि जैसी एकरसात्मिका या Monotony भरी नही होती भिन्नरसात्मिका अर्थात् विविध रसभावोसे भरपूर होती है। समाधि-अवस्थामे ही शम्भुका एक दक्षिण नेत्र शान्त रसात्मक ध्यानमे अर्धनिमीलित होता है दूसरा वाम नेत्र वाम पार्श्वमे स्थित पार्वतीके मुखकमल और उर्वरित शृगाररसोपम उरोजपर रसमत्त मधुपकी तरह मन्थर गतिमे मडराता रहता है तीसरा नेत्र दूसे कामबाण छोडनेवाले उस कामदेवपर क्रोधित हो कर प्रज्वलित क्रोधाग्नि जैसा उद्दीप्त दिखलायी देता है ऐसी निर्विकल्प समाधिके शिखरावस्थामे भी महादेव शृगार शान्त ओर रौद्र रसोकी लहरियोमे लहराते रहते है

महादेवको तो समाधिमे भी विविधताके प्रति विरोधी भाव नही रखते, तब समाधिविहीन कई-एक केवलाद्वैतवादी अनेकदा व्यवहारमे भी विविधताके प्रति सहिष्णुता निभा नहीं पाते। अत *सत्य शिव* और सुन्दर के द्वैतकी या अद्वैतकी भर्त्सना करनेवाले केवल-अद्वैतवादी या केवल-द्वैतवादी चिन्तकोंकी हठ एक वैचारिक सकीर्णता ही लगती

है. महादेवकी वास्तविकता तो त्रिनेत्र (अर्थात् एक ही देवताके त्रिमूर्ति) होनेकी है. शैव सम्प्रदाय अतएव महादेवको 'नटराज' कहता है. महादेव सभी रसोंके नाटन करनेमें समर्थ देव है, अतएव वे महादेव हैं. साथ ही साथ केवल त्रिनेत्र होनेके कारण या त्रिमूर्ति होने कारण महादेवको केवल रौद्र, शान्त और शृंगार रूपी रसत्रैतमें सीमित नहीं मान लेना चाहिये. इन तीन रसोंके साथ, क्योंकि, दूसरे छहों रस कार्यकारणभावात्मना शृंखलित माने जा सकते हैं.

यथा एक ओर कामदेवको भस्मसात् कर देनेके बावजूद दूसरी ओर पार्वतीको शृंगाररसात्मिका दृष्टिसे अनिमेष निहारते महादेवको देख कर हास्यरस प्रकट हो जाये तो उसे किसका अपराध कहना!

दूसरी ओर महादेवकी रौद्र रसात्मिका तीसरी दृष्टिसे भस्मसात् होनेवाले अपने पतिको देख कर रतिमें शोक और भय पैदा हो जाये तो महादेवके स्वरूपमें करुणरस और भयानकरस को स्थान मिला ही है यह भी स्वीकारना पड़ेगा.

शान्त रसकी समाधि लगा कर बैठे महादेवपर कामबाण चला कर उन्हें कामपीडावश अशान्त बनाना चाहते कामदेवको दृष्टिमात्रसे भस्म करनेवालेके शौर्यमें वीररस भी प्रकट होता ही है. रति तो कामको वर चुकी है, अत रतिपति कामको खतम करनेके बाद अशक्य बन जानेवाली रतिक्रीडामें पार्वतीको प्रणयदान तो महादेव जैसे दानवीर ही कर सकते हैं! दूसरे दृष्टिकोणसे निहारनेपर तो कामके वध करनेपर विधवा हो जानेवाली रतिको रोती रख कर स्वयं पार्वतीके साथ रतिरसका लाभ लेते महादेव और पार्वती के प्रणयमें किसी लौकिक कामुकको जुगुप्साका भाव जग जाये तो उसे अस्वाभाविक कैसे माना जा सकता है? अत महादेवकी लीलाका कामभावके आधारपर मूल्यांकन करने जाये तो बीभत्स रस प्रकट हो पाता है

तत्त्वदृष्टिसे, किन्तु, देखनेपर निष्काम रमण विस्मयजनक ही होता है। इससे कही अधिक विस्मयकारी विविध रसभावोके परस्पर विरोधाभासी गुणधर्मोको शिवरूपेण शान्तरसको व्यक्त करनेवाले महादेवकी अद्भुतरसात्मकतापर कहो किसे विस्मय न होगा।

फिरभी केवल अघोर "शान्त शिवम् अद्वैतम्" माननेकी हठमे हम शिवके नटराज होनेकी वास्तविकताको नकारते होते है वैसे हम स्वीकारे या न स्वीकारे, एतावता, रुद्र कही अपने घोर-घोरतर-द्वैतका ताण्डवनृत्य बद थोडे ही कर देगे। "अघोरेभ्यो अथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्य सर्वत शर्व सर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्य" (महाना उप १०।६) अत वेद तो रुद्ररूप परमात्माके तीनो ही रूपो—१ अघोर २ घोर और ३ घोरसे भी घोरतर को वन्दनीय ही मानता है अत "शान्त शिव अद्वैतम्" की समाधिकी तरह "अशान्तम् अशिव द्वैतम्" के ताण्डवको जो स्वीकार नही पाते वे शकरके सच्चे किकर होने लायक नही होते

भागवतकार, इसी तरह, श्रीकृष्णको 'नटवर' कहते हे मथुरामे कसके दरबारी मचपर भगवानका अवतरण तो मानो विविध रसभावोकी विलक्षण बाढ ही थी। उस समय भगवान्ने नवरसके सिद्धान्तको अपूर्ण सिद्ध करनेको ही एककालावच्छेदेन अपने दसविध रूप प्रकट कर दिखाये इस प्रसगका निरूपण हमे अधोनिर्दिष्ट श्लोकमे भागवतकार देते ह

१मल्लानाम् अशनि २नृणा नरवर ३स्त्रीणा स्मरो मूर्तिमान्
४गोपाना स्वजनो ५असता क्षितिभुजा शास्ता ६स्वपित्रो शिशु ।
७मृत्युर् भोजपते ८विराड् अविदुषा ९तत्त्व पर योगिना
१०वृष्णीना परदेवता इति विदितो रग गत साग्रज ॥
(भाग पुरा १०।४०।१७)

भगवान् जब तक हमारे सम्मुख प्रकट नही होते तब तक उनकी उपेक्षा की जा सकती है. प्रकट होनेपर तो भगवान्के स्वरूपके साथ कोई उदासीन रह ही नही सकता

भगवान्के प्रकट स्वरूपको जो स्नेहदृष्टिसे निहार पाना शक्य न हो तो द्वेषदृष्टिसे निहारना पडेगा जो भगवान्के प्रकट स्वरूपके दर्शन पा कर प्रसन्न नही हो पाता उसे शोकव्याकुल होना पडेगा जिसे भगवान्के दर्शन विस्मयजनक नहीं होते उसमे जुगुप्साका भाव जाग उठेगा शूर वीर होनेके अहकारसे भरे पुरुषोमे वीर्यवान् भगवान्को देख कर युद्धका उत्साह उभरता न हो तो उसे भगवान्के सम्मुख सर्वथा भीरु बन जाना पडेगा भगवान्के प्रकट रूपकी उपेक्षा कोई कर नही सकता अत योगिमुनिजनोको अपने अन्तरमे ही परमात्माके शान्तरसपूर्ण स्वरूपपर एकाग्रताके साथ ध्यान लगा पानेकी सिद्धि भगवत्प्राकट्यकालमे अकिञ्चित्कर बन जाती है अत उन्हे हृदयसे बाहर पूर्वोक्तरीत्या आठ अशान्त रसोके विभावतया किसी एक रसात्मिका वृत्तिसे अधीर बन कर भगवान्को निहारना पडेगा अप्रकट भगवान्से विमुख रहना किसकेलिये अशक्य होता है? इसी तरह प्रकट भगवान्के अभिमुख न हो पाना किसीके लिये नहीं शक्य?

कमके दरबारमे, अतएव, श्रीकृष्णसे विमुख रह पानेकी सारी सम्भावनाये खतम हो गयी थी नटवरके अनेकविध रसनाटनमे कौनसे रसका प्रवाह बह नही रहा! किसी भी तरहके स्थायी भावमे स्थिर हुवा मन भी उस रसप्रवाहके वेगमे बह ही जाता है! फिरभी दूसरे प्रवाह अपने उद्‌गमकी दिशामे प्रवाहपतित वस्तुको बहा नही सकते, परन्तु, जिस रसप्रवाहका उद्‌गम कृष्ण हो वहा तो उलटी गगा ही बहती है! कसके दरबारमे उपस्थित प्रत्येक दर्शकने अत अपने-अपने मनोगत भावोके अनुसार भगवान्के दर्शन पाये उन-उन दर्शकोकी चाहको अनुसरते यह नटवर श्रीकृष्ण अनेक रूप धारण करनेमे समर्थ है

जगत्की अभिनेत्री या अभिनेता भी अनेक रूप धारण करते ही है एतदर्थ उन्हे अपना आहार्य (make up) बदलना पडता है परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण परन्तु सामान्य नट या अभिनेता नही वह तो नटवर है उन्हे अद्भुत या प्रतिदर्शकदर्शनीय नित्यनूतन रूप धारण करनेको कभी ग्रीनरूममे मेकअप बदलने जानेकी अपेक्षा नही रहती वह तो हमारे हृदयको ही ग्रीनरूम बना कर वहा उपलब्ध हमारे भावोका अपने मेकअपके रूपमे उपयोग ले लेने सर्वथा कुशल है यदि अनेक दर्शक एक साथ अनेक भावोके विवश नटवर श्रीकृष्णको निहारते हो तो उनके अनेकविध भावोको अनुसरने यह नटवर भी एककालावच्छेदेन समर्थ हो पाता है। कहो कि ऐसा और कौन हो सकता है? श्रीकृष्ण सचमुचमे नटवर है।

'जो मल्ल थे वे भगवान्को मार डालनेके तामस भाववाले थे उनके आधिभौतिक स्वभावके अनुरूप मल्लोको मानो आकाशमेसे रौद्र रूप धारण कर गिरती बिजली जैसे श्रीकृष्ण लगे

'अनेक सामान्य जन भी वहा उपस्थित थे, उनके भाव मूलमे तामस होनेपर भी कुछ राजसताका रग लिये हुवे थे, अत उनके ऐसे आधिभौतिक स्वभावके अनुरूप उन्हे भगवान्के दर्शन विस्मयजनक असामान्य पुरुपके रूपमे हुवे पुरुपोत्तमको पुरुप माना यह तामस स्वभाव था परन्तु राजस भावसे चित्तके चञ्चल होनेके कारण वह असामान्य नटवर लगे वस्तुत तो यह नटवर भगवान्का ही एक अद्भुत नाटन था।

'वहा आधिभौतिक स्वभाववाली अनेक स्त्रियाँ भी दर्शनोत्कण्ठा हृदयमे सजोये एकत्रित हुयीं थी वे तामसोमे कुछ श्रेष्ठ ऐसे तामस-सात्त्विक स्वभाववाली थी अत उनके सात्त्विक अशके कारण उन्हे भगवान्मे स्नेह जागा परन्तु तामस अशके कारण वह स्नेह पुन कामभावसे

उपरक्त बन गया, निष्काम न रह पाया। ऐसी स्त्रियोको उनके स्वभावके अनुरूप भगवान् कामभावके अधिष्ठाता कामदेव जैसे दिखलायी दिये शकरके द्वारा भस्मसात् किये जानेपर कामदेव तो अनग बन गये पर भगवान तो सर्वांगसुन्दर कामदेवसे भी अधिक कमनीय लगे, अत कामभावात्मिका रतिरूप स्थायी भाववाला शृगाररस प्रकट हो गया

'जो भगवानके साथ उनके सखा गोपबालक भी व्रजसे मथुरा आये थे भगवन्मैत्रीवश उनके स्वभाव आध्यात्मिक बन गये थे भगवानके बारेमे उनका सख्यभाव वैसे तो राजस था, पर, साथ-साथ कुछ तामसता भी वहा झलकती थी, अत विचित्र वेशमे एक अद्‌भुत छटाके साथ अपने सखाको दरबारी रगभूमिमे प्रवेश करते निरख कर गोपबालक भगवानके बारेमे परस्पर उपहास करने लगे अत भगवानकी हास्यरसात्मकता उनके मित्रोके बीच प्रकट हो गयी।

'जो राजपुरुष वहा एकत्रित हुवे थे उनके स्वभाव आध्यात्मिक थे, पर, उनके भगवानके बारेमे भाव राजस-राजस थे, अत अपने स्वभावके अनुरूप भगवानको देख कर उनके भीतर वीरजनोचित युद्धोत्साह उभरा यदि वे राजस-सात्त्विक भाववाले होते तो उनके भीतर भगवानका पक्ष ले कर लड-भिडनेका उत्साह प्रकट हो जाता, पर, दुष्ट राजस-राजसभावके कारण उन्हे भगवानके साथ युद्ध करनेका उत्साह बढ़ गया उन्होने जब थोडे-बहोत सावधान हो कर भगवानको निहारा तब दुष्टदमन करनेवाले एक सम्राट जैसे भगवान् दिखलायी दिये सो अन्तमे उनका उत्साह ठडा पड गया एतावता भगवानकी वीररसात्मकता सिद्ध हुई

'भगवानके माता-पिता देवकी-वसुदेवके हृदयमे करुणरसका सागर छलकनेके कगार तक पहुच गया वेभी आध्यात्मिक स्वभाववाले थे, पर, भगवानके बारेमे उनका भाव राजस-सात्त्विक था सात्त्विकताके कारण उनमे वात्सल्यभाव उभरा और राजसताके कारण चित्तके चञ्चल

बन जानेसे चिन्तामग्न हो जाते थे कि इस सुकोमल बालकके साथ कही कुछ अघटित न घट जाये। स्नेहमे अनिष्टकी आशका प्रतिपद होनी सहज बात होती है अत अनिष्टकी आशकासे भगवान्मे करुण रसात्मकताकी झलक प्रकट हो गयी

"कसका स्वभाव मुक्ति पाने योग्य आधिदैविक था, तो भी तामस आसुरावेशके कारण भगवान्से डरते रहनेकी उसकी वृत्ति मूलमे सात्विकभावके कारण योगिजनोचित चित्तकी भगवान्मे एकतानता ले पायी। अत उसके स्वभावके अनुरूप उसे भगवान् साक्षात् काल जैसे लगे अत कसद्वारा कल्पित भयानकता भगवत्स्वरूपमे एकदम साकार हो गयी

"भगवान्मे स्नेहभाव रखनेवाले अज्ञानी होनेपर भी भोले-भाले हृदयके नागरिक भी वहा उपस्थित थे उनका भी स्वभाव आधिदैविक था भगवान्के बारेमे उनका स्वभाव सात्त्विक-राजसके मिश्रणका था अत सात्त्विक अशके कारण भगवान्मे स्नेह होनेपर भी राजस अशके कारण कुवलयापीडके वधके कारण जो भगवान्के वस्त्रोपर छटे हुवे रक्तके दाग-धब्बोको देख कर उनका चित्त ग्लानिसे भर गया उन्हे लगा कि जो अवसर मिले तो भगवान्को अपने घर पधरा कर भलीभाति निर्मल जलसे स्नान करा कर सुन्दर नये अच्छे वस्त्र धरा देने चाहिये ये रक्तरञ्जित वस्त्र ऐसे नयनाभिराम बालकके तनपर अशोभनीय लगते हे? कैसी विलक्षण रीतिसे भगवान् नटवरने बीभत्स रसको प्रकट कर दिखाया?

"कुछ योगी जन भी वहा पहुच गये थे उनका भी स्वभाव आधिदैविक था भगवान्मे उनके भाव सात्विक-सात्त्विक कोटिके थे, अत अपने स्वभावके अनुरूप ही भगवान्के दर्शन हुवे एक विद्यार्थीकी तरह निरन्तर वे अपने ध्यान-धारणा द्वारा हृदयमे घड़ी भगवान्की

मूर्तिपर यौगिक समाधिका अभ्यास कर चित्तको एकाग्र बनानेको निरन्तर उद्यमशील रहते थे वह मूर्ति आज मानो हृदयसे बाहर ही न प्रकट हो गयी, ऐसा योगिओको लगा अत योगसाधनाके यम-नियमोके उपायोसे उन्हे बाह्यजगत्‌की प्रत्येक वस्तुमे विरक्ति दृढ हो गयी थी आज, परन्तु, इस मूर्तिमे शान्तरसके साक्षात्कारद्वारा पुन बाह्यविषयमे अनुरक्ति स्पन्दित होने लगी।

[९]राजपुरुषोमे जो वृष्णिवशीय थे, जिनके कुलमे भगवान् अवतीर्ण हुवे, वे तो गुणातीत स्वभावके थे, अर्थात्, वे तामस राजस या सात्त्विक न होनेके कारण इन गुणोसे अतीत भाववाले थे, अत उनके स्वभावके अनुरूप भगवान्‌के दर्शन करनेपर निर्गुणा भक्तिका उनके हृदयमे आविर्भाव हुवा उन्हे भगवान् केवल परदेवता ही लगे।

[१०]भक्तिको, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य प्रस्तुत प्रतिपादनमे, १०वा रस मानते हे वह लौकिक या प्राकृत गुणोसे प्रकट होनेवाला रस नही आठ रस—शृगारसे बीभत्स तकके—लौकिक और प्रकृति मे रहे सात्त्विक, राजस और तामस भावोके विविध मिश्रणवश प्रकट होनेवाले रस होते हैं सभी प्राकृत भावोको अद्वय वस्तुके ज्ञानयोगसे दग्ध कर देनेपर वे भाव अभावमे पर्यवसित हो जाते हे फलत शान्तरसका आविर्भाव होता हे भक्ति न तो सर्व लौकिक रसोका अभाव यानि कि शान्तरस होती है ओर न लौकिक रसोके अन्तर्गत कोई एक रस होती हे जिस हृदयमे प्राकृत गुणोका उपद्रव शान्त हो जाता हे, फिरभी आत्मा ओर परमात्मा के बीच रही निरुपाधिक प्रीति निभ पाती हो वही हृदय भक्तिरसकी यमुनाके तटपर विचरण कर पाता हे भक्ति गुणातीत हृदयमे अकुरित, पल्लवित, पुष्पित ओर फलित होती हे वह स्नेह, आसक्ति, व्यसन ओर सर्वात्मभावकी क्रमिक अवस्थाओमे दृढसे दृढतम होती मानी गयी है महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके मतमे भक्तिरस सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म परमात्मा भगवान्‌के स्वाभाविक

अद्वैतस्वरूपमे सर्वभवनसामर्थ्य और सत्यसकल्प के कारण प्रकट होनेवाले लीलात्मक द्वैतका रसात्मक अनुसन्धान है. इसे केवल ब्रह्मके तत्त्वज्ञान या ब्रह्माद्वैतकी अपरोक्षानुभूति के रूपमे स्वीकारा नही जाता है. उस ब्रह्माद्वैतानुभूतिको तो शान्तरसरूप ब्रह्मज्ञानकी पराकाष्ठा मानी जाती है. अद्वैतरूप सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अपने आत्मैक्यमे अरतिजन्य आत्मद्वेधापादनरूपा लीलाके प्रति भी संवेदनशीलताके सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहात्मक प्रकर्षको भक्तितया मान्य किया गया है :

"भक्तिस्वरूपम् आह 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ. सर्वतोधिकः स्नेहो भक्ति इति प्रोक्त. तया मुक्तिः नच अन्यथा' स्नेहो भक्तिः, 'रति. देवादिविषयिणी भाव. इति अभिधीयते'. रति.=स्नेहो देवत्वं=माहात्म्यं तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं च उच्यते... अज्ञानादिदोषाभावाय माहात्म्यञ्च सुदृढस्नेहाय आत्मत्वञ्च आह."

(त.दी नि.प्र.४२).

प्रियतम ओर प्रेमी के द्वेतपर अवलम्बित होनेवाली लोकिक रति स्वमूलक अभेदानुसन्धानरूप होती हे. अतएव अवतारवादावलीकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी कहते है .

"भक्त्यर्थमेव भागवतसंहिताप्रणयनकथानात् तत्र प्रतिपाद्य-मानस्य भागवतरसस्य भक्तिरूपतायाएव सिद्धेरिति. अतएव शृंगाराद् भिन्नतया अनुभूयतएव रसिकै. यत्तु शृंगारस्यैव द्वावपि अवस्थाभेदौ संयोगो विप्रलम्भ. च इति सर्वै उच्यते तत्तु अविचारितरमणीयमेव. मात्रादिष्वपि अनिषिद्धसंयोगसुख-विप्रलम्भयो. उपलब्धे.. वस्तुतस्तु रतिरपि स्नेहविशेषएव. एवं सति शृंगारस्येव रसत्वं न केवलं स्नेहस्य इत्यत्र

विनिगमकाभावात् तदुभयोः पार्थक्येन रसत्वं स्वीकार्यम्. तथाच नायिकायां नायकस्य तस्मिन् च तस्याः या रतिः सा शृंगारः. मात्रादीनां पुत्रादौ तेषां च तेषु या रतिः स केवल स्नेहरसः इति सिद्धम्. भगवद्विषयिकाया. निरुपाधिकायाः द्विविधायाअपि रतेः अलौकिकत्वेन मुख्यरस-रूपत्वं, 'रसो वै सः' इति श्रुते. भगवतो रसरूपत्वात्. लौकिकस्यतु उपाधिजन्यत्वाद् आभासत्वं ज्ञेयम्. तेन भक्तिरसस्य तेभ्यो अतिरिक्तत्वं निष्प्रत्यूहम्."

(भक्तिरसत्ववाद).

भावार्थ : भक्त्यर्थ ही भागवतसंहिताका प्रणयन मान्य होनेके कारण तथा भागवतरसके भक्तिरूप होनेके कारण भक्ति शृंगारादिसे भिन्न रस हे. सयोग ओर वियोग भी केवल शृंगाररसके ही दो दल हो ऐसा नहीं वस्तुत तो ये स्नेहके दो दल है मूलमे तो शृंगारात्मिका रति भी स्नेहका ही एक अन्यतम रूप होती है अर्थात् नायक-नायिकाके बीच स्नेह शृगारात्मिका रति कहलाती हे परन्तु माता-पिता आदिकी पुत्रादिमे रति अशृगारात्मिका रति होती है भगवद्विषयिणी शृगारात्मिका वात्सल्यात्मिका या आत्मपरमात्मभावात्मिका रति निरुपाधिक होनेके कारण अलौकिक होती है अर्थात् परमात्माके बारेमे प्राणिमात्रका स्नेह या रति अज्ञानवश सोपाधिक होनेपर भी तत्वत निरुपाधिक ही होती है. लौकिक विषय या व्यक्तिओ के बारेमे स्नेह अज्ञानवश निरुपाधिक लगता होनेपर भी तत्त्वत त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके गुणोकी उपाधिसे प्रयुक्त ही होता हे. भगवद्रति भगवदनुग्रहजन्य होनेपर भगवान्‌की आत्मरतिका ही लीलाविस्तार होनेसे प्राकृतगुणोकी उपाधिसे रहित मानी गयी है.

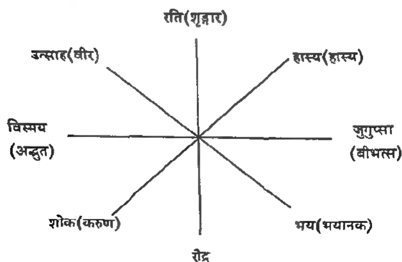
भूमिके उर्वरा होनेपर भी यदि बीजावापन न किया जाये तो धान्य या फल उग नही पाते. इसी तरह, गुणातीत हृदयमे भी जो भगवान् स्वयके अनुग्रहके बीजका वापन न करे तो भक्तिरस भगवत्स्नेहके

रूपमे अकुरित नही हो पाता है केवल शान्तरसयुक्त हृदय प्राय बिन बोये खेत जेसा होता है अत जहा शान्तरसकी सीमा समाप्त होती है वहासे भक्तिरसकी सीमाका प्रारम्भ होता है।

एतदर्थ हमे विविध रसोका प्राथमिक वर्गीकरण समझ लेना उपकारक होगा

शान्त रस ←→ अशान्त रस

इसमे जो अशान्तरसका वर्ग है उसके पुन उपभेदरूप रस पूर्वोक्त आठ यो हो जाते है [१]शृगार [२]हास्य [३]बीभत्स [४]भयानक [५]रौद्र [६]करुण [७]अद्‌भुत ओर [८]वीर इन विविध रसोके स्थायी भावोपर दृष्टि करनेपर हम समझ सकते है कि आठोके आठ रस एकदूजेसे विपरीत स्वभाववाले है

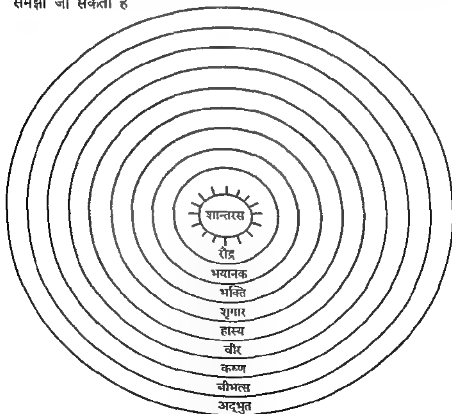


आठो रसोके स्थायी भाव परस्पर विपरीत होनेपर भी अशान्तरूप होना उन सभीका एक सामान्य स्वभाव है शृगार वीर हास्य और अद्भुत रसोसे पैदा होती अशान्ति सुखरूपा अशान्ति होती है, अत वे सुखप्रद हो जाती हे करुण रौद्र भयानक ओर बीभत्स रसोके कारण होती अशान्ति दु खप्रद होती है शान्तरसमे इन आठो रसोमे के कोई भी अशान्त भावोसे पैदा होती विषमता मनमे रह नहीं जाती करुणरसका दु खद शोक, अद्भुत और हास्य रसोके सुखद विस्मय या हास, भयानकरसमे अनुभूत होता चिन्ताजनक भय, रौद्ररसमे प्रकट होते रोष या द्वेष, शृगाररसमे अनुभूत होता अनुराग और वीररसमे शत्रुको पराजित करनेकी दुर्दम कामनासे उद्भूत उत्साह, शान्तरसमे रह नही पाते अत 'शान्तरस' शब्द विधानात्मक होनेपर भी लोकदृष्ट्या उसका स्थायी भाव निर्वेद नकारात्मक होता हे इसी तरह आठ रसोको 'अशान्त' कहनेपर 'अशान्त' शब्द नकारात्मक होनेपर भी उसका भाव विधानात्मक होता हे

न यत्र दु ख न सुख न चिन्ता न द्वेषरागौ नच काचिद् इच्छा।
रस स शान्त कथितो मुनीन्द्रै सर्वेषु भावेषु शम प्रधान ॥
(साहि दर्प ३।२३०)

अर्थात् साधारण लौकिक दृष्टिसे देखनेपर शान्तरसके रसिक और अरसिक के बीच अन्तर समझना जरा कठिन काम है आत्मज्ञानीको मिलते निजानन्द, अक्षरब्रह्म-ज्ञानीको मिलते ब्रह्मानन्दसे अपरिचित मनुष्य वास्तविकतया कभी शान्त रसका पूर्ण आनन्द ले नही पाता शान्त रसमे रहनेवाली मस्ती अतिशय सूक्ष्म, अमूर्त, अमृत, स्थायी ओर अव्यक्त होती है जबकि दूसरे आठ रसोमे रहनेवाली मस्ती स्थूल, मूर्त, मर्त्य, यायी और व्यक्त होती है "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैव अमूर्तं च, मर्त्यं च अमृत च, स्थित च यत् च, सत् च त्य च" (यथापूर्व) अत शान्तरसमे अद्वैतभावकी प्रमुखता होती

है, जबकि अन्य आठ रसोमे द्वैतभावकी प्रमुखता होती है सागरके तलमे रहती स्थिरता जैसी स्थिरता शान्तरसमे रहती है जबकि सागरके ऊपरी सतहपर उठती चञ्चल लहेरोकी जैसी अस्थिरता दूसरे आठ रसोमे रहती है आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान (Solar Astronomy) मे सूर्यके जैसी केन्द्रीय स्थिति शान्तरसकी मान्य करनी चाहिये शान्तरस सभी रसोके केन्द्रमे अवस्थित है जैसे सूर्यपिण्डके चतुर्दिक् नवग्रह परिभ्रमण करते है ऐसे ही अवशिष्ट सभी रस शान्तरसके चतुर्दिक् भ्रमण करते है अतएव किसी भी रसके चरमोत्कर्ष (Climax) मे एक अव्यक्त शान्ति मिलती है सौरमडलकी शान्त रसको केन्द्रमे रख कर परिक्रमा करनेवाले नव रसोको अधश्चित्रित आकृति द्वारा समझा जा सकता है



नव ग्रहोंके अन्तर्गत अपने सोर परिवारको जान पाये और उनका आनन्द ले पाये ऐसी जीवसृष्टि केवल पृथ्वीपर सम्भव हे कारण उसका यही है कि जो ग्रह पृथ्वीकी तुलनामे सूर्यके अधिक निकट हे, जेसेकि बुध ओर शुक्र उनकी सतहपर तापमान इतना अधिक होता हे कि जीवनकी सम्भावना जल-बल जाती है इसी तरह जो ग्रह पृथ्वीकी तुलनामे सूर्यसे अधिक दूर होते है उन ग्रहोपर पृथ्वी जैसे जीवनकी सम्भावना ठिठुर जाती है

इस चित्रोदाहरणके आधारपर समझा जा सकता है कि भक्तिरसद्वारा रस परिवारके प्रत्येक भावोकी ऊर्मिओको जाना और उनका आनन्द लिया जा सकता है भक्तिभावोचित ऐच्छिक द्वैतसे ओर आगे बढनेकी लालसामे अशान्तरसोकी परिधिकी ओर बाहर मनके फिकते जानेपर तो अन्तमे उन अशान्तरसोसे भी आनन्द ले पानेकी मन शान्ति नष्ट हो कर द्वैतके किसी ठिठुरा देनेवाले छोरपर मनको जडीभूत बना देती है इसी तरह *पृथ्वीसदृश भक्तिरसमे मिलते शान्तरससे अधिक शान्तिकी कामनाके वश केन्द्रोन्मुखी मनोवृत्तिके प्रबल होनेपर भी* रसानुभूति अशक्य बन जाती है क्योकि जीवनोचित द्वैतकी सम्भावनाओको अपने तापसे गरमाते-गरमाते अन्तमे पूर्ण केन्द्रोन्मुखिता सूर्यके तापमानमे तद्भावापन्न बना कर तद्विलीन बना देती हे अन्तमे शान्तरसात्मक हो कर शान्तरसका भी आनन्द उठा पानेमे जीवको असमर्थ बना देती है अत सिद्ध होता हे कि भक्तिरसके द्वारा सभी रसभावोका आनन्द लिया जा सकता है फिरभी भक्तिरस शान्त और अशान्त, नौके नो रसोसे विलक्षण और एकमात्र जीवन्त रस है अत उसकी तुलना सौरमण्डलमे *की पृथ्वी साथ की जा सकती है वह न अति-उष्ण हे और न अति-शीतल है, या न अतिद्वैतघटित है या न अति-अद्वेतघटित*

भागवतकारके मतके अनुसार ऐसा भक्तिरस वृष्णिवशके राजपुरुषोको श्रीकृष्णके अवतारकालमे अनुभूत हुवा था "वृष्णीना परदेवतेति विदितो

रङ्गगत सापुज" (यथापूर्व) परमदेवको रुष्ट किया जा सकता है, परमदेवसे डरा जा सकता है, परमदेवको भजा जा सकता है, परमदेवके कान्तारूपमे प्रकट होनेपर कामात्मिका रति निभायी जा सकती है, परमदेवका सख्यभाववश उपहास किया जा सकता है, परमदेवको युद्धमे हराया भी जा सकता है कि वह रणछोडराय बन कर भाग खडा हो, उसके साथ लडे बिना पराजित भी हुवा जा सकता है, परमदेवको अपनेद्वारा लालित-पालित असहाय बालक भी माना जा सकता है, इस तरह कि निरन्तर उसकी रक्षा कैसे कर पाये ऐसे मनोभावसे सदा उद्वेगवशात् करुणाशील बना जा सकता है, यदि वह परमदेव अपना मलीन अशुचिरूप प्रकट करे तो निश्छल प्रेमभावविवश हो कर स्वच्छ-शुद्ध बनाया जा सकता है, परमदेवके ऐसे परम माहात्म्यको जान या देख कर विस्मित हुवा जा सकता है, परमदेवको अपनी आत्मामे निवास करनेवाला परमात्मा मान कर अन्तरात्मामे शान्त-एकान्त भाववश ध्यान लगाया जा सकता है! ऐसी होती है परमदेवकी परमता अत सभी रसभावोका आलम्बन बनने वह समर्थ है, परन्तु, यदि उस परमदेवको भूल कर कोई निज आत्मामे ही शान्त रसभावका आनन्द लेना चाहे तो अनात्माके साथ प्रकट होते शृगार आदि रसोकी बातोसे हृदय समझ ही न पाये ऐसे लौकिक रसोमे तल्लीन बना मन शान्तरसका आनन्द भी ले नहीं पाता अतएव शान्तरसके रसिक लोकमे अरसिक जैसे लगते है और लौकिक रसोके रसिक ज्ञानियोको पामर लागते होते है इसमे कौन सच्चा और कौन खोटा?

उपनिषद्के "एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति" (बृह उप ४।३२) सूत्रका भाष्य सा करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते है

१ "अत स्नेह पदार्थान्तरम् स भगवन्निष्ठएव भगवद्विषयको ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धात्

तन्नैकट्याद् अन्यत्रापि भासते उष्णस्पर्शवद् यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशय. शारीरेऽपि आत्मनि तेन सह अतिनैकट्यात् परमस्नेहवत्त्वम् एवम् अध्यासेन अन्यत्र."

२."प्रीतिस्तु भगवद्धर्मो भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्य. तं खण्डशो दत्तवान् सुखार्थम्. अत यत्रैव प्रीणाति तत्सुखं भवति तत स्वसुखमेव स्वस्य भवति इति उक्तं भवति."

(१ सुबो.१।१९।१६ २ सुबो.२।२।७)

व्याख्या १ सारे रसभावोका मूल हमारी स्नेहमयी वृत्तियोमे निहित हे. और वह स्नेह तो आनन्दरूप परमात्मामे ही आत्मरतिरूप धर्मतया अवस्थित होता हे ऐश्वर्य वीर्य श्री ज्ञान आदि भगवद्गुणोकी तरह ही वह भगवान्के आत्मानन्दके लीलाविस्तारके रूपमे हमारे भीतर भी भगवत्सम्बन्धवशात् भगवान्के निकट हम कितने पहुच पाते हे उस अनुपातमे हमारे भीतर भी प्रकट होता है जितना कोई अग्निके निकट जाये उतना ताप अधिकाधिक बढता जाता है ऐसे ही भगवान्के साथ हमारी उत्तरोत्तर अधिक निकटताके कारण हमारे भीतर भी स्नेहभाव वृद्धिगत होता जाता है अर्थात् केवल निजदेहमे स्नेहभावसे अधिक निजपरिवारमे, उससे अधिक निजकुल या निजबन्धुसखाओमे, उससे अधिक निजनगर या निजदेश के मनुष्योमे, उससे अधिक सर्वमनुजोके प्रति, उससे अधिक सर्वप्राणिओके प्रति, उससे अधिक सर्वजडचेतनात्मक जगत्के प्रति, उससे अधिक समग्र ब्रह्माण्डके प्रति, उससे भी अधिक ब्रह्मके प्रति प्रकट होते स्नेहमे भगवान्के साथ अत्यधिक निकटता ही हेतुभूत होती है निजात्मामे स्नेह जैसे निरुपाधिक होता है वह पुन परब्रह्मके प्रति स्नेहके प्रकट होनेपर निरुपाधिक हो जाता है मध्यवर्ती सभी विषयोके प्रति स्नेहभाव आत्मसम्बन्धोपाधिक अध्यासहेतुक होता हे निरुपाधिक नही २ "प्रीति तो एक ऐसा भगवद्धर्म है जिसका दान भगवान्ने सभी जीवोको खण्डश किया हे इस प्रीतिरूप भगवद्धर्मके कारण

ही जीवात्माको सुखानुभूति सम्भव है क्योकि जो जीव जिसे चाहने लगता है उसे वहासे सुख मिलने लग जाता है वस्तुत भगवत्सुख ही अन्यान्य क्षुद्र परिमाणोमे सभीको मिल रहा है

मूल मुद्देकी बात यहा यही है कि उपनिषद् "ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा" (तैत्ति उप २।५) जो प्रतिपादन कर रहा है उसे सुन कर शान्तरसके रसिक ब्रह्मको परिपूर्णताके साथ पहचाने बिना ही अमूर्त अमृत कूटस्थ अव्यक्त नामरूपकर्म-विहीन अद्वैत निर्गुण निर्विशेष अक्षरब्रह्मरूप पूछको पकड कर बैठ जाते है अन्धहस्तिन्यायेन ब्रह्मके दूसरे पहलुओंको नकारना चाहते है। ब्रह्महस्तिकी विशालताको भलीभाति देख पानेको वे समर्थ नही हो पाते वे जिसे ब्रह्म मानते है वह मिथ्या नहीं है परन्तु साथ ही साथ वे ब्रह्मके जिस पहलुको मिथ्या मानते है वह वस्तुत मिथ्यादृष्टि है

इस जगत्के नाटकके अभिनेताने जगत्मे आठ प्रमुख रस व्यक्त किये एतावता "अष्टौ नाट्ये रसा स्मृता" (भर नाट्य ६।१५) की अनुश्रुति चल पडी क्योकि परमनटने इस सृष्टिके मूर्त मर्त्य अस्थिर व्यक्त रगमचपर आठ रसोके प्रति मनुष्यके हृदयमे यत्किञ्चित् प्रबल स्नेहभाव प्रकट किया है, अत ब्रह्मको न जाननेवाले लौकिक पामर रसिक अन्धहस्तिन्यायेन अमूर्त अमृत कूटस्थ अव्यक्त पहलुओमे अनुभूत होते रसको रसके रूपमे स्वीकारने विरत हो जाते है। ब्रह्मास्ति या हस्ति के किसी भी पहलुका अस्वीकार करना एक नहीं तो दूसरी रीतिसे वैचारिक अन्धताका ही लक्षण है अतएव उपनिषद् कहता है "आनन्दरूप ब्रह्मके शीर्षस्थानीय प्रियता होती है, मोद दक्षिण पक्षोपम होता है, प्रमोद उत्तर पक्षोपम होता है, सुख-दु ख ज्ञानाज्ञान व्यक्ताव्यक्त सत्यानृत विरुद्धधर्मोका आश्रय आनन्द आत्मस्थानीय होता है, ब्रह्मता=देशकालस्वरूपगत अपरिच्छिन्नता पुच्छोपम प्रतिष्ठा होती है"(तैत्ति उप २।५।) इस वाक्यसे उपनिषद् नटवर भगवान्की समग्रताको

ही बिगदाना चाहता है "सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस सर्वम् इदम्" (छान्दो उप ३।१४।४) भक्तिरसमे माहात्म्य ज्ञानके अशमे शान्त, रौद्र, भयानक आदि रसोका सनिवेश शक्य है इसी तरह सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहके अशमे शृगार, हास्य, करुण, वीर, बीभत्स ओर अद्भुत रसोका सनिवेश शक्य है

भक्तिके सिवा दूसरी धार्मिक मनोवृत्तिओमे स्थूलमे सूक्ष्मका आनन्द लिया जा सकता है, पर, भक्ति तो सूक्ष्मके आनन्द ले पानेकी केवल धर्मसाधना नही प्रत्युत आधिदैविक कला भी है सूक्ष्म अव्यक्त अमूर्त सर्वव्यापी अनादि अनन्त परमात्माको अपने भावोकी छेनीसे स्थूल व्यक्त मूर्त रूपेण देशकालमे घडनेकी एक कला ही भक्ति है

ब्रह्मको उपनिषद् रसरूपेण निरूपित करता है, अत भक्ति एक ऐसी कला है कि जिसके द्वारा ब्रह्म रसरूपेण आविर्भूत होता है

भक्तिरसकी मनोवृत्तिसे ब्रह्मका आनन्द ले पाना, उसे जान पाना, उस ब्राह्मिक विस्तारमे विचरण कर पाना, उस अव्यक्तको पहचान कर मनपसद साचेमे ढाल पाना भी शक्य बन जाता है "जैसी-जैसी बुद्धिसे उसकी विभावना करते हैं वैसा-वैसा स्वरूप वह प्रकट करता है" (भाग पुरा ३।९।११)

भक्तिरसके वैशिष्ट्यका सर्वातिशायी पक्ष तो यह है कि इस रसके आलम्बनविभाव और स्थायी भाव दोनो समेकित रूपमे कार्यान्वित होते है। भक्तीतर रसोमे स्थायिभाव और आलम्बनविभाव के बीच इतरेतरप्रयुक्त स्वरूपवत्ता एकत जन्य-जनकभावात्मना अपरत भावुक-भाव्यात्मना प्रकट होती है अत इसे हम भावित तादात्म्यतया अवधारित कर सकते है भक्तिरसके स्थायिभाव, माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ-

सर्वतोधिकस्नेहरूप; ओर आलम्बनविभाव भगवत्स्वरूप के बीच तत्त्वदृष्ट्या सहज तादात्म्य होता है. भगवद्दृष्ट्या भावित तादात्म्य होता है परन्तु भक्तदृष्ट्या भगवदनुग्रहोपाधिक तादात्म्य भी होता है.

अत 'भगवान्' 'भक्ति' ओर 'भक्त' तीनो पदोके मूलमे विद्यमान 'भज'धातुवाच्य सेवनक्रियाके महत्त्वको समझना आवश्यक है. यास्क मुनि कहते है "भगो भजते" (निरु निघ.१।३।७). अर्थात् जो सेवनीय हो भजनीय हो ऐसे धन आदिको 'भग' कहा जाता है. तन्त्रो और पुराणो मे ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य आदि सेवनीय गुणोके कारण आराध्य परमात्माके देवरूपको 'भगवान्' कहा गया है. इसी तरह इस सेवनार्थक 'भज'धातुके साथ 'क्तिन्'प्रत्यय जोडनेपर 'भक्ति'पद बनता है यो जो भक्तिमान् हो उसे 'भक्त' कहा जाता है.

यहा यह नितान्त अवधेय है कि 'सच्चिदानन्द' पदका अर्थ है : जो सत् हो, जिसे अपने होनेका भान हो और उस भानमे आनन्दरूपता हो अर्थात् देश-काल-स्वरूपकृत परिच्छिन्नताजन्य शोक-मोहसे जो अतीत हो परमतत्त्वको सच्चिदानन्द और ब्रह्म माननेका अभिप्राय यही है अतएव अपने इस रूपमे उस परमतत्त्वको स्वेतरनिरपेक्ष समझा जाता है उसी परमतत्वको अनन्त शारीरात्माओके भी आत्मरूप होनेके कारण 'परमात्मा' भी कहा जाता है अत शारीरात्मसापेक्ष परमात्मा होता है. यह परमत्व शारीरात्माओकी परमात्मस्वीकृतिकी अपेक्षा नहीं रखता अत यह तथाविध तत्त्वापेक्षा है नकि तथाविध बोधापेक्षा अत अनीश्वरवादी या मनुष्येतर प्राणियोकी भी शारीरात्माके अपेक्षया वह परमात्मा हो सकता है उस परमतत्त्वको, परन्तु, भगवान् होनेको किसी भक्तके द्वारा भगवद्गुणोके सेवनीय होनेके बोध और स्वीकृति की अपेक्षा रहती है.

अतएव भक्ति ही आलम्बनविभावको भगवान् बनाती है और

स्थायिभाववान् पुरुषको भक्त।

वह भक्ति पुन पूर्वोक्त आनन्दके शिरस्स्थानीय प्रियत्वकी विभावना होनेके कारण प्रेमभावरूपा होती है अत निष्कर्षतया परब्रह्म परमात्मा भगवान्‌के आराध्य देवके लोकमे साक्षात् प्रकट होनेपर आलम्बनविभावजन्य स्थायिभावरूपा होती है अन्यथा परब्रह्म परमात्मा भगवान् आराध्य देवरूपके माहात्म्यज्ञानोत्तर प्रकट होनेवाले प्रेमभाववश अपने आराध्यकी पूर्वनिरूपित अनेकविध भौतिकाभौतिक मूर्तिके प्रति भक्तिरसभाववश आलम्बनविभावात्मना भावित या उसे प्राप्त कर प्रकट होनेवाले स्थायिभावरूपा होती है

माहात्म्यज्ञानकी दृष्टिसे प्राणवायुकी तरह भगवान् तो सर्वत्र विद्यमान होते ही है अतएव श्वासोच्छ्वासकी तरह स्वयञ्चालित प्रक्रियावत् जीवनाधार होते हे अत तद्वत् होनेपर भी ससकल्प प्राणायामव्यापारकी तरह भक्त्यात्मक सकल्पपूर्वक विद्यमानके प्रति सभान होना भक्तिरस है अतएव सहज और भावित उभयविध तादात्म्य यहा अनुसन्धेय बन जाता हे

अतएव भागवतकार दूसरे रसोकी सर्वमान्य सूचिमे भक्तिरसको साग्रह जोडना चाहते हे इसमे निगूढ हेतु हमारे जीवनको भक्तिरससे भरपूर बनानेका है।



गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

प्रकाशित

१ सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन दुर्लभ

खड १ श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्

खड २ नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी

खड ३ जलभेद से सेवाफलम्

२ सव्याख्यषड्ग्रन्था संयुक्तप्रकाशन दुर्लभ

३ तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

खड १ शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण

खड २ भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५

खड ३ भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१२

४ प्रकाश-रश्मि व्याख्या सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

खड १ प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड अतिदुर्लभ

खड २ प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड अतिदुर्लभ

खड ३ द्वितीयाध्याय

खड ४ तृतीयाध्याय

खड ५ चतुर्थाध्याय

५ श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

खड १ प्रथम-द्वितीयस्कन्ध

खड ४ जन्मप्रकरण

खड ५ तामसप्रमाणप्रकरण

खड ६ तामसप्रमेय-साधनप्रकरण

खड ७ तामसफलप्रकरण

खड ८ राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण

६ वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

७ विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

८. प्रस्थानरत्नाकर

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११. अवतारवादावली

खंड २ भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, ख्यातिवाद, प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद

१२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार

१३ पुष्टिविधानम् (गुजराती, व्रज तथा संस्कृत संस्करण)

१४ सव्याख्यश्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम्

क्र १, २ तथा ४/१, ४/२ को छोड कर सभी ग्रन्थ "श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वरप्रभुचरण आ हो ट्रस्ट" (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित एव उपलब्ध

प्रकाश्य :

श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

- तृतीयस्कन्ध
- राजस साधन-फल प्रकरण
- सात्त्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण
- गुण प्रकरण
- एकादशस्कन्ध

वादावली

- खड १
- खड ३

श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित

- गीता टीका
- उपनिषद् टीका
- उत्सवप्रतान-अपराधनिरूपणम् आदि

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीकी हिन्दी-गुजराती पुस्तकें एवं आपके प्रवचनोंकी एम्.पी.थ्री सी.डी.

हिन्दी-गुजराती पुस्तकें :

धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना[हिन्दी गुजराती]
विवेक
श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप
विशोधनिका[तीन खंड]
पुरुषोत्तमयोग[गुजराती-हिन्दी]
गृहसेवा और व्रजलीला[गुजराती हिन्दी]
नवरत्नम्[गुजराती-हिन्दी]
नवरत्नोपदेशका मानसविश्लेषण
श्रीयमुनाष्टकम्
અમૃતનું આચમન
ભગવત્સેવાનો સિદ્ધાન્તશુદ્ધ પ્રકાર : એક પ્રશ્નોત્તરી
સિદ્ધાન્તસૂક્તિ
રસદષ્ટિની તરફેણમાં
પુષ્ટિપ્રવાહમર્યાદાભેદ

एम्.पी.थ्री सी.डी

सर्वोत्तमस्तोत्रम्[वर्ष ९५ से २००६ पर्यन्त, कुल २९ सी डी]
साधनप्रकरणम्[९८ से २००६ पर्यन्त, कुल [illegible]९ सी डी]
पुष्टिविधानम्[९६, ४ सी डी]
पञ्चश्लोकी[गुजराती ९७, २ सी डी]
वल्लभवचनामृत[९८-२००१, २००३/४, कुल १०]
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद[गुजराती ९४, [illegible] सी डी]
सिद्धान्तरहस्यम्[२०००, कुल २ सी डी।]

नवरत्नम्[९६, १ सी डी]

भक्तिवर्धिनी[गुजराती ९२, १ सी डी]

अन्त करणप्रबोध[१ सी डी]

सेवाफलम्[७५]

पत्रावलम्बनम्[गुजराती, ९४, २ सी डी]

सिद्धान्तवचनावली[गुजराती ९२, ३ सी डी]

गोपीगीत[२ सी डी]

प्रश्नोत्तरी(मुम्बई)[१]

भगवद्गीता[गुजराती अध्याय ४, ९, १२, १५, कुल ७ सी डी]

पुष्टिअस्मिता[गुजराती, १ सी डी]

गृहसेवा और व्रजलीला[९८, १ सी डी]

सेवाकौमुदी[गुजराती ९२, २ सी डी]

सी.डी प्राप्त करनेके स्थान :

श्रीमती कल्पनाबेन काणकीया,
काणकीया हाउस्, स्वस्तिक सोसायटी,
जुहु क्रोस् रोड न ४, विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई-५६,
फोन (०२२)२६१३४९४२

श्रीबालकृष्ण पुस्तकालय[साथ ९८]
दरबारगढ, राजकोट, गुजरात

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट,
कसारा बजार, माडवी – कच्छ,
गुजरात, ३७० ४६५
फोन ०२८३४ – २३१४६३

पुस्तक प्राप्तिस्थान

पोस्टद्वारा तथा प्रत्यक्ष (पोस्टेज अतिरिक्त)

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट,
कंसारा बजार, मांडवी - कच्छ, गुजरात, ३७० ४६५.
फोन: ०२८३४ - २३१४६३

(इन स्थानोंसे स्वयं जाकर प्राप्त करें)

श्रीबालकृष्ण पुस्तकालय[साय ६-८],
दरबारगढ, राजकोट, गुजरात.

पुष्टिसाहित्य विक्रय केन्द्र,
नन्दचौक, गोकुल, जि. मथुरा, उत्तरप्रदेश.

पुष्टिसाहित्य विक्रय केन्द्र,
श्रीवल्लभसुखधाम, ठठाई भाटीया होल,
एस. वी रोड, कान्दीवली (पश्चिम), मुम्बई.

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी,
'व्रजकमल', ६३ स्वस्तिक सोसायटी,
४ था रास्ता, जुहु स्कीम,
विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई
फोन: (०२२) २६१४४३२६

